

GOVERNMENT OF INDIA

ARCHAEOLOGICAL SURVEY OF INDIA

Central Archaeological Library

NEW DELHI

ACC. NO. 71566

CALL NO. 294.309 | Pan

D.G.A. 78

024861

बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास

• • •

हिन्दी



समिति

आचार्य ज्ञानेश्वर महाराज



बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास

71566



लेखक

डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय

294.309

Pan



हिन्दी समिति, सूचना विभाग

उत्तर प्रदेश, लखनऊ

बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास

● द्वितीय संस्करण

१९७६

71566

प्रकाशित संख्या.....

दिनांक.....

1.9.84

निर्देश संख्या.....

294.309/Pan

जनपथ नई दिल्ली

केन्द्रीय पुरातत्व प्रस्तकाशय

● मूल्य

बारह रुपये

● मुद्रक

धनप्रियाम भार्गव

तकमप्रिन्ट (मुद्रण विभाग कैप्टल एण्ड कण्टेनर्स प्रा० लि०)

२६ नवम किशोर रोड, मन्थनऊ।

प्रकाशक की ओर से



विश्व में एशिया खण्ड ही ऐसा स्थल है जहाँ प्रमों और सम्प्रदायों का उद्गम हुआ है। पारसी, यहूदी, ताओ, कनफ्यूसियन, सांख्य-योग, बौद्ध, जैन, जैसे धर्म इसी उर्वर भूमि में जन्मे और इनकी वैचारिक उद्भावनाएँ ईसापूर्व पाँच-छः शताब्दियों में ही नवीन चेतना के रूप में प्रतिष्ठित हुईं। इनमें से भारत में प्रादुर्भूत बौद्ध धर्म व्यापक मानवीयता, करुणा और नैतिकता का अधिक पोषक माना गया और इसका प्रसार शिष्टता एवं आदर के साथ पूरे एशिया-खण्ड में आरम्भ से ही होने लगा। इस धर्म में किसी मदबिचार का विरोध नहीं था, किसी जीवधारी का अहित चिन्तन नहीं था, अपितु समन्वयात्मक विश्व-कल्याण की भावना थी। इस देश में प्राचीनकाल से यह भावना जनजाती न थी, किन्तु कुछ शतकों के बीच लौकिक जीवन का नेतृत्व राजाओं और पुरोहितों, खेठियों और श्रुतिजों के अधीन हो गया था। ये लोग जक्ति, धन और देवपूजा द्वारा अपने भोग और मुबिधाएँ जुटाना ही जीवन का लक्ष्य मानने लगे थे। अतः जन-सामान्य के कष्ट से तप्त गीतम बुद्ध ने भरी तरुणाई में व्यक्तिगत मूख से मुँह मोड़कर मानवता के उद्धार में ही अपनी शान्ति एवं निर्वाण-प्राप्ति की सिद्धि की। कृतज्ञ जनता ने उनको भगवान् माना और उनके वचनानामृतों से अपनी जीवन-पद्धति निर्धारित की।

पुनः एक युग ऐसा आया जिसमें बौद्ध धर्म के प्रभाव से अशोक, मिलिन्द, शालिवाहन, कनिष्क, हर्षवर्धन जैसे महान् शासक धन, वैभव, मद, मोह को त्याग कर लोकहितकारी पवित्र जीवन बिताने लगे। भारत

का यह धर्मसन्देश यूनानी, तूरानी, चीनी, जापानी शासकों को भी शिरोधार्य हुआ। इस आधुनिक नये युग में भी बुद्ध-उपदिष्ट धर्म को मानने वाले विदेशी लोगों की संख्या भारतवासी हिन्दुओं से अधिक है और वे सब इस देश भारत को पुण्य भूमि मानते हैं।

हिन्दी समिति की प्रस्तुत पुस्तक में संक्षेप में इन्हीं सब विषयों का दिग्दर्शन कराते हुए उन परिस्थितियों और घटनाओं का विवेचन किया गया है जो बौद्ध धर्म के उद्भव और विकास की पृष्ठभूमि मानी जाती है। इस प्रसंग में बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों, उपदेशों, कलात्मक, साहित्यिक और सामाजिक रचना एवं रीति-नीतियों का विशद वर्णन किया गया है। विद्वान् लेखक के गम्भीर चिन्तन तथा वाण्डित्यपूर्ण पाश्चात्य शैली के गवेषणात्मक अध्ययन की छाप पुस्तक में स्पष्ट मिलती है। यह उपयोगी रचना इतिहास-प्रेमियों को बहुत रुचिकर हुई और इसका प्रथम संस्करण भीघ्न ही समाप्त हो गया। पाठकों की आग्रहपूर्ण माँग को ध्यान में रखकर अब इसका द्वितीय संस्करण प्रस्तुत किया जा रहा है। हमारे अनुरोध पर लेखक ने इस संस्करण में यत्र-तत्र आवश्यक संशोधन और परिवर्धन कर दिया है। इससे उपयोगिता बढ़ गयी है। गुणघाही अध्येता प्रस्तुत संस्करण का भी पूर्ववत् स्वागत करेंगे, ऐसा हमारा विश्वास है।

काशीनाथ उपाध्याय 'श्रमर'

लखनऊ

सचिव,

हिन्दी भवन

हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश शासन

Ms. No. 6494, vol. 13
 Page 23, 121
 New Delhi
 Received from Mr. J. S. Manohar Singh

विषय-सूची

अध्याय १—बुद्ध और उनका युग

... १-५९

वैश्विक पृष्ठभूमि—आर्सेनरीय और आर्य धर्म—उपनिषदों का दार्शनिक चिन्तन, छठी शताब्दी ई० पू०—सामाजिक परिवर्तन—परिव्राजकता—विचारसम्पन्न; बुद्ध की जीवनी—आकर—प्रारम्भिक जीवन और साधना—सम्बोध और धर्मप्रचार।

अध्याय २—बौद्ध धर्म का प्रारम्भिक रूप और मूल तत्त्व

... ६०-१३१

ऐतिहासिक दृष्टिकोण—मूल देशना—आर्यसत्य; प्रतीत्य-समुत्पाद—मूल का और विकास—उत्तरकालीन व्याख्यान; निवाण—परमार्थ-सत्य—आत्मा और नैरात्म्य—परवर्ती व्याख्याएँ; मार्ग—पुरानी परम्परा—बोधिपात्रिक धर्म—ध्यान—साध्यात्मिक प्रगति।

अध्याय ३—संघ का प्रारम्भिक रूप और विकास

... १३२-१९१

आर्य संघ, 'अकिलट्ट' समाज—संघात्मक संगठन—ब्रिधुओं के नियम—शासिमीक्ष; प्रथम संगीति और धर्म-विनय का संग्रह; 'विनय' का युग, दूसरी संगीति; निकाय-भेद—विभिन्न परम्पराएँ—('निकायों' का विकास—प्रादेशिक भेद और पिताशरणपद विषय)।

अध्याय ४—बौद्ध कला और धर्म का प्रचार

... १९२-२२५

बुद्ध से अशोक तक—अशोक और तृतीय संगीति—प्रसार—बौद्ध कला का विकास।

अध्याय ५—हीनयान के सम्प्रदाय—स्वविरवाद

... २२६-२६१

इतिहास और साहित्य—अभिधर्म का उद्भव और विकास—'धम्मसंज्ञि' में चिन्त—'पट्ठान' और पंचय—स्वविरवाद और अन्य निकाय—'कचावरु'—स्वविरवादी दर्शन।

अध्याय ६—हीनयान के सम्प्रदाय ... २६२-२८४

सर्वास्तिवादी—बसुबन्धु—सर्वास्तिवाद का विकास और आगम—
वैभाषिक अभिधर्म—वैभाषिक और सौवास्तिक मतवाद ।

अध्याय ७—हीनयान के सम्प्रदाय—महासाधिका और वात्सीपुत्रीय ... २८५-३००

महासाधिका और उनके प्रभेद—वात्सीपुत्रीय और उनके प्रभेद ।

अध्याय ८—महायान का उद्गम और साहित्य ... ३०१-३४०

हीनयान से सम्बन्ध, उद्भव और विकास-क्रम—महायान-साहित्य
पूर्व-कथ—महायान-सूत्र ।

अध्याय ९—बुद्ध और बोधिसत्त्व का क्वान्तर ... ३४१-३६४

त्रिकायवाद का मूल—हीनयान में बुद्ध—महायान में—बोधि-
सत्त्व और उनकी चर्या—पारमिताएँ ।

अध्याय १०—महायान का दर्शन—शून्यवाद ... ३६५-३९७

शून्यवाद का विकास—मायार्जुन—जीवनी, कृतियाँ और सिद्धान्त
—आर्यदेव—स्वातन्त्रिक और प्रासंगिक शास्त्राएँ ।

अध्याय ११—महायान का दर्शन—योगाचार, विज्ञानवाद ... ३९८-४५२

मूल और प्रारम्भिक विकास—लंकावतार—मैत्रेयनाम—असंग—
बसुबन्धु—दिङ्नाग—धर्मकीर्ति ।

अध्याय १२—बौद्ध धर्म की परिणति और ह्रास ... ४५३-४९२

सद्धर्म की परिणति-काल—बौद्ध सन्तों का विकास—धार्मिक
संपर्क—भारत में सद्धर्म का ह्रास ।

संकेत चिह्नवर्ण

अथर्व०	==अथर्ववेद संहिता
अनु०	==अनुवादक
अंगुत्तर (रो०)	==अंगुत्तरनिकाय, रोमन लिपि में सम्पादित (Pali Text Society) के द्वारा प्रकाशित ।
अष्टसाहिनी (ता०)	==अष्टसाहिनी, नागरी लिपि में सम्पादित, बाण्ट और बाडेकर के द्वारा, १९४२ ।
अष्ट०, अष्टसाहसिका	==अष्टसाहसिका प्रज्ञापरिमिता (सं० राजेन्द्र-लाल मिश्र) ।
आपारंग	==आपारंगमुक्त (शीलांक की व्याख्या के साथ, कलकत्ता, १८७९)
आपस्तम्ब	==आपस्तम्ब धर्मसूत्र (सं० कूलर, द्वितीय संस्करण)
आइ० एच० क्यू०=IHQ	=Indian Historical Quarterly
ई० आर० ई०=ERE	=Encyclopaedia of Religion and Ethics (सं० J. Hastings.)
ई०	=ईसवी सन्
ई० पू०	=ईसापूर्व
उप०, उ०	=उपनिषद्
उत्तर०	=उत्तरज्येष्ठ (आगमोदय समिति के द्वारा प्रकाशित)
उदा०	=उदाहरणार्थ
श्व० सं०	=श्वेदसंहिता
एस० बी० ई०=SBE	=Sacred Book of the East
ए० एस० आई०=ASI	=Archaeological Survey of India

एम० ए० एम० आइ०=MASI	=Memoir. of the Archaeological Survey of India
ऐ०	=ऐतरेयोपनिषद्
ऐ० आ०	=ऐतरेयब्राह्मण
ऐ० वा०	=ऐतरेय ब्राह्मण
आरविन्ध आव धुड्डिउम	=डा० गोविन्दचन्द्र वाण्येय, Studies in the Origins of Buddhism (Allahabad, 1957).
कड०	=कडोपनिषद्
कषा०	=कषावल्गु
का० सं०	=काठक संहिता (स्वाध्याय मंडल, श्रीधर)
कौश	=L'Abhidharmakos'a de Vasubandhu (tr. et an. par L. de la Vallée Poussin, Paris, 1923-31)
कोनाइ	=Sten konows Kharosthi Inscriptions.
काम्प्रिहेन्सिव हिस्टरी	=A Comprehensive History of India Vol. II (Ed. K. A. N. Sastri)
कौपीतिक०	=कौपीतिकब्राह्मणोपनिषद्
केन०	=केनोपनिषद्
कुहक (ना०)	=कुहकमित्राय, नागरी लिपि में सम्पादित (मासन्दा-देवनागरी-पालि-ग्रन्थमाला)
गीतम	गीतमधर्मसूत्र (आनन्दाश्रम-संस्कृत-ग्रन्थ-माला में प्रकाशित, १९१०)
छा०	=छान्दोग्योपनिषद्
जि०	=जित्
जे० आर० ए० एस०=JRAS	=Journal of the Royal Asiatic Society of Great Britain Ireland.
जे० ए०=JA	=Journal Asiatique
जे० ए० एस० बी०=JASB	=Journal of the Asiatic Society of Bengal.

जे० आर० ए० एस० बी० = JRASB = Journal of the Royal Asiatic Society of Bengal.

जे० बी० ओ० आर० एस० =

JBORS = Journal of the Bihar Orissa Research Society.

जे० बी० बी० आर० ए० एस० =

JBBRAS = Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society.

जे० जी० आर० आइ० = JGRI = Journal of the Ganganatha Jha Research Institute

जेड० डी० एम० जी० = ZDMG = Zeitschrift der deutschen Morgenlandischen Gesellschaft.

जे० पी० टी० एस० = JPTS = Journal of the Pali Text Society.

जे० डी० एल० = JDL = Journal of the Department of Letters.

जातक (ना०) = जातकट्ठकथा, भाग १ (काशी, १९५१)

जातक० = Jatakattthavamana (लुन, १८७७-९७)
(Ed Fausbøll)

तै० = तैत्तिरीयोपनिषद्

तै० आ० = तैत्तिरीयारण्यकः (आनन्दाश्रमोप संस्करण)

तै० वा० = तैत्तिरीय ब्राह्मण

ताण्ड्य० = ताण्ड्यमहाब्राह्मण (बोल्सम्बा का संस्करण)

तारानाथ = A. Schiefner (अनु०) Taranathas
Geschichte des Buddhism in Indian
(St. Petersburg, 1867)

तकाकुसु, इ-चिंग = J. Takakusu, A Record of the
Buddhist Religion as practised in
India and the Malaya Archipelago
by I-tsing (Oxford, 1896).

तु० = तुलनीय

निशिका	= इ० विशातिका
दीप (ना०)	= दीपनिकाय, नागरी लिपि में सम्पादित (मालन्दा- देवनागरी-पालि-ग्रन्थमाला में प्रकाशित)
दीप (रो०)	= दीपनिकाय, रोमन-लिपि में सम्पादित (पी० टी० एस० के द्वारा प्रकाशित)
दे०	= देसिण्
द०	= द्रष्टव्य
दिव्यावदान	= दिव्यावदान (पी० एल० बेंड द्वारा सम्पादित)
दत्त, महामान	= नलिनाद दत्त, Aspects of Mahayana & its Relation to Hinayāna.
धम्मसंगणि	= धम्मसंगणि, नागरी लिपि में सम्पादित, बाम और वाडेकर के द्वारा, पूना, १९४०
नजियो	= Bunyin Nanjio, Catalogue of the Chinese translation of the Bud- dhist Tripitaka (Oxford, 1883).
पी० टी० एस०	= Pali Text Society
पी० एच० ए० आइ० = PHAI	= H. C. Raychaudhuri, Political History of Ancient India.
पी० आइ० एच० सी० = PIHC	= Proceedings of the Indian His- tory Congress.
प्रश्न०	= प्रश्नोत्तरनिबन्ध
पूर्व०	= पूर्वोल्लिखित ग्रन्थ
प०	= पृष्ठ
प्र०	= प्रभृति
बील, स्वाञ्चांग	= S. Beal, (tr.) Si-Yu-Ki or Buddhist Records of the Western World (कलकत्ता, १९५७)
बौधायन	= बौधायनधर्मसूत्र (सैमूर, १९०७)
बुदोन	= E. Oberiller (tr.), Bu-Ston-History of Buddhism.
	२ वि० (१९३१-३२)

बारो	= A. Bareau, Les Sectes Bouddhiques du Petit Vehicule (सैगोन, १९५५)
बोधिचर्या०	= बोधिचर्यावतार (बिस्लिपोपेका इण्डिका में प्रकाशित)
निब० इण्ड०	= बिस्लिपोपेका इण्डिका
ब० सू०	= ब्रह्मसूत्र
ब०	= ब्रह्मदारण्यकोपनिषद्
मल्लसेकर	= Malalessekara, Dictionary of Pali Proper Names. २ जिल्द
मसुदा	= J. Masuda, Origin and Doctrines of Early Indian Buddhist Schools (Asia Major II, 1925)
मिलिन्द	= मिलिन्दपञ्चो (आर० डी० वाडेकर द्वारा नागरी में सम्पादित)
मध्यमक०	= Mulamadhyamakakarikas de Nagarjuna avec le Prasannapada (सं० La Valec Poussin)
मञ्जिम (मा०)	= मञ्जिमनिकाय (गालन्दा-देवनागरी-मालि-ग्रन्थमाला में प्रकाशित)
मञ्जिम (रो०)	= मञ्जिमनिकाय (पी० टी० एस० के द्वारा प्रकाशित)
मुण्ड०	= मुण्डकोपनिषद्
सलित	= सलितविस्तर (पी० एल० वैंच द्वारा सम्पादित)
सामोत, सत्रैते	= E. Lamotte, Le Traite' de La Grande Vertue de Sagesse de Nagarjuna. २ जि०
संका०	= संकावतार (किपोटो, १९२३)
सूदत्त	= M. Luders, A List of Brahma Insc-riptions (Epigraphia Indica, X)

वसिष्ठ	= वसिष्ठधर्मशास्त्र (पूना, १९३०)
वाटर्स	= T. Watters, On Yuan Chwang's travels in India, २ वि०
वालेसेर	= M. Walleser: Die Sekten des alten Buddhismus, (Heidelberg, 1927)
विनय (ना०)	= विनयपिटक, (मालन्दा-देवनागरी-मालि-ग्रन्थ-माला में प्रकाशित)
विन्टरनिट्स	= Winternitz, History of Indian Literature, वि० २ (मण्डला, १९३८)
विमुक्तिमग्गो	= विमुक्तिमग्गो (धर्मानन्द कोसम्भि द्वारा नागरी में सम्पादित)
विशतिका	= Vijnaptimatrata-siddhi deux traites de Vasubandhu, Vinśatika et Trisikā (Paris, १९२५)
वैदिक इन्डेक्स	= A. A. Macdonell & A. B. Keith, Vedic Index. २ वि० +
शत०, शतसाहसिका	= शतसाहसिका प्रज्ञापारमिता (सं० प्रतापचन्द्रशेखर)
शतपथ०	= शतपथब्राह्मण (अश्वमेध ग्रन्थमाला का संस्करण)
सी० आइ० जाइ०	= Corpus Inscriptionum Indicarum
सी० एच० आइ० +	= Cambridge History of India, Vol. I.
सिद्धि	= Vijnaptimatrata-siddhi-La Siddhi be Huen Tsang, tr. et an. ar de la Vall'e Poussin (Paris १९२८-२९)
स्तेचरबात्स्की, सेंट्रल कन्सेप्शन	= T. Stecherbatsky, Central conception of Buddhism and the Meaning of the Word Dharm
स्तेचरबात्स्की, निर्वाण	= T. Stecherbatsky the Conception of Buddhist Nirvana (1927)
” ” लॉजिक	= T. Stecherbatsky, Buddhist Logic 1932 २ वि०

सुवालकार	= महायानसुवालकार (सिल्वे लेबि द्वारा सम्पादित)
स्कृटावर्ग	= स्फुटावर्ग, अभिषर्गकोलज्वाला, बोगिहारा के द्वारा रोमन में सम्पादित ।
श्लो०	= इलोक
सूय०	= सूयगङ्ग (= सूयकुतांग, पी० एल० ईश द्वारा सम्पादित)
स्वेताम्ब०	= स्वेताम्बतरोपनिषद्
संपुत्त (ना०)	= संपुत्तनिकाय (नालन्दा-देवनागरी-याकि-ग्रन्थमाला में प्रकाशित)
संपुत्त (रो०)	= संपुत्त निकाय (पी० टी० एस० के द्वारा प्रकाशित)
सं०	= सम्पादक
शिखा	= शिखासमुच्चय (सं० C. Bendall)

71566

अध्याय १

बुद्ध और उनका युग



वैदिक पृष्ठभूमि

आर्योत्तरीय और आर्यधर्म—प्रागैतिहासिक काल से भारत नामा जातियों और संस्कृतियों का आश्रय रहा है और उनकी विभिन्न प्रवृत्तियों तथा जीवन-विभाजों के संघर्ष और समन्वय के द्वारा भारतीय इतिहास की प्रगति और संस्कृति का विकास हुआ है। इस विकास में आर्योत्तर जातियों का इतना ही महत्वपूर्ण हाथ रहा है जितना आर्य जाति का। पिछले इतिहासकार भारत की आर्योत्तर जातियों को प्रायः बर्बर अथवा असभ्य मानते थे, अतएव यह कल्पना करते थे कि वैदिक तथा परवर्ती भारतीय सभ्यता के अम्युन्नत तत्त्व मूलतः आर्यों की देन होंगे। परन्तु अब हर्षणा-संस्कृति के पता लगने पर न केवल यह दृष्टि भ्रान्त ठहरती है, प्रत्युत यह प्रतीत होता है कि भारत में आर्यों के आक्रमण को एक सभ्य प्रदेश में बर्बर जाति का प्रवेश समझना चाहिए।^१ यद्यपि आर्यों ने अपनी पूर्ववर्तिनी आर्योत्तर सभ्यता को ध्वस्त कर अपनी विशिष्ट भाषा, धर्म और समाज को भारत में प्रतिष्ठित किया तथापि यह निर्विवाद है कि यह सांस्कृतिक विध्वंस निरन्तर विनाश नहीं था और सिन्धु-संस्कृति के अनेक तत्त्व परवर्ती आर्य-सभ्यता में अंगीकृत हुए। आर्य तथा आर्योत्तर सांस्कृतिक परम्पराओं का यह समन्वय भारतीय सभ्यता के निर्माण की आधार-शिला सिद्ध हुई। इसका प्रभाव एक ओर उत्तर वैदिक-कालीन समाज-रचना में स्पष्ट देखा जा सकता है, दूसरी ओर उस बौद्धिक और आध्यात्मिक आन्दोलन में जिसका चरम परिणाम बौद्ध धर्म का अन्वुदय था।^२

१-मु०—पिण्ड, प्रिहिस्टोरिक इण्डिया, पृ० २५७-५८।

२-इ०—लेखक की स्टडीज इन दि ओरिजिन्स ऑफ बुद्धिज्म, अध्याय ८।

सैन्धव-संस्कृति—आर्यों का भारत में आगमन और वैदिक सभ्यता का प्रारम्भ ई० पू० द्वितीय सहस्राब्दी के मध्य में निर्धारित किया गया है^१। पर वह धारणा अमुक्त प्रतीत होती है। बोगजकोई के अभिलेखों में उल्लिखित देवताओं को वैदिक देवता स्वीकार करने पर आर्यों का भारत-प्रवेश १४०० ई० पू० से पर्याप्त पहले होगा^२। वैदिक भाषा और संस्कृति का सुदीर्घ विकास तथा पश्चिमी एशिया का इतिहास देखते हुए आर्यों का भारत में पदार्पण १८०० ई० पू० के लगभग मानना युक्ति-संगत होगा। उस समय ताक्ष-प्रस्तर-मुगोन, साक्षर और नागरिक सैन्धव सभ्यता शिबला की पहाड़ियों की तलहटी से लेकर कराची से ३०० मील पश्चिम अरब सागर के तट तक फैली हुई थी। पूर्व की ओर इसका प्रभाव काठियावाड़, बीकानेर और कदाचित् उत्तर-कालीन हस्तिनापुर तक विस्तृत था। इस संस्कृति के निर्माता अनेक जातियों के थे—मूल-आस्ट्रेलॉइड (निषाद), भूमध्यसागरीय (द्रविड़?), तथा मंगोलॉइड (किरात)^३। नगरमापन, मूर्तिकला और व्यापार में समुन्नत होते हुए भी यह सभ्यता अस्वास्थ्य के विज्ञान में दुर्बल थी और अश्वारोहण से प्रायः अपरिचित। इसके आध्यात्मिक कृतित्व के विषय में निर्विवाद रूप से कुछ कहना कठिन है क्योंकि तत्कालीन लिखित सामग्री जितनी अल्प है उतनी ही दुर्बल। इस विरोधाभास पर विस्मय प्रकट किया गया है कि सैन्धव सभ्यता अपने उत्तराधिकारियों को अध्यात्म-विद्या की अलग बाती सौंप सकी जबकि उसका वह भौतिक कलेवर, जिसके अवशेषों में वह इस समय विद्यमान है, आर्यों के आक्रमण की झिलझिल न सह सका^४। इसका प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता कि परवर्ती भारतीय धार्मिक जीवन के अनेक महत्वपूर्ण तत्त्व सिन्धु-सभ्यता से लिये गये, जिनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—पशुपति, योगीश्वर तथा कदाचित् नटराज के रूपों में शिव की पूजा, मातृ-शक्ति की पूजा, अश्वत्थ-पूजा, वृद्धादि अनेक

३—ह्यूडर, इण्डस सिविलिजेशन, पृ० ४, ८४-९२; केम्ब्रिज हिस्टरी ऑफ इण्डिया, जि० १, पृ० ७६।

४—यु०—डि वैदिक एज (भारतीय विद्या भवन) पृ० २०४।

५—यह स्वरणोद्य है कि हड़प्पा ('आर ३७' तथा 'एरिया जी') से उपलब्ध प्रचुरतर सामग्री का नृत्तरणीय विश्लेषण अभी कर्तव्य है, इ०—ह्यूडर, इण्डस सिविलिजेशन, पृ० ५१-५२।

६—वही, पृ० १५।

पशुओं का देव-सम्बन्ध, लिय-पूजा, जल की पवित्रता, मूर्ति-पूजा और योगान्ध्यान जो कि आसन और मुद्रा के अंकन से संकेतित होता है*। योग-विद्या की प्राचीनता का यह संकेत बौद्ध-धर्म के जन्मदश की दृष्टि से अप्रत्यक्ष महत्वपूर्ण है। पर वह कहना कि केवल आध्यात्मिक तत्त्व ही सिन्धु सभ्यता से उत्तरकालीन सभ्यता में अंगीकृत हुए, अत्युक्ति होगी। भौतिक सभ्यता के भी अनेक तत्त्व परबर्ती काल में स्पष्टतः अनुसन्तत देखे जा सकते हैं, मग्न गेहूँ, जौ, और कपास की खेती, गृह-विन्यास एवं दुर्ग-विन्यास, नाग-सौल की प्रणाली, लिपि-विद्या आदि*। किन्तु उत्तरकालीन शिल्प प्राचीन आर्योत्तर जातियों की देन है, यह कह सकता कठिन है, पर अधिकांश शिल्पियों की काल में होन सामाजिक दशा विजेता आर्यों की अपेक्षा विजित आर्योत्तरों से उनका अधिक सम्बन्ध चोखित करती है।

यह उल्लेखनीय है कि सिन्धु-संस्कृति का यह विविध प्रभाव आर्यसभ्यता के प्रथम आविर्भाव के समय कम या और पीछे कमशः अधिक। प्रारम्भ में विजेता आर्य और विजित, पलायमान अथवा वासकृत आर्योत्तर जातियों परस्पर संघर्ष में निरत थीं और यह कहना आवश्यक है कि युद्धजन्य सम्पर्क सांस्कृतिक आदान-प्रदान अथवा समन्वय के लिए अधिक उपयोगी नहीं होता। आर्य-समाज का प्रारम्भिक रूप भी एक विजयी समाज का था जिसमें शक्ति और प्रतिष्ठा क्षत्रियों तथा ब्राह्मणों के हाथ में थी। अत्रिय अथवा राजन्य शासक थे और ब्राह्मण उनके पुरोहित। शेष जनता 'श्रुत' पद से सम्बोधित होती थी और छवि तथा पशुपालन के द्वारा आर्थिक जीवन उन पर आधारित था। यद्यपि ऋक्संहिता के 'दास' तथा 'दस्यु' शब्दों की अनाद्यपरेक व्याख्या समीचीन नहीं प्रतीत होती तथापि भूत्वायंक एक दूसरा 'दास' शब्द भी वहाँ

७-संघव धर्म पर इ०—मार्शल, मोहेन्जोदड़ो एन्ड दि इन्डस सिविलिजेशन, जि० १, पृ० ७७-७८; ह्योलर, इन्डस सिविलिजेशन, पृ० ८२-८४; पिगट, प्रिहिस्टोरिक इन्डिया पृ० २०१-२; मैके, दि इन्डस सिविलिजेशन, पृ० ६४-९९; ऑरिजिन्स ऑफ इन्डियन, पृ० २५२-५६।

८-इ०—ह्योलर, पूर्व०, पृ० ६२-६३; पिगट, पूर्व०, पृ० १५३ प्र०; संघव लिपि का ब्राह्मी से सम्बन्ध अनायास कल्पनीय, किन्तु विवादग्रस्त है। संघव दुर्गविन्यास की परम्परा पर इ०—जी० आर० शर्मा, एक्सकवेजन्स एट कोशाम्बी, पृ० ६; सु०—ह्योलर, अल्टी इन्डिया एन्ड पाकिस्तान, पृ० १२९।

पाया जाता है। और यह मानना सुनिश्चित प्रतीत होता है कि आर्य-धर्मों और आर्य-कुटुम्बों में आर्येतर दास-दासियों का अभाव नहीं था। आर्यजनों के पर्यन्त में स्थित धर्मों तथा अरन्धों में निषाद, किरात आदि अनेक आर्येतर जनो का निवास था। सम्भव है कि दास-वर्ग में सिन्धु-संस्कृति के अनेक उन्मूलित किसान और कारीगर थे जिन्होंने कालान्तर में आर्य-कृषि और शिल्प के विकास में योग दिया। वैदिक ब्राह्मण समाज की सांस्कृतिक पर्यन्त भूमि में 'मुनियों' और 'अमणों' का एक निराला वर्ग था जिसका योगविद्या से परिचय होने के कारण कदाचित् पिछले सिन्धु संस्कृति से अन्वय स्थापित किया जाना चाहिए। वे मुनि और अमण ब्राह्मणेतर, तथा वैदिक संस्कृति के अनन्तर, प्रतीत होते हैं।

मुनि-अमण—ऋक्संहिता के केशि-सूक्त में केशधारी, सैले 'नेरु' कपड़े पहने हुषा में उड़ते, जहर पीते, 'मीनेय' से 'उन्मदित' और 'देवेषित' 'मुनियों' का विवक्षित चित्र अवलिखित है। मुनियों का उल्लेख ऋक्संहिता में अण्यत्र भी है, पर विरल है, और ऐसा लगता है कि चमत्कार दिखाने हुए मुनियों के दर्शन से सूक्तकार को विस्मय में और इस भानि में डाल दिया था कि वे उत्साह अथवा आवेश में हैं। यहाँ पर यह भी स्मरणीय है कि निवृत्तिपरक अथवा क्लेश-संशय तत्त्व ऋक्संहिता के सुविधित जीवन-दर्शन के विरुद्ध था तथा योगजन्य सिद्धियों उनकी अपरिचित थी अतएव यह स्वाभाविक है कि मुनियों का आचरण वैदिक ऋषियों की विविध प्रतीत हो। कात्यायन की सर्वानुक्रमणी के अनुसार इस सूक्त में 'वातरथान' मुनियों के नाम इस प्रकार थे—जृति, वातजृति, विप्रजृति, वृषाणक, करिष्ठ, ऐतश और ऋष्यशृंग। ऐतरेय ब्राह्मण में एक ऐतश का 'उन्मत्त' मुनि के रूप में उल्लेख आता है*। ऋष्यशृंग की कथा परवर्ती साहित्य में अनेकज और अनेक रूपों में पायी जाती है, पर यह स्पष्ट है कि ऋष्यशृंग एक ब्रह्मचारी और आरण्याक तपस्वी थे। तैत्तिरीय आरण्याक में अमणों को 'वातरथानाः' कहा गया है*। ताण्ड्य० में 'तुरी देवमुनिः' का उल्लेख है*।

१-इ०—पं० क्षेमेशचन्द्र चट्टोपाध्याय, दास एण्ड वस्तु इन दि ऋग्वेद (रोम में संयोजित प्राच्य तत्त्वविदों के १९वें अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन की विवरण पत्रिका)।

१०—वैदिक इण्डेक्स, जि० २, पृ० १६७।

११—तै० आ०, जि० १, पृ० ८७, १३७-३८।

१२—ताण्ड्य० जि० २, पृ० ६०१।

ऋक्संहिता के अरण्यानी सूक्त के उष्ठा ऐरम्मइ देवमुनि वे, जिससे जयवे० में पठित है 'मुनेवेवस्य मुलेन' इत्यादि तुलनीय है। ताण्ड्य० में 'मुनिमरण' नामक स्थान का उल्लेख है और 'यत्तिथी' को इन्द्र का सपु कहा गया है। उत्तरकाल में यत्ति का अर्थ तापस या, यथा मुण्ड० २, ३, ६। शतपथ में तुर कावसेय को मुनि कहा गया है। शंकराचार्य दार्शनिकभाष्य (ब० सू० ३, ४, ९) में एक श्रुति का उद्धरण देते हैं जिसके अनुसार कावसेय ऋषि वेदाध्ययन और यज्ञ के समर्पक नहीं थे। यह स्मरणीय है कि कवच ऐलम सरस्वती तट के वैदिक यज्ञ से साफ़ीस अज्ञात कहुकर निकाल दिये गये थे। तैत्तिरीय आरण्यक में गंगा-यमुना के मुनिनों को समस्कार किया गया है। वायस केतुक श्रमण के विधान में भिन्ना आनकपक है। एक भिक्षु आगिरस ऋक्संहिता के ज्ञान की महिमा स्थापित करनेवाले दशम मण्डल के ११७ वें सूक्त के ऋषि कहे गये हैं। उपनिषदों में श्रमण शब्द का सकृत् प्रयोग है, "यद्यपि मुण्डकोपनिषद् स्पष्ट ही यज्ञ-विधि के निन्दक मुण्डित-गिर भिक्षुओं की कृति प्रतीत होती है। इस प्रसंग में कहुचचित्वात्य भी उल्लेख है"। इन उल्लेखों ने स्पष्ट है कि वैदिक काल में मुनि-श्रमण बाह्य-प्रधान वैदिक मनाज के बहिर्भूत होते हुए भी एक प्राचीन और उदात्त आध्यात्मिक परम्परा के उन्मूलित अवलोक थे। जैन और बौद्ध साहित्य में श्रमणों के विषय में अधिक सामग्री प्राप्त होती है और इसमें सन्देह नहीं रहता कि बाह्य और श्रमण परस्पर विविकत और विरोधी थे। ई० पू० चतुर्थ शताब्दी में मूनानियों ने उनके धिमेद का उल्लेख किया है और महाभाष्यकार पतञ्जलि ने उनका शाश्वत विरोध बताया है। बुद्धकालीन श्रमण समुदायों का विवरण आगे प्रस्तुत किया गया है, पर इतना स्पष्ट है कि वे प्रायः दुःखवादी, निवृत्तिवादी, निरोधवादी, जीववादी और

१३-ताण्ड्य०, जि० १, पृ० २०८।

१४-शतपथ, जि० २, पृ० १०४१।

१५-ऐ० ब्रा० ८, १।

१६-तै० आ० जि० १, पृ० १६६।

१७-बु० उप० ४, ३, २२।

१८-ब्राह्मों पर इ०-अथर्व० काण्ड १५।

१९-मेककिण्डल, एन्ड्रेट इण्डिया ऐंड डिस्ट्राइक्ट बाइ मेगासथेनीड एण्ड एरियन,

पृ० ९७-१०५।

२०-अष्टाध्यायी २, ४, ९ पर महाभाष्य।

क्रियावादी थे। उनकी दार्शनिक निष्ठा का मूल आधार संसारवाद अथवा कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त थे।

इस मुनि-धर्मण दृष्टि के प्रतिकूल श्री पूर्ववैदिक कालीन ब्राह्मण-धर्म की प्रवृत्ति-वादी और दैववादी दृष्टि। जहाँ मुनियों के लिए प्रवृत्तिमूलक कर्म बन्धनात्मक तथा हेय था और ब्रह्मधर्म, तपस्या, योग आदि निवृत्तिपरक क्रियाएँ ही उपादेय थीं, ब्राह्मण-धर्म में ऐहिक और आभ्युत्थिक सुख मुख्य पुरुषार्थ था और यज्ञात्मक कर्म प्रधान साधन। शंकराचार्य ने कहा है कि वैदिक धर्म द्विविध है, प्रवृत्तिलक्षण और निवृत्तिलक्षण^{२१}। पर वह स्मरणीय है कि पूर्व-वैदिक-कालीन ब्राह्मण-धर्म केवल प्रवृत्तिलक्षण था। निवृत्तिलक्षण धर्म के अनुयायी इस समय केवल मुनि-धर्मण थे।

वैदिक आर्यधर्म—देवता

पूर्व वैदिक धर्म की निष्ठा को गीता के इन शब्दों में संगृहीत किया जा सकता है—
 “मह्यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। अनेन प्रसविष्यध्वमेव बीडस्त्वष्टकामधुक्।
 देवान्माध्वतानेन ते देवा भावमन्तु वः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥”
 भौतिक प्रकृति और मानव-जीवन के विविध व्यापारों के पीछे बहुविध शक्तियाँ अधिष्ठातृरूप में निहित हैं। इन शक्तियों का ही देवता शब्द से अभिधान होता है^{२२}। देवताओं की सत्ता ज्योतिर्मय, शुभ और अमर है। उनकी अभिव्यक्ति सर्वत्र पुरुषविध नहीं होती, पर सभीजीव मय का उचित फल प्रदान करने में वे चेतनवत् सामर्थ्य रखते हैं^{२३}। मम और उसके फल का सम्बन्ध देव-शक्ति के द्वारा ही सम्पन्न होता है

२१—गीताभाष्य का उपोद्घात।

२२—गीता, ३, १०-११।

२३—तु०—“ज्योतिरावेस्तु भूतघातोरदित्यादिष्वचेतनत्वमभ्युपगम्यते।

चेतनास्त्वधिष्ठातारी देवतात्मानः.....।”

(ब्रह्मसूत्र, १, ३, ३३ पर शंकरभाष्य)

२४-३०—निरुक्त, देवताकाण्ड; ब्रह्मसूत्र, १.३. २६-३३ तथा उन पर शंकरभाष्य;

गीता, ७.२०-२३, तु०—योगसूत्र, २.४४—“स्वाध्यायादिविष्टदेवतासम्प्रयोगः”

जहाँ देवताविषयक तान्त्रिक सिद्धान्त अन्तर्निहित है।

और इस प्रकार का फलप्रदत्व ही देवता का वास्तविक अर्थक्रियाकारित्व है^{१५}। यज्ञ के द्वारा मनुष्य देवताओं को प्रसन्न और उनके प्रसाद से अपना कल्याण कर सकते हैं। देवता के लिए मन्त्रपूर्वक द्रव्यत्याग को यज्ञ कहते हैं। ईरान में एक समय प्राचीन आर्य लोग हवि को अग्नि में नहीं डालते थे^{१६}। भारतीय आपों में बहुत पहले ही वैदिक काल में अग्नि हव्यवाह के रूप में प्रकट होते हैं, यद्यपि यह स्मरणीय है कि यहाँ भी उत्तरकालीन सिद्धान्त के अनुसार हवि का अग्नि में प्रक्षेप 'प्रतिपत्ति कर्म' ही समझा जाता था।

वेद के अनेक देवताओं में इन्द्र का प्राधान्य था^{१७}। इन्द्र बल के देवता थे और आर्य-प्रसार के युग में संधार्यों का बाहुल्य उनकी लोक-प्रियता का कारण था। उत्तर-काल में इन्द्र वर्षा के देवता के रूप में अविद्य हूए और इस प्रकार लोक-प्रिय बने रहे। अग्नि, बृहस्पति और सोम विशेष रूप से ब्राह्मणों के देवता थे। वरुण, सत्य और ऋत के पालक के रूप में माने जाते थे। उनके सूक्तों में ऋक्संहिता के नैतिक आदर्श प्रकाश पाते हैं। औष्वेदेहिक जीवन के विषय में भी पूर्ण वैदिक कालीन धारणाएँ अस्पष्ट थीं। यह माना जाता था कि देवताओं का यजन करने वाले सत्पुरुष मृत्यु के पश्चात् पितृलोक में निवास करते हैं^{१८}। जन्तु-परायण व्यक्तियों की औष्वेदेहिक अवस्था के विषय में कुछ स्पष्ट नहीं कहा गया है। देवताओं का उस समय मुख्यतया ऐहिक प्रसाद

२५-बु०—महिम्नस्तोत्र, श्लो० २०, "क्वती सुप्ते जाग्रत्स्वमसि फलयोगे ऋतुमताम्"
इत्यादि तथा उस पर मधुसूदनी व्याख्या।

२६-बु०—हेरोडोटस, हिस्टोरिज, (पेंथिन क्लासिक्स में अनुवाद), पृ० ६८-६९।

२७-वैदिक देवताओं एवं देववाद पर सामान्यतः बु०—मेकडॉनल, वैदिक साधर्मा-
लॉजी; कौष—रिलिजन एण्ड फिलांस्फी ऑव दि वेद एण्ड दि उपनिषद्स
जि० १; वैदिक 'ऐकेश्वरवाद' पर बु०—रिम्जिन्, ऑरिजिन एण्ड प्रोच ऑव
रिलिजन, पृ० १७२-८७; मेक्समूलर के 'पर्यायेश्वरवाद' (हेनोपौइज्म)
पर मेकडॉनल, पूर्व० पृ० १० प्र०, कौष, पूर्व०, जि० १, पृ० ८८-८९;
'विनागीय देवताओं' ('वान्देरमातर') पर, ऑल्बेनबर्ग, दी रेलिगियन वेस
वेद, पृ० ६०-७३, इन्द्र आदि देवताओं पर, ऑरिजिन ऑव बुद्धिज्म, पृ०
२६६-७०।

२८-बु० सं० १०.१४-१८; ९.११३; १.१५४।

प्राप्त था। यह भी उल्लेख है कि वैदिक देवताओं को आर्येतर प्रभाव से संबंधा मुक्त नहीं माना जा सकता^{११}।

सामाजिक परिवर्तन

मध्य और उत्तर वैदिक काल में दूर तक प्रभाव डालने वाले सामाजिक और धार्मिक परिवर्तन हुए। वैदिक आर्य सभ्यता का उत्तर-भारत में क्रमशः पूर्वोन्निमुख प्रसार होता गया। अतएव से चिदित होता है कि अरण्यानी का साम्राज्य दग्ध करते हुए अग्नि वैश्वानर ने प्रसार का गन्ध प्रेषित किया और आर्य-धाम सदातीरा के पार विदेह तक जा पहुँचे^{१२}। भाषा का परिवर्तन और वातुवर्ण के विकास 'आर्य' तथा 'आर्येतर' जनता के पर्याप्त समिश्रण की ओर सक्रिय करता है। स्वयं वेद का संकलन और विभाजन महर्षि व्यास का कार्य बताया गया है, जिसमें अनार्य रक्त प्रचुर भाषा में विद्यमान था। बृहदारण्यक उपनिषद् में स्वामयर्ज, लोहितास और वेदवित् पुत्र की प्राप्ति के लिए विधि का निर्देश किया गया है^{१३}। ये लक्षण निश्चय ही आर्यों के प्रविष्ट गौरवर्ण और पिगलकेशों से बहुत दूर हैं^{१४}। पूर्ववैदिक काल की जनता-विच्छेद—अन्न वैध्यों और शूद्रों में विभक्त हो गयी। शूद्र-वर्ण में आर्येतर जाति की प्रधानता निर्विवाद है, पर केवल आर्येतर ही शूद्र नहीं थे और जैसा कि ऊपर देखा गया है, न अन्य वर्णों में आर्येतर रक्त का अभाव था^{१५}।

२९—उदाहरणार्थ, वैदिक वृद्ध का सम्बन्ध सिन्धु संस्कृति से अनायास प्रतिपाद्य है—
तु०—वि वैदिक एज, पृ० २०३। वैदिक उषा और उर्वशी का सिन्धु-संस्कृति से सम्बन्ध स्थापित किया गया है। ३०—इण्डिया पास्ट एण्ड प्रेसेन्ट, १.१ पृ० १६३ प्र०।

३०—ब्राह्मणवहन की कथा इस प्रसंग में स्मरणीय है।

३१—तु० उप० ६.४.१६।

३२—तु०—महाभाष्य, अष्टाध्यायी २.२.६ पर, "कपितःपिगलकेश इत्येतामप्यन्यन्तरान् ब्राह्मणे गुणान् कुर्वन्ति"।

३३—शूद्रों की उत्पत्ति पर तु०—केम्ब्रिज हिस्टरी ऑफ इण्डिया, जि० १, पृ० ८५-८६, १२८-१२९; कार्ने, हिस्टरी ऑफ वि अमंशास्त्र जि० २, भा० १, पृ० २५ प्र०, ३३ प्र०, ४५ प्र०; हटन, कास्ट इन इण्डिया, अध्याय ११; आर० एस० शर्मा, वि शूद्र इन एन्डोन्ट इण्डिया, ऑरिजिन्स ऑफ बुद्धिजन, पृ० २६३-६४।

जब एक ओर वैदिक समाज जातीय और सांस्कृतिक दृष्टियों से मिश्रित और संकीर्ण हो रहा था और एक पुरानी परम्पराओं से मोहित और जटिल समाज में परिणत हो रहा था, पुरानी विद्याओं पर संशय और नवीन तत्त्व-विचार का जन्म अनिवार्य था। अतः वैदिक धर्म भी परिवर्तनग्रस्त था और देवताओं के प्राधान्य तथा यज्ञ द्वारा मायी और अमर्त्यों की सहयोगिता को छोड़ ब्रह्म-विद्या और आत्म-विद्या की ओर विकसित हो रहा था। देव-यज्ञत से आत्म-यज्ञत की ओर यह विकास प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर दिग्दर्शक बन गया। किन्तु निवृत्ति-मार्ग का यह उन्मेष अभी कुछ ही विचार-शील व्यक्तियों में हुआ था। इस परिवर्तन का कारण मुख्यतया अमन्य विचार-धारा का प्रभाव था जिसके लिए जातीय और सांस्कृतिक समिश्रण तथा ब्राह्मण धर्म के आन्तरिक विकास ने अनेक मार्ग प्रशस्त कर दिया था।

मध्य और उत्तर वैदिक काल में देवता-विषयक धारणाओं में अनेक परिवर्तन हुए। अदिति, विश्वकर्मा, मनु, काम, श्रद्धा, काल, स्वप्न, प्राण आदि अमूर्त देवताओं का इस काल में उल्लेख मिलता है। साथ ही और देवताओं के अग्रभूषण से नैतिक निष्ठाओं का अभ्युदय छीतित होता है। बहुदेववाद का स्थान एकेश्वरवाद तथा ब्रह्मवाद ले लेते हैं^१। और फिर कर्मवाद का प्रभाव देववाद-भाव की पुरानी स्थिति के लिए प्रतिकूल सिद्ध होता है।

यज्ञ

यज्ञ का प्रारम्भिक रूप जटिल न था। ऋत्विक् के द्वारा देवता की स्तुतिपरक मन्त्र पढ़े जाते थे और हवि के रूप में विविध धान्य अथवा मोरस में निहित अन्न, पशु अथवा सोम-रस अर्पित किये जाते थे। 'यदन्नं पुण्यो लोके तदन्ना तस्य देवता।' कमशः अनेक यज्ञों में ऋत्विक् के कार्य का चतुर्था विभाजन दृष्ट होता है। होता नाम का ऋत्विक् ऋक्संहिता की ऋचाओं का पाठ करता था। अध्वर्यु कर्म का भार सम्हालता था और यजुर्वेद से सम्बद्ध होता था। उद्गाता साम-गान करता था और ब्रह्मा समस्त यज्ञ-कर्म का अध्वर्य होता था। श्रौत-यज्ञों को हविर्भोज और सोम, इन दो विभागों में बांटा गया है^२। हविर्भोज में अग्निहोत्र, दश-यूगभास, चातुर्मास्य, आश्वयज, पशु,

१४-उवाहरणार्थ, वृ० उप० ३.९; केन० ३.४।

२५-विस्तार के लिए द्र०—ऑरिजिनल ऑफ बुद्धिज्म, पृ० २७४-७७, काणे, हिन्दरी ऑफ दि धर्मशास्त्र जि० २, भा० २, पृ० १७६ प्र०; शीघ, रिलिजन एण्ड फिलॉसफी ऑफ दि वेद एण्ड दि उपनिषद्स, जि० २; यज्ञों के विस्तृत

सौवामनी और पिम्बपितृयज्ञ परिमणित होते हैं। सोम याग की सात संस्थाएँ हैं—अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, बाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्गाम। सोम-यागों के विकास से और श्रुतिज्यों के बढ़ते वर्ग के अवक प्रवास और संवित परस्पर से यज्ञविधान अधिकाधिक विपुल, अटिल और रहस्यात्मक होता गया। अग्नि-चयन के विकास ने याज्ञिक रहस्यवाद को विशेष रूप से पुष्ट किया। इस प्रसंग में 'कर्म' से 'विद्या' का अधिक महत्त्व शीघ्र ही समझा और घोषित किया गया^{११}। ब्राह्मणकेतुक अथवा सावित्रचयन सदा अग्नि चयनों में यज्ञ-विधि का शैतिक पक्ष प्रतीकारमता में विस्तीर्ण प्राय हो गया^{१२}। इस चित्तिविषयक विद्याओं की आगे चलकर उपनिषत्कालीन विद्याओं अथवा उपासनाओं में परिणति हुई^{१३}। इस प्रकार क्रमशः मनोविषयों का ध्यान देवयजन से आत्म-विद्या और ब्रह्म-विद्या की ओर गया। चित्ति-निर्माण में ईंटों का प्रयोग तथा प्रारम्भिक पञ्च-यज्ञ-यथ प्राचीन आर्येतरोंय प्रमाण का उन्मज्जन सूचित करता है।^{१४}

उपनिषदों का दार्शनिक चिन्तन

आत्मा तथा ब्रह्म—मृष्टि-विषयक जिज्ञासा का प्राचीन वैदिक साहित्य में उन्मेष दो दिशाओं में हुआ—जगत् के मूलकर्ता के विषय में और जगत् के मूल-उपादान के विषय

विवरण का आधार ब्राह्मण-ग्रन्थ तथा उन पर आधारित विविध श्रौतसूत्र हैं, जिन पर सामान्यतः ३०—विन्दरनित्त, हिस्टरी ऑफ इण्डियन लिटरेचर, जि० १, पृ० २७१ प्र०, काश्यापन-श्रौतसूत्र (अभ्युतग्रन्थमाला), भूमिका।

३६-३०—ऑरिजिन ऑफ बुद्धिज्म, पृ० २७९-८०।

३७-३०—तै० आ० जि० १, पृ० २, प्र०।

तै० आ० पृ० १३१५ प्र०; तै० आ० जि० १.८३-८५ में विभिन्न चित्तियों के प्रतीकों का उल्लेख है।

३८—इस प्रसंग में छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक विशेष रूप से दृष्टव्य हैं।

३९—यह स्मरणयोग्य है कि तत्कालीन वैदिक गृह-निर्माण में ईंटों का प्रयोग नहीं होता था। उस समय दृष्टकालय चित्ति-निर्माण को विलुप्त नागरिक सन्धता का धार्मिक क्रिया-कलाप की कड़िवादिता के कारण अविलुप्त, प्रतीकात्मक अवशेष मानना चाहिए। पञ्च-यज्ञ-यथ भी एक प्रकार की आधार-बलि (काउण्डेशन सेंक्रिफाइस) है। अग्निचयन की पुरातत्त्वकीय और साहित्यिक सामग्रियों की विस्तृत तुलना—३० शर्मा, जी० आर०, पूर्व०, अध्याय ८-१०।

में। जगत् की निमित्त अथवा विमित्त पहले देवताओं का ही कार्य माना जाता था। देवताओं के गुणत्व की स्पष्टतर उद्भावना के साथ इस धारणा की भी स्पष्टतर उद्भावना हुई कि जगत् को सृष्टि के पीछे एक सर्वशक्तिकाली चेतन सत्ता है जिसे पुरुष, आत्मा, ईश्वर, अथवा ब्रह्म की आख्या दी गयी^{४०}। दूसरी ओर जगत् का मूल-उत्पादान अनेक तत्त्वों में खोजा गया—जल, वायु, आकाश, असत् सत् आदि^{४१}। कुछ विचारकों ने चेतन सत्ता, आत्मा अथवा पुरुष की जगत् का न केवल कर्ता, अपितु उसका मूल-उत्पादान भी स्वीकार किया। इस प्रकार आत्माईत अथवा ब्रह्माईत के सिद्धान्त का प्ररोह हुआ।

आत्मा के स्वरूप के विषय में वैदिक चिन्तन की एक सुदीर्घ विकास-परम्परा देखी जा सकती है^{४२}। प्रारम्भ में देह अथवा अंगों से आत्मा को पृथक् नहीं समझा जाता था यद्यपि 'प्राण' ही आत्मा का मुख्य अर्थ था। प्राण को देह तथा इन्द्रियों की प्रेरिका शक्ति माना जाता था^{४३}। प्राण के सहारे ही इन्द्रियाँ कार्यशील रह सकती हैं, और सुषुप्ति में भी केवल प्राण ही जागरूक रहता है। प्राण का जीवित देह की साँस और उष्णता से संबंध देखकर उसका वायु और अग्नि से तादात्म्य भी स्थापित किया गया। प्राण में ही समस्त देवताओं का समाहार होता है^{४४}। प्राण का चेतना के साथ घनिष्ठ संबंध है और कुछ विचारकों ने दोनों को एक ही माना,^{४५} किन्तु औरों ने इनमें भेद किया तथा आत्मा का स्वरूप विज्ञान, प्रज्ञा अथवा प्रज्ञान माना^{४६}। कुछ ने और आगे बढ़कर प्रश्न किया—'विज्ञातार या अरे केन विजानीयात्', और इस प्रकार आत्मा की अतिव्यवचीनता, किन्तु अनिवार्यता के सिद्धान्त को उपस्थित किया^{४७}।

ब्रह्म शब्द का मौलिक अर्थ बृहण या बड़ाई अर्थात् स्तुति था। अतएव देवताओं के स्तुतिपरक मन्त्रों को ब्रह्म कहा जाता था। ब्राह्मण-ग्रन्थों में मन्त्र और मन्त्र की महिमा इतनी बढ़ी कि ब्रह्म शब्द प्रकारान्तर से मूल-तत्त्व-बोधी हो गया। जिस वस्तु को दार्शन-

४०—इ०—जॉरिजिन्स आँव बुद्धिज्म, पृ० २९५-९८, विशेषतः पादटिप्पणियाँ।

४१—इ०—जॉरिजिन्स आँव बुद्धिज्म, पृ० २९०-९८।

४२—प्राण और इन्द्रियों के विवाद पर, इ० बृ० उप० ६.१।

४३—बृ० उप० ३.९.९।

४४—कीर्तितिकि ३.१.४।

४५—बृ० उप० २.१.१७, कठ० ४.३ इत्यादि।

४६—बृ० उप० २.४.१४, बही, ३.७.२२-२३, बही, ३.८.११ इत्यादि; तु०—

इच्छिमान कलचरल हेरिटेज (द्वितीय संस्करण) जि० ३, पृ० ४७३-९४।

निकों ने सृष्टि का मूल-तत्त्व बताया उसे ही शक्तिजनों ने ब्रह्म की संज्ञा दे दी और इस प्रकार देवताओं की मूल-भूत शक्ति को ब्रह्म कहा गया और आत्मवाद को ब्रह्मवाद के अन्दर काबलिज कर लिया गया।

निवृत्ति कथ लब्ध—अगर कहा गया है कि पूर्ववैदिक दर्शन के अनुसार यज्ञ द्वारा, जगत् और जीवन में कार्यशील देवताओं के आराधन से ऐहिक और आध्यात्मिक सुख और सौभाग्य प्राप्त किया जा सकता है। उत्तरवैदिक काल में न केवल देवताओं का स्थान ब्रह्म और ईश्वर ने ले लिया अपितु पुरुषार्थ-विषयक धारणा में भी प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर परिवर्तन हुआ। इस परिवर्तन के प्रधान कारण थे आत्मवाद और संसारवाद। आत्मा को जगत् और आनन्दमय समझ लेने पर मरणशील और सुखावस्त मनुष्यों की लौकिक और स्वर्गिक भांग कामना अवश्य ही घट जाती है और उसके स्थान पर आत्म-ज्ञान की अभिलाषा प्रतिष्ठित होती है क्योंकि आत्म-बोध ही समस्त कामनाओं की आध्यात्मिक निवृत्ति का उपाय है। पर यह स्मरणीय है कि बहुधा विगुञ्ज आत्मवाद के सन्दर्भों में 'आप्तकामता' अथवा 'आनन्द' ही परमाव निकषित किया गया है, न कि दुःखनिवृत्ति अथवा केवल उपशम। प्राचीन वैदिक परम्परा की जीवन की ओर उन्मुखता तथा आनन्द की खोज का यह एक आध्यात्मिक रूपान्तर है^{११}।

कर्म एवं संसार

ब्रह्मवाद और निवृत्तिवाद की धारा मुनि-धर्मों की प्रचारित थी और संसारवाद अथवा पुनर्जन्मवाद पर आश्रित थी, जिसका कि आत्माईतवाद से कोई अनिवार्य संबंध नहीं है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त पूर्ववैदिक संहिताओं अथवा मध्यवैदिक ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता। और न इन ग्रन्थों में और्ध्वदैहिक जीवन के विषय में विकसित धारणाएँ मिलती हैं। उत्तर वैदिक कालीन उपनिषदों में संसारवाद परिनिष्ठित, किन्तु अल्प-अवलम्बित सिद्धान्त के रूप में प्रकट होता है। इससे स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त का जन्म केवल वैदिक परम्परा के अन्तर्गत बौद्धिक अथवा आध्यात्मिक विकास का परिणाम नहीं मानना चाहिए, यद्यपि यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि आत्मवाद के विकास के बिना पुनर्जन्मवाद वैदिक शक्तिजनों को ब्राह्म न हो पाता। और न यह मानना उचित होगा कि पुनर्जन्मवाद एक बहुप्रचलित 'आदिम' तथा 'प्राकृत' धारणा है क्योंकि वह आत्मा की केवल और्ध्वदैहिक सत्ता तथा किसी रूप में कदाचित्क जन्म का

ही सिद्धान्त नहीं है, जो कि अनेक प्राचीन समाजों में सिद्धान्तित पाया जाता है, अर्थात् एक स्वभावतः विशुद्ध, अमर तथा अशरीरी आत्मा का सत्, और असत्, कर्म की अपरि-
हार्य शक्ति के द्वारा मुक्तिपर्यन्त बार-बार देह-धारण का सिद्धान्त है। संसारवाद जीव,
कर्म और मुक्ति अथवा निवृत्ति के सिद्धान्तों से पूर्ण अपनी सत्ता नहीं रखता^{४८}।
इसका आधार किसी भी विचारक की तर्क-बुद्धि का कादाचित्तिक और अपर्यन्तयोग्य
विलान भी नहीं माना जा सकता। अन्यथा इसका व्यापक और संतत परवर्ती प्रभाव
दुर्बोध हो जाता है। उत्तरकाल में भी पुनर्जन्म का मुक्तिराजः समर्थन नितान्त योग्य रहा।
'कृतहानि' और 'अहुताभ्यागम' की मुक्ति पीछे की उद्भावित है। और केवल इस
मुक्ति के सहारे शायद ही कोई पुनर्जन्म पर विश्वास रखता। योगियों का तल्लोकि-
ज्ञान ही पुनर्जन्म का वास्तविक साक्ष्य है और योग-विद्या में अभिज्ञ मुनि-अमर्षों का बढ़ता
जीवन्त प्रभाव ही संसारवाद की वैदिक परम्परा में अनुप्रविष्ट और जनता में प्रचलित
करा गया।

मोक्षमार्ग

देवताओं की पुरुषवत् मानकर स्तवन और अर्पण द्वारा उनका प्रसादन
सरल था। अलक्षण और अनिर्वाक्य ब्रह्म अथवा आत्मा की प्राप्ति किस प्रकार हो ?
दूसरी ओर, संसार से मुक्ति के लिए भी उपाय आवश्यक था। और इन उपायों में
प्रधान था आत्म-ज्ञान। प्रायः उपनिषदों में यह विश्वास है कि योग्य गुरु से उपदेश
सुनने पर तत्त्व-ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है^{४९}। गुरु प्रायः शिष्य के लिए ब्रह्मचर्यवास
आवश्यक समझते थे, पर यह ज्ञान का साक्षात् अथवा आवश्यक उपाय नहीं था^{५०}।
सम्बरित तथा नैतिक गुणों पर भी बल दिया गया है, किन्तु वे परम्परा-धार ही हैं^{५१}।

४८—संसारवाद की उत्पत्ति पर इ०—वही, पृ० २८०—८८, अन्य बातों के लिए, सु०—
टाइलर, प्रिंमिटिव कल्चर, जि० २, पृ० १९, ई० आर० ई०, जि० १२,
पृ० ४२६, जोन्वेनबर्ग, दौ लेर डेर उपनिषदेन उन्ड दी आनफोर्मे देस बुद्धि-
समुत्स, पृ० २७ प्र०, १०५ प्र०, ला० बाले फ्रुमे, लेंड जूस्को ३०० आर्वा
जेंसी, पृ० २८२ प्र०, वेल्बलकर एण्ड रानाडे, दि क्विंटेसि पीरियड ऑव
इण्डियन फिलॉसफी, पृ० ८२।

४९—यथा, दा० उप० ६.१४.२, श्वेताश्वतर० ६.२३, छा० उप० ४.९.३।

५०—यथा, छा० उप० १८.७ प्र०, वही, ४.४.१०।

५१—यथा, कठ० १.२.२३।

यह स्वीकार किया गया है कि यदि उपदेश का श्रवण पर्याप्त न हो तो उस पर मनन और निदिध्यासन करना चाहिए, किन्तु यहाँ भी वे बाध की किराएँ एक प्रकार से बाधक-निराकरण मान करती हैं। प्रधान हेतु श्रवण ही है^१। अर्थात् उपनिषदों में प्रायः आत्मा अथवा ब्रह्म के लिए शब्द की ही प्रमाण माना गया है। कुछ स्थलों पर यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि आत्मा समस्त विषयों का भासक होने के कारण स्वयं भास्य अपना विषय नहीं बन सकता। आत्मा नित्य-सिद्ध है, न कार्य है न ज्ञाप्य। आत्मज्ञान के लिए केवल उस अज्ञान का निरास अपेक्षित है जो कि देहादि-विषय-वर्ग में आत्म-प्रतीति-रूप है। इस दृष्टि से आत्मा का स्वर्ण्य-वर्णन तथा प्राप्ति का उपाय, दोनों ही 'नेति नेति' इन शब्दों में सूचित हैं।

मुख्यदेश तथा तत्त्व-विचार के अतिरिक्त कहीं-कहीं उपनिषदों में भक्ति तथा योग की भी साधन के रूप में सूचना उपलब्ध होती है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा है—
 “यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यै कथिताह्वर्याः प्रकाशन्ते महात्मनः॥”
 कठ में कृपा के सिद्धान्त की अभिव्यक्ति है—
 “नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष ब्रूते तेन लभ्यः तस्यैव आत्मा विब्रूते तत् स्वाम्॥”
 ईश के प्रारम्भ में तथा छान्दोग्य के धीरे आगिरस के उपदेश में भीता के निष्काम कर्म की पूर्व-सूचना प्राप्त होती है।

सांख्य-योग

कठ, मुण्डक और श्वेताश्वतर में सांख्य-योग का परिचय मिलता है। प्रायः यह माना जाता है कि सांख्य और योग अपने परवर्ती परिनिष्ठित रूप में क्रमशः विकसित हुए और इस विकास की पहली अवस्था उपनिषदों के इन संदर्भों में उपलब्ध होती है^२। किन्तु उपनिषद सांख्य के परवर्ती सांख्य से मेल न खाने का एक और भी कारण हो सकता है और यह कि उपनिषदों में सांख्य की अवतारणा नहीं की गयी है, केवल कुछ सांख्य-सिद्धान्तों का वेदान्त की दृष्टि से उपयोग किया गया है। अर्थात् उपनिषद, सांख्य विपुल सांख्य नहीं, सांख्य की छायाभाज है। वस्तुतः सांख्य दर्शन के लिए वैदिक मूल

५२-तु०—पंचवशी, १.३०, वेदान्तपरिभाषा, (हरिदास संस्कृत ग्रंथमाला,) पृ० १९९।

५३-तु०—याज्ञोबी, ती एतन्नि क्लृप्तं देर गतिस इवे बाह् देन इन्द्रेन, पृ० २४-२५, ओन्वेनवर्ग, बी लेर इत्यादि (पृथ०), पृ० २०६ प्र०।

नहीं खोजना चाहिए^{५४}। स्वयं सांख्य कारिका में, जो कि सांख्य का सबसे प्रामाणिक और प्राचीन ग्रन्थ है, वैदिक मार्ग को 'अविशुद्धिअवातिशययुक्त' कहा है^{५५}। वेदान्त-सूत्रों के 'प्रधान (प्रकृति)' को 'अशब्द' अर्थात् वेद-विरुद्ध कहा है^{५६}। सिद्धान्तसः भी विरोध अपरिहार्य है—उपनिषद् सिद्धान्त चेतनकर्तृत्ववाद अथवा पुरुषवाद है, सांख्य-सिद्धान्त अचेतन-कर्तृत्ववाद अथवा प्रधानवाद है। सांख्य दर्शन स्वयं अपना मूल अनादि श्रुति में नहीं, किन्तु कपिल मुनि के उपदेश में मानता है। 'कपिल मुनि', इस संज्ञा में कायाचित 'मिश्र वस्त्रधारी' मुनियों की ओर इंगित पाया जाता है। सांख्य दर्शन की निरोधर-वादिता, निवृत्तिपरायणता और श्रुति-विरोध से इस संकेत का समर्थन होता है और उसके मूल की श्रमण-विचारधारा में खोज युक्ति-संगत प्रतीत होती है, न कि वैदिक-विचारधारा में। किन्तु वह निस्सन्देह है कि उपनिषदों के सांख्यसम्बन्ध वैदिक अंश में श्रमण-प्रभाव को विशद करते हैं। मुण्डकोपनिषद् का नाम ही इस प्रसंग में अवधेय है क्योंकि मुण्डक का साधारण अर्थ श्रमण ही होता है।

सांख्य के साधन पक्ष का कुछ परिचय तो सांख्य के सिद्धान्त-पक्ष के परिचय से ही आशेय है। इसके अतिरिक्त योग की अन्य प्रक्रियाओं का सांख्य से कोई अपरिहार्य संबंध नहीं है और उनका कुछ-न-कुछ परिचय नाना प्रकार के रहस्यवाद की परम्पराओं में मिलता है। किन्तु, बुरु-शिष्य-परम्परा में संरक्षित, एक व्यवस्थित आध्यात्मिक विज्ञान के रूप में योग-विद्या सांख्यादि श्रमण-संप्रदायों में उद्भूत और परिपुष्ट हुई। उपनिषदों में नाना रहस्यवादी संकेत मिलते हैं और ध्यान का उल्लेख भी^{५७}। अधिकांश उल्लेखों से रौतबिज्ज योगविद्या के परिचय का अनुमान नहीं किया जा सकता, किन्तु कठ और श्वेताश्वतर के उल्लेख विशिष्ट हैं और अवश्य ही योग-विद्या की सही जानकारी जतलाते हैं।

श्वेताश्वतर से यह भी स्पष्टतर प्रतीत होता है कि वह युग एक बौद्धिक और आध्यात्मिक आन्दोलन का था जब कि नाना दार्शनिक मत प्रस्तुत किये जा रहे थे।^{५८}

५४-इ०—ऑरिजिन्स ऑफ बुद्धिज्म, पृ० ३०५-९, तु०—गार्बे, दो सांख्य क्लिप्-
बोकी, पृ० ३, प्र०; तु०—कीब, सांख्य सिस्टम, पृ० ७-८।

५५—सांख्यकारिका, का० २।

५६—ब्रह्मसूत्र, १.१.५।

५७-इ०—ऑरिजिन्स ऑफ बुद्धिज्म, पृ० ३०१-२।

५८—श्वेताश्वतर० १.१-२।

यही धारणा बृहदारण्यक की जनक-नामा के विवरण से और प्रश्नोपनिषद् तथा अथर्व वेदों से भी मन में बगती है^{५९}। यह प्रतीत होता है कि विदेह के अन्वुद्यम के युग में आर्य और आर्योत्तरीय सांस्कृतिक सम्पर्क अनिष्ट और आध्यात्मिक बौद्धिक स्तर पर सर्वांगीण फलप्रद बन गया। ब्रह्म, आत्मा और ईश्वर, संसार, कर्म और निवृत्ति के जटिल विषयों पर इस समय माना ब्राह्मण और श्रमण मनीषी दत्तावधान थे।

छठी शताब्दी ईसापूर्व

सामाजिक परिवर्तन—ई० पू० छठी शताब्दी समस्त प्राचीन संसार में व्यापक धर्मसुधार का युग था जबकि चीन, यूनान और भारत में बौद्धिक और आध्यात्मिक प्रतिभा का आदर्शजनक प्रस्फुरण देखकर ऐसा बतई होता है कि मानो पिछली अनेक सहस्राब्दियों की परीक्षा के बाद मानव-जाति-मान के लिए 'अभिसम्बोधि' का युग उपस्थित हुआ हो। इस व्यापक आध्यात्मिक चान्ति के लिए ऐतिहासिक 'हेतु-प्रत्यय-सामग्री' का समुचित निर्देश करना सरल नहीं है। भौतिकवादी दृष्टिकोण के अनुसार मानव-चेतना के परिवर्तनों का कारण सामाजिक परातल पर खोजना चाहिए^{६०}; अध्यात्मवादी दृष्टि के अनुसार चेतनागत चान्ति ज्ञान के स्वाधीन विकास अथवा अति-मानवीय प्रेरणा से ही उत्पन्न होती है। इन दोनों दृष्टियों में से किसी की भी अवहेलना नहीं की जा सकती। सब तो यह है कि दोनों परस्पर सापेक्ष हैं, क्योंकि जहाँ एक ओर भौतिक-सामाजिक परिवर्तन के पीछे भी अमरतोमया नवीन आविष्कार और उनकी जननी प्रतिभा कारणरूप में विद्यमान हैं, वहाँ दूसरी ओर सामाजिक प्रवृत्ति के अनुकूल न होने पर किसी भी आध्यात्मिक बीज का प्रबल ऐतिहासिक परम्परा के रूप में प्ररोह असंभव है। ई० पू० छठी और पाँचवीं शताब्दियों में अनेक महापुरुषों और मनोविषयी के चिन्तन और उपदेश के साथ ही महत्वपूर्ण आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन भी दृष्टिगोचर होते हैं, जिन्होंने न्यूनाधिक मात्रा में कुछ सामाजिक तथ्यों के लिए क्लेश और उसके द्वारा जिज्ञासा के भाव को जन्म दिया होगा। सामाजिक परिवर्तन और जाति का अनुभव निस्सन्देह धर्म और दर्शन की नवीं सरणियों की खोज से सम्बन्ध रखता है, किन्तु सामाजिक चान्ति नवीन चिन्तन की अपेक्षामात्र को जन्म देती है,

५९—बृहदारण्यक० ३।

६०—उदाहरणार्थ, ड०—कार्ल मार्क्स, फ्रिड्रिख आंग पुलोडिकल इकांगमी, प्रेफेस, गॉडन चाइल्ड, हिस्टरी।

उनके विषय और प्रकार का निर्णय नहीं करती। संस्कृति के साम्प्रदायिक पक्ष के विचारों में प्रतिभा बीज का कार्य करती है और सामाजिक स्थिति भूमि का। दोनों के सहयोग से ही नवीन साम्प्रदायिक परम्पराएँ बनती और बढ़ती हैं। बुद्ध भगवान् की देवता में उनकी विशिष्ट साम्प्रदायिक अनुभूति कितनी और किस रूप में अभिव्यक्त हुई, इसमें तत्कालीन समाज और चिन्तन का हाथ अवश्य ही था^{६१}।

जनपद

भारत में छठी शताब्दी तक जनों के 'संचार और संनिवेश' का युग बीत चुका था और राज्य के संगठन में साम्राज्य की अपेक्षा देश-तत्त्व अधिक महत्ववाली हो गया था। 'जनपद' जनो का स्थान जनपदों ने ले लिया था जिनमें कुछ राजाधीन थे और कुछ गणराज्य। अंगुत्तरमिकाय की एक प्रसिद्ध सूची के अनुसार उन समय 'सौतह महाजननगर' में जिनके नाम इस प्रकार हैं—कामि, कोशल, अंग, मगध, अजिन्त, मल्ल, कोशिय, वस, कुश, पञ्चाल, मगध, मुरसेन, अस्तक, अवन्ति, मगध और कम्बोज^{६२}। जैन विद्याह्वयप्रति में उससे अंशतः भिन्न सूची दी गयी है जिसमें वस, पाद, और लाड के नाम उल्लेखनीय हैं। जनपद परस्पर संधर्ष में निरत थे और उनकी स्थिति परिवर्तनशील थी। सुदूर उत्तर-पश्चिम में साम्राज्यमयी साम्राज्य का प्रसार महत्त्वशाली घटना भी मर्यादित इस प्रकार की वैश-मत्त और काल-मत्त परिधियों के विषय में अथवा इसके सम्बन्धी ऐतिहासिक, सांस्कृतिकप्रभाव के विषय में निर्विवाद रूप से कुछ कहना कठिन है। इस युग के उद्घोष्य भारत का महत्त्व और सांस्कृतिक विविधताओं की अष्टाध्यायी में सुरक्षित है^{६३}। गान्धर्व्य के जनपदों की संस्कृति उत्तरपश्चिम साहित्य में

६१—साम्प्रदायिक लौकिक स्तर पर वंशवृद्धि के द्वारा ही उपदेश सम्भव है, किन्तु इस उपदेश को धोता अथवा बक्ता के संस्कारों से पृथक् रखना असम्भव है। ये संस्कार ही ऐतिहासिक-सांस्कृतिक प्रभाव के मुख्य द्वार हैं। किन्तु वंशवृद्धि के अतिरिक्त, अथवा सम्बर्द्धित, उपदेश भी सम्भव होने के कारण, एवं अभीष्ट-देशिक ज्ञान के सम्भव होने के कारण, सत्य ज्ञान को इतिहासानुविद्ध नहीं माना जा सकता। तथापि सामान्यतः लौकिक ज्ञान आन्तरिक परंपराएँ शब्दमय एवं संस्कारविद्ध ही हैं, अतएव उनकी ऐतिहासिक आलोचना सम्भव है।

६२—अंगुत्तर (श्री०) जि० १ पृ० २१२; जि० ४, पृ० २५२, २५६, २६०।

६३—इ०—गान्धर्व्यशरण अध्याय, धार्मिककालीन भारत।

और महाभारत के प्राचीन अंशों में प्रतिबिम्बित है। पूर्वी उत्तरप्रदेश और बिहार के जनपदों और उनकी संस्कृति का चित्र प्राचीन बौद्ध और जैन साहित्य में उपलब्ध होता है^{१४}। इस प्रदेश में शाक्यादि गणों और निर्घन्त्यादि अगणों का प्राचुर्य था और यही बौद्ध धर्म की जन्म-भूमि थी। दक्षिणापथ का परिचय इस युग में बहुत अल्प था।

राजा और राजनीति—राजाओं का पारस्परिक संबंध उतना ही सीध था जितना कि राजाधीन और गणाधीन जनपदों का। जहाँ उपनिषदों में और जातकों में काशी एक बलवान् स्वतन्त्र राज्य के रूप में हमारे सामने आती है, वृद्ध के समय में वह कोशल के साम्राज्य का एक अंग बन चुकी है। ऐसे ही बिम्बिसार के समय में मगध ने अंग जनपद को बलपूर्वक आत्मसात् कर लिया। शाक्य गण कोशल की अधीनता स्वीकार करता था तब भी विदूडभ ने उस पर सांघातिक आक्रमण किया, और अनातशानु ने लिच्छवियों से संघाम ठाना।

इन घटनाओं में गण-राज्यों का ह्रास, राज-तन्त्र का उत्कर्ष और मगध के साम्राज्य का प्रसार स्पष्ट देखे जा सकते हैं। इस युग के अनेकविध राजनीतिक परिवर्तनों ने स्वभावात् तत्संबंधी विचार-विमर्शों को प्रोत्साहित किया और दण्डनीति की उस परम्परा को जन्म दिया जिसकी चरम परिणति परवर्ती काल के कौटलीय अर्थशास्त्र में उपलब्ध होती है। अनेक ब्राह्मण विचारकों ने चक्रवर्ती राजा का आदर्श निरूपित किया था और इस आदर्श का तत्कालीन आकर्षण इससे स्पष्ट है कि बौद्धों ने उसका आध्यात्मिक क्षेत्र में उपयोग करना चाहा^{१५}। समाज और राज्य की उत्पत्ति तथा गणों के बलाबल पर विशेष रूप से विचार किया गया जैसा कि दीपनिकाय, महाभारत और अर्थशास्त्र में प्रकट होता है^{१६}।

शासन की बागडोर क्षत्रियों के हाथ में थी। उत्तर-पूर्वी भारत के शाक्य, लिच्छवि आदि गण क्षत्रियबहुल और राजघाट्योपजीवी थे। लिच्छवियों के ७७०७

६४—आधुनिक निरूपण के लिए द्व०—ग्रिक (अंग्रेजी अनुवाद) सोशल ऑर्गनाइजेशन इन नार्थ-ईस्टर्न इण्डिया इन दि एज ऑव् ब्रुड; बी० सी० लां०, इण्डिया इन अर्ली ब्रुथिस्ट एण्ड जैन लिटरेचर; जे० सी० जैन, एन्सयेन्ड इण्डिया ऐज डिस्का-इव्ड इन जैन कॅनन; टी० डब्ल्यू राइज डेविड्स—ब्रुथिस्ट इण्डिया इत्यादि।

६५—दीघ० लक्खण-सुत्तन्त, चक्रवर्ति-सौहृदादसुत्तन्त, दे०—नोवे।

६६—दीघ० अमाज्जसुत्तन्त, महाभारत (चित्रांगता प्रेस, पुना), शान्तिपर्व, अध्याय १०७; अर्थशास्त्र (डिवेन्द्रम् संस्करण), जि० ३ पृ० १४४।

राजाओं का उत्प्रेक्ष्य प्राप्त होता है। कदाचित् ये गण के मुख्य क्षत्रियकुलों के प्रधान थे। लिच्छवियों की न्याय-व्यवस्था विशेष रूप से सुचारु थी। शास्त्रों में भी राजा जबका 'राजशब्दोपजीवी' शब्दोपन का बाद में उल्लेख आता है। कपिलवस्तु में शाक्य गण का संस्थापक या वही बुद्ध और जवान एकत्र होते थे और परामर्श से गण के शासन का कार्य चलाते थे। इन गणों की शासन-व्यवस्था कितनी जनतन्त्रात्मक और कितनी सामन्ततन्त्रात्मक थी, यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता।

कोशल, मगध आदि जनपदों में भी राजा और उनके सजात क्षत्रिय थे यद्यपि अजातशत्रु या विदूषभ सरीखे नये राजाओं का बल उनके श्रमाव्यों की कृतीति, सेना की शक्ति तथा व्यक्तिगत योग्यता पर अधिक निर्भर था, उनकी मूर्खभिषिकाता पर कम^{११}। धर्म और अर्थ की विभिन्न दृष्टियों से राजकीय व्यवस्था दो स्तरों में प्रकट होता है। धर्म की दृष्टि राजा के कर्तव्यों पर और देती थी, अर्थ की दृष्टि राजा की शक्ति पर। धर्मविषयक धारणा भी ब्राह्मणों की और थी, बौद्धों तथा जैनों की और।

क्षत्रिय और धार्मिक आन्दोलन—राजाओं और उनके बन्धुओं के जीवन-यापन के लिए अनेक व्यवस्था थे—भूमि, कृषि, पाल, स्त्रियाँ और पुत्र। किन्तु अनेक राजा अपने अवकाश में नवीन धर्म-दर्शन की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देते थे। सब तो यह है कि ब्राह्मणों के समान ही क्षत्रिय भी इस युग में बौद्धिक जीवन का सेतुत्व करते थे। उपनिषदों में अनेक ज्ञानी राजाओं का वर्णन आता है, जैसे पांचालराज प्रवाहण जैबलि जिन्होंने श्वेतकेतु के पिता उद्दालक को उपदेश दिया^{१२}। केकयराज अश्वपति और काशिराज अजातशत्रु भी ब्राह्मणों को ज्ञान का उपदेश देते पावे जाते हैं^{१३}। विदेह-राज जनक तो भारतीय व्याख्यात्मक इतिहास में राजर्षि के रूप में सुप्रसिद्ध ही हैं। महाभारत में कृष्ण और भीष्म ज्ञान का उपदेश करते हैं। गीता में ज्ञान की एक राजर्षि-परम्परा की ओर संकेत किया गया है जिसकी तुलना प्रवाहण जैबलि के द्वारा निर्दिष्ट क्षत्रिय-विद्या से होनी चाहिए। बुद्ध और महावीर भी क्षत्रिय उपदेशक थे। जैन परम्परा में तीर्थंकरों का क्षत्रिय होना अनिवार्य है।

यह उल्लेखनीय है कि कुछ विद्वानों ने क्षत्रियों को इस युग के एक ब्राह्मण-विरोधी धार्मिक-सामाजिक आन्दोलन का नेता ठहराया है^{१४}। किन्तु उपर्युक्त तथ्य

६७-तु०—जे० बी० जी० आर० ए० एस०, १९२१, पृ० १८६-८७।

६८-बु० उप० ६.२, छा० उप०, ५.३ प्र०।

६९-छा० उप० ५.११ प्र०, बु० उप० २.१।

७०-तु०—राइस डेविड्स, सुपिस्ट इण्डिया, पृ० २५७, वैरिक एज, पृ० ४६८-६९।

इस मत का निश्चित सम्पर्क नहीं करते। बिज्जामिन और बगिड के सम्पर्क की कथा इस प्रसंग में निम्नार है और ऐसे ही महाभारत में उल्लिखित आश्वमेध के किये हुए क्षत्रिय-संघार की कथा को भी भारवर्षों की अतिरिक्त कल्पना ही मानना चाहिए^{१०}। ब्राह्मण-क्षत्रिय सम्पर्क की ऐतिहासिकता स्वीकार करने के लिए कोई वास्तविक आधार नहीं मिलता। क्षत्रियों ने नवीन आध्यात्मिक और बौद्धिक आन्दोलनों में महत्वपूर्ण भाग लिया, किन्तु इससे यह अनुमान नहीं किया जा सकता कि अधिक लाभ, सामाजिक प्रतिष्ठा अथवा राजकीय शक्ति के लिए ब्राह्मणों और क्षत्रियों में जातिगत अन्धता अथवा सम्पर्क था। अथवा ही मैककार्थर-रुप आध्यात्मविद्या पुरोहितों की विरोधिता की, पर इसके नेता वास्तव में अमथ थे जिनकी आध्यात्मिक-मानसिक परम्परा में इस समय क्षत्रिय और ब्राह्मण दोनों ही थे। बृह और महावीर जन्मना क्षत्रिय थे, किन्तु जाति के परिग्रामपूर्वक ही वे अमथ बन गये। दूसरी ओर उपनिषदों में और गीता में संकेतित विमुक्त धार्मिक-विद्या 'कर्म' का प्रत्याख्यान नहीं करती। फलतः उपलब्ध साधन के आधार पर केवल इतना ही स्वीकार किया जा सकता है कि पुरोहितों के कर्मकाण्ड का इस युग में जनेक विद्यार्थियों ने विरोध हुआ, जिसका अन्तर्गत, प्रमुक्त क्षत्रियों और अध्यात्मवादी ब्राह्मणों ने सेतुत्व किया।

आर्थिक प्रगति—दार्माण और 'आरण्यक' बौद्ध सम्प्रदाय अब अनेकानेक घर-आसनों की भली भी^{११}। व्यापार के सुदूर-विस्तृत स्वार्थ और लालचों पर साधेबाहों के उद्यम ने इन तगरों को समृद्धि प्रदान की थी।^{१२} सागरिक शान्तिज्व और व्यवसाय श्रेणियों में संगठित थे और इन श्रेणियों के प्रधान अन्धी समाज में और राजसभा में प्रतिष्ठा प्राप्त करते थे।^{१३} सागरिक जीवन का विविध विकास इस युग के सामाजिक दृष्टि को पिछले युग से विभक्त करता है। व्यावसायिक प्रोत्साहन ने उत्पन्न व्यापार

०१-मु०—मुक्कंकर, किरिजल स्टोडन इन दि महाभारत, पृ० २७८-३३३, (पूना, १९४४)।

७२-३०—ऑरिजिनल ऑव बुद्धिज्म, पृ० ३१४-१५, मु० सी० ए० एक० राइज सेविट्स, कैम्ब्रिज हिस्टरी, जि० १, पृ० १८९, ३०, एन० सी० क्लोपाप्याव, इकोनामिक लाइफ एण्ड प्रोग्रेस इन एन्थेन्ट इण्डिया, जि० १, भाग ३।

७३-व्यापारपथों एवं साधेबाहों पर, ३०—राइज सेविट्स, बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० १०३-१०५, सीसीएन, साधेबाह।

७४-श्रेणियों पर, ३०—मज्जुमदार, कोरपोरेट लाइफ इन एन्थेन्ट इण्डिया।

को स्वयं एक मिलिगम-साधन की अपेक्षा रहती है। इन्ध (‘मत्ती’) का आविर्भाव इस अपेक्षा की पूर्ति करता हुआ समाज में एक नवी और रहस्यमयी-सी व्यक्ति को जन्म देता है। समाज ने पहले की अपेक्षा अधिक परिवर्तनशीलता आती है, सामाजिक कितान-अमृत और पुरुष-निरपेक्ष बनने लगता है, और सामाजिक सम्बन्धों का ‘मनु-साधारण’ (‘हेटिजियेयन’) चारम्भ हो जाता है^{७५}। बुद्ध के समय में ही भारतीय संस्कृति सर्वप्रथम ‘इन्ध के युग’ में अवसीर्ण हो रही थी। यह अवस्था का ही मही, ग्रीष्मर्तु का सम-मा। अग के मेघदल, कोसल के अनाथापानिका और कोशाम्बी के पोषक इन वनारूप श्रेष्ठियों के कुछ ज्वालन्त उदाहरण हैं^{७६}। यह स्मरणीय है कि ये वहे श्रेष्ठी-पामो उस युग के सन्धान-नरायण धर्मण-सम्प्रदायों के पोषक थे।

कुछ प्रतिपादकवारों ने शीतलवी शताब्दी के यूरोपीय जामिक सुधार की तत्कालीन धानक-वर्ष के अन्तर्द्व के साथ जोड़ा है^{७७}। ऐसे ही, कुछ विद्वानों का सुझाव है कि जैन और बौद्ध धर्मों के अन्तर्द्व में भी श्रेष्ठियों की अनुकूलता एक तत्कालीन काष्ठागत इस सुझाव के लिए विमुक्त सम्भावना के अतिरिक्त विशेष अभाव नहीं है। यह स्पष्ट है कि प्राचीनवैदिक देवता और यह एक सामीप और इतिप्रधान सामाजिक परिधि में उद्भूत हुए थे। तत्कालीन के बदले हुए वातावरण में पुराने वैदिक धर्म के प्राकृतिक आधारों तथा शास-जीवन सम्बन्ध रक्षितवाये अनेक प्रतीकों कार्थुपकातर उल्लाही स्वाभाविक या जितना उनके साथ उस सदा का जो कि पुराने देवताओं और उनके राजित कर्मकाण्ड का आधार, थी। तथापि यह स्मरणीय है कि प्रोफेटेट आन्दोलन के विपरीत जैन और बौद्ध सम्प्रदाय निवृत्तिररुक्त थे और उनके अन्तर्द्व का जामिक सम्पत्ति के इतिवर्तन के ओष के साथ छोटे सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। और फिर इन सम्प्रदायों की मुवात्तादी कहल वस्तुतः संपत्त नहीं है। तथापि यद्यपि यह निश्चिन्त है कि श्रेष्ठियों ने अमलसम्प्रदायों की साम्यता की, यह नहीं कहा जा सकता कि इन सम्प्रदायों का उद्भव अथवा विकास समाज के धनिक-वर्ग के तत्कालीन उद्भव तथा विकास के साथ अविचार्य-सम्बन्ध रखता था।

साधारण धर्म—साधारण इस यु। में अपना सामाजिक श्रेष्ठत्व प्रस्थापित करते थे और पुरोहित तथा आचार्य के जीवन की कर्ता भारों मानते थे। धर्मदान के

७५-मु०—म्बीजी, मिथरी जॉर्ज कॅनिटिलिड टिविलिसेट, पृ० ३५, ४०।

७६-४०—मल्लसेकर, विजयवरी जॉर्ज पालिग्रोहर मेम्स, २ कि०।

७७-मु०—टाउनी, रिलिजिय एण्ड हि राइज जॉर्ज कॅनिटिलिड्स।

अनुसार ब्राह्मण के ६ प्रधान कर्तव्य थे—'यजन, याजन, अघ्यपन, अभ्यापन, दान और प्रतिग्रह'। पर यथार्थ में अनेक ब्राह्मण न पुरोहित थे न आचार्य, कुछ प्रशासकीय कामों में अधिकृत थे और कुछ जमींदार अथवा भूद-किसान, अथवा दरिद्र कर्मकर थे"। साधारण जनता के जीवन में अटिल श्रौत यागों की अपेक्षा माना मृदा कर्मों का अनुष्ठान अधिक महत्त्व रखता था। यह स्मरणीय है कि जहाँ श्रौत कर्मों का बौद्धों और जैनों ने बहुत विरोध किया, मृदा कर्मों का बौद्ध और जैन उपासकों ने सर्वथा तिरस्कार नहीं किया। अतएव परवर्ती काल में उदयनाचार्य ने कहा कि 'नारस्येव तत्पुण्यं यय सांवृतमेतदित्युक्त्वापि सर्वाधानाद्यन्त्येष्टिपर्यन्ता वैदिकीं कियं नानुतिष्ठति जमः'। ऊपर उपासकों की जालीबता में यह कहा गया है कि स्वयं ब्राह्मणों के धर्म में कर्म-काण्ड के अतिरिक्त ज्ञान-काण्ड में सहस्त्रशाली स्वाम पा लिया था और ब्राह्मण कर्त्तव्यों और आचार्यों ने इसका सतत प्रयत्न किया कि उनके धर्म का प्रगतिशीलतम दार्शनिक सिद्धान्तों से सामञ्जस्य बना रहे। आत्मवाद और ब्रह्मवाद का समन्वय तथा संसार-वाद और कर्मवाद का स्वीकार, इस प्रवृत्ति के उदाहरण हैं। महाभारत में, क्रियोपतः गीता और शान्तिपर्व में, कर्म और ज्ञान के प्रचलित विरोध का स्पष्ट परिचय मिलता है। मोक्षधर्म पर्व में ज्ञान को प्राधान्य दिया गया है। भगवद्गीता में कर्म और ज्ञान के समन्वय का प्रयत्न किया गया है। ये दोनों धाराएँ उपासकों में भी देखी जा सकती हैं—मुण्डक में कर्म का तिरस्कार, ईश और अथर्व छान्दोग्य में ज्ञान-कर्म-समुच्चय। यह कहा गया है कि वैदिक प्रवृत्ति धर्म का विरोध उत्तरपूर्व में व्यापक रूप से किया गया जब कि उत्तर-पश्चिम में प्रवृत्ति और निवृत्ति के समन्वय का यत्न किया गया। इस प्रकार एक ओर बौद्ध धर्म और जैन धर्म का तथा दूसरी ओर सामयिक धर्म का विकास हुआ"। इस मत में बौद्धिक प्रवृत्तियों का जैसा अमकीर्ण प्रादेशिक विभाजन अभीष्ट है वैसा यथार्थ में सिद्ध नहीं किया जा सकता। इतना अवश्य सत्य है कि यणों और श्रमणों के पूर्वी प्रदेशों में निवृत्तिपरक सम्प्रदायों का

७८-सु०—फिह, पृष्ठ० (कलकत्ता, १९२०), पृ० २२२ प्र०।

७९-आत्मतत्त्वविवेक (चौखम्भा संस्कृत ग्रन्थमाला) पृ० ४१७—"ऐसा कोई ब्रह्म नहीं है जिसमें लोग सर्वाधान से लेकर अन्त्येष्टि किया पर्यन्त वैदिक कर्मों को सांवृत बताते हुए भी उसका अनुष्ठान न करते हों।"

८०-सु०—आर० जी० भण्डारकर, वैष्णविज्म, शैविज्म, एण्ड अवतार माहुर रिलिजस सिस्टम, पृ० ४१-४२।

जितना प्रचार या उतना इस समय पश्चिमी प्रदेशों में नहीं था। इस आपेक्षिक भेद का कारण न तो मूलतः भौगोलिक था—क्योंकि भौगोलिक कारणों का विनिश्चित बौद्धिक अथवा आध्यात्मिक प्रवृत्तियों से सम्बन्ध जोड़ पाना सरल नहीं है—और न एक व्यापक सुधार की प्रवृत्ति का अतर्क्य न्यूनाधिक था, प्रत्युत यह स्वीकार करना होगा कि उत्तरपूर्वी आध्यात्मिक आन्दोलन वैदिक धर्म का आन्तरिक सुधार-आन्दोलन न होकर वास्तव में श्रमणों के प्रभाव का विस्तार था जिसमें प्रादेशिक, सामाजिक, सांस्कृतिक कारण सहकारी बन गये, जब कि पश्चिम में वैदिक धर्म के अन्तर्गत सुधार की प्रवृत्तियाँ अनेक रूपों में विकसित हुईं।

प्रचलित धर्म—भारतीय समाज में सदैव अनेक सांस्कृतिक स्तर संगृहीत रहे हैं और उनके अनुरूप धार्मिक सिद्धा भी भिन्न-भिन्न रहते हैं। भगवद्गीता में कहा गया है "सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत । श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यन्बुद्धः स एव सः ॥ यजन्ते सार्विका देवान्सत्वरतामि राजताः । प्रेतान्भूतगणांच्छान्ते यजन्ते तामसा जनाः ॥" (१७, ३-४) "देव-पूजा वैदिक थी और यहाँ सार्विक कहो गयी है। यक्ष-पूजा, जिसे यहाँ राजस कहा गया है, साधारण जनता में सुप्रचलित थी। यक्ष शब्द प्रायः देवता के समान ही अर्थ रखता था, और यक्ष-पूजा की अनेकांश में आर्य-धर्म का ही प्रचलित, परिवर्तित और परिवर्धित रूप मानना अयुक्त न होगा। यक्षों की अलौकिक सत्त्व माना जाता था जो प्रायः वृक्षों में निवास करते थे और प्रसन्न होने पर नाना सांसारिक कामनाओं की पूति का वर देते थे। वे अनेकज स्थानदेवता अथवा कुलदेवता के रूप में प्रतिष्ठित थे। धर्म और नुक के साथ उनका विशेष संबंध था। कभी वे अनिष्टकारी भी हो सकते थे और आवेश के कारण भी बन जाते थे। यक्षिणी में जम्बराओं का सादृश्य देखा जा सकता है और कभी वे पुरुषों को प्रलोभित करती मिलती हैं। कुछ यक्ष बाद में ब्राह्मण और बौद्ध देवताओं में रूपान्तरित पाये जाते हैं

८१—भौगोलिक और बौद्धिक तत्त्वों के सम्बन्ध पर, तु०—डकल, हिस्टरी ऑफ सिविलाइजेशन इन इंग्लैण्ड, अध्याय २, इसकी आलोचना, लॉर्ड एक्टन, हिस्टोरिकल एसेज एण्ड स्टडीज, अध्याय १०-११।

८२—अर्थात् 'सबकी श्रद्धा सत्त्वानुरूप होती है, मनुष्य श्रद्धामय है, जिसकी जैसी श्रद्धा है, वह वैसा ही है। सार्विक पुरुष देवताओं का यजन करते हैं, राजसिक यक्ष-राक्षसों का, तथा अन्य तामसिक जन भूत-प्रेतों का।

और उनका प्रभाव कुछ अर्थों में प्रतिभा-विधान की परम्परा तथा तात्त्विक चर्चाओं पर रखा जा सकता है।^{८३}

यहाँ की पूजा के अतिरिक्त नाना श्रेष्ठ, भूत और वस्तुओं की सामग्री पूजा भी लोभ में प्रचलित थी। इन्द्र, स्कन्द, चन्द्र, सुकुन्द, यक्ष, श्रेष्ठ, ताम्र आदि के अनेक उल्लेख मनाये जाते थे। इन अवसरों पर ब्राह्मणों और भक्तों की, ब्रह्मिणों की और भिक्षारियों की दान मिले जाते थे और कितनाया जाता था। इन उल्लेखों में जग-संनदे और महापान अविविष्ट नहीं थे और इनकी तुलना बौद्ध धर्मों में उल्लिखित 'समस्या' से की जा सकती है।^{८४}

प्रचलित धारणा के अनुसार जीव एक सूक्ष्म और अक्षय्य पुरुष है जो कि स्थूल आधिभौतिक देह का संभालन करता है और मन और प्राण की वेष्टाओं का वास्तविक आधार है। उपनिषदों और बौद्ध ग्रन्थों में इस प्रकार की धारणा नाना रूपों में हमारे सामने आती है। "अगुण्यमात्रं पुरुषोऽज्ञात्वा सदा भवता हृदये संतिष्ठति" -^{८५} (कठ० २.६.१३), "इहैवान्तः शरीरे सौम्य स पुरुषी" -^{८६} (अम ६.२), "य एवोर्जसि पुरुषो द्रव्यत एव ज्ञातेति" -^{८७} (छा० ४.१५.१), "अथ जीवो नमोऽज्नु परिक्रामते प्रचाममादर्शो कलमएव इत्येव च एवमु त्वमेवेतेषु परिक्रामत इति" (छा० ८.३.४), "य एव स्वप्ने सहीतमानश्चरत्येव ज्ञातेति" -^{८८} (छा० ८.१०.१) आदि उपनिषदों के धारणों में आध्यात्मिक ऐसी प्रचलित धारणा का उल्लेख मिलता है। किन्तु इस प्रकार की सूक्ष्मदेहाभ्यास-युक्त धारणा उपनिषदों के वास्तविक सिद्धान्त की प्रकट नहीं करती। 'जीव' अथवा 'आत्मा'—इन शब्दों से एक और प्रचलित, सम्भाव्य-युक्त पुरुषविषयक धारणाएँ और दूसरी और उपनिषदों के अनिर्भङ्गनीय, किन्तु अनवीक्ष्य आत्मा का सिद्धान्त, ये दोनों ही सूचित होते रहते हैं। बौद्ध ग्रन्थों में 'जीवन्' तथा 'जहन्' का प्रयोग प्रायः पहले अर्थ में, अर्थात् प्रवृत्तता में अध्यात्म सूक्ष्मादि देह के अर्थ में, होता रहा है। ब्रह्मजाल मुक्त, पापानि-आदि सन्दर्भों में यह स्पष्ट है। तन्मृतः सही अर्थ बुद्धिस्थ रहते तब 'निरात्म्य' के सिद्धान्त की समझ होती है। आत्मभाव का प्रत्यास्थान नहीं किया जा सकता क्योंकि वह अपनी ही सत्ता का अपसाप होना और स्वयं स्थावृत। आत्मा की विनिष्ट व्याख्याओं का

८३—यहाँ पर इ०—कूमारस्थानी—प्रकरण २ भाग १।

८४—इ०—ऑरिजिनल ऑफ बुद्धिज्म, पृ० ३१८-१९१।

तत्त्वज्ञानन किया जा सकता है, तथा इसका कि ज्ञानमें सर्वज्ञ और निश्चय दोनों धर्म हैं। किन्तु इन ज्ञानधर्मों में ज्ञान की अनिर्वाच्यता का संशय अद्वयता होगा।

परिष्कारक-उद्भव—उड़ी वातावरणों के भौतिक जीवन का नेतृत्व राजाओं और श्रेष्ठियों, पंडितों और धार्मिकों के हाथ में था जो कि शक्ति और धन से अपना देव-ताओं की कृपा से अपने और दूसरों के लिए भीम और सुविधाएँ प्रदान में दक्षिण में और जिनके प्रभाव से साम्राज्य विस्तृत और समस्त समृद्ध हो रहे थे। दूसरी ओर, सामाजिक जीवन के इस प्रवृत्ति-वृद्ध की सर्वथा अद्वैतता कहते हुए अनेक भ्रमण, मुख्यतः अथवा सिद्ध जीवन के अभाव में दुःख से तप्त जनता के संशय निवृत्ति और शक्ति का आदर्श उपस्थापित कर रहे थे। संसार-ज्ञान के प्रसारक माना 'शास्त्रों' में विद्यमान इन परिष्कारकों का सम्बन्ध और प्रभाव इस युग के भौतिक जीवन का सम्मिलित सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य था।

शास्त्रों ने यह सुझाव प्रस्तुत किया है कि ब्राह्मण भिक्षुओं के अनुकरण में बौद्ध और जैन भिक्षुओं का उदय हुआ था। इसके समर्थन में उन्होंने मुख्य मुक्ति यह की है कि बौद्ध और जैन भिक्षुओं के निरवश जीवन और शीघ्रता के धर्म-धर्मों में प्राप्त गिनती से जादृश्य रहते हैं। अनुवाद यह साधन जीवन संसार-ज्ञान के आदर्श की समताता में पर्यवेक्षित हो जाता है और अत्यन्त व्यापक निवृत्ति की परिधि का प्रति-फलन नहीं करता। शास्त्रों का विश्वास था कि निवृत्ति का आदर्श ब्राह्मणों के धर्म में पहले उल्लिखित हुआ और बहुत आसन्न के रूप में व्यक्त हुआ। पीछे इस आदर्श का बौद्धों और जैनों ने अनुकरण और अनुकरण किया। किन्तु इस अनुकरण के समर्थन में पर्याप्त सुविधाएँ नहीं दी जाती क्योंकि वायुशब्द के सिद्धान्त की ब्राह्मण-धर्म में प्रतिष्ठा सर्वप्रथम धर्म-धर्मों में हुई, उसके पहले नहीं। और अधिक संभावना इस बात की है कि संसार-वाद के साथ परिष्कार का भी महत्त्व ब्राह्मणों ने धर्मों ने किया, न कि धर्मों ने ब्राह्मणों से।

वैदिक साहित्यों में तथा ब्राह्मणों में आश्रम धर्म की कहीं उपलब्धि नहीं होती। मातल में तेजरेव ब्राह्मण के "किमु मत्त किमचित् किमु एवमुपि कि मत्तः। युवं ब्राह्मण इच्छामः स वै-लोको यदावदः॥" (३३-१)। इस श्लोक की व्याख्या में कहा है कि "आश्रम-अनुष्ठानं चिद्विदम्" और ज्ञान महीदव ने इसकी वैदिक-

८५—पृष्ठ० बी० ई० वि० २२, मुद्रिका, तु०—मेरुभूत, हृदय केरवर्त, पृ०

३५२, कृत्त, शीघ्रत-धर्म युव (पृष्ठ० बी० ई० में अनु०)।

साहित्य में चार आश्रमों का प्राचीनतम, अस्कृत उल्लेख माना है।^{८५} किन्तु यह व्याख्या निर्विवाद नहीं कही जा सकती, विशेषतः साम्य का 'मल' को गार्हस्थ्य का स्रोतक मानना। सम्भव है कि इस श्लोक में ब्रह्मचारियों, तपस्वियों और मूनिषों को ओर संकेत हो, किन्तु किसी स्वीकृत चातुराश्रम्य की व्यवस्था की ओर संकेत नहीं है। उपनिषदों में जैसे कुछ स्थलों में संसारवाद और कर्मवाद का अभ्युपगम है, वैसे ही कुछ स्थलों में संसार-त्याग का भी उल्लेख मिलता है। श्वेताश्वतर ने 'अत्याधमिभ्यः' पद पाया जाता है,^{८६} बृहदारण्यक में याज्ञवल्क्य से सम्बद्ध कुछ स्थलों में प्रव्रज्या का संकेत है,^{८७} मुण्डक (३.२.६) में 'संन्यासयोग' का उल्लेख है। मुण्डक (१.२.११) में भी संन्यासियों का उल्लेख है, यद्यपि इस स्थल में अरण्यवासियों और भिक्षुओं में विभेद नहीं किया गया है। छान्दोग्य (२.२३.१) में भी तृतीय और चतुर्थ आश्रमों का विवेक नहीं है। इन उल्लेखों से यह तो स्पष्ट है कि कुछ वैदिक आचार्य उपनिषत्काल के उत्तरार्ध में न केवल भिक्षु-जीवन से परिचित थे, अपितु उसको आदर्श मानना चाहते थे। किन्तु इन उल्लेखों से यह नहीं प्रतीत होता कि इस समय वैदिक धर्म के खन्दर चार आश्रमों का व्यवस्थित आदर्श प्रतिष्ठा-लाभ कर चुका था। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन वैदिक काल में केवल दो ही आश्रम अंगीकृत थे—ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य, यद्यपि वैदिक जीवन के बाहर पुरानी सभ्यता के अवशेष मुनि-धर्मियों की सत्ता सर्वथा आधिपत्य नहीं थी। उत्तर वैदिक काल में प्रतीकात्मक और रहस्यमय विद्याओं और उपासनाओं के आधिभाँव के साथ आरण्यक-जीवन का भी प्रचार हुआ और एक तीसरे आश्रम का आदर्श विकसित हुआ जिसमें पहले दोनों आश्रमों का तथा कर्म और विद्या का समन्वय है। साथ ही साथ धर्मियों के सिद्धान्त और दृष्टान्त से कुछ वैदिक ऋषि और विचारक प्रभावित हुए और फलतः उपनिषदों में कहीं-कहीं वैदिक कर्म की अवहेलना तथा संन्यासियों की स्तुति पायी जाती है। परन्तु तृतीय काल में संन्यास की चतुर्थ आश्रम के रूप में धर्म-मूर्खों ने स्वीकार किया, किन्तु उनके युग में भी इन आश्रमों के नामाभि सर्वसम्मत नहीं प्रतीत होते। आपस्तम्ब की पंक्ति है—“चत्वार आश्रमाः गार्हस्थ्यनाचार्यकुलं मौनं वानप्रस्थमिति।”^{८८} गौतम ने ब्रह्मचारी, गृहस्थ, भिक्षु

८५—कावे, हिस्टरी ऑव दि धर्मशास्त्र, खि० २, भा० १, पृ० ४१८।

८६—श्वेताश्वतर, ६.२१।

८७—वृ० उप० २.४.१, ३.५.१, ४.४.२२, ४.५.२।

८८—“चार आश्रम हैं—गार्हस्थ्य, आचार्यकुल, मौन एवं वानप्रस्थ” (आपस्तम्ब, २.९.३१.१)

और वैश्वामित्र का उल्लेख किया है।^{१०} बसिष्ठ और बोधायन ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और परिव्राजक—ये संज्ञाएँ प्रस्तुत करते हैं।^{११} यही नहीं, बोधायन और गौतम दोनों माहेश्वर को प्राधान्य देते हैं। बोधायन का कथन है—“ऐकाग्रस्य त्वाचार्या अप्रजननत्वादितरेषाम्। ततोदाहरन्ति प्रह्लादि वै कपिलो नामासुर आस स एतान्भेदांश्चकार देवः स्वर्गभानस्तान्मनोषो नाद्रियेत।”^{१२} गौतम की तुलनीय उक्ति है—“तेषां गृहस्थो योनिरप्रजननत्वादितरेषाम्।”^{१३} इस प्रकार श्रामण्य की एक प्राचीन परम्परा को ही ई० पू० छठी शताब्दी के वैदिक और अवैदिक भिक्षु सम्प्रदायों के मूल में मानना चाहिए।

ब्राह्मण-परिव्राजक—भिक्षुओं के अनेक सम्प्रदाय थे जो कि दो मुख्य विभागों में बाँटे जा सकते हैं—ब्राह्मण और श्रमण। संसार-त्यागी और तपस्वी दोनों ही थे, किन्तु कुछ विषयों में व्यापक भेद था। ब्राह्मणों की दृष्टि से संसार-त्याग माना लौकिक कर्तव्यों की पूर्ति के बाद मुक्त था। इसी दृष्टि की ओर उत्तरज्जायण का यह निर्देश है—“अहिंसा येन परिधिसा विधे पुत्ते परिठण्ण गिहंसि जामा। मोच्चाण भोए नद्ध इत्थियाहि आरण्णया होइ मूणो पसत्थ।”^{१४} इसके अतिरिक्त ‘वम्मण्णय’ में वर्ण-भेद के अनुसार प्रदत्तों का अधिकार केवल ब्राह्मण अथवा द्विज को ही प्राप्त था जब कि बौद्ध संघ में सब ही वर्ण और जातियाँ सामर में तदियों के समान भेद छोड़कर हिल-मिल जाती थीं। और फिर वेद के प्रमाण और महत्त्व की ओर भी ब्राह्मणों और श्रमणों की दृष्टियाँ विभक्त थीं। बसिष्ठ का कथन है—“सन्न्यासेत्सर्वकर्माणि वेदभेदं न सन्न्यसेत्। वेदसल्लवसनाच्छूद्रस्तस्माद्भेदं न सन्न्यसेत्।”^{१५} इसके विपरीत उत्तरज्जायण में

१०—गौतम, १.३.२।

११—बसिष्ठ, ७, १-२; बोधायन, २. ६. १४।

१२—“किन्तु आचार्य एक ही आश्रम बताते हैं क्योंकि अन्य (आश्रम) सन्तानोत्पत्ति के अयोग्य हैं। कहते हैं कि प्रह्लादि कपिल नाम का असुर था, उसने देवताओं को होड़ में इन भेदों का निर्माण किया। अतः मनोषो को चाहिए कि उनका आदर न करे।” (बोधायन २.६.२९-३०)।

१३—“गृहस्थ उनका मूल है, शेष के प्रजोत्पत्ति में अक्षम होने के कारण।” (गौतम, १.३.३।

१४—उत्तरज्जायण, १४.९।

१५—बसिष्ठ, १०.४।

कहा है—'नेता जहीमान भवन्ति ताव ।' (१) अन्त में, ग्रामों की प्रत्यक्षा पर भी ब्राह्मणों का मल-धर्मों की ओरोंका बिज तवा अनुसार था । यह भी समझाया है कि ब्राह्मणों में तालस और बिज प्रलय-अलय में । संकराचार्य ने इन दोनों का अमेव प्रति-पादित करने वाले समय का सम्बन्ध करते हुए यह स्पष्ट किया है कि बालप्रस्थ में बाल-सौदा-संशय तब का महत्व है जब कि संस्था में समय का प्राधान्य है । (२) वस्तुतः बालप्रस्थ में वैदिक कर्म क्षेत्र रहता था, संस्था में नहीं । दोनों के लिए युवक युवों की रचना हुई थी । बालप्रस्थों के लिए वैशाख-श्रावण का और भिन्नों के लिए पाराशर्यकृत युवों का उल्लेख प्राप्त होता है । (३) किन्तु कथन, उत्तरकाल में बाल-प्रस्थ आश्रम-सा हो गया । अरण्यास, उपस्था और व्रतारि विद्या में निरत मान-वृत्तों की सभा 'व्रतिल' की थी । विद्यापिठक में उन्हें कर्मवादी, विद्यावादी और धर्म के परिचारक बताया गया है । (४) कदाचित् मेवासम्बन्ध के 'हृषीकेश' की ने ही ने जो कि 'न समरी में रहते थे, न धरो में', 'सकल वृत्तिले थे, अन्धकार से धामी पीते थे, और न सिवाहू करते थे, न मन्तावोपासन ।' (५) किन्तु यह वास्तविकता है कि मेवासम्बन्ध में इनकी धर्मों के साथ रहा है, न कि ब्राह्मणों के । इसका कारण स्पष्ट ही यह था कि उपस्था आदि के द्वारा बालप्रस्थ सामान्य के निकट आधिक से और ब्राह्मणों में आधिक शक्ति की जाननी के अर्थ । मेवासम्बन्ध ने भारतीय धर्मों को ब्राह्मण और अमल इस दो भागों में बांटा है, किन्तु इसके अर्थ से स्पष्ट है कि उसने ब्राह्मणों को ब्राह्मणारी और गृहस्थ ही देना । सम्भवतः यह ब्राह्मण तथा ब्राह्मणोत्तर अमल-परि-ब्राह्मणों की विवेक नहीं कर सका और अतएव इनके धर्मों के अस्तित्व प्राप्ति के कारण एक परिजातकी और वापसों की 'अमल' की ही आस्था दे दी ।

परिजातक-गण एवं उनके निधन—परिजातक अनेके अमल धर्मों में अमल करते थे । इनके मूल अर्थों नेता साला वा प्रजाधर्म कहे जाते थे । (६) साधन का प्रकार विविध था । मिमंसी में खण्डन सुपुत्र भट, आशीर्षिकों में अनेकवार विविध । आर्य-

१६-अनुरागपत्र, १५, १२ ।

१७-ब्रह्मसूत्र, ३, ४, २० पर तात्पर्य ।

१८-द०—बोधापन, २, ३, १६, पामिनि, ४, ३, ११० ।

१९-धिया तान, महाभाग, पृ० २७-३४ ।

२०-मेकविन्दन, पूर्व, पृ० १०२, १०५ ।

२०१-द०—तीर्थ ।

को पीछाछूट के अनुयायी 'एकसादक' कहते थे ।^{१०५} किन्तु व्यवहार में निर्धर्मियों की विभिन्न अवस्थाओं में अधिक लक्ष्य धारण करने की भी अनुमति थी । आर्थिक भिक्षा-भाव का निषेध करते थे और 'हस्तापलेखन' कहे जाते थे । पर निर्धर्मियों का आचार भिन्न था । आहार के विषय में भी गम्भीर आचार-भेद था । ब्राह्मण बतियों के लिए आवश्यक था कि सधुर भोजन की कामना छोड़ दें और बीजबिनाश न करते हुए पेड़-पौधों के स्वयं सस्य अवयवों से आहार-निष्पादन करें । यह स्मरणीय है कि छान्दोग्योपनिषद् में आहार-शुद्धि के द्वारा सत्वशुद्धि को साध्य बताया है ।^{१०६} आर्मीकल अनुष्ण जल और अतप्त बीजों का निषेध नहीं करते थे और न मोहद्वय कल्पित भक्ष का । निर्धन्य तीनों का निषेध करते थे ।^{१०७} परिधान और आहार दोनों ही विषयों में शाक्यपुरुषों के नियम अधिक उदार थे ।

आवास के विषय में बसिष्ठ का विधान है—“अगित्वाधस्तात् घटेत् । घामान्ते देवगृहे शुभ्यागारे वा वृक्षमूले वा ।”^{१०८} सुतनिपात में कहा गया है “एको घरे सम्म-विस्माकण्यो” ।^{१०९} प्रारम्भ में प्रायः सभी भिक्षुओं के समक्ष यह आदर्श था कि वे एकान्त में रहें, वधालक्षित अकेले विचरण करें, और प्रकृतिदत्त निवासों का आश्रय लें, यथा वृक्षमूल अथवा गिरि-मह्वर का । किन्तु उपासकों की खड़ा बड़ने पर और भिक्षु-गणों के अधिक संगठित होने पर उनके लिए विविष्ट उपवन, आराम, विहार आदि का प्रबन्ध होगा भी स्वाभाविक था ।^{११०} इस विषय में ब्राह्मण सन्ध्यासिधियों के नियम अपेक्षया अधिक कठोर थे ।

वर्षों में बारिका का निषेध सभी भिक्षुओं के लिए था । इसमें ब्राह्मणों, बौद्धों और जैनों का ऐकमत्य था । इस प्रथा का आविर्भाव उस समय के मार्गों और घाटाघात के साधनों की अविकसित अवस्था में तथा कोशल और विदेह की समतल भूमि में माना

१०५-सु०—ई० आर० ई० जि० १, पृ० २६५ ।

१०६-छा० उप० ७.२६.२ ।

१०७-एस० बी० ई० जि० २२, भूमिका, पृ० २४-२६, ई० आर० ई० जि० १, पृ० २६५ ।

१०८-बसिष्ठ, १०, १२-१३, “घामान्त में, देवायतन में, शुभ्य आगार में अथवा वृक्ष के नीचे अनित्य आवास कल्पित करना चाहिए ।”

१०९-सुतनिपात, सम्मविस्माकण्युत्त ।

११०-इ०—नीचे ।

नदियों की जोष-प्रवणता में स्पष्टतः देखा जा सकता है। आज भी पूर्वी उत्तरप्रदेश और उत्तर बिहार में वर्षाकालिक मात्रा की कठिनाइयाँ सुविदित हैं। वर्षावास के ही 'उपवसथ' की संस्था सब सम्प्रदायों में व्यापक थी। 'उपवसथ' अथवा 'उपोसथ' भिक्षुगण के पाक्षिक सम्मेलन को कहा जाता था। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि वैदिक कर्मकाण्ड में भी दश और पूर्णमास की दृष्टियाँ पश्चान्त का धार्मिक महत्त्व स्पष्ट करती हैं।

विचारमन्थन—उपनिषदों से तथा प्राचीन बौद्ध और जैन ग्रन्थों से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि छठी शताब्दी ई० पू० एक बौद्धिक और आध्यात्मिक क्रांति का युग था जब कि ब्राह्मण और श्रमण आचार्य और भिक्षु नाता धार्मिक-वार्धनिक मतों की उद्भावना और नाना नवीन मार्गों और सम्प्रदायों का प्रचार कर रहे थे।¹ परि-
त्राजकों का तत्कालीन सभाज में ऊपर निर्दिष्ट महत्त्व इस व्यापक बौद्धिक आध्यात्मिक जिज्ञासा के कारण ही था। प्रचलित वैदिक परम्परा के अनुसार मनुष्य यज्ञादि के अनुष्ठान से देवताओं के प्रसाद और फलतः सुखी जीवन तथा स्वर्ग की प्राप्ति कर सकते हैं। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि छठी शताब्दी ई० पू० के प्रायः सभी विचारक पुनर्जन्म के सिद्धान्त की स्वीकार करते थे और मृत्यु और क्षय से अवार्थतया प्रस्त शौक्षिक और पारलौकिक जीवन को एक दुःखमय विभीषिका मानते थे तथा भोग के स्थान पर मोक्ष चाहते थे। उनमें विचार और मत-भेद इस पर था कि क्वं और मोक्ष के कारण क्या है ?

भौतिकवाद—कुछ विचारक पुनर्जन्म में आस्था नहीं रखते थे और आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति-रूप मुक्ति की खोज ही असंगत मानते थे। विभिन्न दुःखों के लिए विभिन्न दृष्ट उपाय उपलब्ध हैं और दुःख की अत्यन्त-निवृत्ति के लिए मृत्यु की शरण में जाना होगा। किन्तु दुःख के भय से जीवन के ताना सुखों का त्याग नहीं करना चाहिए। मनुष्य चार भौतिक तत्वों के संयोग से बना है और चैतन्य उसका प्राग-
न्तुक घर्म है। इन महानूतों के विसंयोग से मृत्यु हो जाती है जिसके बाद कोई और्ध्व-
दैहिक जीवन अथवा परलोकान्दि क्षेप नहीं रह जाते। इस प्रकार के भौतिकवाद का शक्ति छान्दोग्योपनिषद् के अष्टम प्रपाठक में मिलता है जहाँ अमुरों का प्रतिनिधि

१११-बु०—सुकुमार दत्त, अती सुविष्ट मोनेशिव्य; आवेर, ऊपर येन शतान्द देर
इन्विशेल फिलोसोफी स्तुर त्सादत महाबोरस उन्द बुद्धस; आरिजिन्स ऑव
बुद्धिज्म, पृ० १२७।

का उल्लेख मिलता है। रामायण में जाबालि का मत सद्ध है।^{११८} पाणिनि नास्तिक, नास्तिक और दैष्टिक मतों की ओर संकेत करते हैं।^{११९} इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि उपनिषत्काल से प्रारम्भ कर चतुर्थ सताब्दी ई० पू० तक एक निश्चित भौतिकवादी और नास्तिक विचार-धारा का उद्भव और प्रवाह हुआ था। यह विचारधारा प्रत्यक्ष-वादी थी और परलोक अथवा पुनर्जन्म को नहीं मानती थी। यह अनेक नामों से उल्लिखित है और वैदिक यागादि कर्म का उतना ही विरोध करती थी जितना धर्मों के निवृत्ति मार्ग का। फलतः प्रायः सभी दिशाओं से इसका सम्बन्ध और कालान्तर में खोप हो गया।

‘अज्ञानवाद’—यदि उच्छेदवादी अमृतत्व और मुक्ति की व्याख्यात्मक आकांक्षा की ओर निराशा से और साधारण लौकिक जीवन का ही एक मात्र सम्भव जीवन मानते थे, ‘अज्ञानवादी’ व्यग्रतः विषय को निश्चित ज्ञान का अगोचर समझते थे। संजय बेलह्वित्त का कहना था कि परलोक, औपपातिक जीव, कर्म, मुक्ति के बाद की अवस्था, इन सब विषयों का निश्चित ज्ञान असम्भव है और इनको अस्ति, नास्ति, आदि चारों कोटियों में नहीं रखा जा सकता। ब्रह्मजालमुत्तन्त्र में इस मत को अमराविलोपकों का मत कहा गया है। सूत्रग्रन्थ की व्याख्या में भीलाङ्ग का कहना है—‘तत्र को वेत्तीत्यस्यापि न कस्यचिद्विशिष्टं ज्ञानमस्ति योर्जन्तुद्वयान् बीषादोनवमोत्स्यते। न च तैज्जतिः किञ्चित्कलमस्ति। (सूत्र १.२.१६ पर)।’^{१२०} यह स्मरणयोग्य है कि संजय के कुछ विषयों की चतुष्कोटिविनिर्मुक्तता का सिद्धान्त बौद्धों और जैनो दोनों के परवर्ती विचारों पर प्रकारान्तर से प्रभाव डाले बिना न रहा।^{१२१}

कुछ विचारक संसार को मानते हुए भी उसका अकारण घटना मानते थे। स्वैता-स्वतर तथा जैनों का वदुच्छावाद तथा बौद्धों का अभीत्यसमुत्पाद ऐसे ही विचारकों के मत थे। कुछ अन्य विचारक संसार और उसके कारण को मानते हुए भी उस कारण

११८—रामायण (निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९३०) २.१०८।

११९—पाणिनि, ४. ४.६०।

१२०—“कौन जानता है”, इसका अर्थ है—किसी का भी विशिष्ट ज्ञान नहीं है कि वह अतीन्द्रिय जीव आदि का बोध प्राप्त करे और उनके ज्ञान का कुछ फल भी नहीं है।”

१२१—चार कोटियाँ इस प्रकार हैं—अस्ति (है), नास्ति (नहीं है), अस्ति च नास्ति च (है और नहीं है), नास्ति न च नास्ति (न है, न नहीं है)।

को स्वतन्त्र और अपरिवर्तनीय मानते थे। इस दृष्टि से मोक्ष भी बन्ध के समान ही नियत और पुरुषार्थनिरपेक्ष है। कालवाद, स्वभाववाद और नियतिवाद, तीनों ही इस दृष्टि के अन्तर्गत होते हैं। काल के विषय में चिन्तन जयवंसंहिता, दत्तात्रय बाह्यण, तैत्तिरीय आरण्यक, स्वैतास्वतरोपनिषद्, मैत्रायणीयोपनिषद् तथा महाभारत में पाया जाता है।^{११} स्वभाववादियों की प्रसिद्ध उक्ति है—'स्वभावात्संप्रवर्तन्ते निवर्तन्ते स्वभावतः। सर्वे भावास्तथाभावाः पुरुषार्थो न विद्यते'^{१२} नियतिवाद का मुख्य उदाहरण आजीविकों का मत था। 'दैष्टिक' पर से सम्भवतः पाणिनि ने भी उनकी ओर संकेत किया है।

नियतिवाद—सामान्यफलमुत्पन्न में अज्ञातघटु ने मस्करी गोशाल के मत को 'संसार-विशुद्धि' का मत वर्णित किया है। जैसे लिपटे हुए मूल का गोला फेंक देने पर स्वतः एक आन्धन्तर नियति से निर्बोध्यत होता है, ऐसे ही एक अन्तर्भूत शक्ति से नियत संसार को विशुद्धि की ओर उपगत हो रहा है। इस प्रकार संसरण के द्वारा ही सब जीवों के दुःख का अन्त होगा। प्रत्येक के भोक्तव्य सुख-दुःख की भावा नियत है, भावों तभी-तुली ही। संकल्प और विशुद्धि के पीछे 'नियति-संगति-भाव-परिणाम' का नियमन विद्यमान रहता है। बुद्धघोष नियति, संगति और भाव को पृथक्-पृथक् मानते हैं। उन्होंने संगति की व्याख्या की है—'संगतीति स्रजमभिजाती न तत्त्व-तत्त्व गमनं'।^{१३} किन्तु शीलाक की प्रसंगान्तर की व्याख्या में संगति और नियति एक ही हैं—'सागतिकं सम्यक् स्वपरिणामेन मतिः यस्य यदा यत्पुण्यदुःखानुभवनं सा संगतिनियतिः।' वस्तुतः गोशाल के मत में जन्म-मरण, सुख-दुःख, संसार और मोक्ष सब अतीत कर्म के ऊपर निर्भर है। कर्म सर्वथा नियत और परम कारण है। ऐसा प्रतीत होता है कि गोशाल समस्त संज्ञित कर्म को प्रारब्ध कर्म के समान यथाकाल प्राप्नोन्वुष और सर्वथा अपरिहाय्य मानते थे। पुरुषार्थ सर्वथा नुष्छ और हेम है। 'तथ्य नतिथिः अपरिणमकं वा

१२२-इ०—ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० ३३८-३९।

१२३—"सब भाव एवं जभाव स्वभाव से प्रवृत्त एवं निवृत्त होते हैं, पुरुषार्थ की कोई सत्ता नहीं है।"

१२४—आजीविकों पर सामान्यतः इ०—ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० ३४२; -४६; ब्रह्मा, प्रिन्सिप्लिस्टिक ह्युबिडयम फिलॉसफी, जे० डी० एल० २; हर्नेले, ई० आर० ई० जि० १; बेडाम, हिस्टरी एण्ड डॉक्ट्रिन्स ऑव दि आजीविकस। मूल सम्बन्धों के निर्वेश के लिए इ०—ब्रह्मा, जे० डी० एल०, जि० २, पृ० २३।

कम्मं परिपाचैस्सामि, परिपक्वं वा कम्मं पुत्स पुत्स व्यन्तिकरिस्सामि हेवं नत्थि दोन-
मिते सुखदुक्खे...।' पतञ्जलि ने इसी मत को बुद्धिस्थ कर कहा है—“मा कृत मा कृत
कर्माणि शान्तिवः भोक्सीत्याहासो मस्करी परिव्राजकः।” जैन ग्रंथों में भी आजीवक
अक्रियावादी कहे गये हैं। इस प्रसंग में विवाहप्रति का ‘पट्टपरिहारवाद’ उल्लेखनीय
है, यद्यपि उसकी सही व्याख्या दुष्कर है। ऐसा प्रतीत होता है कि आजीवक सिद्ध
एक देह छोड़ने पर दूसरे किसी की मृत देह स्वीकार कर लेते थे। ‘पट्ट’ की व्याख्या
‘मृत्वा’ की गयी है, ‘पट्ट’ को ‘प्रवृत्त’ मानते पर भी कदाचित् अर्थ यही होगा—यहले
से, अर्थात् दूसरे की, प्रवृत्त अवस्था प्रारम्भ देह। ‘परिहार’ धारण के अर्थ में गृहीत
होना चाहिए। इस प्रकार ‘पट्ट परिहार’ का अर्थ होगा पहले से प्रवृत्त अवस्था प्रारम्भ
देहान्तर का धारण। जैसे तिल-पुष्प की उजड़ी हुई झाड़ी में गोशाल ने फिर से बीज-
समुत्पत्ति देखी थी, ऐसे ही “सत्त्वजीवानि पट्ट परिहारं परिहरन्ति।” कदाचित्
प्रारम्भ कर्म को निश्चय करने के लिए इस उपाय का स्वीकार मान्य रहा होगा। यह
स्मरणीय है कि योग-सम्प्रदाय में निर्माण-चित्त का ऐसा ही उपयोग उपदिष्ट है।”

आजीविकों का निगण्टों से विशिष्ट सम्बन्ध था। गोशाल और महावीर परस्पर
परिचित और कुछ समय तक साथ थे। आजीविकों के अनेक सिद्धान्त निगण्टों में भी
स्वीकृत हुए, यथा छ अभिजातियों में विश्वास, जो कि निगण्टों में ‘लेखाओं’ के रूप
में नामे जाते हैं। ऐसे ही सत्त्व, प्राण, भूत और जीव, इन चारों पदों का सहप्रयोग,
एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जीवों का वर्गीकरण और सिद्धों की सर्वज्ञता में विश्वास, ये
धारणाएँ भी समान हैं, किन्तु जहाँ आजीवक अक्रियावादी थे और जीव को रूपी
मानते थे निगण्ट क्रियावादी थे और जीव की अरूपी मानते थे।

अन्य अक्रियावाद—अक्रियावाद के कुछ और उदाहरण सामञ्जस्यफलमुत्पत्ति में
उल्लिखित हैं। पूर्ण काश्यप का विश्वास था कि कुछ भी करने से पाप अथवा पुण्य
नहीं होता। इस मत को पाप का प्रीत्याह्न समझना ठीक न होगा। यह वस्तुतः
पुरुष के अकर्तृत्व तथा असंगतता का सिद्धान्त है जो कि साङ्ख्य तथा वेदान्त दोनों को
ही स्वीकार है। ईशोपनिषद् में, अतएव कहा है “न कर्म लिप्यते नरे।” सूयगर्भ में
भी एक सदृश अकारकवाद का उल्लेख है जिसे शीलाक ने साङ्ख्य से अभिन्न माना
है।^{११}

१२५-३०—योगसूत्र, ४.५ पर वाचस्पति मिश्र के द्वारा उद्धृत पुराणवाक्य।

१२६—सूयगर्भ, १.१.१३ पर।

प्रकृष (ककुद ?) कात्यायन का मत था कि सात परम तत्त्व (काय) हैं जो कि शुभ (‘निबर्’) में कूटस्थ हैं। वे सात तत्त्व इस प्रकार हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु, तथा सुख, दुःख और जीव। इन सातों में किसी प्रकार की पारस्परिक क्रिया अथवा अनियम सम्बन्ध नहीं है। पौलस्त्य ने एक सम्भव आरम्भस्थवाद का उल्लेख किया है जो कि कात्यायन के मत के सदृश है, पर जिसमें आकाश की सत्ता स्वीकार की गयी है, और सुख, दुःख को छोड़ दिया गया है।^{११९} यह मत अंशतः वैशेषिक का और अंशतः सांख्य का स्मरण दिलाता है। यह भी स्मरणीय है कि प्रदीपनिषद् में एक कछ्छी कात्यायन का उल्लेख आता है, किन्तु पिप्पलाद में उसे जो उपदेश मिला, उसका इस सत्ताकायवाद अथवा अक्रियावाद से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

निगच्छ—श्रमणों में कदाचित् प्राचीनतम सम्प्रदाय निगच्छों अथवा जैनों का था।^{१२०} अब यह प्रायः सर्व-सम्मत है कि महावीर से पूर्व पाण्ड्य नाम के तीर्थंकर सचमुच हुए थे। उनके पहले के तीर्थंकरों की तत्त्वरूप में ऐतिहासिकता सन्दिग्ध है, किन्तु जैनों के इस विश्वास को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उनकी भूमि-परम्परा अत्यन्त प्राचीन तथा अवैदिक थी। वैदिक साहित्य में उल्लिखित भूमियों के वर्ण में जैन भूमियों का होना मिथ्या सम्भव है। ईशोपनिषद् में कर्म करते हुए सौ कर्षे जीवित रहने की इच्छा को सराहा गया है और आत्मघात को घोर पाप बताया गया है। इस सन्दर्भ में कदाचित् जैन भूमियों की निष्ठा का विरोध किया गया है क्योंकि वे प्राण-त्याग पर्यन्त वैधर्म्य को आपत्त मानते थे।^{१२१} अत्यन्त उपनिषदों में कर्म के अनुसार जीव का संसारण तथा कर्म को अन्तग और जीव के लिए स्वरूप से बहिर्भूत एक आभ्यन्तरिक धर्म माना गया है, यथा बृहदारण्यक के वतुर्धे अण्माय के वतुर्धे ब्राह्मण में। यह दृष्टि जैनों को स्वीकृत थी और, जैसा ऊपर कहा गया है, वैदिक

११७—वही, १.१.१५-१६ पर।

११८—निगच्छों पर इ०—ऑरिजिनस ऑव बुद्धिज्म, पृ० ३५३-६८; कैंब्रिज हिस्टरी जि० १; शांतिपर, उत्तराध्ययनसूत्र, भूमिका; पाकोबी, एस० बी० इ० जि० ३२ और ४५, भूमिका; जेनी, आउट लाइन्स ऑव जैनिज्म; म्लाजेनाय, दि डॉक्ट्रिन ऑव कर्म इन जैन फिलासफी। जैनों के मूल साहित्य पर इ०—ऑरिजिनस ऑव बुद्धिज्म, पृ० ५६७-७३; विन्टरनिस्स, हिस्टरी ऑव इण्डियन लिटरेचर, जि० २, पृ० ४२४ अ०।

११९—यह सुभाव मुनें अपने गुरु पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय से मिला है।

साहित्य में नवीन थी। किन्तु उपनिषदों में मोक्ष का साधन प्रायः ज्ञान को माना गया है, निग्रन्थों के लिए तपस्या प्रधान थी, और तप का काम-क्लेश लक्षण जो अर्ध उनके सम्प्रदाय में और उत्तरकाल में सामान्यता रुढ़ था, वह अर्ध उपनिषदों में विरल है। इसके अतिरिक्त उपनिषदों के प्राणभूत ब्रह्मवाद, आत्माईत, ईश्वरवाद आदि त्रिदन्त जैन-निष्ठा के सर्वथा विरुद्ध हैं।

यदि उपनिषद् पढ़ने के बाद तत्काल आभारंग, सुयमङ्ग आदि प्राचीन जैन ग्रन्थ पढ़े जाते हैं तो बौद्धिक, आध्यात्मिक यातावरण का भेद बलवत् स्पष्ट हो जाता है। जैनों का संसार एक अनादि दुःख प्रवाह है जिसमें कर्म के बन्धन से विपन्न, अज्ञान में विचेष्टमान असंख्य जीव बहे जा रहे हैं। जीव-तत्ता सर्वत्र फैली है। महाभूतों में भी संख्यातीत जीव दुःख भोगते हैं। प्रत्येक चेष्टा और परिस्पन्द में जीव-हिता इस प्रकार अनिवार्य है। इस हिता और दुःख के असीम साक्षात्कार में सुदृढ़ संकल्प के द्वारा कर्म-बन्धन को भंग करने के अतिरिक्त और कोई मुक्ति का उपाय नहीं है।

जैनों के मत में जीव अरुणी अर्थात् अधीतिक सत्ता है जो न इन्द्रियों में उपलब्ध की जा सकती है, न मति और तर्क से। आभारंग का कहना है—“से न दीहे न हस्से न किण्हे न नीले, अरुणी सत्ता” “से न सहे न रुवे न गन्धे न रसे न फासे” (१.५.६)^{१०} और “तुक्का जत्थ न विज्जई मई तत्थ न याहिया” (वही)।^{११} किन्तु ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक धर्म है, “जै जायासे विप्राया जे विप्राया से जाया। जेष विजायाइ से आमातं पडुण्ण पडिसंजाए एस जायावाई” (आभारंग १.५.५)^{१२} आत्मा का स्वाभाविक ज्ञान विमृदावस्था में अनन्त होता है। इस सर्वज्ञता की केवल ज्ञान की संज्ञा दी जाती है। ज्ञान के साथ ही आत्मा में अनन्त सुख भी स्वाभाविक है। और, कम से कम उत्तर काल में, अनन्त क्लिप्ता-शक्ति का भी आत्मा में स्वीकार किया गया है। “अरुविणो जीवधणा नाणदसनसंनिया। अडलं सुहं संवण्णा उवमा

१३०—“वह न दीर्घ है, न लघुः” “न कृष्ण, न नीलः” “जीव अरुणी है वह न शब्द है, न रूप, न गन्ध, न रस, न स्पर्श”।

१३१—“जहाँ तर्क विद्यमान नहीं है, जहाँ मति का प्रवेश नहीं है।”

१३२—“जो आत्मा है वही विज्ञाता है, जो विज्ञाता है, वही आत्मा है, आत्मा को मानने के कारण वह आत्मवादी कहलाता है।”

जस्स मत्थि उ ॥^{११११} यह स्मरणीय है कि शाक्यपुत्रीय भिक्षु निर्घन्ध सिद्धों के संबंधता के दावे का उपहास करते थे ।

जीव असंख्य हैं और नाना अवस्थाओं में उपलब्ध होते हैं । पृथ्वी, जल आदि भौतिक तत्वों में भी जीव पाये जाते हैं और प्राचीन जैन सन्दर्भों में इनकी पर्याप्त चर्चा है । जीव स्वाधर भी हैं और जंगम भी । कुछ असंजी हैं जो केवल अनुभव कर सकते हैं, किन्तु ज्ञान में असमर्थ हैं । कुछ सजी हैं जो कि अनुभव और ज्ञान दोनों की सामर्थ्य रखते हैं । सिद्ध जीव सर्वज्ञ होते हैं, पर ज्ञानातिरिक्त अनुभव अथवा संवेदन नहीं करते ।

जीवों की सांसारिक गति कर्म के अधीन है । कर्म के कारण ही उनके जीवन पुण्य-पुण्य निम्नित है—“अट्ट भावर य ससत्ताए सस जीवा य भावरत्ताए । अट्ट सत्त्वजोणिया सत्ता कम्मजा कणिया पुडो बाले ।” (आपारंग १.९.१४)^{१११२} । “कम्मा नावाविहा कट्टु पुडो विसंभिया पया ।” (उत्तर ३.२)^{१११३} । कर्म स्वयं एक द्व्यारमक और बीद्गलिक पदार्थ है जिसका आधार अज्ञान और उससे उत्पन्न राग-द्वेषादि काया है । कर्म से आत्मा का स्वभाव आच्छन्न हो जाता है और वह अपने को अज्ञान, अराक्षि और दुःख में निमग्न पाती है । यह स्मरणीय है कि कर्म और अज्ञान का इतरेतराश्रय संसार के अनादि होने के कारण दोष नहीं है ।

बौद्धों का कहना था कि निर्घन्ध शारीरिक कर्म को महत्त्व देते हैं, नैतिक कर्म को नहीं ।^{१११४} वस्तुतः चेष्टाजन्य परिस्पन्धात्मक कर्म और आत्मा की आवृत्त करने वाला उसका परिणाम, इनका निर्घन्ध मत में प्राधान्य है । जीव-सत्ता के संबंध मुख्य होने के कारण प्रत्येक चेष्टा में हिंसा अनिवार्य बन जाती है । अतएव प्राचीनतम निर्घन्ध सन्दर्भों में ‘कर्म’ और ‘दण्ड’ शब्द परस्पर समानार्थक और परिवर्तनीय पद प्रतीय होते हैं । कर्म और उसका फल, दोनों निरन्तर ही दुःखात्मक हैं—“किन्धं दुक्खं फूसां दुक्खं कज्जमानकडं दुक्खं कट्टु-कट्टु पाणा भूया जीवा सत्ता वेधणं

११३—“अरूपो जीव ज्ञान और दर्शन तथा अनुपम, अतुल सुख से सम्पन्न है ।”
(उत्तरज्जायण, ३६.६७) ।

११४—“स्वाधर जीव प्रस-जीव हो जाते हैं, प्रसजीव स्वाधर । सब योनिषों में जीव कर्म से पुण्य-पुण्य कल्पित हैं ।”

११५—“नाना कर्मों से जीव विनिम्नित है ।”

११६—जैनधर्मसम्बन्धी मूल बौद्ध सन्दर्भों पर इ०—ऑरिजिन ऑव बुद्धिज्म, पृ० ५७१-७३ ।

वेयति ।”^{१३३} और इस प्रकार दुःखमय संसार का कारण कर्म के द्वारा पुनः स्वयं है—
 “असकटे दुक्खे नो परकटे नो उभयकटे”^{१३४} और अपने ही प्रयत्न के द्वारा दुःख
 से मोक्ष भी सम्भव है—“पुरिसा तुममेव तुमं मित्ता किं बाहिया मित्तमिच्छसि ।”
 (आमारंग १.३.३)^{१३५} । कर्म का सिद्धान्त जैनों में विसंग विकसित हुआ और उत्तर
 काल में नाना परिभाषाओं और विभाजनों के द्वारा अत्यन्त जटिल हो गया । किन्तु
 यह सम्भव है कि अष्टविध कर्म की धारणा प्राचीन निर्बन्धों में भी विद्यमान थी ।

भूतक की गति के विषय में यह माना जाता था कि जीव के निर्वाण के पाँच
 मार्ग हैं—पैरों से, ऊतकों से, वक्ष से, सिर से और सर्वांग से । इन पाँच मार्गों से क्रमशः
 पाँच प्रकार की गति होती है—निरय, तिर्यक्, मनुष्य, देव और सिद्ध । यह विचार-
 णीय है कि उपनिषदों में भी कुछ ऐसी धारणाएँ मिलती हैं ।^{१३६}

संसार से मुक्ति के लिए अपूर्व कर्म के आश्रय का निरोध और पूर्व कर्म का अप-
 सारण आवश्यक है । इनमें पहली प्रक्रिया ‘संवर’ कहलाती है और दूसरी ‘निजंरा’ ।
 ‘संवर’ आध्यात्मिक जीवन का पूर्वार्ण है, निजंरा प्रधानार्ण । ‘संवर’ में मुख्यतया पाँच
 महाव्रत संगृहीत थे । सामञ्जस्यफल में निगण्डों के ‘चातुष्यामसंवर’ का उल्लेख है ।
 वस्तुतः चातुष्याम अथवा ‘चातुस्व्याम’ पार्श्व के अनुयायियों का संवर था । महावीर
 ने चातुर्विध संवर को पञ्चविध किया ।

निजंरा से तप अथवा शरीर को क्लेश देने की प्रक्रिया अभिहित होती है । जैनों
 की तपस्या का अतिशय सर्व-विधित है । स्वयं महावीर की कृच्छ्र-वर्मा इस विषय में
 आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित है ।^{१३७} लाठ, बज्र और मुन्हु में वे १३ वर्ष से अधिक बिना
 आवास के घूमते रहे । नहाना, मुंह धोना, गुजलाना आदि उन्होंने छोड़ दिया और
 नील, एकान्त, प्रजागर, उपवास, शान्ति, निरन्तर ध्यान आदि का असाधारण अभ्यास
 किया । उत्तरजन्मण में तप के पाँच आध्यात्मिक और पाँच बाह्य भेद बताये गये हैं ।^{१३८}

१३७—ठाणंग सूत्र १६६-६७ “कृत्तुं दुःखं है, ‘स्वयं’ दुःखं है, कियमाण-कृत दुःख-
 है, जीव कर्म कर-करके दुःख भोगते हैं ।”

१३८—“दुःख आत्मकृत है, न परकृत, न उभयकृत”

१३९—“पुरुषों ! तुम स्वयं अपने मित्र हो, अपने बाहर मित्र क्यों चाहते हो ?”

१४०—कठ, ६-१६, प्रश्न ३-७ ।

१४१—आमारंग, १.९ ।

१४२—उत्तरजन्मण, ३० ।

अनशन, ज्वरमोदये, भिक्षाचर्या, रसपरित्याग, कायकलेष और सन्तोषणा, ये पाँच भेद बाह्य तप के हैं, और प्रायश्चित्त, विनय, वैषाज्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्यवसरं, ये पाँच भेद आन्तरिक तप के हैं ।

निर्ग्रन्थों के और बहुत-से सिद्धान्त उत्तरकाल में विकसित हुए । त्यागवाद अथवा तपउत्तमगीतय को अपने सुविधित रूप में महाबौद्धकालीन नहीं माना जा सकता, किन्तु इस सिद्धान्त का दार्शनिक बीज अवश्य प्राचीन था । संज्ञा बेलट्टिपुत्त के अज्ञानवाद और बुद्ध के अव्याकृतवाद में परमाण्वे के विषय में सत्, असत् आदि चारों कोटियाँ अनुपायोगी मानी जाती थी । ऐसा प्रतीत होता है कि इन मतों के विरोध में प्राचीन निर्ग्रन्थ इन कोटियों को अंशतः उपयोगी मान कर उनका विरोध-परिहार करते थे । इस प्रकार का दार्शनिक अनेकाल्पवाद पीछे सप्तम-द्वी तप में विकसित हो गया । तत्त्वार्थों का सिद्धान्त आबीबकों से लिया होने के कारण प्राचीन रहा होगा, परमान के पाँच भेद, देह के प्रकार, परमाणुवाद तथा तत्त्वों और पदार्थों का निरूपण, ये कमश विकसित हुए और मुख्यतः उत्तरकालीन थे । प्राचीन निर्ग्रन्थों में जीव, कर्म और तपस्या, इन तीन पर ही आसह था और इसीलिए आधारम में निर्ग्रन्थ के लिए कहा है—“ते जायावाइं लोमावाइं कम्मावाइं किरियावाइं य ।”^१ आध्यात्मिक साधन पर उनका अधिक ध्यान था, दार्शनिक पाण्डित्य पर कम ।

बुद्ध की जीवनी—यह स्मरणीय है कि गौतम बुद्ध अपने जीवन-काल में महापुरुष और तीर्थंकर माने जाते थे, न कि एक अलौकिक अवतार अथवा तत्त्व, जैसा कि बाद के भक्ति-प्रवण बौद्धों ने उन्हें समझा । इस कारण जहाँ बुद्ध भगवान् के पहले शिष्यों ने उनके उपदेशों का संघट्ट ध्यान से किया, उनके जीवन सम्बन्धी वृत्तान्त को उन्होंने उतना महत्वशाली नहीं समझा । बाद के भक्तों ने उनकी जीवनी को अपनी अज्ञा और सिद्धान्तों के अनुस्यू कल्पना से मण्डित किया । परिणाम यह है कि बुद्ध के जीवन के विषय में प्राचीन और ऐतिहासिक सामग्री अत्यन्त विरल है । जो जीवनीयाँ मिलती हैं वे उत्तरकालीन तथा अज्ञाप्रधान हैं ।

पालि लिपिपट्ट में बुद्ध की सर्वांगीण जीवनी कहीं उपलब्ध नहीं होती । मज्झिम-निकाय के चार सुत्तों में उनकी परीक्षणा का वर्णन मिलता है । संबोधि का वर्णन अनेकव निकायों में और महावग्ग में उपलब्ध होता है । महावग्ग में संबोधि के बाद के कुछ समय का क्रमबद्ध इतिवृत्त भी दिया गया है । ऐसे ही महापरिनिब्बान सुत्तान्त

में निर्वाण और उसके कुछ पापों के समय का वर्णन मिलता है। महापद्मसुत में बुद्ध की जीवनी को एक आदर्श मानने में कहा दिया गया है। 'महापरिनिर्वाण' और 'महावदान' सूत्रों के संस्कृत रूप की न्यूनाधिक मात्रा में मध्य एशिया के प्रान्त हुए हैं (उ० अम्टे बाल्दविन, दस महापरिनिर्वाणसूत्र, ३ भाग, बर्लिन, १९५१)। निदान-कथा बहुत बाद की है और उससे भी बाद के हैं जिनचरित और मालालकारवत्सु।

लोकोत्तरवादी विनय के अन्तर्भूत महावस्तु में बुद्ध सम्बन्धी कथाएँ मिलती हैं।^{१४४} ललितविस्तर में बुद्ध की जीवनी दी गयी है।^{१४५} यद्यपि ललितविस्तर अपने वर्तमान रूप में महापद्मसूत्र है, तथापि उसमें स्पष्ट ही अनेक स्थलों पर प्राचीन सत्यमें अवशिष्ट हैं। तिब्बती परम्परा के बुद्ध की जीवनी से सम्बन्ध रखने वाले कुछ अंश का रॉकहिल ने अंग्रेजी में अनुवाद किया है।^{१४६} चीनी अनुवाद में रक्षित 'अभिनिष्क-मयसूत्र' अधिकांश में महावस्तु से मेल खाता है। अश्वघोष के बुद्धचरित में बुद्ध की जीवनी काव्य के रूप में प्रस्तुत है।^{१४७}

मूल-जीवनी और 'विनय'—विभिन्न सम्प्रदायों के उपलब्ध विनयों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर फाउवाल्नर महोदय ने यह मत प्रस्तुत किया है^{१४८} कि मूल विनय में बुद्ध के जीवन-चरित का तथा विनय के नियमों का विवरण एक सूत्र में सम्बद्ध था। इस विनय का सम्पादन दूसरी संसदी के युग में हुआ था। पीछे विनय के विभिन्न स्थानों में न्यूनाधिक मात्रा में बुद्ध के जीवन सम्बन्धी वृत्तान्त विनय से पृथक् कर अन्य सग्रहों में डाल दिये गये। उदाहरण के लिए, पालि विनय में स्कन्धक के आरम्भ का बुद्ध चरित सम्बन्धी ही कुछ अंश इस समय अपने मूल स्थान में विद्यमान है। आरम्भ में महापरिनिर्वाण सम्बन्धी वृत्तान्त स्कन्धक के अन्त में था। पालि विनिटक

१४४—महावस्तु, ई० सेवार (Schart) द्वारा ३ जिल्दों में सम्पादित (पेरिस, १८८२-९७)।

१४५—ललितविस्तर, राजेन्द्रलाल मिश्र द्वारा सम्पादित (कलकत्ता, १८७७), लेफ-मान द्वारा परिष्कारपूर्वक सम्पादित (हाल, १९०२, १९०८), पी० एच० वेड्ड द्वारा सं० (मिचिका, १९५८)।

१४६—इल्फू० इल्फू राफहिल, दि लाइफ ऑफ बुद्ध (कॉगनपांस)।

१४७—बुद्धचरित, ई० बी० कविल द्वारा सम्पादित (आक्सफोर्ड, १८९३)।

१४८—ई० फाउवाल्नर, दि अल्टिमेस्ट विनय एण्ड दि विगिनिस्स ऑफ बुधिसट लिटरेचर (१९५७)।

में उसे वहाँ से निकाल कर दीर्घनिकाय में डाल दिया गया।^{१४९} सम्बोधित तथा उसके पहले का जीवन चरित भी मज्झिम आदि के उपर्युक्त सूत्रों में रख दिया गया है। महासांघिक एवं मूल-संन्यास्तिकादी विनयों में महापरिनिर्वाण सूत्र को संगीतिपर्व के विवरण के प्रारम्भ में देखा जा सकता है।^{१५०} मूल-संन्यास्तिकादी विनय में संपभेद-वस्तु तथा श्रवकवस्तु में बुद्ध की जीवनी के अनेक अंश संगृहीत हैं।^{१५१} काश्यान्तर में त्रिपिटक के बुद्धचरित सम्बन्धी अंशों को संगृहीत कर निदानकथा, ललित-विस्तर, महावस्तु आदि की रचना हुई। इन ग्रन्थों में भी बुद्ध की जीवनी असम्पूर्ण रूप में हो पायी जाती है, जैसे कि त्रिपिटक में। चीनी में उपलब्ध एक बुद्ध की जीवनी के^{१५२} अन्त में इस प्रकार लिखा हुआ मिलता है कि इस सूत्र की महासांघिक आचार्य महावस्तु कहते हैं: संन्यास्तिकादी आचार्य महाव्यूह अथवा ललितविस्तर, काश्याणीय आचार्य बुद्धजातकनिदान अथवा अवदान, धर्मगुणक आचार्य शाक्यमुनि-बुद्ध-चरित तथा महीशासक आचार्य वितयपिटकमूल। इन सभी में बुद्ध के जन्म से लेकर उनके धर्म-चक्रप्रवर्तन तक का इतिहास संगृहीत है। जैसा कि महीशासक-सम्मत नाम प्रकट करता है, बुद्धचरित का यह प्रारम्भिक अंश कदाचित् वितयपिटक का मूल एवं स्तम्भक का आमुख था।

काश्यान्तर महोदय का यह मत विचारोत्तेजक एवं संभाव्य है। महाप्रदान-सुसन्त से यह सिद्ध होता है कि महापरिनिर्वाण के अनन्तर सूत्रपिटक के वर्तमान रूप प्राप्त करने के पहले ही बुद्ध की जीवनी धर्मता से प्रतिनिधित एक आदर्श के रूप में कल्पित हो चुकी थी। किन्तु इस प्रकार की कल्पना ऐतिहासिक स्मृति के संरक्षण के लिए अधिक उपयोगी नहीं हो सकती थी। यह भी विचारणीय है कि महाभित्तिप्रकरण के पूर्व बुद्ध-जीवनी त्रिपिटक में कहीं भी संतोषजनक रूप में उपलब्ध नहीं है। यही कारण है कि बुद्ध भगवान् के परिवार-संबन्धी नामादि-विस्तर में परवर्ती विवरण एकमत नहीं हैं। यह भी स्पष्ट है कि ललित-विस्तर, बुद्धचरित आदि परवर्ती ग्रन्थों का आधार त्रिपिटक-मत—काश्यान्तर के अनुसार मूल-विनय-मत—सामग्धी

१४९-इ०—काश्यान्तर, वही, पृ० ४२ प्र०।

१५०-वही, पृ० ४४।

१५१-वही, पृ० ४७।

१५२-कु-नेन-शिग-चि-चिग (बुद्ध-पूर्व-चरित-संग्रह-सूत्र), इ०—नग्नियो संख्या ६८० सप्तम, १६३-६४।

थी। ऐसी स्थिति में बिपिटक की सामग्री को ही सामान्यतः ललित-विस्तार आदि की प्रामाणिकता की परिधिमानता चाहिए।^{११३}

प्रारम्भिक जीवन और साधना—जन्म से महाभिक्षुत्व तक—गौतम बुद्ध ने लगभग ई० पू० ५६३ में शाक्यों की राजधानी कपिलवस्तु के निकट लुम्बिनी वन में जन्म ग्रहण किया।^{११४} यह स्थान वर्तमान नेपाल राज्य के अन्तर्गत और भारत की सीमा से आशंकल ५ मील की दूरी पर स्थित है। यहाँ पर अशोक का एक अभिलेख-युक्त स्तम्भ ई० १८९५ में प्राप्त हुआ जिसमें लिखा मिलता है: "हिं दुधो जाते ति।"^{११५} बिपिटक में शाक्यों की अभिमानी और विशुद्ध जाति के शिष्य बताया गया है।^{११६} यद्यपि उनको ब्राह्मणों का गौतम गोत्र दिया गया है।^{११७} उनमें परस्पर निकट सम्बन्धों में विवाह का उल्लेख उनका आध्यात्मिक सम्पर्क भी सूचित करता है। हिमालय की तराई में स्थित शाक्य जनपद कोशलराज के अधीन एक गणराज्य था जो कि बिहड़म के आक्रमण तक प्रायः स्वतन्त्र था। गण का शासन-कार्य छोटे-बड़ों की एक सभा के द्वारा होता था जो कि कपिलवस्तु के संस्थापक में एकत्र होती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि गण का एक निर्वाचित प्रमुख होता था जिसे राजा कहा जाता था।^{११८}

१५३—बुद्ध की जीवनी पर आधुनिक पुस्तकों में ३०—ई० जे० टॉमस, दि लाइफ ऑफ बुद्ध; ई० एच० ब्रुस्टर, दि लाइफ ऑफ गौतम, दि बुद्ध (पालिपरम्परा); रॉकहिल, पूर्व (तिब्बती परम्परा); एक० जियेन्डे, लाइफ ऑर लेजेन्ड ऑफ गौतम दि बुद्ध ऑफ दि बमोस; एस्० डील, रोमैन्टिक लेजेन्ड ऑफ शाक्य बुद्ध; ऑरिजिन्स ऑफ बुद्धिज्म, अध्याय १०।

१५४—बुद्ध की तिथि पर विद्वानों में प्रचुर विवाद रहा है—३०—विन्दरनिस्, पूर्व० जि० २, पृ० ५९७, टॉमस, दि लाइफ ऑफ बुद्ध, पृ० २७।

१५५—३०—दीघ० का अम्बड्ड सुत्त, जातकरी जि० १, पृ० ८८।

१५६—सु०—"उज्जु जनपदो राजा हिमवन्तस्त परसतो।

धनधिरिप्पेन संपन्नो कोसलेसु निकेतिनो॥

आदिच्चा नाम गोत्तैन साकिषा नाम आतिषा।"

(सुत्तनिपात-३.१.१८-१९)

महापरिनिब्बानमुत्तम में कुसिनारा में मल्ल 'वासिष्ठ' को गये हैं।

१५७—सु०—टी० डब्ल्यू० राइट डेविड्स, युधिस्ट इण्डिया, पृ० १९-२०।

बुद्ध के समजन और सम्प्रतिमियों के विषय में उत्तरकालीन ग्रन्थ विविध और परस्पर असमंजस सूचनाएँ देते हैं जिनके सत्यासाय-निर्णय में प्राचीनतर विनय आदि ग्रन्थों से विशेष सहायता नहीं मिलती। महावग्ग से ज्ञात होता है कि बुद्ध के पिता का नाम शुद्धोदन था।^{१५६} एक स्थान पर उनकी माता का नाम माया दिया गया है।^{१५७} महाप्रज्ञापति गौतमी का विनय में और निकायों में अनेकज उल्लेख पाया जाता है। विनय में उन्हें बुद्ध की मातृत्वसा (माँ) कहा गया है।^{१५८} दण्डपाणि से उनके सम्बन्ध का विवरण निकायों में प्राप्त नहीं होता।^{१५९}

बुद्ध के जन्मकालीन 'आश्वर्याद्भुत धर्मों' को कथाका को प्राचीन नहीं माना जा सकता और न अस्तित्व की भविष्यवाणी को ही ऐतिहासिक माना जा सकता है।^{१६०} बुद्ध के वचन और शिक्षा के विषय में भी कोई प्रामाणिक प्राचीन सामग्री उपलब्ध नहीं होती और न उनकी पत्नी अथवा गर्तियों के विषय में। राहुल नाम के भिक्षु का निकायों में एकाधिक स्थान पर उल्लेख मिलता है, किन्तु बुद्ध के पुत्र के रूप में नहीं। पर महावग्ग में राहुलकुमार को उनका पुत्र कहा गया है। राहुलमाता का भी उल्लेख है।^{१६१}

अभिनिष्कमण—उप्रास कथों की अवस्था में बुद्ध ने घर-बार छोड़कर जनागारता स्वीकार की।^{१६२} यह घटना उनका 'अभिनिष्कमण' कहलाती है। परवर्ती विश्वास के अनुसार यह परिवर्तन अचानक पड़ा। बुद्ध को शुद्धोदन की आज्ञा से एक कृत्रिम संसार में रखा गया था। देवदूतों के द्वारा प्रदर्शित जरा, रोग, मृत्यु और भिक्षु के दर्शन से उनके मन में सहसा तीव्र उद्वेग उत्पन्न हुआ और उन्होंने संसार-त्याग कर काषाय

१५८—विनय, ना० महावग्ग, पृ० ८६।

१५९—दीप० ना० जि० २, पृ० ८।

१६०—विनय, ना० खुल्लवग्ग, पृ० ३७४।

१६१—सु०—मल्लसेकर, जि० १, पृ० १०५३।

१६२—सुत्तनिपात, नात्कसुत्त।

१६३—महावग्ग, ना०, पृ० ८६।

१६४—"स्कृन्तितो वपसा सुमह्यं पब्बजि कि कुत्तलानुएसी।

वस्सानि पञ्चाससमाधिकानि यती अहं पब्बजितो सुमहं॥"

(दीप० महापरिनिब्बानसुत्तन)

धारण किया।^{१५५} जाग्यात्मिक संवेग का इस प्रकार अधामक ज़ामरण अल्पव्य अविविधित मूर्ति है, किन्तु जिस प्रकार की कथा बुद्ध भगवान् के सम्बन्ध में कही गयी है वह विश्वास नहीं प्रतीत होती। यह मानना कठिन है कि उन्तीस वर्ष की अवस्था तक वे जरा अथवा रोग से सर्वथा अपरिचित थे। और फिर मूल अथवा विनय में अभिनिष्कमण के प्रसंग में इस कथा का अनुस्लेष उसकी अप्रामाणिकता में सन्देह कहाता है। प्राचीन सन्दर्भ देखने से प्रतीत होता है कि जरा, माधु, रोग आदि पर चिन्ता से बोधिसत्त्व ने संसार की दुःखमयता हृदयंगम की और अनुत्तरदान्ति का पद खोजने का निश्चय किया। उनके संसार-त्याग के लिए प्रेरक विचारों को इस प्रचलित कथा में एक भावकीय घटना का रूप दिया हुआ प्रतीत होता है। उत्तर काल में जब मण-राज्य और शाक्यों के साधारण ग्रामीण जीवन की ऐतिहासिक स्मृति खो गयी थी, यह माना गया कि बुद्ध एक प्रतापी राजा के पुत्र थे और असाधारण समृद्धि और विज्ञान में पले थे। बुद्ध की कोई भी बात साधारण नहीं हो सकती। शूद्रोदर को अपने पुत्र की भावी प्रव्रज्या के लिये में पहले ही चेतावनी मिल गयी थी। अतएव उन्होंने बोधिसत्त्व को प्रथम से इतना दूर रखा कि केवल देवदूत^{१५६} ही उन्हें यथार्थ तक लौटा सकते थे। इस सारे कथानक के निर्माण में अनेक काल्पनिक कारण साफ हैं।

आर्यपरोक्षणा—अनेक पूर्व-जन्मों के अजित पुण्य से अभिसंस्कृत बोधिसत्त्व के चित्त में जरा-मृत्यु आदि पर चिन्ता से जीवन की अनित्यता और निस्सारता प्रकट हो गयी तथा तीव्र वैराग्य और जिज्ञासा से प्रेरित होकर उन्होंने 'आर्यपरोक्षणा' में चरण धरे। वे कुण्डल की खोज में, शान्ति की परीक्षा में संलग्न थे (कि कुसुममेसी अनुत्तर सन्निवरपद परिपेतमानो)^{१५७} माना स्वातंत्र्य में घूमते हुए, प्रसिद्ध आचार्यों

१६५—यथा, कलितवित्तर १४वां परिवर्त, बुद्धचरित, सर्ग ३।

१६६—यह उल्लेखनीय है कि निकायों में अनेक स्थलों पर जरा आदि को 'देवदूत' कहा गया है—अंगुत्तर (रो०) जि० १, पृ० १३८, १४२, मज्झिम (रो०) जि० २, पृ० ७५, जि० ३, पृ० १७९।

१६७—परशर्त्तो निदानकथा के अनुसार अभिनिष्कमण के समय जायाही पूर्णिमा की रात थी और उत्तराषाढा नक्षत्र आकाश में विद्यमान था। प्रातःकाल तक कन्धक पर आलस्य बोधिसत्त्व शाक्य, कालिध, तथा मल्लों के जनपदों को पार कर अमोमा नदी के तीर पर पहुँच गये। बुद्धचरित के अनुसार बोधिसत्त्व ने पहले ब्राह्मण ऋषियों के आश्रमों में स्वर्गपरायण ध्यानप्रस्थों को देखा और उनके धर्म से असन्तोष अनुभव किया।

से ज्ञान प्राप्त करते हुए, विविध साधन और तपश्चर्या में संलग्न, अन्ततः गया में ध्यान के अभ्यास से बोधिसत्त्व ने सम्बोधि का लाभ किया। इस 'पर्यवेणा' में उनके छः वर्ष व्यतीत हुए। जिन आचार्यों से उन्होंने आध्यात्मिक शिक्षा पायी उनमें से कुछ के नाम प्राप्त होते हैं। आलार कालाम और उज्जक रामपुत्र इनमें प्रधान थे। ललित-विस्तर में ब्राह्मणी पद्मा और ब्राह्मण रैवत के आश्रमों में भी बोधिसत्त्व के ठहरने का उल्लेख है।^{१५} अश्वघोष ने बुद्धचरित में आलार कालाम को विन्ध्यकोष्ठ का निवासी कहा है और उनके सिद्धान्तों का विवरण प्रस्तुत किया है, यद्यपि यह ज्ञात नहीं है कि उन्होंने किस प्राचीन आचार का सहारा लिया था।^{१६} इस समय उपलब्ध उससे प्राचीनतर ग्रन्थों में कहीं भी कालाम के सिद्धान्तों का इस प्रकार वर्णन नहीं मिलता। ललितविस्तर में अराटकालाय का स्थान वैशाखी में बताया गया है। कालाम के विषय में तिकायों में यही सूचना मिलती है कि उन्होंने बोधिसत्त्व को 'आकिञ्चन्यावतन' नाम की 'अरुणसमापत्ति' की शिक्षा दी।^{१७} अश्वघोष के अनुसार, कालाम ने जिस सिद्धान्त का उपदेश किया उससे कणिल, जैगीषव्य, जनक और बुद्ध पराशर ने मोक्षलाभ किया था। कालाम के उपदेश का सांख्यदर्शन से सादृश्य स्पष्ट है। दोनों में प्रकृति और विकृति, अव्यक्त और व्यक्त को परिणामी कहा है, तथा सेवज को इनसे पुनर्कृ बताया है। और दोनों में अविद्या को छिन्न कर सेवज मोक्षलाभ करता है। किन्तु कालाम के उपदेश में अनेक अपूर्व लाक्षणिक शब्दों का उपयोग किया गया है तथा कई स्थानों पर सुविदित सांख्य दर्शन से भेद है। पाँच भूत, अहंकार, बुद्धि और अव्यक्त को प्रकृति कहा गया है। विषय, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ और मन विकार कहे गये हैं। इसके विपरीत सांख्य में अव्यक्त ही केवल प्रकृति है, शेष सब प्रकृति-विकृति अथवा विकृति। विप्रलय, सन्देह, अभिसम्पत्त्य, अविशेष, अनुपाय, संग और अभ्यवपात, इनको पारिभाषिक शब्द माना गया है जो कि—अविशेष और संग को छोड़कर—सांख्य में अप्रसिद्ध हैं। अज्ञान, कर्म और तुल्या को संसार-हेतु कहा गया है जो कि अनेक-द्वन्द्व-साधारण है। संसार-निवृत्ति का मार्ग आकिञ्चन्यापरका अरुण-ध्यान बताया गया है। इसका सांख्य-दर्शन की विवेक-स्थिति

१६८—ललितविस्तर, (सं० सं०) पृ० १७४।

१६९—बुद्धचरित, सर्ग १२।

१७०—३०—ऑरिजिन ऑफ बुद्धिज्म, पृ० ३७७-७८।

से प्रेरित है। बोधिसत्त्व ने इस मत का यह कह कर अस्वीकार किया कि जब तक क्षेत्रज्ञ के रूप में आत्मा शेष है तब तक पुनः संसार की प्रवृत्ति सम्भव है।

राजगृह में बोधिसत्त्व का मगधराज बिम्बिसार से साक्षात्कार हुआ, इसका उल्लेख मुशनिपात के पञ्चञ्ज-सुप्त और ललितविस्तर में है। ललितविस्तर में वहाँ उद्रक रामपुत्र का आश्रम भी बताया गया है।^{१७१} रामपुत्र ने नैवसञ्ज्ञागामसञ्ज्ञायतन का उपदेश बोधिसत्त्व को दिया जिससे उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। वहाँ से पाँच भद्र-वर्षाधि भिक्षु उनके साथ हो लिये।

गया में विचरते बोधिसत्त्व को यह सूझा^{१७२} कि जैसे गौली अरणियों के मन्थन से अग्नि का उत्पादन नहीं किया जा सकता, ऐसे ही भोगों में आकर्षण और तुल्यता रह हुए तपश्चर्या के द्वारा आर्य मार्ग की प्राप्ति नहीं की जा सकती। किन्तु असंग और वैराग्य रहने पर तप से ज्ञान की प्राप्ति की जा सकती है। इस दृष्टि से उन्होंने उरु-विल्व के निकट सेनापति ग्राम में नैरञ्जना नदी के किनारे रमणीय प्रदेश में 'प्रधान' अवस्था तपश्चर्या का निश्चय किया। उन्होंने दाँतों से दाँत भीचकर और तालु से जिह्वा छटा कर इतना धीरे तप किया कि चिल्ले जाड़े में भी उनके पसीना छूटता था, किन्तु इससे वहाँपि उत्साह और जागरुकता बढ़ती थी, देह अशान्त हो जाती थी विरिष्य होती असत्कीर्ण, उपदिष्टता सति असम्मुद्धा, सारद्धो च पन म कायो होति अप्य टिपस्सद्धो।^{१७३} इसके पदचातु उन्होंने आश्वास-प्रश्वास रोककर अग्राणक ध्यान का अभ्यास किया ("सो को अहं...मुञ्चतो च नासतो च अस्सासपरस्तासे उपरुत्ति।")^{१७४} किन्तु इस प्राणायाम के अभ्यास से बोधिसत्त्व को तप वेदना और चलन का अनुभव हुआ। बहुतों ने प्रखर तप से निरवेष्ट पड़े हुए उनको देखकर समझा कि क्षमण गीतम की मृत्यु हो गयी है। इसके अनन्तर उन्होंने आहार छोड़ने का अभ्यास किया। फलतः उनका शरीर अत्यन्त कुस तथा क्षीण हो गया और उनकी स्वाभाविक अवसात छावि काली पड़ गयी। इस स्थिति में उन्हें दुष्कर चर्या की व्यर्थता स्पष्ट दीखने लगी।

१७१-ललितविस्तर, (सं० बँध), पृ० १७४।

१७२-ये 'उपमाए' एवं दुष्कर चर्या का विवरण मज्झिम के बोधिराजकुमारसुत्त आदि स्थलों में उपलब्ध होता है तथा यह ललितविस्तर के विवरण के अत्यन्त सन्निकट है-इ०-मोरिजिन्स ऑब् बुद्धिज्म, पृ० ३७९।

१७३-उवा०-मज्झिम ना०, जि० १, पृ० ३०१।

१७४-सु०-ललितविस्तर, पृ० १७४।

तपस्या छोड़ने के अनन्तर बोधिसत्त्व को जन्पन में अनुभूत ध्यान का स्मरण हुआ और उन्होंने उसे ही सम्बोधि का मार्ग निर्धारित किया। "तस्स मग्गहेतद्वहोसि अभिजानामि खो भनाहं पितु सक्कस्स कम्मन्ते सीताय जम्बुन्धामाय निमिषो विवि-
धेव कामेहि" "पठमज्झानं उपसम्पज्ज विहरता, सिमानू खो एसो मग्गो बोधायामि।
तस्स मे सत्तानुत्तारि विज्जाणं अहोसि एसो व मग्गो बोधायामि।" ¹⁰⁴ और साथ ही उन्होंने अपना ध्यान-मुख का भय छोड़ दिया क्योंकि इस मुख का आधार न भोग-लालसा थी, न अपुष्प। "किन्तु अहं तस्स मुखस्स भावामि, यं तं मुखं जम्बज्वेधं कामेहिं जम्बज
अकुसलेहिं धम्मेहि।" ¹⁰⁵ किन्तु बूल, व्यास और चक्राव में मन स्वस्थ और एकाग्र नहीं रहता और न "ध्यानयोग" में प्रवृत्त होता है। अतएव बोधिसत्त्व ने अनाहार का त्याग किया। इस प्रकार छः साल के कठोर तप का अन्त हुआ, जिस पर उनके साथ के पाँच भद्रवर्गीय भिक्षुओं ने उन्हें साधन से प्रसन्न मानकर छोड़ दिया।

उत्तरकालीन बौद्ध परम्परा के अनुसार ध्यान-संलग्न बोधिसत्त्व को मार और उसकी सेना का सामना करना पड़ा। प्राचीन पालि ग्रन्थों में मार का उल्लेख अवश्य मिलता है, किन्तु सम्बोधिप्राप्ति के कमजब विवरण में मार-धर्षण का स्पष्ट उल्लेख नहीं प्राप्त होता। ¹⁰⁶ इस कारण कुछ विद्वानों का मत है कि मार-मित्रय की यह कथा उत्तरकालीन कल्पना है। अन्य विद्वानों ने इस जलजटा का विरोध किया है। इस प्रसंग में श्री राक्षसेविह्वल ने यह सुझाव प्रस्तुत किया है कि मार की कथा में एक आध्यात्मिक व्यापार का बाह्य इतिवृत्त के रूप में चित्रण है। ¹⁰⁷ पालि-साहित्य में मार को कहीं मृत्यु और कहीं काम अपना सांसारिक प्रलोभन के रूप में समझा गया है। निवृत्ति-मार्ग की दृष्टि से काम और मृत्यु का निजिद सम्मान्य सुबोध है। यह

१७५-मज्झिम (रो०) नि० १, पृ० २४७—"तब मुझे हुआ कि मुझे अपने पिता
शाक्य के कर्मान्त में जानने की ठंडी छाँह में प्रथम ध्यान की प्राप्ति का स्म-
रण है, कदाचित् यही बोधि का मार्ग हो। उस समय स्मृति के अनुसार ही
मेरा मन हुआ कि यही बोधिमार्ग है।"

१७६-मज्झिम, वही—"मैं उस मुख से क्यों दूँ जो काम एवं अकुशल धर्मों से
सम्बद्ध नहीं है।"

१७७-सु०—आरिजित्त और सुद्धिज्ज, पृ० ३८१-८२।

१७८-सु०—दोमस, पूर्व०, पृ० २३०।

स्मरणीय है कि कठोपनिषद् में यम अथवा मूल्य नचिकेता के रूप में जिज्ञासु को नाना प्रलीभन देकर ज्ञान से वञ्चन का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार यह सम्भव है कि ज्ञान की प्राप्ति के लिए सांसारिक आकर्षणों के साथ जो आध्यात्मिक अन्तर्द्वन्द्व अनिवार्य है, उसका ही मार-धर्मण की कथा में एक कल्पित नाटकीय रूप प्रस्तुत किया गया है।

यह स्मरणीय है कि एक प्रकार से आलार कालाम और उद्धक रामपुत्र ने भी बुद्ध को ध्यान की शिक्षा दी थी क्योंकि अरुण-समापत्तियों की प्राप्ति के लिए रूप-धानु का अतिक्रमण आवश्यक है और काम-धातु से रूप-धातु में प्रवेश ध्यान के द्वारा ही सम्भव है। इस प्रकार ध्यान के क्रमशः सूक्ष्म होने से, वितर्क, विचार, प्रीति और मूल के निरोध के द्वारा चतुर्थ ध्यान की प्राप्ति और फिर रूप-संज्ञा के अतिक्रमण से आकाशात्मन्त्यायतनादि अरुण समापत्तियों का लाभ होता है। किन्तु बुद्ध भगवान् ने चतुर्थ ध्यान के अन्तर सम्बोधि का लाभ किया। यहाँ पर यह जिज्ञासा स्वामाधिक है कि जो ध्यान-योग बोधिसत्त्व ने अरुण समापत्तियों के लिए सीखा और वह ध्यान जिसका पहला अनुभव उन्होंने अपने पिता के उद्यान में आम्र की छाया में किया था और जिसके अभ्यास से गया में स्वप्नोद के नीचे उन्हें सम्बोधि प्राप्त हुई, इस दो ध्यान-योगों में क्या भेद था। वस्तुतः यहाँ पर भेद ध्यान के लक्ष्य में ही मानना चाहिए। शंकराचार्य का कहना है कि समस्त आध्यात्मिक साधन का रहस्य लक्ष्य-चिन्तन में ही है, यद्यपि एक अवस्था के बाद अभिन्नत ही शेष रहता है।^{११९} ध्यान का मर्म यही है—किसी लक्ष्य की ओर चित्त को बार-बार लगाना जब तक कि चित्त स्वयं उसकी ओर निरन्तर प्रवाहित होने लगे।^{१२०} किसी विषय पर चित्त के बार-बार लगाने की बीड़ों ने 'वितर्क' की संज्ञा दी है, और उस विषय पर चित्त के निरन्तर प्रवाह को 'विचार' की।^{१२१} ऐसे एकाग्रभूमिक चित्त के समाहित होने के प्रसंग में पहले मौन (वाक्संस्कारनिरोध) के साथ-साथ चित्त की जड़ता और चंचलता के तात्कालिक उपशम के कारण सार्विक मूल और मूल का आत्मग, जिसे बीड़ों ने 'प्रीति' कहा है, उत्पन्न होते हैं। यह प्रथम ध्यान की अवस्था है, पर क्रमशः वितर्क, प्रीति और मूल के निरोध से द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ ध्यान की अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं। साथ ही

१७९—गीता, २.५४ तथा ६.२५ पर भाष्य।

१८०—यथा योगसूत्र—'तत्र प्रत्ययैकतामता ध्यानम्।' ३०—मौल्ये।

१८१—ध्यान पर ३०—जिसुद्धिमणो (अम्बई, १९४०) पृ० ९५-९६; अनिधर्मकोश

८म कोशस्थान।

साध समाहित होने से चित्त की स्वाभाविक शक्ति का उन्मेष होता है और ध्यान के मूल लक्ष्य के अनुरूप ज्ञान और विभूति का आविर्भाव होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध के समकालीन अनेक आचार्यगण ध्यान और समाधि का उपयोग रूप-धातु और अरूप-धातु के नाना-लोकों की प्राप्ति के लिए करते थे। अतएव परवर्ती बौद्ध आचार्यों ने इस प्रकार के ध्यान और समाधि को 'लौकिक' और 'सांख्य' कहा है।^{१८१} यह स्मरणयोग्य है कि अश्वघोष के अनुसार अराठ कालाम के योग का लक्ष्य किसी देव-लोक की प्राप्ति न था, अपितु आत्मा की देह से मुक्ति था। किन्तु आत्मपरक होने के कारण परवर्ती बौद्ध दृष्टि से ऐसा योग भी 'सांख्य' ही कहलायेगा। साधारण तौर से चतुर्थ ध्यान में स्थित रहने से 'बृहत्फल' नामक देवताओं के लोक की प्राप्ति होती थी तथा इस ध्यान की रूपसंज्ञा का अतिशय करने पर सूक्ष्मतर आकाशानन्त्यायतन की प्राप्ति होती थी। किन्तु अतिशय पुष्पात्मा, रंधातुकविरक्त, अनुत्तर शान्ति-यद-गवेषी बोधिसत्त्व चतुर्थ ध्यान में अपने विमुक्त और निश्चल चित्त के अभिनिर्हार के द्वारा रात्रि के तीन घण्टों में तीन विद्याएँ प्राप्त कर उपकाल में सर्वज्ञ सम्बुद्ध हो गये।

सम्बोधि—रात्रि के प्रथम घण्टा में उन्होंने पूर्वे जन्मों की स्मृतिरूपी पहली विद्या प्राप्त की। रात्रि के मध्यम घण्टा में उन्होंने दिव्य चक्षु प्राप्त किया और उसके द्वारा समस्त लोक को अपने कर्माँ का फल अनुभव करते देखा। रात्रि के तृतीय घण्टा में उन्होंने प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञान प्राप्त किया जिससे उन्होंने सत्य को आपाततः दो पक्षों में विभक्त देखा—एक ओर अनित्य, परतन्त्र और सापेक्ष संसार, दूसरी ओर चिर-शान्त निर्वाण। एक मत से यह 'वैविधता' ही बुद्ध की सर्वज्ञता थी। मतान्तर से प्रतीत्यसमुत्पाद के समानान्तर सर्वधर्माभिसमय रूप सर्वाकारक प्रज्ञा अथवा सम्बोधि का उदय हुआ।^{१८२} जिस प्रकार पहाड़ की चोटी से कोई नीचे देखे ऐसे ही सम्यक् सम्बुद्ध ने धर्ममय प्रासाद से शोकमग्न संसार को देखा।^{१८३} सम्बोधि के बाद बुद्ध के

१८२—यथा, अभिधर्मकोश, ८.६ प्र०।

१८३—अरिजिन्स ओब् बुद्धिम, पृ० ४५८-६४, ललित, पृ० २५०-५४।

अभिधर्मकोश, ६.६७, महाध्यानसूत्रार्त्तकार (सं० लंवि), १।

१८४—"तेले यथा पम्बतमुदनिदिठतो यथापि वस्ते जनतं समन्ततो।

तत्तूपमं धम्ममयं सुमेध पासादमाकम्ह समन्तचक्षुः।

लोकावतिज्जं जनतं अपेतसोको अवेवणस्सु जातिजराभिभूतं।"

(मज्झिम ना०, १.२।८, संयुत ना० १.१३.८) सु० योगभाष्य, सूत्र २.४७ पर।

प्रथम वचन के विषय में बौद्ध परम्परा एक मत नहीं है। महावग्ग और उदान में इस गाथा को बुद्ध का प्रथम उद्दान बताया गया है—“यदा हवे पातुभवन्ति धम्मा आतापिनो आमतो ब्राह्मणस्स । अवस्स कल्लवा अपयन्ति सव्वा यतो पज्जानाति सहेतुपम्मं ॥” जिसका इस प्रकार अनुवाद किया जा सकता है—

अर्थात् “धर्मों का होता जब प्रादुर्भाव
संशय सारे हो जाते संछिन्न
आतापी ध्यायी ब्राह्मण के, क्योंकि
जाना उसने धर्म हेतु-सन्निभ ॥”^{१८५}

किन्तु दो भागिक और बुद्धयोग के अनुसार बुद्ध के प्रथम वचन धम्मपद की इन गाथाओं से रक्षित हैं —

“अनेकजातिसंसारं संपावित्तं अनिम्बितं,
गृहकारकं गवेसन्तो दुष्णा जाति पुनपुनं ।
गृहकारकं विट्ठोसि पुन गेहं न काहसि,
सव्वा ते कामुका भग्गा गृहकूटं विसहिंसतं,
वित्तंश्चत्वारणां चित्तं तन्हानं जयमग्गमा ॥”^{१८६}

अर्थात् “बहुत जन्म संसृति में सम्पावित हो अभिरत,
गृहकारक को लोला बार-बार जीवित मृत,
दीप्त मये, गृहकारक, अब न बना सकते घर,
भग्न हुई सब कड़ियाँ गिरता टूट गृह-शिखर,
संस्कारों से मुक्त चित्त, तृष्णा अशेष मत ।”

ललितविस्तर में पहला उद्दान इस प्रकार दिया है —“छिन्नवर्म्मोपयान्तरजाः^{१८७}
शुष्का” आरुक्वा न पुनः अवन्ति । छिन्ने वर्त्मनि वर्तत दुःखस्यैवोज्जित उज्जते ।

अर्थात् “छिन्न हो गया वर्त्म, ज्ञान्त रज,
रुद्ध हो गये आलस्य शोषित ।
छिन्न हो गया वर्त्म और यह
दुःख का जन्त हो गया अभिहित ।”

१८५—विषय ना०, महावग्ग, पृ० ३, सुट्ठक ना० जि० १, ६३-६५ (उद्दान)

१८६—धम्मपद—गुट्ठक ना० जि० १, पृ० ३२ ।

१८७—ललित, पृ० २५३ ।



सिम्बती विनय में एक और उद्दान दिया हुआ है। इस परम्परागत वैमत्य से स्पष्ट है कि सम्बुद्ध की प्रथमोक्ति का उत्तरकाल में यथावत् स्मरण शेष नहीं रहा है।

विनय के अनुसार सम्बोधि के अनन्तर चार सप्ताह तक बुद्ध विमुक्ति-मुख-प्रतिसंवेदी होकर ब्रह्मासन बने रहे। कुछ परवर्ती ग्रन्थों के अनुसार यह समय सात सप्ताह अथवा एक सप्ताह का था। महावग्ग में इस विमुक्ति-मुख-प्रतिसंवेदन के अनन्तर तपुस्स और भल्लिक नाम के दो व्यापारियों के सर्वप्रथम उपासक बनने का उल्लेख है। इससे अनन्तर ब्रह्मयाचन का वर्णन है।^{१८८} किन्तु मज्झिम के सुत्तों में सम्बोधि के समनन्तर ही ब्रह्मयाचन उल्लिखित है, बीच में विमुक्ति-मुख का प्रति-संवेदन जन्वा तपुस्स और भल्लिक का उल्लेख नहीं है।^{१८९}

बुद्ध के मन में यह संशय उत्पन्न हुआ कि "अभिगतो खो म्मानं अम्मो गम्भीरो दुइसं दुत्तुबोवो सन्तो पणोतो अतक्कावचरो तिपुणो पण्डितवेदनीयो। आलयरामा खो पनायं पजा आलयरता आलयसम्मूदिता। आलयरामायत्तो पन पजाय... दुइसं इदं ठानं यदिदं इदप्पच्चयता-नटिच्चसमुत्पादो, इदं पि खो ठानं सुदुइसं यदिदं... निव्वानं। अहं चैव खो पन धम्मं देसेय्यं, परे च ये न आज्ञानेप्पु, खो ममस्स किलमयो, मा भमस्स विहेसा।"^{१९०} और उन्हें ये गाथाएँ सूची "किञ्छेन मे अविगतं हल्लदानि पका-सितुं। राजदोसपरतेहि नायं धम्मो सुसम्बुधो॥ पटिसोतगामि तिपुणं गम्भीरं दुइसं अणुं। रागरत्ता न दक्खन्ति तमोक्खम्येन आवुटा ति"^{१९१} बहुत कष्ट से बुद्ध ने जिस

१८८-विनय, ना० महावग्ग, पृ० ६-१०।

१८९-जा० मज्झिम, ना० जि० १, पृ० २१८-१९, तु० संयुक्त ना०, जि० १, पृ० १३६-३९।

१९०-अर्थात् "मुझे यह गम्भीर, दुरवलोक्य, दुर्बोध, शान्त, उत्तम, अतर्कगोचर, सूक्ष्म एवं पण्डित वेद्य धर्म प्राप्त हुआ है। आलयरत जनता के लिए इद-मप्रत्ययताकथ्य प्रतीत्यसमुत्पाद अथवा निर्वाण दुर्बोध है। यदि मैं धर्म का उपदेश करूँ और लोग न समझें तो परिधम एवं आभासमात्र होगा।" (मज्झिम ना०, जि० १, पृ० २१७)।

१९१-अर्थात् "मुझे कठिनाई से प्राप्त हुआ (धर्म) प्रकाशित करना व्यर्थ है। राग-द्वेष से, अभिभूत (लोगों के लिए) यह धर्म सुबोध नहीं है। प्रतिलोत-गामी, सूक्ष्म, गम्भीर, दुर्बोध, अणु (धर्म) को रागरक्त एवं तमःलकण्य से आवृत्त (लोग) नहीं देखेंगे।"

अतर्क्य और सूक्ष्म परमार्थ का बोध प्राप्त किया था जैसे राग, द्वेष और मोह से अधि-
भूत, संसार के प्रवाह में बहते हुए मनुष्य किस प्रकार समझ पायेंगे और उनमें धर्म-
प्रचार का प्रयत्न क्या सर्वथा निष्फल न होगा—इस प्रकार का संशय और धर्म प्रव-
र्तन की ओर अनभिमुख बुद्ध के मन में स्वभावतः उदित हुई। परम्परा के अनुसार
बुद्ध के अनौत्पुन्य को देखकर ब्रह्मा उनके सम्मुख प्रकट हुए और उन्होंने कहा—
धर्ममय प्रासाद से शोकावर्तीर्ण जनता को देखिए और धर्म का उपदेश कीजिए, जानने-
समझने वाले भी होंगे। ब्रह्मा की याचना से बुद्ध ने जीवों पर करुणा कर बुद्धचरु से
लोक को देखा और पाया कि जैसे सरसी (तलैया) में कुछ कमल जल से अनुद्गत, कुछ
समोदक और कुछ जल से अम्युद्गत होते हैं, ऐसे ही जीव भी संसार में आध्यात्मिक
विकास की गाना अवस्थाओं में हैं।^{११८} कुछ संसारो सुविज्ञान्य है, कुछ दुर्विज्ञान्य।
यह देखकर बुद्ध ने धर्म-देशना स्वीकार की।

इस 'पटना' की व्याख्या अनेक प्रकार से की गयी है। एक मत यह है कि वस्तुतः
बुद्ध को एक देवता ने संसारियों का 'उत्पल-सादृश्य' दिखाया और आध्यात्मिक विकास
के धर्म के प्रचार के लिए प्रेरित किया।^{११९} यह मत मूल-सन्दर्भों का सर्वथा तिरस्कार
करने से अग्रगण्य है। एक अन्य मत यह है कि सर्वसं बुद्ध को संशयापन्न होना ब्रह्मा के
द्वारा इस संशय का निराकरण असम्भव है। वस्तुतः बुद्ध ने यह निश्चय किया कि वे
अतर्क्य निर्वाण के विषय में मौन धारण करेंगे और केवल मार्ग की देशना करेंगे।^{१२०}
यह निष्कर्ष भी मूल-सन्दर्भ से पुष्ट नहीं होता।

वस्तुतः ब्रह्मायाचन से और करुणा से संसार को देखकर धर्मदेशना के लिए बुद्ध का
स्वीकृति देना महायान का आध्यात्मिक जन्म मानना चाहिए। ज्ञानी के लिए अज्ञा-
नियों का उद्धार और मूक-पक्ष का स्वीकार आवश्यक कर्तव्य बन जाते हैं। यदि ऐसा
न होता तो संसार में अलौकिक ज्ञान की परम्परा कभी बन ही न पाती। सम्मक्

११२—ललित, पृ० २१२ में ये तीन प्रकार के कमल तीन प्रकार के जीवों की ओर
संकेत करते हैं—निष्पातवनिपतराशि, अनिपतराशि और सम्पत्तवनिपत०।
उपदेश की आवश्यकता केवल अनिपतराशि के लिए है।

११३—श्रीमती रोखडेविइस, बट थां व दि ऑरिजिनल गोस्पेल इन बुद्धिज्म,
पृ० १६।

११४—नलिनाशवत, अलौ सॉनेस्टिक बुद्धिज्म, जि० १, पृ० १००।

सम्बुद्ध के चित्त में कठना का विकास एक अनिवार्य घटना थी। अपनी ही मूर्ति से सन्तुष्ट रहने का प्रलोभन तथा धर्म-प्रवर्तन के प्रति निराशा बुद्ध के चित्त में सम्भाव्य न होते हुए भी बहुमाचन के इस नाटकीय विवरण में तिरस्कार्य पूर्व पक्ष के रूप में कल्पित की गयी थी जिससे प्राकृत जन की बुद्धि और अभिसम्बुद्ध धर्म की दूरी स्पष्ट हो सके और वह भी प्रकट हो जाये कि बुद्ध की कठना-अमृत देशना के अतिरिक्त इस दूरी को पाटने का और कोई साधन नहीं है।^{११५} ललितविस्तर का वर्णन अधिक विस्तृत और स्वर्णव्याख्यात है। बुद्ध के मन में कोई वास्तविक मिथिचित्ता अथवा संकोच नहीं था, किन्तु उनके मन का चित्तकं ब्रह्मा को प्रेरित करने के लिए आहार्य था क्योंकि बुद्ध बिना अप्येषणा के उपदेश नहीं देते।

धर्म-वचन-प्रवर्तन—बुद्ध ने पहली देशना के सुसूतम पाप जालार कलाम और उदकरामपुत्र को माना, किन्तु उनका देहान्त इससे पूर्व ही हो गया था। उनके बाद उपदेशपता की दूसरी कोटि में बुद्ध ने पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को रखा जो उन्हें छोड़कर चले गये थे। इन भिक्षुओं से मिलने बुद्ध वाराणसी गये और वहाँ ऋषिपतन मृगदान (सारगाध) में उन्होंने पहला धर्मोपदेश कर धर्मवचनप्रवर्तन किया। इस प्रथम उपदेश का ठीक जिस रूप में वर्णन इस समय उपलब्ध होता है उसका पूर्णतया आभाषिक होना सम्दिग्ध है।^{११६} दो अंशों का परिचर्जन तथा मध्यमा प्रतिपद की आवश्यकता, इतना ही मूल उपदेश का निश्चित बोध है।^{११७} किन्तु इस मध्यमाप्रतिपद का अष्टांग मार्ग के साथ तादात्म्य स्थापित करना तथा उसके अनुसार चार आर्य स्रवों का सन्वितार और रीतिवद्ध वर्णन उत्तरकाशीन सन्निवेश प्रतीक होता है, जो कि मूल उपदेश के कुछ अंश को लुप्त कर स्वयं उसका स्मानापन्न हो गया है।

११५-सु०—प्लेटो का 'आताबासिस' (रिपब्लिक, ५२० सी)।

११६-इ०—ऑरिजिनस ऑब् बुद्धिज्म, पृ० २२७-२८।

११७—"आविनी भिक्षवः प्रसजितस्वान्तावकमौ। यद्वच कामेषु काममुत्तल्लिका-
योगो हागो धाम्मः पार्थाज्जिको नात्तमारोऽनर्थोपसंहितो नायस्यां बहुकपयि
न निविदे न विरमाय न निरोधाय नाभिजाय न सम्बोधये न निर्वाणाय
संवर्तते। या वेयममध्यमा प्रतिपदा आत्तकायकलमजानुयोगो दुःखोऽनर्थोप-
संहितो वृष्टधर्मबुःसाध्यावत्तां च दुःखविपाकः। एतौ च भिक्षवो द्वारवन्तावनु-
पयम्य मध्यमयथ प्रतिपदा तथागतो धर्मं देशयति।" (ललित, पृ० ३०३)

बुद्ध की देशना से पंचवर्गीय भिक्षुओं ने अर्हत्त्व प्राप्त किया और इस प्रकार लोक में छः अर्हत् हुए। वाराणसी में संग नाम के श्वेतिषुष की प्रव्रज्या का भी इसके अनतिथिर सम्पन्न होने का उल्लेख महावग्ग में प्राप्त होता है। इसके पश्चात् मगध के सम्बन्धियों और मित्रों ने नये धर्म की स्वीकार किया और वाराणसी में अनेक बौद्ध उपासक और भिक्षु बन गये। इस प्रकार बुद्ध के अतिरिक्त साठ और अर्हत् उस समय थे। इनको बुद्ध ने भाषा दिशाओं में धर्म-प्रचार के लिए भेज दिया और स्वयं उरुवेला के सेनानिगम की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में उन्होंने तीस भद्रवर्गीय कुमारों को धर्म-देशना दी। उरुवेला में उन्होंने तीन जटिल कायमपों को और उनके एक सहस्र अनुयायियों को प्रातिहार्य तथा देशना के द्वारा सद्धर्म में प्रवेष्टित किया। इसके अनन्तर बुद्ध राजगृह गये और वहाँ राजा बिम्बिसार को धर्म का उपदेश दिया। बिम्बिसार ने भिक्षु-संघ को वेषध्वन उद्यान का उपहार दिया। राजगृह में संजय नाम के परित्राजक आचार्य के दो शिष्य थे जो पीछे शारिपुत्र और मीद्गल्यायन के नाम से प्रसिद्ध हुए। अस्ताजित् से "ये धम्मा हेतुप्पमया तेस हेतुं तथागतो आह। तेसं च यो निरोधो एवंपादी महात्मणो ॥"^{११६} यह सुनकर शारिपुत्र सद्धर्म में अद्भुतान् हुए। उनसे यह गाथा भीद्गल्यायन ने सुनी और दोनों ने बुद्ध का शिष्यत्व स्वीकार किया। महावग्ग में सम्बोधि के बाद की घटनाओं का कम-बहु विवरण यहाँ समाप्त हो जाता है।

बौद्ध परम्परा में उन स्थानों के नाम गिनाये गये हैं जहाँ बुद्ध ने प्रतिवर्ष वर्षावास व्यतीत किये थे। उनकी सूची इस प्रकार है—पहला वर्षावास वाराणसी में, दूसरा चौथा राजगृह में, ५वाँ वैशाली में, ६वाँ मकुलगिरि में, ७वाँ तावत्तिश्रोक में, ८वाँ सुत्तुमार (शिशुमार) गिरि के निकट मगध प्रदेश में, ९वाँ कौशाम्बी में, १०वाँ पारिलेम्भक वन में, ११वाँ मालाग्राभ में, १२वाँ वेरव्ज में, १३वाँ चालियगिरि में, १४वाँ श्रावस्ती में, १५वाँ कपिलवस्तु में, १६वाँ जालकी में, १७वाँ राजगृह में, १८वाँ चालिय गिरि में, १९वाँ राजगृह में। इसके अनन्तर श्रावस्ती में ही बुद्ध ने वर्षावास व्यतीत किये। इस परम्परा में कल्पना ने हाथ बँटाया है, यह तो तावत्तिश्रोक के उल्लेख से स्पष्ट है। शेष की प्रामाणिकता सम्भव होते हुए भी प्राचीन ग्रन्थों में असमाहित होने से अनिश्चित हो रहती है।

सम्बोधि-नाम के पश्चात् ८० वर्ष की आयु तक बुद्ध सद्धर्म का प्रचार करते हुए उत्तर प्रदेश और बिहार के जनपदों में घूमते रहे। सब से अधिक उनका निवास

१९८—प्रवर्तित, 'जो धर्म हेतुप्रमत्त है उनके हेतु एवं उनके निरोध का तथागत ने उपदेश दिया है।' यह गाथा बौद्धों में अत्यन्त प्रसिद्ध है।

आवस्ती में हुआ और उसके बाद राजगृह, वैशाली और कपिलवस्तु में। समाज के माना वर्गों से उनके अनुयायी बने और उपासकों और उपासिकाओं, भिक्षुओं और भिक्षुणियों में सद्धर्म का प्रभाव बढ़ता गया। सद्धर्म के पहले अनुयायी काशी के पाँच ब्राह्मण तपस्वी थे और उनके बाद काशी का श्रेष्ठि-वर्ग। भिक्षुओं की विशेष संख्या-वृद्धि पहले मगध में हुई जब गया के एक सहल जटिल साधु भिक्षु बन गये और जब राजगृह में संजय परित्राजक के भेलों ने संघ में प्रवेश किया। मगध में राजा बिम्बिसार का बुद्ध में श्रद्धालु होकर संघ को वेषुवन का उपहार देना सद्धर्म की प्रगति का एक सभा चरण था। अजातशत्रु बुद्ध की ओर अनुकूल नहीं था, यद्यपि बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार बहुत पीछे श्यामण्यफलसूत्र सुन कर उसका मन बदला था। मगध के ब्राह्मणों में बुद्ध को अधिक सफलता प्राप्त नहीं हुई ऐसा प्रतीत होता है। श्रेष्ठियों और गृहपतियों ने अनेक उपासक बने। इस प्रसार में बिम्बिसार की अनुकूलता एक प्रधान कारण थी।

कोशल में राजा प्रसेनजित् बुद्ध के अनुग ये और उनसे अधिक रानी मल्लिका बुद्ध में श्रद्धा रखती थी।¹ फलतः राजकुल में और भी सद्धर्म के अनुयायी बने। श्रेष्ठियों में कोटिपति अनापपिण्डिक और विशाखा का उपासक बनना सद्धर्म की बहुत बड़ी विजय थी। अनापपिण्डिक ने आवस्ती में भिक्षु संघ को जेतवन विहार का दान किया और विशाखा ने पुज्जाराम-मिगारमातुपात्ताद का। कोशल के अनेक प्रभाव-शाली और समूह ब्राह्मणों ने भी बौद्ध धर्म स्वीकार किया। कोशल के इन ब्राह्मणों में अग्निह भारद्वाज, पुष्करसादी, धानवज्जनि आदि मुख्य थे। आवस्ती आजीवकों का केन्द्र थी, पर वहाँ के परित्राजकों से भी कुछ ने सद्धर्म का अनुसरण किया।

शाक्यमगध पहले बुद्ध के प्रति अनुकूल नहीं थे। पर कहा जाता है कि पीछे प्रातिहार्य-दर्शन से शाक्यों की दृष्टि बदली। राहुल की प्रसंग्या का उल्लेख विनय में प्राप्त होता है। जैसे आवस्ती आजीवकों का केन्द्र थी, वैशाली निर्धन्यों का। लिच्छवियों में महावीर के प्रभाव के कारण बुद्ध का प्रभाव सीमित रहा। बुद्ध स्वयं वैशाली के मगध-राज्य के बहुत प्रशंसक थे और यह सम्भव है कि उनके भिक्षु-संघ का संगठन इस मगध-राज्य के आदर्श पर प्रतिष्ठित हुआ हो। निर्धन्य उपासक लिच्छवि सेनापति सिंह को अपना अनुयायी बनाना बुद्ध की बड़ी विजय थी। शिशुमार गिरि के भर्गों से अन्ध राजकुमार और तकुल के माता-पिता ने सद्धर्म का ग्रहण किया।

१९९-सत्काशीन विशिष्ट व्यक्तियों के चरित पर ३०—मत्तलसेकर, विक्शनरी ऑफ पाति प्रॉपर नेम्स, २ खिल्।

कोलियों में से सुप्पावासा (सुप्पावासा ?) प्रसिद्ध उपासिका थी। भल्लो में दव (दव्व) और धुन्द सुविदित हैं।

भगवान् बुद्ध ने धर्म की देशना कोशल, मगध और उनके पड़ोसी गण-राज्यों में की और समाज के सभी वर्गों और जातियों से उनके अनुयायियों की संख्या बढ़ी। महाप्रजापति गौतमी और आनन्द के कहने से उन्होंने स्त्रियों को भी साथ में स्नान दिया। मुख्यतया भिक्षुओं का धर्म होते हुए भी उनकी देशना और मार्ग में उपासकों का स्नान था। ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड, पशु-वध, बाहरी आचार, जातिवाद आदि का उन्होंने विरोध किया और 'ब्राह्मण' की कर्मानुसारो नैतिक परिभाषा प्रस्तुत की। तथापि अनेक जिज्ञानु ब्राह्मणों ने उनका अनुसरण किया, यद्यपि एक कट्टरपन्थी पुरोहित-वर्ग उनके विरोध में बना रहा। पर यह स्मरणीय है कि बुद्ध स्वयं ब्राह्मणों का धन-मान, आदि उनसे छीन कर किसी और जाति अथवा सामाजिक वर्ग को नहीं देना चाहते थे। भिक्षुसंघ चातुर्दिश था और कम से कम बुद्ध के समय में भिक्षु सोना-चांदी आदि की भिषा भी ग्रहण नहीं कर सकते थे। और उनके विनय-विहित जीवन में भोग की सम्भावना प्रयत्नपूर्वक निराकृत की गयी है। समूह श्रेष्ठियों, क्षत्रियों और राजाओं में से सद्धर्म के अनेक उपासक बने। अन्य वर्गों से भी बुद्ध ने अनुयायी पाये जैसा कि पिता के बुद्ध कर्मोत्पन्न के उदाहरण से पता लगता है। डाकू अंगुलिमार और शनिका आत्मपाली ने भी बुद्ध की शरण पकड़ी। भिक्षु-संघ में किसी भी जाति के लोग, हीनजातीय भी, प्रवेश पा सकते थे। उस काल की अल्प-शेष सामग्री में यदि दरिद्र और साधारण उपासकों अथवा भिक्षुओं के नाम बहुत संख्या में कीर्तित नहीं किये गये हैं तो अचम्भा न होना चाहिए। किन्तु धर्म तथा विनय किसी विशेष सामाजिक वर्ग का पक्षपात नहीं करते, यद्यपि समाज के विशिष्ट समर्थ तथा धर्मी व्यक्तियों के साहाय्य का स्मरण अवश्य करते हैं। यह स्मरणीय है कि ज्ञान की पुरानी ब्राह्मणपरम्परा में भी जाति-निरपेक्षता थी, यथा "कि ब्राह्मणस्य पितरं किम् पूच्छसि मातरम्। श्रुतं चेदस्मिन् वेदं स पिता स पितामहः।" (काठकसंहिता)।

परिनिर्वाण—महापरिनिर्वाण सुत्त, जिसमें परवर्ती प्रक्षेप, परिवर्तन और परिवर्तन पर्याप्त है, बुद्ध के परिनिर्वाण की कथा का वर्णन करता है।^१ बुद्ध राज-

२००—अर्थात् "ब्राह्मण के पिता या माता को क्या पूछते हो, यदि उसमें श्रुति का ज्ञान है, तो वही पिता है, वही पितामह है।"

२०१-२०—ओरिजिन्स ऑफ बुद्धिज्म, पृ० १८-१०६, क्राउचाल्जर, पूर्व।

गृह में थे जब अजातशत्रु बलिज्यों पर अभियान करना चाहता था। मगध के महाभाव साम्राज्य वर्षकार ने बुद्ध से इस विषय पर पूछा। बुद्ध ने बलिज्यों के साथ 'अपरि-हाणोम समे' बताते जितने रहते वे अपराजेय थे। राजगृह से बुद्ध पाटलिपुत्र होते गंगा पार कर वैशाली पहुँचे। इस समय परिनिर्वाण के तीन मास शेष थे। वैशाली में आस्रपाली गणिका ने उनको भिक्षु-संघ के साथ भोजन कराया। भगवान् ने वर्षा-वास समीप के वेसुवग्राम में व्यतीत किया। यहाँ वे अत्यधिक रुग्ण हुए और आनन्द की इस आर्षका पर कि कहीं भिक्षु-संघ से बिना कुछ कहे ही भगवान् का परिनिर्वाण न हो जाये, उन्होंने कहा "कि यत्तानन्द भिक्षुसंघो मयि पञ्चासी सति ? ऐसितो आनन्द मया धम्मो अनन्तरं अवाहिंरं करित्वा। नत्थानन्द तयागतस्स धम्मसु वाच-रियमुट्ठि। यस्त नून आनन्द स्वमस्स—'अहं भिक्षुसंघं परिहरिस्सामोति वा समुदेसिको भिक्षुसंघो ति वा सो नून आनन्द भिक्षुसंघं आरम्भ किञ्चिदेव उदाहरेय। तयागतस्स को आनन्द न एवं होति—'अहं रवो—'एतरहि जिणो बुद्धो—'अतोतिको मे वयो वत्तति। सेय्य भापि आनन्द अज्जरसकटं—'तस्मातिहानन्द अत्तदीपा विहरथ अत्तसरणा अनज्जसरणा, धम्म दीपा धम्मसरणा अनज्जसरणा।'" इस आधुनिक भाषण में बुद्ध का व्यक्तित्व अद्भुत रूप में सर्वांग हो उठता है।

वैशाली से वे मण्डवग्राम और भोगगंगर होते हुए पावा पहुँचे जहाँ उन्होंने वृन्द कम्मरपुत्त का आतिथ्य स्वीकार किया और उसके 'सूकरमद्व' स्थान से उन्हें वन्यशायन रक्षातिशार उत्पन्न हो गया। ऐसी ही अवस्था में उन्होंने कुसीनगर को प्रस्थान किया और हिरण्यवती नदी पार कर वे शालवन में दो शाल वृक्षों के बीच लेट गये। सुमद्र नाम के परित्राजक को उन्होंने उपदेश किया और भिक्षुओं से कहा कि उनके बाद धर्म ही शास्ता रहेगा। बुद्ध शिष्यापदों में परिवर्तन की अनुमति उन्होंने भिक्षुसंघ को दी। छत्र पर अद्वावण्ड का विधान किया। और पालि परम्परा

२०२-अर्थात् "आनन्द, भिक्षुसंघ, मुझसे अब और क्या चाहता है? मैंने धर्म अनन्तर-अवाह्य कर (निःशेष) उपदेश किया है। तयागत को धर्म में आचार्यमुष्टि नहीं है। जिसके मन में हो 'मैं संघ का नेतृत्व करूँ, संघ मेरी ओर समुद्दिष्ट हो,' वह संघ के लिए कुछ प्रकाशित करे। तयागत के मन में ऐसा नहीं है—'मैं अब जीर्ण बुद्ध हूँ—'८०. धर्म की मेरी आयु है—'जैसे अज्जर शकट हो—'अतएव आनन्द, आत्मदीप बनकर आत्मशरण, अनन्य-शरण, धर्मदीप, धर्मशरण, अनन्यशरण बनकर तुम लोग विहरो।"

के अनुसार 'वयसम्मो सरवारा अप्पमादेन सम्मादेया' यह कहकर परिनिर्वाण में प्रवेश किया।

गुमंगलविलासिनो (बुद्ध घोष-कृत दीपनिकाम की बटुकठा) में बुद्ध भगवान् की दिनचर्या इस प्रकार दी हुई है—प्रातः वे स्वयं उठकर मुख-प्रक्षालन आदि शरीर परिकरमें कर के मिलाचार के समय तक एकान्त आसन में बैठते थे। फिर पीवर पहिन कर कभी अकेले, कभी भिक्षुसंघ के साथ, भिक्षा के लिए ग्राम अथवा नगर में प्रवेश करते थे। थड़ापु उनको निमन्त्रित करते तथा भोजन कराते थे जिसके अनन्तर बुद्ध उन्हें उपदेश देते और गन्धकुटी लौटते थे। यहाँ भिक्षु संघ को अप्रभाद के लिए वे प्रेरित करते और उनकी चर्या के अनुरूप उन्हें कर्मस्नान का उपदेश देते। फिर स्वयं गन्धकुटी में प्रवेश कर गृह्यतः भर आराम करते और पीछे वसों के लिए जाये हुए लोगों को उपदेश देते। शाम को वे स्नान और ध्यान करते और फिर भिक्षुओं की कठिनाइयाँ सुलझाते। इस प्रकार रात्रि का पहला याम बीतता। रात्रि के मध्यम याम में वे देवताओं के प्रश्नों के उत्तर देते और अन्तिम याम में पहले कुछ चक्रमण करते, फिर कुछ आराम, और फिर उठकर बुद्धधर्म से लोक का अवलोकन करते थे।

इस वर्णन के उत्तरकालीन होने से इसकी ऐतिहासिकता प्रमाणित करना कठिन है किन्तु यह परम्परामूलक है और सम्भावना के अनुकूल है। बुद्ध की जीवन-चर्या एकान्त ध्यान तथा जनता को उपदेश देने में बीतती थी। उनको बहुधा ध्यापी अथवा ध्यानशील कहा गया है। वे मौन के प्रेमी थे। परिप्राजक उनको 'अल्पवाच-काम' कहते थे। उनकी परिषदों में कोलाहल बहिष्कृत रहता था। और भिक्षुओं के लिए उन्होंने "अरियो तुण्हीभायो" ("आर्य मौन") का उपदेश किया था। बुद्ध एकान्त भी बहुत पसन्द करते थे। उनके कुछ विरोधी यहाँ तक कहते थे "सुब्बमागारहता समणस्स मोतमस्स यज्झा, अपरिसावचरो समणो मोतमो, नाल सल्लापय, सो अनन्त-मन्तानेव सेवति।" बुद्ध की करुणा और अनुकम्पा सुविदित हैं। उनका स्वभाव लाफ्त स्वतन्त्र था और अन्धधृष्टा के प्रतिकूल। वे प्रत्येक को आत्मविश्वास की शिक्षा देते थे और स्वयं सत्य का साक्षात्कार करने का उपदेश करते थे।

२०३—"अमण गीतम की प्रज्ञा शून्यागारहता है, अमण गीतम परिषद् के अयोग्य है, संलाप के अयोग्य है, वह एकान्त बात ही करता है।"

अध्याय २

बौद्ध धर्म का प्रारम्भिक रूप और मूल तत्त्व

ऐतिहासिक दृष्टिकोण

बौद्ध धर्म नाना सम्प्रदायों में विभक्त रहा है, प्राचीन और अर्वाचीन । प्रत्येक सम्प्रदाय अपने को बुद्ध भगवान् की आध्यात्मिक विरासत का सच्चा उत्तराधिकारी मानता है, किन्तु प्रत्येक की निष्ठा औरों से भेद रखती है और प्रतिविशिष्ट है । ऐसी स्थिति में यह सीमास्थ हो जाता है कि भगवान् बुद्ध ने संधार्व में क्या उपदेश किया, और इस प्रश्न की सुझमता और जटिलता के कारण उसकी सीमांता सावधानी से करनी होगी ।

एक बहुधा स्वीकृत विकल्प यह है कि इन सम्प्रदायों में जो व्यापक और समान तत्त्व हैं उनको बुद्ध का मूल उपदेश मानना चाहिए । इस दृष्टि से अनात्मवाद को सद्धर्म का प्राण समझा गया है । रोजेनबर्ग ने इसका विस्तार से प्रतिपादन करना चाहा है कि एक ही मूल और अन्वष्टित तत्त्व का नाना सम्प्रदायों में विकास हुआ है । 'धर्म' को ही वे यह तत्त्व मानते हैं । किन्तु इस प्रसंग में पहले यह स्मरणीय है कि किसी तत्त्व का अनेक अथवा सारे सम्प्रदायों के द्वारा समान अन्वुपगम उसकी मौलिकता न सिद्ध कर केवल इतना ही दर्शाता है कि उस तत्त्व को संभवतः 'निकास-भेद' से प्राचीनतर अर्थात् प्रथम बुद्ध शताब्दी का मानना होगा ।^१ दूसरे, अनात्मवाद का भी पुद्गलवादी सम्प्रदाय में विरोध देखा जाता है । और फिर चिन्तन के इतिहास में केवल शब्द पकड़ने से कार्य सिद्ध नहीं हो सकता । नाना सम्प्रदायों के वस्तुतः अधीष्ट और प्रधान सिद्धान्तों की परीक्षा से यदि उनमें व्यापक और मार्मिक साम्य प्रतीत हो तथा ऐसे गर्भभूत सिद्धान्तों को मूल-सिद्धान्त मानने से सम्प्रदाय-भेद समझने में आसानी

१-इ०—ओ० रोजेनबर्ग, बी प्राब्लेमे डेर बुद्धिस्तिशेन फिलोसोफी (१९२४) ।

२-'निकासभेद' पर इ०—नीचे, अध्याय १ ।

हो तथा ये सिद्धान्त प्राचीनतम उपलब्ध साक्ष्य से समर्थित हों, तो ऐसी परिस्थिति में इन परवर्ती अनुगत सिद्धान्तों से मूल सिद्धान्त के विषय में अनुमान अनुचित न होगा। यह भी स्मरणीय है कि कोई सिद्धान्त जो कि चिर काल से अनुवर्तमान हो अपरिवर्तित नहीं रहता और इतिहास यदि परवर्ती सिद्धान्तों से मूल-सिद्धान्त की अनुगति प्रतीत भी हो तो भी यह उसका मूल रूप न होकर उसकी एक विकसित तथा रूपान्तरित अभिव्यक्ति होगी। तब तो यह है कि परवर्ती सिद्धान्तों के पर्यालोचन से उनका मूल रूप विश्वास्य तौर से नहीं जाना जा सकता। केवल प्राचीन और मूल वाङ्मय से ही प्राचीन और मूल सिद्धान्तों का प्रामाणिक परिचय सम्भव है, यद्यपि यह सच है कि इन प्राचीन सिद्धान्तों के सम्यक् बोध में इनके परिणत रूप और परवर्ती इतिहास का ज्ञान विशेष सहायता प्रदान कर सकता है। इसलिए मूल सद्धर्म के ज्ञान के लिए उत्तर-कालीन व्याख्याएँ तथा शास्त्र सीमित साहाय्य देते हुए भी, मूल ग्रन्थों से असमर्थ होने पर अप्रसोजक ही नहीं, भ्रामक भी हो सकते हैं।

बौद्धों की एक परम्परागत दृष्टि यह है कि समस्त त्रिपिटक बृद्धवचन है और उसमें मूल धर्म संरक्षित हैं। इसके विपरीत महायानियों की धारणा है कि महायान-सूत्रों की प्रामाणिक मानना चाहिए और यह स्वीकार करना चाहिए कि बुद्ध ने विभिन्न अवसरों पर विभिन्न शिष्यों के आध्यात्मिक स्तर के अनुरूप विभिन्न उपदेश दिये। त्रिपिटक के स्थान, धातु, आयतन आदि सिद्धान्त हीन कोटि के शिष्यों के लिए थे, महायान ग्रन्थों की शून्यता उत्तम कोटि के शिष्यों के लिए। इस प्रकार शिष्यों के अधिकारभेद से मूल सद्धर्म भी अनेकविध था। देशना-भेद की सम्भावना स्वीकार करते हुए भी महायानसूत्रों की प्रामाणिकता उनकी ऐतिहासिक अर्वाचीनता से लक्षित हो जाती है। हीनयानी साहित्य में प्राचीनतम पालि त्रिपिटक है, किन्तु वह समस्त स्पष्ट ही बृद्ध-वचन न होकर अनेक शताब्दियों के विकास की उपज है। इसलिए यदि समस्त त्रिपिटक को एक इकाई मानकर धर्मनिरूपण किया जायगा तो वह बृद्धधर्म के प्रतिपादन के सदृश होगा और मूल-धर्म से बहुत दूर। त्रिपिटक प्राचीन और

३-उदा० अट्ठसालिनी (पुना, १९४२), निदानकथा।

४-सु० बोधिचित्तचिखरण—“देशना लोकनाथानां सर्वशाश्वतशान्तायाः।

मिथ्यस्ते बहुधा लोक उपायैर्बहुभिः पुनः ॥” (भामती और सर्वदत्तसंग्रह से उद्धृत)।

५-महायान सूत्रों पर ३०—मीचे, अध्याय।

उत्तरकालीन परम्पराओं की राशि है जिसमें ऐतिहासिक आलोचन को 'विमल्यवादी' बन कर न केवल स्पष्टतः परवर्ती संदर्भों को पृथक् करना होगा अपितु प्राचीन सन्दर्भों में भी उत्तरकालीन संस्करण तथा परिष्कार की दृष्टि में रखना होगा। इस प्रकार पालि त्रिपिटक की सम्पूर्ण ऐतिहासिक आलोचना से उसके अन्तर्गत सन्दर्भों और उनमें प्राप्त सिद्धान्तों का पौर्वापर्यविनिर्णय और उसके द्वारा मूल देशान्ता का आविष्कार करना होगा।

ऐतिहासिक दृष्टि रखने वाले विद्वानों की गवेषणा का यह मार्ग अनायास ही स्वीकार्य होया, तथापि इसका सविस्तर उल्लेख इसलिए अपेक्षित है कि सद्धर्म के अनेक सुविदित आधुनिक निरूपण इसकी पूर्णतः अधवा अंशतः अवहेलना करते हैं। श्रीमती राइज डेविड्स ने सद्धर्म के निरूपण में ऐतिहासिक आलोचना के उपयोग का प्रबल समर्थन किया है और उत्तरकाल में प्रचलित पालि बौद्ध धर्म को मूल सद्धर्म से बहुत भिन्न तथा अप्रामाणिक बताया है।^६ इस दृष्टि से महायान आदि और भी अर्वाचीन होने से सुतराम् अप्रामाणिक ठहरते हैं। श्रीमती राइज डेविड्स के प्रयास की विधा सही और बौद्ध धर्म सम्बन्धी गवेषणा में युग-प्रवर्तक होते हुए भी अनेक पूर्वाभिनिवेशों में से कण्टकित होने के कारण अन्य विद्वानों को गवेष्य आकृष्ट न कर सकी। इसको एक आगन्तुक दुर्भाग्य ही माना जा सकता है। क्योंकि मूल धर्मों के ऐतिहासिक विश्लेषण की आवश्यकता निर्विवाद है।

फलतः यह कहना होगा कि मूल सद्धर्म का निर्णय पालि साहित्य के पौर्वापर्य विचार तथा ऐतिहासिक पर्यालोचन के द्वारा करना चाहिए। इस प्रसंग में दो शंकाएँ समावेश हैं। पहली तो यह कि पालि त्रिपिटक में ओल्डेनबर्ग, टी० डब्ल्यू० राइज डेविड्स, अथवा विन्टरनिस् आदि के द्वारा किये स्थूल ऐतिहासिक विभाजन के अतिरिक्त और अधिक सूक्ष्म विभाजन असंभव है^७। इस प्रश्न की विस्तृत मीमांसा अन्यत्र की

६-३०—श्रीमती सी० ए० एफ० राइज डेविड्स, 'बट थॉल दि ऑरिजिनल मॉन्गोल इन बुद्धिज्म,' 'शास्त्र' (१९३१), बुद्धिज्म (होम यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी), आदि।

७-३०—एच० ओल्डेनबर्ग, बुद्ध लाइन लेबन लाइन लेर, लाइन सेमाइन्ड (९वाँ संस्करण), टी० डब्ल्यू० राइज डेविड्स, हिज्वर्ट लेक्चर्स, अमेरिकन लेक्चर्स; केंब्रिज हिस्टरी ऑफ इण्डिया, जि० १, बुद्धिस्ट इण्डिया; एम० विन्टरनिस्, हिस्टरी ऑफ इण्डियन लिटरेचर, जि० २ (कलकत्ता, १९३३), तु०—नलि-माधवस, अली मीनेस्टिक बुद्धिज्म, जि० १, प्राक्कयन।

गयी हैं। यहाँ पर इतना कहना अप्रासंगिक न होगा कि सम्भव और असम्भव की विभाजक-रेखा मयेषणा के परत्वात् वह नहीं रहती जो मयेषणा के पूर्व, और इस विषय में अन्तिम निर्णय भविष्य के विद्वानों के ही हाथों में रहेगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि निकासों के अन्दर सुत्तनिपात के अद्भुतकण्ठ और परावण० सदृश प्राचीन अंशों की दीर्घनिकाय के महापदानुसृत सदृश अपेक्षया उत्तरकालीन अंशों में विभक्त किये बिना मूल सदृश की उपलब्धि असम्भव है।

ऐतिहासिक दृष्टि के प्रति एक आपत्ति यह है कि संभौर आध्यात्मिक तत्त्वों के सम्यक् बोध और निरूपणा के लिए निरा ऐतिहासिक आलोचन अपर्याप्त है^१। उदाहरण के लिए यह कहा जा सकता है कि अपनी लौकिक लीला के संवरण के परत्वात् भी सिद्ध लोग विशिष्ट अधिकारी को आध्यात्मिक प्रेरणा देने में समर्थ हैं, तथा ज्ञान की आध्यात्मिक परम्परा सदैव इतिहासगम्य संसार में प्रत्यक्ष नहीं होती^२। इस प्रकार इतिहास में जो आध्यात्मिक घटनाएँ अथवा परम्पराएँ परस्पर असम्बद्ध या विच्छिन्न प्रतीत होती हैं वे वस्तुतः एक अलम्ब आध्यात्मिक इकाई में बँधी रह सकती हैं। महायान तथा वज्रयान की प्रामाणिकता के प्रसंग में यह दृष्टि विशेष रूप से सामने आती है क्योंकि परवर्ती बौद्ध परम्परा का यह अन्वेषण है कि भगवान् बुद्ध ने एक नहीं तीन धर्म-चक्र-प्रवर्तन किये थे। सारनाथ का प्रवर्तन सुविदित है। दूसरा धर्म-चक्र-प्रवर्तन मृगश्रुत पर्वत पर माना जाता है जहाँ का उपदेश प्रज्ञापारमिताशास्त्र में निबद्ध है। एक मत से तीसरा धर्म-चक्र-प्रवर्तन धान्यकटक में हुआ था और यही बौद्ध तत्त्वशास्त्र का उद्गम था। दूसरे और तीसरे प्रवर्तन का सिद्धान्त आध्यात्मिक अर्थवेत्ता और रहस्य से संवर्तित होते हुए भी ऐतिहासिक प्रमाण से पुष्ट नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि कदाचित् अपमोक्ष है और अनेक आध्यात्मिक तत्त्वों का प्रतिबोध नहीं कर सकती, किन्तु वह सर्व-साधारण से बोध्य मुक्ति और तर्क की दृष्टि है। उसको यदि किसी विशिष्ट रहस्यवाद के समुदाय द्वारा दिया जाये तो अतीत के विषय में धारणाओं की केवल श्रद्धा पर आधारित करना होगा। दूसरी ओर ऐतिहासिक दृष्टि के ग्रहण का यह अर्थ नहीं है कि उसके नाम पर एक अध्यात्मविरोधी जड़वादी दशन स्वीकार कर लिया जाय। किसी भी धर्म के सच्चे इतिहास के लिए आध्यात्मिक तत्त्वों को पहचानना

८-प्रारंभिक ऑप् बुद्धिगम, भा० १।

९-उदा०, म० म० गोपीनाथ कविराज का यही मत है।

१०-३०-—तोषे।

तथा उनका निरूपण आवश्यक रहेंगे। इतिहासकार को श्रद्धारहित तथा आध्यात्मिक जगत् की ओर प्रभावित होने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु उसे उदार श्रद्धा और दृष्टि ज्ञानाने के साथ अन्य श्रद्धा से बचना है।

त्रिपिटक का विकास—भगवान् बुद्ध ने कोई ग्रन्थ नहीं लिखा और न अपने शिष्यों को अपने उपदेश किसी विशिष्ट, प्रमाणभूत भाषा में स्मरण रखने के लिए कहा। उन्होंने प्रचलित मागधी भाषा में उपदेश किया और भिक्षुओं को अनुमति दी कि वे अपनी-अपनी बोलियों में उनके उपदेशों को स्मरण करें। उनके उपदेशों का पहला संग्रह उनके परिनिर्वाण के अमन्तर राजगृह की संगीति में हुआ। किन्तु उसके बाद के संदर्भ बुद्ध-वचन में जोड़े जाते रहे और पालि-त्रिपिटक सिंहल में राजा वट्टगामणि के शासन काल में परिनिर्वाण से चार शताब्दी पीछे अपने वर्तमान रूप में लिखा गया। इस प्रकार पालि त्रिपिटक का रचना काल ई० पू० १ की शताब्दी तक स्थिर होता है। तीन पिटकों में अभिधर्म पिटक स्पष्ट ही प्राचीन अथवा बुद्ध-वचन नहीं है। क्योंकि वह साम्प्रदायिक संग्रह प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए सघोस्तिवादियों का अभिधर्म पालि अभिधर्म से भिन्न है। सम्भवतः प्राचीन मातृकाओं अथवा धर्म-सूत्रियों से साम्प्रदायिक भेद के अनुसार इन विभिन्न अभिधर्मों का विकास हुआ, जिसे वैशाली की संगीति से उत्तरकालीन मानना चाहिए। पालि परम्परा के अनुसार अभिधर्म का अन्तिम ग्रन्थ कणादचतु अशोक के समय पाटलिपुत्र की संगीति में निबद्ध हुआ। किन्तु वर्तमान कणादचतु की मूर्तिय शताब्दी ई० पू० में एक साथ पूरा रचा हुआ नहीं माना जा सकता। इस प्रकार अभिधर्म का रचनाकाल ई० पू० चतुर्थ शताब्दी से लेकर ई० पू० दूसरी शताब्दी तक मानना चाहिए। फलतः शेष दो पिटकों का रचना-काल इससे पूर्व अर्थात् पाँचवीं और चतुर्थ शताब्दी ई० पू० मानना चाहिए। इस ग्रन्थ-राशि में अशोक का अनुल्लेख भी इसी अनुमान को दृढ़ करता है। विनय-पिटक का मूल प्रतिमोक्ष में था और विभिन्न सम्प्रदायों के प्रतिमोक्षों का व्यापक साम्य उनकी प्राचीनता बतलाता

११-विनय, मा० बुल्लवग्ग, पृ० २२८-२९।

१२-त्रिपिटक के विवरण के लिए देखें—नीचे।

१३-३०—सॉर्राजिन्स ऑव बुद्धिज्म, अध्याय १; तु०—जे० तकाकुमु, जे० पी० टी० एस, १९०५।

१४-३०—श्रीमती राइज डेविट्स, पॉइन्ट्स ऑव कान्दोवर्ती, भूमिका।

है।" विनय और सन्धक के विभिन्न साम्प्रदायिक संस्करणों में भी पर्याप्त साम्य है।" बुल्लवस्स में पहली दो संगीतियों का उल्लेख है, तीसरी का नहीं। फलतः यह मानना सत्य से दूर न होगा कि विनय के प्राचीन अंश, उदाहरणार्थ, प्रतिमोक्ष पांचवी शताब्दी के हैं तथा अर्वाचीन अंश पांचवी एवं चौथी शताब्दी के। सूत्रपिटक का पांचवां निकाय अस्मृतः प्रकीर्ण-संग्रह है और इसके अन्तर्गत विभिन्न ग्रन्थों में उदान, इतिवृत्तक, सुत्तनिपाय, येरनाया एवं येरी गायाओं में अनेक प्राचीन और कुछ अर्वाचीन अंश हैं। पहले चार निकायों की चीनी भाषा में उपलब्ध आगमों से तुलना करने पर ज्ञात होता है कि विभिन्नसंग्रहायों के इन चार संग्रहों में सुत्रों का विभाजन सर्व-सम्मत नहीं था।" किन्तु इन निकायों अथवा आगमों को साम्प्रदायिक रचना नहीं माना जाता था। अतएव मुख्यतया इनका रचना-काल वैशाली की संगीति के पूर्व मानना चाहिए। पर बुद्ध के निर्वाण के बाद की पहली शताब्दी में सद्धर्म का पर्याप्त विकास हुआ जिसके कारण इस युग के अन्त में ताना सम्प्रदायों का जन्म हो गया। संप्रभेद के पूर्व का यह समस्त विकास निकायों में संरक्षित है और बुद्ध के मूल उपदेशों को आच्छादित किमे हुए है। यहाँ पर पूर्वापर-विवेक दुष्कर, किन्तु आवश्यक है।" इस विवेक की एक बड़ी कसौटी यह है कि प्राचीनतर अंशों की सैली और भाव उपनिषदों के निकट है जब कि अर्वाचीनतर अंश अभिषम की याद दिलाते हैं। बुद्ध की सिद्ध मानव के रूप में न देखकर लोकावतीर्ण भगवान् के रूप में देखने की प्रवृत्ति, तथा रीतिबद्ध, सूचीबद्ध और परिगणित-रूप में धर्म का प्रतिपादन, एवं 'मूर्धाभिषिक्त' और पारिभाषिक पदावली के द्वारा उसके परिष्कृत व्याख्यान की प्रवृत्ति बुद्ध से परवर्ती काल की ओर संकेत करती है। मूल बुद्ध देशना की प्राप्ति के लिए अभिव्यक्ति, भाव और विचार में परिवर्तन की इन प्रवृत्तियों को बुद्धिस्थ कर निकायों में सौजना आवश्यक है।"

१५-३०—इत्थ्यू० पा-चाठ, ए कॉम्पेरेटिव स्टडी ऑव् वि प्रतिमोक्ष ।

१६-३०—ठाठवाल्लर, वि जलियेस्ट दिनय एण्ड वि विगिनिमस ऑव् बुद्धिस्ट सिट्ठेधर ।

१७-३०—अकानुसा, डि कॉम्पेरेटिव कंटेलाग ऑव् चाइनोज आगमज एण्ड पालि निकायज; आनेसाकि, जे० आर० ए० एस०, १९०१, पृ० ८१५ ।

१८-३०—ऑरिजिनस ऑव् बुद्धिज्म, जहाँ उसका विस्तृत विवेचन है ।

१९—थोमसो राइज डेविड्स ने इस दिशा में प्रयास किया था । वर्तमान लेखक के "ऑरिजिनस ऑव् बुद्धिज्म" में उसके परिष्कार एवं विस्तार का यत्न देखा जा सकता है ।

‘मूल देशना’—बुद्धदेशना के उचित अवधारण के लिए तद्विषयक दो प्रचलित ‘अन्तों’ से बचते हुए मध्यमा प्रतिपद् का सहारा लेना आवश्यक है। एक मतान्त के अनुसार बुद्ध ने एक नवीन दर्शन-शास्त्र (मेटाफिजिकल सिस्टम) का प्रतिपादन किया, दूसरे के अनुसार बुद्ध ने दार्शनिक तत्त्वों का शास्त्रीय निरूपण न कर, केवल दुःख-निवृत्ति के लिए आचरणीय मार्ग का उपदेश किया। इनमें पहला मत परवर्ती बौद्ध आचार्यों के द्वारा परिष्कृत एवं आविष्कृत तत्त्वों को ही मूल-देशना समझ लेता है। ऊपर कहा जा चुका है कि वैदिक परम्परा के प्रतिकूल बुद्धदेशना में मूल शब्दों पर आग्रह न था और इस कारण यह अनिवार्य था कि बुद्धाब्द की प्रथम शती में ही उसके मूलतः अभिप्रेत अर्थों का यथास्मृत रूप उनके उत्तरकादीन यथामत रूप से अस्वीकृत न रहता। फलतः इस युग के साहित्य में मूल और व्याख्या के मिले-जुले होने के कारण, और व्याख्यागत अर्थों के प्रचुरतर तथा विस्तृत होने के कारण परवर्ती तत्त्वों को ही मूल तत्त्व समझ लेने की भ्रान्ति अनापान ही उत्पन्न हो जाती है, और उसका समर्थन होता है सद्धर्म के अनेक आधुनिक व्याख्याताओं की प्रवृत्ति में जो कि इतिहास की ओर तटस्थ तथा दर्शन-शास्त्र की ओर प्रवण होने के कारण बुद्धघोष का अनुकूल नेतृत्व अविलम्ब स्वीकार कर लेते हैं और ‘विसुद्धिमग्गो’ को वह ऐन्द्रजालिक दर्पण मान लेते हैं जो परिनिर्वाण से लगभग एक हजार साल बाद रचित होने पर भी बुद्ध के आशय को सघामं प्रति-बिम्बित करने में समर्थ है।

बुद्ध और पण्डितवाद के पक्ष में नहीं थे और अपने समय की अनेक बहु-सोमाहित दार्शनिक समस्याओं पर तार्किक अभियान की अपारम्भ मानते थे। लोक शास्त्रत है कि अद्याश्चत, अन्तवान् है कि अन्त, जीव और शरीर एक है अथवा भिन्न, तथागत मृत्यु के पश्चात् रहते हैं अथवा नहीं, इन प्रश्नों को बुद्ध ने ‘अध्याकृत’ स्थापित किया था। मालव्य पुत्र के संघम निवारण के प्रसंग में कहा गया है कि जैसे विष-दिग्ध दार से विद्ध पुत्र को चिकित्सा के लिए उसे पायल करने वाले धानुष्क और धनु की खोज-खबर या जिरह अप्राप्तार्थिक है वैसे ही जन्म-मरण से पर्याकुल संसारियों की आर्ति के उपशम के लिए बुद्धान्तर्वास इन दार्शनिक समस्याओं के मुलज्ञान की अपेक्षा नहीं रखता। बलमोक्ष परिव्राजक से बुद्ध कहते हैं कि लोक को शास्त्रत अथवा अद्याश्चत मानना एवं इतर अध्याकृत प्रश्नों पर अन्यतर पक्ष का समर्थन दृष्टि-संयोजन से बाधता है। तथागत सब दृष्टियों से मुक्त हैं। “अस्थि पन भो वो मोतमस्स विधि

दिट्ठगतं ति ? दिट्ठगतं ति खो बच्छ अपणीतं तथागतस्स ।" प्रोष्ठपाद के बूझने पर कि "कस्मा पनेतं भगवता अव्याकृतं ति" ? उन्होंने उत्तर दिया "न है" तं पोद्धपाद अरयसंहितं, न धम्मसंहितं, न आदिब्रह्मचरियकं, न निव्विद्याय न विरागाय न निरोधाय न उपसमाय न अभिज्जाय न संबोधाय न निम्बाणाय संवत्तति । तस्मा तं मया अव्याकृतं ति ।" बुद्ध ऐसे आध्यात्मिक ज्ञान का उपदेश करना चाहते थे जिससे बासना का क्षय हो। केवल बौद्धिक विलास की ओर वे तटस्थ थे। अन्य उदात्त धर्मों के प्रवर्तक भी प्रायः ऐसी ही दृष्टि रखते रहे हैं। वे अपने उपदेशों में सार्वभौम आध्यात्मिक सत्य की समर्थ और प्रायः काव्योचित अभिव्यक्ति करते रहे हैं, न कि उनकी विचार्य और वितर्क से परिमत, सूक्ष्म एवं जटिल व्याख्याएँ। वे द्रष्टा रहे हैं, न कि व्याख्याता।

ऊपर आलोचित मत के विपरीत कुछ विद्वान् भगवान् बुद्ध को केवल एक प्रकार के शील अथवा नैतिक आचार का प्रचारक अवधारित करते हैं। इस प्रसंग में पहले यह विचारणीय है कि बुद्ध भगवान् के द्वारा अवतारित शील को उनके समकालीन अन्य सम्प्रदायों में अविदित शील से सारांस में कितनी दूर तक विशेषित किया जा सकता है। तारतम्य और विस्तर में अनिवार्य भेद होते हुए भी त्याग और संयम का अनेकविध प्रकाश सभी निष्पक्षपरक ब्रह्मचर्यावासियों में लगभग समान था। शील के आगे शमभ-भावना अथवा समाधि के अभ्यास में अधिक भेद दृष्टिगोचर होता है, किन्तु यहाँ भी 'आर्य शमभ-भावना' निष्ठा-विशेष की ही अपेक्षा रहती है। वस्तुतः आध्यात्मिक साधन सिद्धान्त-निरूपण नहीं होता और बुद्धोपदिष्ट मार्ग का वैशिष्ट्य आवश्यक रूप से तत्त्व-ज्ञान के वैशिष्ट्य का आशेष करता है। दृष्टियों के प्रति अनास्था प्रकट करते हुए भी बुद्ध का धर्म स्वयं एक 'सम्बुद्धि' का प्रतिपादन करता था। इस प्रकाश का विरोधाभास मध्यमा प्रतिपद में बहुत दूर तक देखा जा सकता है।

२१—वहो, पृ० १७९, "क्या आप की कोई बुद्धि है ? वस्तु, तथागत से बुद्धि अपसारित है।"

२२—"भगवान् ने इसे व्याकृत क्यों रखा है ? प्रोष्ठपाद, यह न अपयुक्त है, न धर्मयुक्त, न ब्रह्मचर्योपयोगी, न निर्वेद के लिए, न विराग के लिए, न निरोध के लिए, न उपशम के लिए, न सम्बोधि के लिए, और न निर्वाण के लिए है। इसलिए मैंने उसे व्याकृत नहीं किया है।"—दी० ना०, जि० १, पृ० १५७।

बुद्ध को केवल आचारवादी मानने में यह भी समझना होगा कि यदि उन्होंने तत्त्व-ज्ञान के उपदेश की उपेक्षा की तो आखिर क्यों ? एक उत्तर यह दिया गया है कि सम्भवतः बुद्ध ने स्वयं पारमार्थिक तत्त्व का निश्चित ज्ञान प्राप्त न किया ही और अनेक आधुनिक विचारकों की भाँति अज्ञान-जन्य संगप की अवस्था में मौन को ही श्रेष्ठ समझा ही^१। यह भी कहा गया है कि वास्तविक ज्ञान के अभाव में बुद्ध ने एक प्रकार की 'पृथग्जनोचित' जादूखरी प्रचारित की^२। अधिक अज्ञान् अन्ध विद्वानों ने तत्त्व की अज्ञेयता अथवा अनुपयोगिता की ही बुद्ध के 'मौन' का कारण बताया है। तत्त्व की अज्ञेयता का सिद्धान्त सम्मज्ज वेल्हिट्ठुत्त का था और इस मत को बुद्ध के द्वारा ग्रहण मानना प्रमाण-विषय है। सम्बोधि और ब्रह्मवाचन के सन्दर्भों से स्पष्ट है कि बुद्ध अपने को तत्त्वाभिज्ञ मानते थे और स्वयं उपलब्ध तत्त्व तब औरों को पहुँचाना चाहते थे। सम्भीर तत्त्व को समझने के लिए अनेक अनधिकारी हैं, इसलिए उनका संकोच था, किन्तु कष्टना से प्रेरित होकर एवं बुद्ध-वधु से शोक को देखकर उन्हें भरोसा हुआ कि कुछ लोग समझने वाले अवश्य होंगे। और यह मानना स्वाभाविक है कि उन्होंने जिस धर्म का लाभ किया था उसका उपदेश दिया। यदि परमार्थ-तत्त्व अज्ञेय है तो बुद्ध अथवा सम्बोधि अर्धहीन हो जाते हैं और साथ ही संजय वेल्हिट्ठुत्त के चेतों का उने छोड़ बुद्ध शासन में प्रविष्ट होता भी। तत्त्व-ज्ञान की अनुपयोगिता का अन्वयगत तो सर्व-तत्त्व-विषय है। शुष्क तार्किक ज्ञान की अनुपयोगिता अवश्य ही अनेक साधन भागों में स्वीकृत होती है, और बुद्ध का अनेक दार्शनिक समस्याओं को 'अव्याकृत' स्वागत करना ऐसी दृष्टि में उनकी आंशिक सहमति सूचित करता है। किन्तु इससे यह अनुमेय नहीं है कि बुद्ध ने परमार्थ का निर्देश न कर केवल एक प्रकार की चर्चा का उपदेश किया।

वस्तुतः उन्होंने मार्ग और मन्तव्य दोनों का निरूपण किया, किन्तु मयासम्भज। वे न शुष्क तर्कवादी थे कि परमार्थ की लक्षण-प्रमाणावली में परिशिष्ट करने का प्रयास, करते, न ज्ञान-रहित व्यवहारवादी कि सुपरिष्कृत समीचीन दृष्टि को समस्त साधना का मूल न मानते। वे जानते थे कि परमार्थ तर्क और अतएव वाणी का अनोचर है। किन्तु इस अनोचरता का अर्थ 'विशेषतः अनवधारणीयता' मानना चाहिए, न कि सर्वथा 'अविषयता'। बुद्धि और वाक् की सर्वथा अविषयता अर्थात् सर्वथा अवोध्यता तथा वर्गनिर्भरता कल्पनातीत और स्वयं अवोध्य तथा अनभिधेय हैं। परमार्थ की अतकर्मता

२३-२०—कोष, बुद्धिस्ट क्लिप्तोत्पत्ति।

२४—मुने, ३०—डिरेक्टरकी, दिक्कलेखन और निवोध (लेनिनग्राड, १९२७)।

और अवाध्यता का अभिधान स्वयं एक महत्त्वपूर्ण सूचना देता है। 'गुरोन्तु मोनं व्याख्यानं' की उक्ति बुद्ध के मौन पर चरितार्थ होती है, "। जो कि सीमित अपभ्रंश के अन्तर्गत परस्पर विरोधों और व्यावृत्तियों को परम समझनेवाले तर्क और वाक् की अपर्याप्तता और परमार्थ की अनन्तता के निर्देश में पर्यवसित होती है। जिस प्रकार उपनिषदों में अवाहमनसगोचर सत्य को जतलाने के लिए अतृप्त्यावृत्ति-रूप अपोह और उपमान का सहारा लिया गया है वैसे ही बुद्ध-देशना में पाया जाता है। यों तो प्रत्येक अभिधान में अपोह का व्यापार संनिहित है किन्तु परमार्थ के निर्देश में वस्तुतः 'अपोह का अपोह' होता है और इस प्रकार परमार्थ की भावभाव-विलक्षणता चोखित होती है। यही बुद्धोपदिष्ट 'मध्यमा प्रतिपद्' अथवा प्रतीत्यसमुत्पाद का सान्त्विक अर्थ है। परिच्छेद-कुच्छलित प्रगल्भ के उपशम के रूप में ही परिच्छेद-रहित परमार्थ की देशना सम्भव है। और प्रपञ्चीपनन ही 'निर्वाण' है। सम्बोधि में अधिगत धर्म को इन्हीं दो शब्दों से सूचित किया गया है—प्रतीत्यसमुत्पाद और निर्वाण। यह धर्म का पारमार्थिक रूप है, पर इसकी प्राप्ति के लिए अनित्य, व्यावहारिक—सांकेतिक अथवा वैषम्यदानिक-धर्मों का विनैकपूर्वक आलंसार हान अथवा उपादान अपेक्षित है और इसलिए इनका भी देशना में स्थान है।

बुद्ध के मौन और उनकी देशना-विधि का यह रहस्य परवर्ती माध्यमिक आचार्यों ने बहुत मामिकता से समझाया है। उनका कहना है कि बुद्ध ने दो सत्यों का उपदेश किया था—संवृत्ति सत्य और परमार्थ सत्य। परमार्थ सत्य अभिमिलाध्य और उपेय है, संवृत्ति-सत्य उसकी देशना के लिए सहारा और उपाय है। 'अनन्तर धर्म का क्या अर्थ, क्या उपदेश? समारोप के द्वारा जलान अर्थ का अर्थ और उपदेश होता है।' "कृष्ण समुदय; और मार्गसत्य संवृत्ति-स्वभाव होने के कारण संवृत्ति के अन्तर्भूत है, निरोधसत्य

२५-तु०—“यां च रात्रि ज्ञान्तमते तथागतोऽनुत्तरां सम्यक्सम्बोधिं भित्तम्बुद्धो यां च रात्रिमुपावाप्य परितर्कित्यति अजान्तरे तथागतेनेकमध्यतरं मोदाहुतं, न व्याहुतं, नापि प्रव्याहरति, नापि प्रव्याहरिष्यति । अथ अ यथाधिमुत्ताः सर्वसत्त्वा नामाधत्ताशपास्तां विविधां तथागतवाचं निश्चरन्तीं संजानन्ति ।”
चन्द्रकीर्ति के द्वारा प्रसन्नपदा (पुस्तक द्वारा सम्पादित मध्यमक०, पृ० ३६६) में उद्धृत 'आर्यतथागतगुह्यसूत्र'; "न क्वचित्कस्यचित्कश्चिद्धर्मा बुद्धेन देशितः ॥" (नागार्जुन, मध्यमक०) ।

परमार्थ सत्य के।^{१६} लौकिक व्यवहार का स्वीकार न होने पर परमार्थ की देवता नहीं हो सकती, उपदिष्ट न होने पर परमार्थ पाया नहीं जा सकता, और परमार्थ की प्राप्ति न होने पर निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती।^{१७} यह सच है कि मूल-बुद्ध देवता में संवृति और परमार्थ के विभाग का शब्दसः और लक्षण-परिष्कृत उल्लेख नहीं है। और न सांख्यिक और वैयक्यनिक धर्मों का विनयानुरूप विभिन्न उपदेश होते हुए भी संवृति-नाम्ना संघट अभिप्रेत है। किन्तु निर्वाण की परमार्थिकता और वैयक्यनिक धर्मों की कुल्योपमता में, तथा 'असंस्कृत' और 'संस्कृत' के विभेद में इस प्रकार का आशय अव्यक्त आश्रित है, जिसका कि परवर्ती काल में बहुधा परिष्कार हुआ। राजगृह में अवबजित के द्वारा शारिपुत्र को सुनाने हुए सुप्रसिद्ध धर्म-संक्षेप में भी ये दोनों पक्ष डेले जा सकते हैं—“तस्मात् ने हेतु-समुत्पन्न धर्मों के हेतु का उपदेश किया। और उनके निरोध की भी महाप्रमत्त ने बताया।” कार्य-कारण परम्पराओं में संसार अथवा व्यवहार संघटित है, उनका निरोध निर्वाण अथवा परमार्थ है। कार्य-कारण परम्पराओं का एक वर्ग अविद्या से प्रारम्भ होकर दुःख में पर्यवसित होता है, दूसरा सम्यग्दृष्टि से प्रारम्भ होकर निर्वाण को ले जाता है। महावा विभाग सांख्यिक धर्मों की आस्था पाता है, दूसरा वैयक्यनिक धर्मों की अथवा निरोध मार्ग की।

धर्म का वैदिक प्रयोग प्रायः शीलपरक था। कुछ स्थलों में शील के शाश्वत आधार को धर्म कहा है, यथा, “जहाँ से मूर्धन्य उदित होता है और जहाँ अस्त, उसे देवताओं ने धर्म बताया। वही आज है, वही कल।”^{१८} उसने कल्याणरूप धर्म को रचा, धर्म ही शासक का शासक है, अतः धर्म के ऊपर कोई नहीं है, धर्म के द्वारा ही निर्बल बलवान् की बराबरी करता है जैसे राजा के द्वारा, जो धर्म है वही सत्य है...^{१९}। इन सन्दर्भों में धर्म को वह शाश्वत नियामक माना गया है जिस पर प्रकृति के व्यापार तथा सामाजिक कल्याण एवं न्याय आश्रित हैं। बौद्ध साहित्य में धर्म शब्द का अनेक अर्थों में उल्लेख मिलता है। चन्द्रकीर्ति का कहना है कि ‘धर्मशब्दोऽयं प्रवचने त्रिधा व्यवस्थापितः

२६—शान्तिदेव के बोधिचर्यावतार (१.२) पर पंजिका (विस्तृत्योपेका इण्डिका में सम्पादित)।

२७—नागार्जुन, मध्यमक ० २४.१०।

२८—बु० उप० १.५.२३।

२९—वही, १.४.१४।

स्वलक्षणधारणार्थेन कुमतिगमनविधारणार्थेन, पाञ्चगतिकसंसारगमनविधारणार्थेन॥” पहले अर्थ में धर्म शब्द ‘तत्त्व’ अथवा ‘पदार्थ’ के सदृश है। दूसरे में कल्याण-शील घोषित करता है, तीसरे में परमार्थ। इनमें दूसरा अर्थ वैदिक अर्थ के सदृश है और सभी सम्प्रदायों में मूलभूत होने के कारण सुप्रसिद्ध है। पहला अर्थ बौद्धों में ही प्रसिद्ध है और अन्य दर्शनों में धर्म शब्द की गुण-वाचकता से विवेचनीय है। कुछ विद्वान् धर्म शब्द के इस अर्थ को ही बौद्धों के लिए सबसे महत्त्वशाली और मौलिक अर्थ मानते हैं^{११}। किन्तु यह मत सर्वास्तिवाद और स्वविरवाद के अभिधर्मों पर ही पूरा-पूरा लागू होता है। धर्म शब्द की परमार्थवाचकता निर्वाण एवं ‘प्रतीत्यसमुत्पाद’ में गृहीत होती है। जीपनिषद साहित्य में ‘ब्रह्म’ शब्द परमार्थवाची था और इस कारण बौद्धों का कुछ स्थलों में धर्म शब्द का प्रयोग जीपनिषद ब्रह्म शब्द की याद दिलाता है^{१२}।

अत्यन्त प्राचीन बौद्ध साहित्य में ‘धर्म’ की पदार्थवाचकता या तत्त्व केवल सामान्यतः अभिप्रेत है, उसमें धर्म का कोई लक्षणविषय या परिभाषा बुद्धिस्थ नहीं है। ‘सब्बे धम्मा ना लं अभिनिवेसाय’ ‘धम्मानं उप्पादो वयो’, इत्यादि प्रयोगों में इस प्रकार का सामान्य अपरिभाषित अर्थ ही समझना चाहिए^{१३}। बहुधा ऐसे स्थलों में ‘धम्म’ का स्थान ‘संसार’ ले लेता है, जिससे सूचित होता है कि धर्म आयः संस्कृत-वस्तु का पर्यायवाची है। दूसरी और जब सम्बोधि में अधिगत धम्म को ‘अतक्कावय’ कहा गया है, अथवा जब पटिच्छत्तसमुत्पाद और धम्म का तादात्म्य स्थापित किया गया है, या जब ‘धम्माभि-समय’ और ‘धम्मतिवामता’ की चर्चा है, तब निश्चय ही ‘धम्म’ परमार्थवाची है। वस्तुतः प्रारम्भ में धर्म के दो अर्थ ही मुख्य थे जिन्हें ‘निरोध-प्रतियोगिक’ और ‘प्रपञ्च-प्रतियोगिक’ कहा जा सकता है। तीसरे ‘अधर्मप्रतियोगिक’ अर्थ का इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है क्योंकि बौद्ध दृष्टि में धर्म और अधर्म दोनों ही अन्ततः चित्त की अवस्थाएँ हैं। ‘धर्म’ के इस अर्थ-विश्लेषण से पूर्व-प्रतिपादित मत समर्थित होता है कि बुद्ध-वेक्षित

३०—“प्रपञ्चनं धर्मं शब्दं का अर्थं त्रिविधं निश्चितं किया गया है—स्वलक्षणधा-रण, कुमति-गमन-विधारण, पाञ्चगतिक-संसार-गमन-विधारण।”

(प्रसन्नपदा, मध्यमक०, पृ० ३०४)।

३१—३०—रोडोनवर्ग, पूर्व; इवेवत्स्की, वि सेन्दुल कन्तेप्शन ऑफ् बुद्धिज्म।

३२—इत्यु० गाइने, धम्म उन्ध ब्रह्म।

३३—‘सर्व धर्म अभिनिवेद के अयोग्य हैं’, ‘धर्मों का उत्पाद और व्यय’, (३०—ऑरिजिनल ऑफ् बुद्धिज्म, पृ० ४७०)।

धर्म में सत्य का द्विधा विभाजन विदित था। सद्धर्म में कोरी दार्शनिक सोचांचा था, न कोरी साधन-चर्या, अपितु यथाकर्थाचित् व्यवहार के सहारे परमार्थ की ओर संकेत था।

आर्ये-सत्य—बुद्ध स्वयं संसार से विरक्त होकर शान्ति की खोज में घर से निकले थे और सम्बोधि के अनन्तर शोकावर्तों के जनता के अवलोकन से कल्पार्थ होकर उन्होंने सम्बोधि में अधिगत धर्म की देशना का भार अपनाया था। संसार के तट में निर्वाण के तट तक ले जाने वाला उनका धर्म कल्याण का एक सेतु था। जीवन के अपरिह्राय दुःख के दर्शन से उनके धर्म का प्रारम्भ होता है। दुःख की प्रवृत्ति समझ कर उसकी निवृत्ति के लिए प्रवृत्त ही धर्म-चर्या है, जो कि सम्बोधि में चरमता को प्राप्त होती है, और अनुत्तर शान्ति-पद की परमार्थ है। इस प्रकार दुःख, समुदाय, निरोध, और निरोध-नामिनी प्रतिपद, इन चार विभागों में बुद्ध-देशना का विचार अनायास हो सकता है। बौद्धों में यह सर्वसम्मत् है कि इन चार आर्ये-सत्यों का शास्त्र ने उपदेश किया। आधुनिक लेखक भी इस मत को प्रायः स्वीकार करते हैं। किन्तु यह संदेह के व्यतीत नहीं है कि तत्काल में ठीक इसी रूप में धर्म को विभाजित और परिचयित कर आर्ये-सत्य की आख्या दी हो।

इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि चार आर्ये-सत्यों का आर्यत्व अथवा सद्धर्म-सम्बन्ध बुद्धादि पद-चतुष्टय के प्रयोग से नहीं, किन्तु उनमें जमीष्ट अर्थविशेष की अवतारणा से सिद्ध होता है। सत्य-चतुष्टयी का निर्देश-भाव धर्म की देशना असवा विचार में केवल शीर्षक-सूची अथवा प्रतीक-पाठ मात्र है। न्यायवार्तिककार का कहना है—
 “ये चार अर्ये-पद सय आध्यात्मविद्याओं में सब आचार्यों से वर्णित होते हैं”। योगभाष्य-कार की सद्गता उक्ति है—
 “जैसे चिकित्सा-शास्त्र चतुर्व्यूह है, रोग, रोग-हेतु, आरोग्य और भैषज्य, ऐसे ही यह शास्त्र भी चतुर्व्यूह है, मया-संसार, संसार-हेतु, मोक्ष और मोक्षोपाय”।^{३४} सांख्य-प्रवचन-भाष्य में भी चतुर्व्यूह चिकित्साशास्त्र से मोक्ष-शास्त्र की समानता बतायी गयी है—रोग, आरोग्य, रोगनिदान, और भैषज्य के समान ही मोक्ष-शास्त्र के चार व्यह हैं—हेय, हान, हेय-हेतु, और हानोपाय^{३५}। अभिधर्मकोशव्याख्या में एक ‘आधि-सूत्र’ उद्धृत किया गया है जिसमें तत्काल की भिन्न-रूप से मुक्तता की गयी

३४-न्यायवार्तिक, पृ० १२, (बौलम्बा, १९१५)।

३५-योगभाष्य, पृ० १८५ (बौलम्बा, १९३४)।

३६-सांख्यप्रवचनभाष्य, पृ० ६ (बौलम्बा, १९२८)।

है और आर्य-सत्तों की रैयक के चार अंगों में^{१४}। अतएव भी तथागत को वैद्यराज, भिक्षु एवं 'अमृतर भिक्षु' कहा गया है। 'धानु और 'निदान' शब्दों का प्रयोग विशेषतः उल्लेखनीय है। इस प्रकार यह संभव है कि भिक्षु-शास्त्र के चतुष्टयों का मौख-शास्त्र में अनुकरण किया गया। मौख-शास्त्रों में इस चतुष्टयों का कृपान्तरित उपयोग सबसे पहले सद्धर्म में देखा जाता है। अतएव यह सम्भव है कि तथागत ने ही अध्यात्म-विद्या में इस परम्परा का प्रवर्तन किया और उनकी देसादेवी अन्य आध्यात्मिक प्रसंगों में भी वह अपनायी मयी। किन्तु यह स्मरणीय है कि कहीं भी इन 'चार सत्तों' को वह महत्त्व नहीं प्राप्त हुआ जो कि प्राचीन सद्धर्म में।

आर्य-सत्तों में कौन-से धर्म अन्तर्भूत हैं, इसपर परवर्ती काल में अभिधर्म के आचार्यों ने अनेक भारधारणार्ण और व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं। विभाषा के अनुसार दार्ष्टान्तिक सम्प्रदाय में दुःखसत्य के अन्तर्गत नामरूप, समुदयसत्य के कर्म और कोपा, निरोधसत्य के अन्तर्गत इनका अर्थ एवं मार्गसत्य के अन्तर्गत सामय और विषयना परिणमित होती है। विमज्जवादी पहले सत्य से दुःख के जाटलक्षणों से मुक्त सात्वत धर्मों को छोड़कर शेष को दुःख मानते थे न कि दुःखसत्य। पीनमेविकी तृष्णा को वे समुदय मानते थे, शेष अन्य तृष्णाओं को केवल सात्वत हेतु। तृष्णा के अर्थ को वे निरोधसत्य मानते थे, अन्य धर्मों को केवल निरोध, एवं जाटंग मार्ग को ही मार्ग सत्य, अन्य शेष धर्मों को और सब अशेष धर्मों को केवल मार्ग। 'अभिधर्माचार्य' प्रथम सत्य में उपादान स्वल्प, दूसरे में सात्वत हेतु, तीसरे में प्रतिस्वरुपा-निरोध, और चौथे में अहंत्व-आपक समस्त शेष और अशेष धर्म गिनते थे^{१५}।

दुःख सत्य—चिन्तन और निकायों में पहले सत्य के अन्दर दुःख को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया गया है, दूसरे सत्य में प्रतीत्यसमुत्पाद अथवा निदानों का उल्लेख किया गया है, तीसरे सत्य में निर्वाण अथवा निरोध का और चौथे में नाना बोधिपाक्षिक धर्मों का, विशेषतः अष्टांगमार्ग का। ऐसा प्रतीत होता है कि मूल देशना में आर्य-सत्तों के अन्दर धर्मों के चतुर्धा व्यवस्थापन की कोई सूक्ष्म परिभाषा अभिप्रेत न थी। कभी-कभी उपदेशात्मिकता के लिए इस विभाजन का सामान्यतः उपयोग किया जाता था। यह बात दूसरी है कि दुःख आदि सत्य नाना स्थलों पर विविध रूप से अर्थतः आक्षिप्त हैं।

दुःख की सत्ता सर्वविधित है और उसका अपलाप नहीं किया जा सकता, किन्तु

लौकिक दृष्टि से दुःख भी जीवन के अनेक तत्वों में एक है। साधारण जीवन दुःख को आगन्तुक मानकर ही चलता है। नाना दृष्ट उपायों से हम दुःख को परिहरणीय मानते हैं। रोग सामने जाता है तो चिकित्सक खोजते हैं, द्रव्य वस्तु से विभोग होता है तो मन को समझाते हैं। यदि जरा-मरण आदि अपरिहार्य रूप से घटते हैं तो तितिक्षा का सहारा लेते हैं और विस्मरण का वषावाक्य प्रयास उचित मानते हैं। मृत्यु जीवन का अपरिहार्य अन्त है और जरा उसका स्वाभाविक और अनिवार्य उपसर्गण। किन्तु भोग जीवन इनकी ओर गज-निमीलका बरतता है। इस प्रकार लौकिक दृष्टि से आगन्तुक दुःख दृष्ट उपायों से परिहार्य है एवं जरा-मरण आदि अपरिहार्य दुःख असमीक्ष्य हैं। पुण्यजन और लौकिक गंडित सभी दुःख को जीवन में एक सीमित तत्त्व मानकर प्रवृत्त होते हैं। पुरानी ग्रीक सभ्यता में जीवन के अपरिहार्य दुःख के समक्ष मनुष्य सर्वथा असहाय माना जाता था और धर्म का उपदेश दिना जाता था। यही समस्त बुद्धिवाद (रैशनलिज्म) की धरम परिणति है। मनुष्य केवल इतना ही कर सकता है कि आगन्तुक दुःख को प्रयत्नपूर्वक हटायें और लभ्य सुखों को अपनी खोज का लक्ष्य बनायें। आधुनिक जीवन में भी एक ओर सुख की खोज का आदर्श है, दूसरी ओर दृष्ट उपायों से रोग, दाहिल्य, असुरक्षा आदि आगन्तुक दुःख की निवृत्ति का। इस दृष्टि से दुःख सत्य होते हुए भी संसार को हेय नहीं सिद्ध करता।

पर यह लोक-दृष्टि दुःख के केवल सामान रूप को देखती है, उसका वास्तविक विराट् रूप आर्य-वशु के लिए ही प्रकट होता है। गयासीय पर उपदिष्ट सुप्रसिद्ध आदीप्त-गयाय के शब्दों में, 'सभी जल रहा है—जरा से, मरण से, शोक, विलाप, दुःख दोर्मनस्य और उपायास से सब कुछ अल रहा है।' आदीप्त-गयाय अपने वर्तमान रूप में मूल बुद्धवचन न होते हुए भी, इस प्रकार का आशय नाना रूपों में बौद्ध साहित्य में प्रकट होता है। राग और भोग का समस्त लौकिक जीवन अतिथर और अनारवास्थ है एवं मूलम दृष्टि से देखने पर दुःख का अनादि प्रवाह मान है।

दुःख को इस प्रकार जीवनव्यापी और अपरिहार्य मानकर मुक्ति और शान्ति की खोज प्रायः सभी निवृत्तिपरक आध्यात्मिक प्रस्थानों में रही है। सांख्य और योग, निर्बन्ध और बौद्ध सभी इसमें एकमत हैं। प्राचीन बौद्ध साहित्य में प्रतिकूल-संवेदन रूप दुःख के मुख्य अर्थ के ग्रहण के साथ दुःख-वहल संसार को भी दुःख माना गया है, किन्तु वहाँ दुःख के इस व्यापक महत्त्व-स्वीकार के अनेक उदाहरण होते हुए भी उसका अधिक सूक्ष्म विवेचन तथा विस्तृत निरूपण नहीं प्राप्त होता। उत्तरकाल में दुःख की परिभाषा पर प्रभूत विमर्श किया गया। पहले तो यह स्वीकार किया गया कि 'सर्व

दुःख' उक्त उक्ति में दुःख और दुःख-संवेदन में स्पष्टतः भेद है क्योंकि संवेदन को द्विविध—दुःखात्मक अथवा सुखात्मक—या, अदुःखा—सुखात्मक संवेदन को जोड़कर, त्रिविध मानना अनिवार्य है। स्पष्ट ही दुःख-संवेदन वेदना-स्कन्ध के अन्दर तृतीयांश मात्र है जबकि पाँचों उपादान-स्कन्ध दुःखात्मक हैं। विभिन्नवादिनों के अनुसार दुःख के इस विराट् रूप का वह अंश जो कि पुनर्जन्म तथा उसके निरोध से सम्बद्ध है दुःखमय मानना चाहिए, शेष केवल दुःख^{११}। दुःख को विभुता अन्य दर्शनों में भी स्वीकार की गयी है। न्यायवातिक में दुःख को 'एकविंशतिप्रभेदभिन्न' बताया गया है^{१२}। न्याय-मंजरी में कहा गया है कि केवल बायना-स्वभाव मुख्य दुःख का ही परामर्श नहीं किया जाता, किन्तु उसका साधन और उससे अनुपगत सब कुछ का^{१३}। पर यह शंका हो हो सकती है कि मुख-दुःख से असंबद्ध माना चित्तविप्रयुक्त पदार्थों के होते हुए सब कुछ को कैसे दुःखात्मक कहा जा सकता है। इसके उत्तर में परवर्ती आचार्यों ने न केवल पीड़ा-संवेदन रूप दुःख को दुःख के अन्तर्गत रखा है, किन्तु परिणाम और संस्कार को भी दुःख माना है^{१४}। मुख अस्थिर है और अन्त में अमुख बन जाता है। इस कारण उसे भी दुःख में गिना चाहिए। समस्त वस्तुएँ अनित्य और परिवर्तनशील हैं एवं एक प्रकार के निरन्तर अभ्युपगम में पड़ी हुई हैं। इस कारण सभी कुछ दुःख में गिना जाना चाहिए। इस व्यापक दृष्टि से समस्त अनित्य जगत् दुःखात्मक है। यह कहा जा सकता है कि यह मत प्रत्यक्ष-विरुद्ध है क्योंकि हम लोग निरन्तर अनित्य अनुभव-प्रवाह में रहते हुए भी उसे निरन्तर दुःख-प्रवाह नहीं देख पाते। इसका उत्तर अतिपात्र-न्याय से दिया जाता है। जिस प्रकार जीव में पड़ा हुआ सूक्ष्म से सूक्ष्म रज-कण भी विकलता उत्पन्न करता है, अग्न्य देह में नहीं, वैसे ही सूक्ष्मवेदी जीवों को समस्त अनुभव में दुःख बोध होता है, स्थूलग्राही पृथ्वीजों को नहीं^{१५}। दुःख का सर्व-विदित स्थूल रूप है प्रतिकल-संवेदन, पर उसका आवे-विदित, सूक्ष्म और सर्व-गत रूप है अभ्युपगम।

प्रतीत्यसमुत्पाद—ऊपर कहा जा चुका है कि ई० पू० छठी शताब्दी में संसार के दुःख से मुक्ति की खोज ने बहुतों को घर से बाहर खींच परिखाजक बना दिया था

११-वे०—नीचे।

१०-न्यायवातिक, पृ० २।

११-न्यायमंजरी, पृ० ५०७ (विजयनगरम्)।

१२-अभिधर्मकोश (पुनः द्वारा शेष में अनुवित), तु०-योगसूत्र, २.१५, जि० ४, पृ० १२५।

१३-तु०-योगभाष्य, पृ० १८१-८२।

और नाना परिश्रम-सम्प्रदायों में दुःखसमय संसार की समस्या नाना प्रकार से गुलजाने का प्रयत्न किया गया था। बुद्ध-देशना में 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के द्वारा दुःख-समुदाय के प्रश्न का समाधान हुआ है, यह प्रायः सभी स्वीकार कर लेंगे, मद्यपि प्रतीत्य-समुत्पाद की अनेकानेक व्याख्याएँ की गयी हैं। अद्वैत और फांके ने उसे मूल-देशना में उत्तरकाशीन प्रश्न उठराया है^{४४}। श्रीमती राज डेविड्स ने तो कार्य-कारण सिद्धान्त के मूल उपदेशक का नाम भी खोज निकाला है। उनका कहना है कि तत्कालीन नहीं, कल्पित इसके आविष्कारक थे^{४५}। पर यह निस्सन्देह है कि यदि नाम से अथवा विस्तार से नहीं, तो कम-से-कम बीजरूप में प्रतीत्यसमुत्पाद अवश्य ही मूल-देशना का अंग था। प्रतीत्यसमुत्पाद को सम्बोधि में अभिगत धर्म बताया गया है और यह कहा गया है कि "जो प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है वह धर्म को देखता है।" सभी सम्प्रदाय इसकी प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं और इसे सर्वथा छोड़ देने पर सद्धर्म की रीढ़ ही टूट जाती है। यह अवश्य है कि इसका प्राचीनतम निर्देश कदाचित् "मध्यम धर्म" अथवा "मध्यमा प्रतिपद्" के नाम से हुआ था। यह विविध है कि मूल-देशना में इसका प्रतिपादन अपारिभाषिक और विविध था। किन्तु इन विविध उपदेशों के संक्षेप, वर्गीकरण, और परिष्कार के द्वारा परिनिर्वाण की प्रथम शती में ही प्रतीत्यसमुत्पाद ने अपना विकसित और सुविष्टि रूप धारण कर लिया जिसमें संसार अविद्या से प्रारम्भ होकर बुद्ध में अन्त होने वाली एक कार्य-कारण शृंखला है। इस शृंखला की वारह प्रधान कड़ियाँ हैं जिन्हें "द्वादश निदान" कहा जाता है। अभिधर्म में प्रतीत्यसमुत्पाद के इस रूप की विस्तृत और सूक्ष्म व्याख्या की गयी। किन्तु माध्यमिक दर्शन में फिर से प्रतीत्यसमुत्पाद के वास्तविक, गंभीर और व्यापक रूप का प्रतिपादन किया गया जो कि मुख्य अभिप्राय में मूल-देशना के निकट होते हुए भी परवर्ती काल के दार्शनिक परिष्कार से अलंकृत था।

और सांख्यदर्शन—अनेक विद्वानों ने प्रतीत्यसमुत्पाद को सांख्य-दर्शन के प्रतिष्ठित तत्त्व-परिणाम से निकाला हुआ माना है^{४६}। इसके प्रतिकूल यह विविवाद है कि सांख्य का परिणामवाद वस्तुतः शाश्वतवाद है जिसका प्रतीत्य-समुत्पाद निराकरण करता है।

४४-४०—ऑरिजिनल ऑव् बुद्धिज्म, पृ० ४०६।

४५-४०—शाख्य, पृ० १३८-४८।

४६-४०—पाकोबी, जे० डी० एम० जी०, जि० ५२, पृ० १ प्र०, की०, बुविस्ट क्रिजॉसोफ्री, पृ० १०६ प्र०।

और न निदानों को "तत्त्वों" के सदृश माना जा सकता है। यह सच है कि सांख्य-योग में दुःख की उत्पत्ति का कारण अविद्या, क्लेश और कर्म को माना जाता है, किन्तु इस प्रकार की धारणा प्रामाणिक समस्त निर्वृत्तिपरक सम्प्रदायों में समान थी। उपनिषदों में भी इसकी अभिव्यक्ति पायी जाती है^{४३}। यदि प्रतीत्यसमुत्पाद केवल इतना ही था तो उसके स्वीकार से सद्धर्म में अन्य सम्प्रदायों से पृथक् मौलिकता नहीं आती। जिस प्रकार से चार आर्य-सत्य सभी अध्यात्म-शास्त्रों में अनुगत थे, उसी प्रकार दुःख का अज्ञान, काम और कर्म से सम्बन्ध भी सर्व-सम्मत था। वस्तुतः जैसे आर्यसत्तों में सद्धर्मों का वैशिष्ट्य प्रत्येक सत्य के विनिष्ट प्रतिपादन के द्वारा व्यक्त होता है ऐसे ही दुःख-समुदाय के इस प्रचलित गुरु के विषय में भी समझना चाहिए। दुःख के कारण अज्ञान, इच्छा और कर्म हैं, इसको सभी जानते और मानते थे, किन्तु इनकी कारणाता का क्या स्वरूप है एवं इनका स्वयं क्या स्वरूप है, इस विषय में एक-विलक्षण दृष्टिकोण प्रतीत्यसमुत्पाद में अन्तर्भूत है।

प्रतीत्यसमुत्पाद और कार्य-कारणभाव—प्रतीत्यसमुत्पाद का मुख्य अभिप्राय दुःख की उत्पत्ति समझाना था, अथवा कार्यकारण-नियम का सामान्यतः प्रतिपादन था, इसपर भी मतभेद है। यह अक्षर माना गया है कि चिन्तन के इतिहास में प्रतीत्यसमुत्पाद कार्य-कारण-भाव का व्यापक रूप में सर्वप्रथम प्रतिपादन है और इसका महत्त्व इसी पर अवलम्बित है^{४४}। किन्तु यह मानना कठिन प्रतीत होता है कि कार्य-कारण-सम्बन्ध का ब्रह्म के समय में अथवा उससे पहले प्रतिपादन नहीं हुआ था। यदि यह सच है कि चिकित्सा-शास्त्र के अनुवर्तक का अध्यात्म-विद्या में अनुकरण किया गया तो स्पष्ट ही कार्य-कारण-सम्बन्ध का निगम चिकित्सा-शास्त्र में सुविदित मानना होगा। इसके अतिरिक्त यह सुबोध नहीं है कि कार्यकारण-नियम का ज्ञान आध्यात्मिक जगत् में किस प्रकार धर्म जातिप्रकार माना जा सकता है। यह सच है कि शारीरिक और मानसिक व्यापार कार्यकारण के निगम से अकट्टे हुए हैं, किन्तु केवल इतने मात्र के अभ्युपगम से अध्यात्म-विद्या का कार्य सम्पन्न नहीं होता क्योंकि इतना स्वीकार तो आधुनिक जीव-विज्ञान और मनोविज्ञान में भी किया जाता है। आध्यात्मिक सत्य होने के लिए

४३-बु० उप० ४.४.५—“स यथाकामो भवति तत्कृतुर्भवति, यत्कृतुर्भवति तत्कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते तदभितप्स्यते।”

४४-राइस डेविड्स, डाइलॉग ऑव् दि बुड्ड, जि० २, पृ० ४२ प्र०, अमेरिकन लेक्चर्स, पृ० ८५ प्र० (प्र० सुशील मूत्)।

कार्य-कारण-नियम को किसी अन्य बृहत्तर सत्य की भूमिका मानना होगा। यह कहा गया है कि कारण-नियत व्यावहारिक जगत्, के ज्ञान का नैतिक और धार्मिक प्रगति में उपयोग किया जा सकता है, और ऐसे ही प्रतीत्यसमुत्पाद में भी दुःख के कारण बताकर उनसे मुक्ति का उपाय सुझाया गया है^{४९}। वस्तुतः यद्यपि समस्त कर्म-जगत् कार्य-कारण-नियम के परतन्त्र है और उसमें सत्कर्म से सुख और असत्कर्म से दुःख प्राप्त होता है, तथापि कार्य-कारण-नियम के आधित्य कर्म-प्राप्त से, चाहे सत्कर्म हो, परमार्थलाभ नहीं हो सकता। यही अज्ज्ञान के क्षेत्र में वैज्ञानिक दृष्टिकोण की सीमा है।

यह भी कहा गया है कि कारण-परतन्त्र व्यावहारिक जगत् को ही यथावत् समझ लेने से हम अपने को उससे बिलक्षण एवं स्वातन्त्र्य समझ पाते हैं और इस प्रकार कार्य-कारण-नियम की व्यापकता का बोध अनात्म-तत्त्व का साक्षात्, और आत्म-तत्त्व का परम्परया, बोध प्रदान करने में समर्थ है^{५०}। अतएव प्रतीत्यसमुत्पाद केवल कार्य-कारण-नियम की सर्वत्र व्याप्ति का उपदेश है। किन्तु यदि इस उपदेश का प्रयोजन सत्कर्म में साहाय्य अथवा नैरात्म्य का बोध कराना था तो यह समझ में नहीं आता कि सुविधित कार्य-कारण-नियम की जाबूतिमात्र पर इतना ध्यान क्यों दिया गया और उसके द्वारा मर्यादा में प्रतिपादनीय अभीष्ट अर्थ पर इतना कम क्यों। अच्छे कर्म का अच्छा फल होता है, बुरे कर्म का बुरा; इच्छा से कर्म होता है, कर्म से पुनर्जन्म। यह उपनिषदों में कहा गया है। इतना समझाने के लिए कार्य-कारण-नियम का व्यापक और पारिभाषिक अभिधान अनावश्यक है, और यह नहीं कहा जा सकता कि तथामत अतर्पित चर्चा करते थे।

प्रतीत्यसमुत्पाद के दो पक्ष—वस्तुतः दुःख के अर्थ में ईत है। एक ओर दुःख का अर्थ है दुःखात्मक अनुभव, दूसरी ओर उसका हेतुभूत अनित्य जगत्। दुःख के इन दोनों मुख्य और गौण अर्थों के अनुसंधान ही प्रतीत्यसमुत्पाद के भी दो पक्ष हैं—एक व्यापक रूप, जिसमें कि दुःख की परमकारणता उभर आती है, और एक दूसरा सीमित रूप जो कि पुनर्जन्म और दुःख-संवेदन के आसन्न-कारणों का निर्देश करते हुए पहले का एक विशिष्ट उपयोग है। एक ओर प्रतीत्यसमुत्पाद दुःखमय संसार को परमार्थ की भूमि से निकालित करता है, दूसरी ओर व्यवहार की अन्तर्गत कार्यप्रणाली की ओर इंगित।

दुःख का मूल आधार अविद्या है और प्रतीत्यसमुत्पाद वस्तुतः अविद्या का स्वरूप प्रकट करता हुआ परमार्थ की ओर संकेत करता है। अविद्यावष्टम्भ जगत् के अन्दर ही

४९-३०—धीमती राइज डेविड्स, शाक्य, पृ० १४८-६२।

५०-३०—कुमारस्वामी, हिन्दुज्ज एंड बुद्धिज्ज, पृ० ८०।

कार्य-कारण-नियम का व्यापार रहता है और प्रतीत्यसमुत्पाद का गौण रूप अविद्या-कुञ्जलित जीवन के अन्दर दुःख का बकाकार विकास प्रदर्शित करता है। यह स्मरणीय है कि प्रतीत्यसमुत्पाद के प्रचलित बोध में एक बड़ी भ्रांति यह है कि वह अविद्या को भी ठीक उसी प्रकार कारण मानता है जैसे कि अन्य निदानों को, और इस प्रकार कार्य-कारण-नियम को अविद्या-परिणत मानने के स्थान पर स्वयं अविद्या को तृष्णा आदि के साथ कार्य-कारण-नियम से परिणत मानता है अर्थात् कार्य-कारण-नियम अविद्यापरतत्त्व, और व्यावहारिक होने के स्थान पर स्वयं पारमाधिक बन जाता है।

मूल 'धर्म संकेत'—सम्बोधि और ब्रह्मयाचन के संदर्भों में यह कहा गया है कि बुद्ध ने निर्वाण और प्रतीत्यसमुत्पाद रूप सम्भीर, दुर्देश, दुरनुबोध, शान्त, प्रणीत और अतर्कावचर धर्मों की प्राप्ति की^{५१}। यह स्मरणीय है कि ललित-विस्तर में पालि संदर्भ का साधु रूप होते हुए भी प्रतीत्यसमुत्पाद के स्थान पर निर्वाण का ही उल्लेख किया गया है, किन्तु साथ ही निर्वाण का एक और अधिक विशेषण 'शून्यतानुपलम्भ' दिया गया है^{५२}। अर्थात् यहाँ पर महायान के मतानुसार प्रतीत्यसमुत्पाद और निर्वाण को भिन्न नहीं माना गया है और प्रतीत्यसमुत्पाद को तत्त्वशून्यता में संगृहीत किया गया है। पालि संदर्भ में भी स्पष्ट द्वैत विवक्षित नहीं है। हमें ऐसा लगता है कि निर्वाण और प्रतीत्यसमुत्पाद का सम्बन्ध कुछ ऐसा था जैसे कि शोकर दर्शन में ब्रह्म और माया का। परवर्ती काल में महाशासक और पूर्वशीलीय प्रतीत्यसमुत्पाद को असंस्कृत मानते थे^{५३}, जबकि स्वविरवादी और सर्वास्तिवादी प्रतीत्यसमुत्पाद को संस्कृत धर्मों से अभिन्न मानते थे^{५४}। माध्यमिक आचार्य प्रतीत्यसमुत्पाद की सम्बुद्धि की सावृत्ता और परमाय, दोनों का ही संकेत स्वीकार करते थे^{५५}। इस विविध विकास से मूल सिद्धान्त की जटिलता और सूक्ष्मता उल्लेख है।

उपसृत संदर्भों में प्रतीत्यसमुत्पाद के विशेषणभूत 'अतर्कावचर' पद के प्रयोग से यह स्पष्ट है कि प्रतीत्यसमुत्पाद का वास्तविक रहस्य तर्कगम्य न होकर समाधिप्रज्ञा

५१—मज्झिम, सुत्त, २६, ८५, संयुत (रो०) जि० १, पृ० १३६; दीघ (मा०) जि० २, पृ० ३०, इत्यादि।

५२—ललित, पृ० २८६।

५३—कथावत्थु, ६, २।

५४—नु०—अभिधर्मकोश, जि० २, पृ० ७७, पादटि० १।

५५—दे०—नौवे।

के द्वारा साक्षात्करणीय है। इससे पता चलता है कि यह वास्तविक अर्थ केवल कार्य-कारण-नियम नहीं हो सकता क्योंकि कार्य-कारण-नियम में तर्क की अगोचरता नहीं है। अवश्य होने के कारण प्रतीत्यसमुत्पाद का सही प्रतिपादन अतद्व्यावृत्ति के द्वारा ही सम्भव है। दूसरी ओर प्रतीत्यसमुत्पाद का प्रसिद्ध धर्मसंकेत एक विधम का निरूपण करता है कि "इसके होने पर यह होता है, इसके उत्पाद से यह उत्पन्न होता है, इसके न होने पर यह नहीं होता, इसके निरोध से यह निवृत्त होता है"। इस धर्मसंकेत का वास्तविक तात्पर्य अपोहात्मक समझना चाहिए और यह प्रत्येक सांसारिक वस्तु की परतन्त्रता और सापेक्षता चोटित करने में है। साधारण बुद्धि सवार की सब परिच्छिन्न वस्तुओं की अर्थादित स्वभाव और सत्ता से मुक्त मानती है, किन्तु वस्तुतः परिच्छिन्न स्वभाव और सत्ता पदार्थान्तर के स्वभाव और सत्ता की अपेक्षा राजती है"। कार्य-कारण-नियम से केवल पदार्थों की सत्ता के प्रारम्भ अथवा अन्तिमवृत्ति की परतन्त्रता सूचित होती है, पदार्थों के पुनर्-पुनर् स्वभावों की अकल्पनीयता नहीं। किन्तु प्रतीत्य-समुत्पाद में पूर्ण वारतन्त्र्य अभीहित है। न पदार्थों का अपना अस्तित्व है, न अपना स्वल्प। सर्वत्र परायेष्टा है। इसीलिए उपर्युक्त धर्मसंकेत में भी द्विविध निर्देश किया गया है। एक वस्तु के होने पर दूसरी वस्तु होती है अर्थात् यदि एक का स्वरूप निर्धारित है तो दूसरे को निर्धारित किया जा सकता है। एक वस्तु के उत्पन्न होने पर दूसरी वस्तु उत्पन्न होती है अर्थात् एक वस्तु सत्तावान् है तो दूसरी सत्तावान् हो सकती है। स्वभाव-वारतन्त्र्य का पक्ष माध्यमिकों की शून्यता का बीज है। सत्तापारतन्त्र्य का पक्ष परवर्ती बौद्धाधर्मों के द्वारा कार्य-कारण-सम्बन्ध और अविच्छेद की विशिष्ट और विशिष्ट विशेषण, का विषय बना। वस्तुतः प्रतीत्यसमुत्पाद से सूचित सत्तापारतन्त्र्य के सिद्धान्त को प्रचलित अर्थ में कार्य-कारण-नियम मानना उतमा उचित नहीं है किन्तु कि उसे कारिकापारतन्त्र्य का नियम मानना"। बौद्धाधर्म सत्ता को कारित्र से अविच्छिन्न धर्म नहीं स्वीकार करते।

५६—"इमास्मि सति इदं होति, इमस्स उपाया इदं उत्पज्जति, इमस्मि असति इदं न होति, इमस्स निरोधा इदं निवज्जति"—मूल सन्दर्भ अनेक हैं, इ०—आरिजिम्मा आण् बुद्धिजम्, पृ० ४१६।

५७-२०—ऊपर।

५८-३०—आरिजिम्मा आण् बुद्धिजम्, पृ० ४१७-१८, तु०—पंचेरवात्सो, बुद्धिस्त लाजिक, जि० १, पृ० ११९-२४।

‘मध्यमा प्रतिपद’—प्रतीत्यसमुत्पाद का सुस्पष्ट अतदव्यावृत्त्या निरूपण ‘मध्यम-धर्म’ के रूप में प्राप्त होता है और संयुत-निकाय के कुछ सूत्रों में प्रतीत्यसमुत्पाद का मध्यम धर्म (मज्जेन धम्मो) के रूप में अतिप्राचीन वर्णन है। संयुक्त २.१-१५ में बुद्ध ने कात्यायन से कहा है कि मध्यमा प्रतिपद अस्तित्व और नास्तित्व के दोनों छंटों (अन्तों) से बचती है, जिनमें कि लोक आसक्त है। इसके अनन्तर मध्यमा प्रतिपद को उत्तरकाल में प्रचलित गुरु के अनुसार निरूपित किया गया है, जो प्रक्षिप्त प्रतीत होता है। नागार्जुन ने इस कात्यायनाववाद का उल्लेख किया है और इसको शून्यता के सिद्धान्त का प्राचीन आकर माना है। चन्द्रकीर्ति का कहना है कि यह सूत्र सब सम्प्रदायों में पढ़ा जाता है। “दोनों अन्तों का मध्य है, अरुच्य, अनिर्देशन, अप्रतिष्ठ, अमायाम, अनिकेतन, और अविश्रुति। इसीको, काश्यप, मध्यमा प्रतिपदा कहा जाता है”। संयुक्त २.१-१५ में बुद्ध नागा (अनेल) काश्यप को बताते हैं कि दुःख न स्वयंकृत न परकृत है, न अपीत्यसमुत्पन्न; किन्तु शाश्वत और उच्छेद के अन्तों से बचने के लिए मध्यमा प्रतिपद का सहारा लेना चाहिए और वही प्रतीत्यसमुत्पाद है। अगले सूत्र में इसी प्रकार का अर्थ विवक्षित है। तिबेरक परिव्राजक से कहा गया है कि मुख और दुःख के संवेदन न तो संवेदक से भिन्न है न अभिन्न, क्योंकि भिन्न होने पर वे परकृत (अर्थात् आगन्तुक और नैतिक उत्तरदायित्वहीन) हो जाते हैं एवं अभिन्न होने पर स्वयंकृत (अथवा अनिवार्य); प्रतीत्यसमुत्पाद में संवेदन को न स्वतन्त्र माना जाता है न परतन्त्र। वही ३५ वें सूत्र में कहा गया है कि कि बुद्ध का धर्म जीव और शरीर के भेद और अभेद के विषय में असापरिचरित करता है। ३७ वें सूत्र में कहा गया है कि “न यह शरीर तुम्हारा है न औरों का”। ४६ वें सूत्र में कर्म के कर्त्ता को उसके फल के अनुभविता से न भिन्न, न अभिन्न कहा गया है। ४७ वें सूत्र में ‘सब हैं’, ‘सब नहीं हैं’ इन दोनों को मध्यमा प्रतिपदा का उपदेश किया गया है। ४८ वें सूत्र में एकत्व और बहुत्व के मध्य का उपदेश है।

कुछ विद्वान् मध्यमा प्रतिपद को अनित्यता और परिवर्तन का वैसा उपदेश मानते हैं जिस प्रकार हेगेल ने अस्तित्व और नास्तित्व का ‘भवन’ (होना) अथवा परिणाम में समन्वय माना था^{५९}। उनके अनुसार तथागत ने भी शाश्वत और उच्छेद के अन्तों

५९—असप्रपदा, मध्यमक०, पृ० २६९।

६०—ओमती राइल डेविड्स, बुद्धिज्म, (होम यूनीवर्सिटी लाइब्रेरी), पृ० ९४ प्र० राधाकृष्णन्, इण्डियन फिलॉसोफी, जि० १, पृ० ३६८-६९, तु०—हेगेल लॉजिक (बोलेस का अनुवाद), पृ० १५८-६८।

से बचकर जीवन की सतत परिणामिता और प्रवाहशीलता का उपदेश किया था। किन्तु यह बात ब्राह्म नहीं प्रतीत होता। तत्वागत का यह कहना नहीं है कि संसार के प्रवाह में पदार्थ हैं भी और नहीं भी हैं। उनका कहना है कि इस प्रवाह को न सत् कहा जा सकता है न असत्। मध्यमा प्रतिपद् अस्ति और नास्ति का समन्वय नहीं, अतिशय करती है। वस्तुतः परिणामवाद ती सांख्यों का सिद्धान्त है।

उपनिषदों में असद्वाद का निराकरण और सद्वाद का प्रतिपादन मिलता है और इस तरह से उत्तरकालीन विचर्तवाद का बीज भी उपनिषदों में देखा जा सकता है^{६१}। एक स्थल में कहा कहा गया है 'न सत् है, न असत् है, केवल शिव है'^{६२}। यही दृष्टि प्रतीत्यसमुत्पाद अथवा मध्यमा प्रतिपदा में विकसित पायी जाती है। वह वर्तमान में अनित्यता और परिणाम स्वीकार करती हुई भी उसे पारमाथिक नहीं मानती। व्यावहारिक जगत के परतन्त्र और सापेक्ष होने के कारण उसे न सत् कहा जा सकता है न असत्। व्यावहारिक जीवन परिच्छेद अथवा सीमा से बनता है और अतएव दुःखात्मक और अतिशयभीष है। उपनिषदों में कहा जा चुका है कि केवल भूमा ही परमार्थ है^{६३}। अनित्य और सान्ना वस्तुओं का जगत् परमार्थतः सत्य नहीं हो सकता, किन्तु व्यवहारतः अवश्य सत्य है। व्यवहार में कार्य-कारण-नियम का निरपवाद व्यापार है।

संस्कृत जगत् के विषय में प्रतीत्यसमुत्पाद से वस्तुओं का अहेतुत्व एवं एकहेतुत्व, विषमहेतुत्व, अथवा स्वपरोभयकृतत्व का निराकरण होता है। इस दृष्टि से प्रतीत्यसमुत्पाद संस्कृत धर्मों से अभिन्न है। संस्कृत धर्म के तीन लक्षण कहे गये हैं—उत्पत्ति, व्यय और स्थित्यन्वभात्व। समस्त संस्कृत धर्म हेतुप्रत्यय-सापेक्ष अनादि प्रवाह में पड़े हुए हैं। प्रतीत्यसमुत्पाद का व्यावहारिक पक्ष इसी की ओर संकेत करता है। वैदिक साहित्य के पुस्तकारणवाद का इससे निराकरण हो जाता है और साथ ही सांख्य आदि सम्मत किसी तत्त्व का स्थायी उपादानकारण के रूप में स्वीकार भी खण्डित हो जाता है। प्रतीत्यसमुत्पाद में न कार्य को कारण का परिणाम माना जाता है, न असत् से उत्पन्न। कारण न कार्य का उपादान है न आरम्भक, किन्तु कारण की सत्ता और कार्य की सत्ता में सापेक्षता है। यही परिणामवाद, आरम्भवाद आदि से विलक्षण बौद्ध हेतुवाद का सिद्धान्त है।

६१-छा० उप० ६.२.१.२; बही ६.१.४; बु० उप० ४.५.१५; कठ, २.४.१०-११।

६२-श्वेताश्वतर, ४.१८।

६३-छा० उप० ७.२४.१।

कलितायें यह है कि प्रतीत्यसमुत्पाद का एक पारमाधिक पक्ष है जो परमायें को सत् और असत् से परे बताता है और एक व्यावहारिक पक्ष है जो संसार में कार्य-कारण-नियम का विशिष्ट प्रतिपादन करता है। इससे एक ओर यह विदित होता है कि दुःख का मूल कारण संसार को सत् अथवा असत् समझ लेना है। यही अविद्या है। दूसरी ओर अविद्यापस्त चित्त के लिए दुःखात्मक संसारचक्र निरन्तर कर्म, तृष्णा आदि का सहारा लेकर चलता रहता है।

दुःखसमुदय—प्राचीन पालि संदर्भों में दुःख के समुदय पर विविध छोटी-बड़ी सूचियों में कारण निर्देश किये गये हैं। प्राचीनतम निर्देश अल्पाकार है और उनमें तृष्णा, कर्म, अहंकार दृष्टि अथवा उपादान को दुःख का कारण बताया गया है।^{१५} इन निर्देशों में पारिभाषिक एकरसता नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न उपदेशों में उल्लिखित कुछ सदृश और कुछ विसदृश कारणोंका उत्तरकाल में संग्रह और परिष्कार तथा उनके नामों में समानरूपता का आपादन किया गया और इस प्रकार दुःख के नाना निदानों से एक पारह निदानों की परिष्कृत शृंखला का विकास हुआ।

कर्म—बुद्ध के समय में दुःख की उत्पत्ति का प्रधान कारण कम माना जाता था और यह निर्विवाद है कि संसार-मीमांसा में कर्म की प्रमुखता पीछे भी सर्वसम्मत रही। निकायों की बार-बार पुहरायी गयी एक पंक्ति में कहा गया है^{१६} कि 'कर्म ही जीवों का अपना है, कर्म ही उनकी विरासत है, कर्म उनका प्रभव है, कर्म उनका बन्धु और कम ही उनका सहारा है'। 'कर्म ही जीवों की बाँटला है, उन्हें हीन और उत्तम बनाता है।' 'मैं चेतनापूर्वक किये हुए और संचित कर्मों के फल का प्रतिस्वेदन किये बिना उनके और दुःख का अन्त नहीं बताता हूँ। प्रत्येक के लिए दुःख का अन्त बोधपूर्वक किये गये कर्मों के क्षीण होने पर ही सम्भव है।'

इस प्रकार प्राचीन बौद्धों में भी कर्म ही संसार का आसन्न कारण स्पष्टतः स्वीकार किया गया था, यद्यपि कुछ स्थलों में कर्म के अतिरिक्त दुःख के सात और कारणों का भी निर्देश मिलता है, यथा पित्त, श्लेष्म, वात, सज्जिपात, श्चतु, विषम-उपक्रम और

६४-तु०—“तेविद्यादयः” क्वचित् संक्षिप्ता निदिष्टाः क्वचित् प्रपञ्चिताः”

(ब० सू० २.२.१९ पर शंकराचार्य), तु०—विमुद्धिमग्गो, पृ० ३६६-६७।

६५-ब०—आरिजिन्स ओब् बुद्धिस्म, पृ० ४३४-३५।

६६-ब०—आरिजिन्स ओब् बुद्धिस्म, पृ० ४२८-२९।

कर्मविपाक^{६३} । कुछ स्थानों में कर्म के चार विभाग किये गये हैं—कृण्य, शुक्य, कृण्य-शुक्य और अकृण्य-अशुक्य । यह स्मरणीय है कि अभिधर्म में प्रायः तीन प्रकार के कर्मों का उल्लेख है—कृमल, अकृमल एवं अशपाकृत । योग-सूत्रों में भी कर्म का यह त्रितुर्धा विभाजन पाया जाता है । आजीवक और जैन कर्म को अनेक अभिजातियों अथवा क्षेत्र्याणं स्वीकार करते थे । सम्प्रद्यतः प्रारम्भ में केवल दो ही प्रकार के कर्मों की वक्तों थी—कृण्य और शुक्य । पीछे अधिक वर्गीकरण किया गया ।

सुद्ध भूतवान् कर्म का सार मानसिक संकल्प अथवा कर्म करने का मानसिक निर्णय मानते थे जिसे 'चेतना' कहा जाता था । 'भिञ्जो, मैन चेतना को कर्म कहा है, चेतना-पूर्वक कर्म किया जाता है, शरीर से, वाणी से, मन से'^{६४} । अभिधर्म-कोश में भी कर्म की परिभाषा 'चेतना' और 'चेतयित्वाकरण' दी गयी है^{६५} । नागार्जुन ने भी कहा है—

“चेतना चेतयित्वा च कर्मोक्तं परमधिपा ।

तस्यानेकविधो भेदः कर्मणः परिशीलितः ॥

तत्र यच्चेतनेत्युक्तं कर्म तन्मानसं स्मृतम् ।

चेतयित्वा च यत्तुक्तं तत्तु कामिकवाचिकम् ॥”

(मध्यमक० १७.२-३)

इस प्रसंग में चेतना का अर्थ संकल्प अथवा कर्म का मानसिक निर्णय लेना चाहिए । स्पष्ट ही कर्म के विषय में तथागत का मत निर्णय मत से नितान्त भिन्न था क्योंकि निर्णय कर्म को पौद्गलिक मानते थे ।^{६६}

न केवल निर्णय मत से, किन्तु वेदानुसारी मत से भी इस विषय में बौद्धों का भेद है । वैदिक मत में कर्म को जीवरूपी कर्ता का व्यापार और उससे उत्पन्न अदृष्ट शक्ति माना जाता है, किन्तु प्राचीन बौद्धसंदर्भों में कर्म को किसी अनुवर्तमान कर्ता का धर्म नहीं माना गया है । संयुत० के ये वाक्य इस प्रसंग में स्मरणीय हैं—‘कर्म अनात्मकृत हैं’ । ‘न वह शरीर तुम्हारा है, न औरों का है । केवल पुराना कर्म है ।’ ‘जीव और शरीर को एक मानने से ब्रह्मचर्यवास नहीं होता, न भिन्न मानने से’ । ‘न वह आत्मकृत

६३—अंगुत्तर (रो०) जि० ३, पृ० १८६, संयुत (रो०) जि० ४, पृ० १३२-३३, २३०-३१ ।

६४—संयुत (रो०) जि० २, पृ० ३९, ४०, अंगुत्तर (रो०) जि० २, पृ० १५७-५८ ।

६५—अभिधर्मकोश, ४.१ ।

है, न परलोक। हेतु के सहारे उत्पन्न हुआ है, हेतु न रहने पर निरुद्ध हो जायेगा”। यह स्पष्ट है कि बुद्ध भगवान् के अनुसार कर्म और कर्मफल की एक अनादि और अविच्छिन्न परम्परा है जिसमें कर्म का करना और उसके फल का भोग, दोनों समाप्त प्रवाह में पतित घटनामात्र हैं। इस मत में किसी अनुगत और स्थायी कर्ता और भोक्ता का स्वीकार नहीं है।

कर्म का मूल है तृष्णा, और तृष्णा एक ओर अविद्या पर आश्रित है, दूसरी ओर तुल्य के अनुभाव पर। एक प्रसिद्ध सदसर्ग में कहा गया है ‘अविद्या, संसार अनादि है। अविद्या से आच्छाद और तृष्णा से बँधे हुए एक जन्म-से दूसरे जन्म को जोड़ते हुए जीवों को पूर्व कोटि पता नहीं चलती”। नागार्जुन ने इसी की ओर उल्लेख किया है—

“पूर्वा प्रज्ञापते कोटिनैत्युवाच महामुनिः ।

संसारोऽनवराधो हि नास्यादितर्हि पश्चिन्नम् ॥”

(अभिधम्मक० ११.१)

चन्द्रकोटि ने भी इस सूत्र का उद्धरण दिया है। अभिधम्मकोश में स्पष्ट कहा गया है कि ‘अविद्यायुक्त स्पर्श से वेदना उत्पन्न होती है, अविद्यायुक्त वेदना से तृष्णा उत्पन्न होती है”। इस परवर्ती परिष्कृत निरूपण का प्राचीनतम बीज सुतनिपात के अष्टक-वर्ग में प्राप्त होता है। यहाँ दुःख के कारण को इच्छा, सात (तुल्य), काम, तृष्णा, ममकार, छन्द (संकल्प), स्पर्श और संज्ञा कहा गया है। यह प्रतीत्यसमुत्पाद के विकास की पहली अवस्था है। दूसरी अवस्था में विभिन्न दुःख के निदानों को जोड़कर कारण शृङ्खलाएँ प्रस्तुत की गयी हैं। निदानसमुत्त के अनेक सूत्रों में यह अवस्था देखी जा सकती है। परवर्ती बौद्धानामों ने भी प्रतीत्यसमुत्पाद के ये अधूरे (वस्तुतः, अविक-सित पूर्ववर्ण) देखे हैं। अभिधम्म कोश में कहा गया है कि सूत्रों में कहीं बारह निदानों का वर्णन है, कहीं ग्यारह का, कहीं दस का, कहीं नव का और कहीं आठ का”। संभवतः ने इस आधार पर यह स्वरामा की थी कि प्रतीत्यसमुत्पाद केवल द्वादशांग नहीं है। बुद्धगोप ने कहा है कि प्रतीत्यसमुत्पाद का भगवान् बुद्ध ने कहीं संक्षिप्त वर्णन किया है,

७०-३०—अरिजिम्भ ओव् बुद्धिस्म, पृ० ४३३, पावटिप्पणी, १५३ ।

७१-अनमस्रण, समुत्त, समुत्त (१०) जि० २, पृ० १७८-१३ ।

७२-अभिधम्मकोश, जि० २, पृ० ७१-७२ ।

७३-यहाँ, पृ० ६०-६१ ।

कहीं विस्तृत। इसी मत का अनुवाद वंकराचार्य ने शारीरकभाष्य में किया है^{७४}। प्रतीत्यसमुत्पाद की इसी अवस्था का महाभारत में भी कदाचित् उल्लेख है—‘कुछ लोग पुनर्जन्म का कारण अविद्या, कर्म और चेष्टा मानते हैं और उनके साथ लोभ, मोह और दोषों के सेवन को। अविद्या को ज्ञेय मानते हैं, कर्म की बीज और तुष्णा को उसका पोषक ‘खाद-पानों’। यही उनका पुनर्जन्म है’^{७५}। प्रतीत्यसमुत्पाद की तीसरी अवस्था उसके द्वादश निदानों की शृंखला के रूप में परिनिष्ठित होने पर सम्पन्न हुई।

‘द्वादश निदान’—प्रतीत्यसमुत्पाद के अन्तर्गत द्वादश निदान इस प्रकार हैं—अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, पञ्चायतन, स्पर्श, वेदना, तुष्णा, उपादान, भव, जाति और जरा-मरण-शोक-परिदेव-दुःख-दौर्मेनस्य-उपायास। अविद्या को एक प्राचीन सन्दर्भ में मोह और तमःस्कन्ध कहा गया है^{७६}। अविद्या का अर्थ प्रायः चार आर्य सत्त्वों का अज्ञान बताया गया है। वस्तुतः अविद्या बौद्ध का भ्रान्त विकल्प अथवा मिथ्या अव्यवसाय मात्र नहीं है, प्रत्युत् अव्याभूत दर्शन का अनादि अभ्यास है। अनित्य, दुःखात्मक और अनात्मभूत चैतन्य और नीतिक जगत् में अहंकार-ममकार-पूर्वक गुण की खोज में विचर लगे रहने के हमारे अभिनिवेश के मूल में एक आवरण है जो कि चित्त की स्वाभाविक प्रभास्वरता को ढके रहता है। यही अविद्या है और इसकी निवृत्ति प्रतीत्यसमुत्पाद के साक्षात्कार के बिना नहीं हो सकती। परवर्ती आचार्य भदन्त श्रीलान का मत यहाँ पर उल्लेखनीय है कि ‘अविद्या सब क्लेशों की सामान्य-संज्ञा है; रागादि क्लेशों से व्यतिरिक्त कोई अविद्या नहीं है’^{७७}। ‘संस्कार’ का अनेक अर्थों में प्रयोग मिलता है, पर प्रतीत्यसमुत्पाद के प्रसंग में ‘संस्कार’ से चैतन्यिक सकल्प अथवा छन्द ही अभिप्रेत लगता है और इस अर्थ में संस्कार कर्म का ही सूक्ष्म मानसिक रूप है। तागार्जुन की उक्ति से इसका समर्थन होता है...

“पुनर्भावाय संस्काराभविद्या निवृत्तस्तथा ।

अभिसंस्कुर्वते यास्तर्गाति गच्छति कामेभिः ॥”

(मध्यमक० २६।१)

७४-इ०—ऊपर ।

७५-महाभारत (चित्रशाला प्रेस, पूना), शान्तिपर्व, २।८, ३२-३४ ।

७६-तु०—अभिधर्मकोश, जि० २, पृ० ७१०, चन्द्रकीर्ति, मध्यमक ०१७, २८ पर ।

७७-तु०—मिनयेफ, रिवाशं मूर ल बुद्धोक्त, पृ० २२६ ।

अनेक संदर्भों में प्रतीत्यसमुत्पाद का निरूपण विज्ञान और नामरूप को अम्योन्या-
 भित एवं आदिम विज्ञान मान कर हुआ है। कुछ स्थलों में ऐसा प्रतीत होता है मानो
 विज्ञान संसारों हो, यद्यपि इसका प्रतिषेध भी किया गया है।^{१८} नामरूप से प्रायः
 “पाँच स्कन्ध” लिखे गये हैं। यह उल्लेखनीय है कि महाविद्वान् मुक्त में षडायतन का
 उल्लेख नहीं है एवं स्पर्श को नामरूप पर आश्रित कहा गया है। ‘स्पर्श’ का साधारण
 अर्थ इन्द्रिय अथवा मन का अपने विषय के साथ ‘संनिर्गम’ है। वेदना उसने उत्पन्न
 होने वाला सुख-दुःख का अनुभव है। कहीं वेदना द्विविध कही गयी है, कहीं त्रिविध।
 अनेक प्रकार से वेदनाओं का विभाजन और वर्गीकरण पाया जाता है। तृष्णा को
 ‘पौनर्मविकी, नन्दिराग-सहृदता, तथा तत्राभिनन्दिनी’ कहा गया है और उसके तीन प्रकार
 अवसर बताये गये हैं,—कामतृष्णा, भवतृष्णा एवं विभवतृष्णा। तृष्णा मूलतः सुख
 की चोज और उसमें आसक्ति है। उसका जन्म धियरूप अथवा धातरूप में बताया
 गया है। तृष्णा में बंधे होने के कारण मनुष्य संसार के पार नहीं जा पाता। इस प्रसंग
 में बृहदारण्यक के वाक्य स्मरणीय हैं—‘इमीति’ कहा गया है कि मनुष्य काममय ही
 है, तो जैसी कामना होती है, जैसा सकल्प होता है वैसा ही कर्म करता है, जैसा कर्म
 करता है वैसा ही बनता है।^{१९} बृद्धधोष का कहना है कि अविद्या अथवा तृष्णा को मूल
 मानकर बुद्ध भगवान् संसार की उत्पत्ति बताते हैं^{२०}। दोनों ही जनादि हैं, यद्यपि दोनों
 ही कारण परतन्त्र हैं। अविद्या और तृष्णा की सहकारिता से ही दुःख की उत्पत्ति
 होती है। तृष्णा के साथ छन्द का सम्बन्ध भी विचारणीय है। तृष्णा केवल इच्छा
 नहीं है। छन्द का अर्थ व्यापक है और उसमें समस्त संकल्प और एषणाएँ संगृहीत हैं,
 धर्मच्छन्द भी और कामच्छन्द भी। तृष्णा वस्तुतः केवल कामच्छन्द को कहना चाहिए।
 पूर्वशैलीय सम्प्रदाय में यह माना जाता था कि धर्मतृष्णा अव्याकृत है और दुःख का
 कारण नहीं है^{२१}। मज्झिमनिकाय में भी धर्मराग एवं धर्ममन्दी का उल्लेख मिलता
 है^{२२}। सामार्जुन ने धर्मच्छन्द का भी निषेध किया है। प्रायः प्राचीन संदर्भों में तृष्णा
 को राग, छन्द, प्रेम, पिपासा और परिदाह के साथ समानार्थक माना है।

७८-दीर्घ० सुत्त १५; संयुत; निदानसंयुत, सुत्त, ३८, ६४, सु०—आरिजिन्स ओं

बुद्धिस्म, पृ० ४३८।

७९-बु० उप० ४.४.५-६।

८०-विमुट्टिमग्गो, पृ० ३६८।

८१-कमावत्थु, १३.९-१०।

८२-मज्झिम (रो०) जि० १, पृ० ३५२।

उपादान तृष्णा के विषय का अभिनिवेशपूर्वक ग्रहण और समासकृत है। भव को प्रायः तीन वर्गों में बाँटा गया है—कामभव, रूपभव एवं अरूपभव। भव से संस्तरण एवं लोक दोनों के अर्थ सूचित होते हैं।

कालितार्थ यह है कि द्वादशनिदानात्मक प्रतीत्यसमुत्पाद के क्रमिक निष्पादन में अनेक कारणशृंखलाओं का संयोग हुआ है। प्राचीन सम्बन्धों में कहा गया था कि दुःख का कारण अविद्या है, अथवा संस्कार है, अथवा नामरूप को ही दुःख का कारण बता दिया गया था। सुखसंवेदन, तृष्णा अथवा उपादान अलग-अलग भी दुःख के कारण कहे गये एवं इनमें से कुछ को जोड़ कर भी दुःखसमुदाय समझाया गया था। इस प्रकार दुःखसमुदाय से सम्बन्ध रखनेवाले संदर्भों में प्रतिपादित गान्ता निदानों के संग्रह और परिष्कार के द्वारा द्वादशार प्रतीत्यसमुत्पाद षष्ठ का निर्माण हुआ।

उत्तरकालीन व्याख्याएँ—उत्तरकाल में प्रतीत्यसमुत्पाद की विभिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत की गयीं। स्वाविरतादी अभिधर्म में प्रतीत्यसमुत्पाद के अन्तर्गत कारमतासम्बन्ध के विमर्श के द्वारा एक नवीन और सूक्ष्मतर हेतुप्रत्ययवाद का प्रतिपादन हुआ। प्रतीत्यसमुत्पाद के विभिन्न निदानों के परस्पर प्रत्यय-सम्बन्ध समान नहीं हैं। उदाहरणार्थ, विज्ञान का नामरूप से अन्योन्यसम्बन्ध है जबकि जाति का जराभरण से पूर्वजात और उपनिधय संबंध है। परवर्ती अभिधर्मत्व संग्रह (पृ० १४०) के शब्दों में 'प्रतीत्यसमुत्पाद-नाम तद्भाव-भावि-भावाकार-मात्रोपलक्षित है। जबकि प्रस्थानतय प्रत्यस्थिति को दृष्टि में रखकर प्रवृत्त होता है। प्रतीत्यसमुत्पाद के विषय में यह निर्धारित किया गया कि अविद्या, तृष्णा, उपादान संस्कार और कर्म कर्मभव के अन्तर्गत हैं जबकि विज्ञान, नामरूप, पञ्चापतन, स्पर्श और वेदना उपपत्तिभव के अन्तर्गत हैं। प्रतीत्यसमुत्पाद का तात्पर्य यही है कि एक जन्म का कर्मभव दूसरे जन्म के उपपत्तिभाव को व्यवस्थित करता है। पूर्वजन्म के कर्मभव के केवल दो अंग बारह निदानों में कहे गये हैं। वर्तमान जन्म के कर्मभव के पाँचों अंग कहे गये हैं। अगले जन्म के उपपत्तिभव की सूचना केवल जाति और जराभरण के उल्लेख से मिलती है। अविद्या को सम्मग्नदृष्टि का आवरण बताया गया। संस्कार को 'चेतना' अथवा सकल्प, विज्ञान को इन्द्रियों से और मन से उत्पन्न तत्त्वविषय का ज्ञान एवं नामरूप को दैव्य आरम्भ। भव को द्विविध कहा गया—कर्मभव और उपपत्तिभव (इ० विमुद्धिमग्गो)।

सर्वास्तिवादी अभिधर्म में अविद्या को पूर्वकलेश-दशा समझाया गया है और संस्कार को पूर्वकर्म। उस प्रकार पूर्ण जन्म के कलेश और कर्म के कारण उत्पन्न नयी चेतना विज्ञान कही गयी है। अगले ७ अंग गर्भ से प्रारम्भ करके व्यक्ति के पूर्ण विकास तक

सूचित करते हैं। तुल्ला मोहन-प्राप्ति की अवस्था की दृष्टि करती है; अन्तिम दो अंग अगले जीवन के हैं। बारहों अंग बराबर उपस्थित रहते हैं, केवल विभिन्न अवस्थाओं में उनमें प्राधान्य भेद होता है (२०-अभिधर्मकोश)।

सर्वास्तिवाद के अभिधर्म में भी प्रतीत्यसमुत्पाद का विलेखित हेतु प्रत्यय-विवेचन से पृथक् किया गया है। प्रतीत्यसमुत्पाद के चार प्रकार बताये गये हैं—शणिक, प्राक-षिक, साम्बन्धिक और आध्यात्मिक। पहले प्रकार में यह निर्देश है कि प्रत्येक क्लिष्ट कर्म में ये समस्त अंग निष्पन्न होते हैं—मोह (अविद्या), जेतना (संस्कार), विज्ञान, उसके साथ संयुक्त अन्य स्कन्ध, इन्द्रियाँ, उनका विषयसम्पर्क, संवेदन, राग (तुल्ला), पर्यवसान (यथा अहो आदि, अर्थात् उत्पादान), कर्म (भव), इन सब धर्मों का जन्म (जाति), उनका परिपाक (जरा), और उनका भंग (मरण)। इस व्याख्या के द्वारा समस्त जलेशजीवन में प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याप्ति सूचित होती है। प्रतीत्यसमुत्पाद को प्रबन्धयुक्त होने के कारण प्राकषिक कहा जाता है और हेतुफल-सम्बन्धयुक्त होने के कारण साम्बन्धिक। पाँच स्कन्धों की अवस्थाओं की परम्परा होने के कारण उसे आध-रिषिक कहा जाता है। संपन्न के अनुसार अभिधर्म के आचार्यों का मत था कि बुद्ध भगवान् ने प्रतीत्यसमुत्पाद का इस अन्तिम रूप में ही उपदेश किया था।

महायान में प्रतीत्यसमुत्पाद का विकास दूसरी दिशा में हुआ। हीनयान अभि-धर्म में प्रतीत्यसमुत्पाद के व्यावहारिक पक्ष का विदलेषण हुआ और एक तवीन हेतु—प्रत्ययवाद ने क्रमशः उसको स्थानभूत कर दिया। महायान में प्रतीत्यसमुत्पाद के पारमार्थिक पक्ष को प्राधान्य दिया गया। शालिस्तम्ब सूत्र में इस द्वैतानिदानात्मक प्रतीत्यसमुत्पाद की विस्तृत आलोचना की गयी है, किन्तु साथ ही महायान की दृष्टि का समावेश है। इस विवेचन को प्रतीत्यसमुत्पाद के महायानिक विकास का पूर्वका मानना चाहिए। नागार्जुन के मध्यमक-शास्त्र में इस विकास का पूर्ण रूप देखने में आता है जहाँ कि प्रतीत्यसमुत्पाद का शून्यता के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया है। आर्यशालिस्तम्ब सूत्र में प्रतीत्यसमुत्पाद को धर्म और अनुसर धर्म-शरीर बुद्ध से अभिन्न माना है और प्रतीत्यसमुत्पाद को 'सतत-समित, निर्जीव, अजात, अमृत, अकृत, असंस्कृत, अप्रतिप अनालम्बन, शिव, अभय, अनाहारे, अव्यय एवं अव्युपशम-स्वभाव' कहा गया है। प्रतीत्यसमुत्पाद को द्विविध बताया गया है—बाह्य और आध्यात्मिक। एक अन्य विभाग भी प्रस्तुत किया गया है—हेतुनिबन्ध और प्रत्ययोपनिबन्ध। हेतुनिबन्ध बाह्य प्रतीत्यसमुत्पाद इस प्रकार है—जैसे बीज से अंकुर, अंकुर से पत्र, पत्र से काण्ड, काण्ड से ताल, ताल से गड, गड से गर्भ, गर्भ से शूक, शूक से पुण, पुण से फल। बीज

न होने पर अंकुर नहीं होता, यहाँ तक कि फूल न होने पर फल नहीं होता। बीज के होने पर अंकुर की अभिवृत्ति होती है—ऐसे ही फूल के रहने पर फल की। बीज यह नहीं सोचता कि मैं अंकुर को उत्पन्न करता हूँ, अंकुर भी यह नहीं सोचता कि मैं बीज से उत्पन्न हुआ हूँ, किन्तु बीज के होने पर अंकुर का प्रादुर्भाव होता है, फूल के रहने पर फल का। प्रत्ययोपनिबन्ध प्रतीत्यसमुत्पाद छः धातुओं के समवाय से सिद्ध होता है। ये छः धातुएँ हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश और श्रुत। "पृथ्वी-धातु बीज का संधारणकृत्य करती है, जल-धातु बीज को गीला करती है। तेजो धातु बीज को पचाती है, वायु बीज को बाहर निकालती है, आकाश बीज को अनावरण करता है, श्रुत भी बीज को पोषण करती है। इन प्रत्ययों के न रहने पर बीज से अंकुर उत्पन्न नहीं होता।" जब ये सब धातुएँ अविकल होती हैं तो उनके समवाय से बीज के निरुद्ध होते हुए अंकुर की उत्पत्ति होती है। पृथ्वी धातु को भी नहीं होता कि मैं बीज को संधारण करती हूँ, न अंकुर को कि मैं इन प्रत्ययों से जनित हूँ, किन्तु इन प्रत्ययों के रहते हुए बीज के निरुद्ध होते अंकुर की उत्पत्ति होती है। यह अंकुर न स्वयंकृत है, न परकृत, न उभयकृत, न ईश्वर-निमित्त, न कालपरिणामित, न प्रकृतिसंभूत, न एककारणाधीन, और न अहेतु-समुत्पन्न। इस बाह्य प्रतीत्यसमुत्पाद को पाँच कारणों से देखना चाहिए, अंकुर अन्य है, बीज अन्य है, अतएव यह शाश्वत नहीं है। बीज के विरुद्ध हो चुकने पर अंकुर की उत्पत्ति होती ही, ऐसा भी नहीं है। अतएव उच्छेद भी अनवकाश है। वस्तुतः जिस समय बीज निरुद्ध होता है उसी समय अंकुर उत्पन्न होता है। जिस प्रकार तराज के पलकों में एक का झुकना और दूसरे का उठना समकालीन है। संशान्ति भी नहीं समझनी चाहिए क्योंकि बीज से अंकुर विसृष्ट है। थोड़ा बीज बोया जाता है और विपुल फल उत्पन्न होते हैं, इसको अल्पहेतु से विपुल फल की उत्पत्ति मानना चाहिए। वैसे बीज बोया जाता है वैसे फल उत्पन्न होता है, यह तत्सदृशानुप्रबन्ध है।

हेतुपनिबन्ध आध्यात्मिक प्रतीत्यसमुत्पाद अविद्यादि जरामरणान्त डाहस-निदान-परम्परा है। यहाँ पर भी कोई कोई निदान दूसरे को बोधपूर्वक उत्पन्न नहीं करता, किन्तु एक-दूसरे की उत्पत्ति का कारण मात्र सिद्ध होता है। प्रत्ययोपनिबन्ध आध्यात्मिक प्रतीत्यसमुत्पाद पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश और विज्ञान—इन छः धातुओं के समवाय से सिद्ध होता है। जो शरीर के कठिन भाव को उत्पन्न करती है वह पृथ्वी है, जो शरीर के अनुपरिग्रहकृत्य का संसाधन करती है वह जलधातु है, जो खाये-पीये को पचाती है वह तेजोधातु है, आश्वास-प्रश्वास का कृत्य वायुधातु से होता है। शरीर के अन्दर की मुषिरता आकाश से उत्पन्न होती है। जो पाँच विज्ञानों से समुत्पन्न मानव

मनोविज्ञान और नामरूप की उत्पन्न करती है वह विज्ञान-धातु कहलाती है। इन प्रत्ययों के न रहने पर शरीर की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु इनके अविकल समवाय से होती है। पृथ्वीधातु न आत्मा है, न सत्त्व, न जीव, न जन्तु, न मनुज, न मानव, न स्त्री, न पुरुष, न नरपुंसक, न मैं, न मेरा, न और किसी का। ऐसे ही शेष धातुओं में भी छः धातुओं की ऐक्य संज्ञा, पिङ्गसंज्ञा, नित्यसंज्ञा, ध्रुवसंज्ञा, शाश्वतसंज्ञा, मुक्तसंज्ञा, आरस-संज्ञा, सत्त्वसंज्ञा, जीव०, पुद्गलसंज्ञा, मनुजसंज्ञा, मानवसंज्ञा, अहंकारसंज्ञा, ममकारसंज्ञा तथा ऐसा ही विविध अज्ञान अविद्या कहलाता है। इस प्रकार अविद्या के रहने पर विषयों में राग, द्वेष, मोह प्रवृत्त होते हैं। यही संसार कहलाता है। वस्तु-प्रतिविज्ञप्ति विज्ञान कहलाता है। विज्ञान के साथ उत्पन्न होनेवाले चार अरूपी स्कन्ध नाम कहलाते हैं। चार महाभूत रूप हैं और उनका सहारा लेकर उत्पन्न होनेवाले रूप भी रूप हैं। दोनों मिलकर नामरूप कहलाते हैं। नामरूप में संनिहित इन्द्रियाँ षडायतन हैं। तीनों धर्मों का सन्निपात स्पर्श है। स्पर्श का अनुभव वेदना, वेदना का अध्यवसान तृष्णा, तृष्णा का वैपुल्य उपादान है। उपादान से उत्पन्न पुनर्जन्म का उत्पादक कर्म-भव है, भवहेतुक स्कन्धों का प्रादुर्भाव जाति है। उत्पन्न का स्कन्ध-परिपाक जरा, जीर्ण-स्कन्धों का विनाश मरण है, क्षियमाण सम्मूह का अन्तर्दाह शोक है, शोक से उत्पन्न विलाप परिदेवन है। पाँच विज्ञान-कार्यों से संयुक्त अमुख का अनुभव दुःख है। मानस दुःख दोर्मनस्य है। शेष उपक्लेश उपायास है। अथवा, तत्त्वों की अप्रतिपत्ति या मिथ्या प्रतिपत्ति अज्ञान या अविद्या है। अविद्या के रहने पर पुण्य, अपुण्य और आनन्द्य्य गामी विविध संस्कार उत्पन्न होते हैं। इनके अनुकूल विज्ञान होता है। नाम और रूप पाँच स्कन्ध हैं। नामरूप के बढ़ने से छः आयतनद्वारों से नाता क्रियाएँ प्रवृत्त होती हैं और जामी जाती हैं। यही षडायतन है। इन आयतनों से छः स्पर्शवर्ग उत्पन्न होते हैं। जैसा स्पर्श होता है वैसी ही वेदना उत्पन्न होती है। वेदना का विशेषरूप से आस्वादन, अभिनन्दन, अध्यवसान तृष्णा है। मूल से विभाग न हो, वे बने रहें यह प्रायेणा उपादान है। प्रिय वस्तु की प्राप्ति के लिए कर्मभाव है और उससे स्कन्धों की उत्पत्ति होती है, उत्पन्न स्कन्धों का अन्ततः विनाश जरामरण है।

इस प्रकार यह द्वादशांग प्रतीत्यसमुत्पाद अण्योन्महेतुक, अण्योन्मप्रत्यय, न अनित्य, न नित्य, न संस्कृत, न असंस्कृत, न अहेतुक, न अप्रत्यय, न वेदयिता, न अवेदयिता, न प्रतीत्य-समुत्पाद, न अप्रतीत्यसमुत्पाद, न क्षयधर्म, न अक्षयधर्म, न विनाशधर्म, न अविनाशधर्म, न निरुद्धधर्म, न अनिरुद्धधर्म, अनादि काल से प्रवृत्त नदी की धारा के समान चलता जाता है। यद्यपि यह नदी की धारा के समान अविच्छिन्न है तथापि इसमें चार अंग

विशेष रूप से हेतु बनते हैं। वे चार में हैं—अविद्या, तृष्णा, कर्म और विज्ञान। विज्ञान बीजस्वभाव से हेतु होता है, कर्म क्षेत्र-स्वभाव से, अविद्या और तृष्णा क्लेश-स्वभाव से। कर्म और क्लेश विज्ञान के बीज को उत्पन्न करते हैं। कर्म विज्ञान के बीज के लिए क्षेत्र का कार्य करता है, तृष्णा विज्ञान के बीज को गौला करती है, अविद्या विज्ञान के बीज का अविकरण करती है। इस प्रकार विज्ञानबीज कर्मक्षेत्र में प्रतिष्ठित, तृष्णास्नेह में अभिप्रेक्षित, एवं अविद्या से अवकीर्ण होकर बढ़ता है। विभिन्न उपायत्यागन-प्रतिपत्ति में मातृगर्भ में विज्ञान-बीज से नामरूप का अंकुर उत्पन्न होता है। यह नामरूपांकुर न स्वयंभूत है, न परकृत, न उन्नतकृत, न ईश्वरकृत, न कालपरिणामित, न एक कारणा-पीत और न अहेतुसमुत्पन्न, प्रसूत माता-पिता के संयोग से, वस्तु-समवाय से, अग्न्य प्रत्ययों के समवाय से, आत्मावानुविद्ध विज्ञानबीज मातृगर्भ में—...-अस्वामिक, अपरि-ग्रह, अमम, आकाशतम मायिक भर्मों में हेतुप्रत्ययों के अवैकल्य के कारण नामरूपांकुर को उत्पन्न करता है।

पाँच कार्यों में चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है। चक्षु, रूप, आलोक, आकाश एवं तज्जन्य मनोविकार। इन पाँच प्रत्ययों में चक्षु आधपकृत्य करती है, रूप आत्मन्वन, आलोक अपभास, आकाश अनावरण और तज्जन्य मनोविकार समत्वाहरण। ऐसे ही अग्न्य इंद्रियों के लिए भी विचारणीय है। कोई भर्म इस लोक से परलोक को संक्रमण नहीं करता, केवल हेतुप्रत्ययों के अवैकल्य के कारण कर्म फल की प्रतिबिम्बित होती है—जैसे गुपरिशुद्ध वर्षण में मुख का प्रतिबिम्ब देखते हैं, किन्तु मुख उसमें संक्रमण नहीं करता, केवल हेतुप्रत्ययों के अवैकल्य के कारण मुख की प्रतिबिम्बित होती है। ऐसे ही इस लोक में भग्न नहीं और उत्पन्न नहीं होता, केवल कर्मफल का भोग होता है। जैसे बहुत दूर से चन्द्रमा का बिम्ब अल्प-उदक पात्र में प्रतिबिम्बित होता है, ऊपर से नीचे गिरता नहीं है, ऐसे ही।

आध्यात्मिक प्रतीत्यसमुत्पाद में भी अद्यावत्, अनुच्छेद, असंक्रांति, भग्नहेतु से विपुल फल की उत्पत्ति और तत्सदृश अनुप्रवण देखता चाहिए। इस प्रकार जो प्रतीत्य-समुत्पाद की समझता है वह पूर्वान्त और अपरान्त का अभ्यंजन नहीं करता और लोक-प्रचलित समस्त आत्मवाद-प्रतिसंपुक्त जीववाद-प्रतिसंपुक्त, कीतुक-मंगल-प्रतिसंपुक्त समस्त दुष्टिर्वा उसकी बीज हो जाती है^१।

८३—शान्तिस्तम्भसूत्र में विपुल उडरण, चन्द्रकीर्ति की प्रसन्नपरा तथा शान्तिदेव के शिक्षासमुच्चय में उपलब्ध होते हैं।

नागार्जुन ने प्रतीत्यसमुत्पाद को शून्यता के साथ अभिन्न बताया। 'जो प्रतीत्यसमुत्पाद है, उसे ही हम शून्यता कहते हैं, वही उपाम है, वही प्रवृत्ति है, वही मायमा प्रतिपद् है।' शून्यता स्वभावानुत्पत्ति-लक्षण है। गौडपाद ने इसी सिद्धान्त को इस प्रकार समझाया है 'जैसे सायिक बीज से सायिक अंकुर उत्पन्न होता है, जो न नित्य है, न उच्छेद-धर्मा, ऐसे ही सब धर्मों को समझना चाहिए। सब धर्मों के अज होने पर उनके शाश्वत अथवा अशाश्वत होने की बात नहीं कहा जा सकती। जहाँ शब्दों की प्रवृत्ति नहीं है, वहाँ विभेद नहीं किया जा सकता'।

निर्वाण

प्रतीत्यसमुत्पाद और निर्वाण—भगवान् बुद्ध ने अनुत्तर-शान्ति-पद की खोज में धर-धार छोड़ा और उनकी खोज तब पूरी हुई जब उन्होंने सम्बोधि में गम्भीर, शान्त, उत्तम और अतर्कविचर धर्म प्राप्त किया। इस धर्म को द्विविध वर्णित किया गया है—प्रतीत्यसमुत्पाद और निर्वाण^१। प्रतीत्यसमुत्पाद, इन्द्रियमयता अथवा मध्यमा प्रतिपद् अनित्य संस्कारों के प्रवाहरूप संसार को परतन्त्र और सापेक्ष सूचित करती है तथा परमार्थ को अन्त-विवर्जित एवं अनिर्वचनीय। निर्वाण अर्थात् 'बुझ जाना' से संसार का निरोध एवं सत्य की प्राप्ति सूचित होती है। प्रतीत्यसमुत्पाद 'धर्म' को नियम और सीमा के रूप में संकेतित करता है, निर्वाण विमुक्ति और भूमा के रूप में। प्रतीत्यसमुत्पाद में संसार का गम्भीरतम 'लक्षण' (और परमार्थ की 'अलक्षणता') प्रकाशित होती है, निर्वाण में आध्यात्मिक जीवन का लक्ष्य।

निर्वाण—अस्तकर्म और नित्यसत्य—सम्बोधि के सन्दर्भ में निर्वाण को अतर्क्य धर्म कहा गया है और उसका वर्णन किया गया है—'सर्व-संस्कार-समय, सर्वोपधि-प्रति-निस्सरण, लूणा-शान्ति, विराग, निरोध।' संसार जल, भूत, समुत्पन्न, कृत, संस्कृत और अध्रुव है। उसका 'निस्सरण है शान्त, अतर्कविचर, ध्रुव, अजल, असमुत्पन्न, असोक, विरज-पद।'।^२ में विशेषण उपनिषदों के आत्म-वर्णन की प्रतिध्वनि सुनाते हैं, यथा

८४-तु०—वैश, बौद्धागमार्थ संग्रह, पृ० ११४ प्र० मध्यमक० २४.१८।

८५-गौडपाद, माण्डूक्यकारिका, ४.५९-६०।

८६-उवा०, संयुक्त (रो०) जि० २, पृ० १०५-६।

८७-इतिवृत्तक, मुत्त ४३।

‘विरजः पर आकाशादज आत्मा महान् ध्रुवः’^{८८} अथवा, ‘सैषा तर्कैष मतिरापनेया’^{८९} । संसार अनित्य होने के कारण मिथ्या है, निर्वाण नित्य और सत्य है । “तहि मग्गं यं मोक्षधम्मं तं सच्चं यं अमोक्षधम्मं निज्जानं ।”^{९०} इसी वचन को नागार्जुन और चन्द्रकीर्ति ने उद्धृत किया है—‘तन्मूषा मोक्षधर्मं यद्भगवानित्यभाषत । सर्वे च मोक्षधर्माणः संस्कारास्तेन ते मूषा’^{९१} । ‘एतद्वि खलु मिश्रवः परमं सत्यं यद्विदममोक्षधर्मं निर्वाणं सर्वसंस्कारास्तं मूषा मोक्षधर्माण इति’^{९२} । यह स्वरणीय है कि शांकरवेदान्त में भी निर्विकारता सत्य का लक्षण है^{९३} । निर्वाण परम-सत्य है, अनन्यथाभावि, अच्युत, अमृत, अचल, अप्रमाण, अचिन्त्य । अनन्त और अचिन्त्य अमृत पद उपनिषदों में सुपरिचित है । यो वैभूमा तदमृतं यदल्पं तन्मार्तव्यम्^{९४} ।

निर्वाण-प्रपञ्चोपशम—अनेक प्राचीन सन्दर्भों में निर्वाण को अप्रपञ्च, निष्प्र-पञ्च, प्रपञ्चनिरोध, अथवा प्रपञ्चव्युपशम कहा गया है^{९५} । प्रपञ्च शब्द उपनिषदों में मिलता है, किन्तु विरल है^{९६} । इसके अर्थ प्रायः नाम-रूप के सदृश थे । निर्वाण में समस्त प्रपञ्च का अतिक्रमण हो जाता है । ‘तत्थ आपो च पठवी तेजो वायो न माधति ॥ न तत्थ मुक्का जोतन्ति आदिच्चो न प्पकासति ॥ न तत्थ चन्दिमा भाति तमो तत्थ न विज्जति ॥ यदा च अत्तना वेदि मुनि सो तेन ब्राह्मणो ॥ अथ क्का अस्सा च सुखं दुक्का

८८—बु० उप० ७.२.२३—आत्मा निर्मल, आकाश से परे, अज, महान्, ध्रुव है ।”

८९—कठ० १.२.९—“यह ज्ञान तर्क-मुलभ नहीं है ।”

९०—सज्जिम (रो०) जि० ३, पृ० २४५—“जो नश्वर है वह मिथ्या है, अनश्वर निर्वाण ही सत्य है ।”

९१—मध्यमक० १३.१—“भगवान् ने कहा है कि जो विनश्वर है वह मिथ्या है, संस्कार एक विनश्वर है, अतः वे मिथ्या हैं ।”

९२—“भिक्षुओं, यह अविनाशी निर्वाण ही परम सत्य है, सब संस्कार विनाशी मिथ्या है ।” (चन्द्रकीर्ति का उद्धरण) ।

९३—ब्र०—शांकरभाष्य, ब० सू० २.१.११ पर तथा योता, २.१६ पर ।

९४—छा० उप० ७.२४ ।

९५—ब्र०—ऑरिजिन्स ऑव बुद्धिज्म, पृ० ४७४, पाद टि० १६० ।

९६—श्वेताश्वतर, ६.६, माण्डूक्य ७.१२ ।

पमुच्चति' ॥^{१३} यह समस्त लोक से निराणी 'अपने से जानने' की अवस्था उपनिषदों में वर्णित आत्मज्ञान अथवा 'अपने को जानने' से तुलनीय है। 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र-
तारक, नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः'^{१४}। यह अवस्था अनिवर्तनीय है—

‘एतत् आपो न पठवी तेजो वायो न नाधति ।

अतो सरा निवत्तन्ति एत्थं चट्टं न चट्टति ।

एत्थं नामं न रूपं न असेसमुपकज्जति ।^{१५} इससे तुलनीय है तै० उप० (२. ९)
की उक्ति—‘यतो वाचो निवर्तन्ते’—अर्थात् जहाँ से वाणी निवृत्त हो जाती है’।

निर्वाण—परम निःश्रेयस—निर्वाण अशेष साधना का लक्ष्य है। ‘अमतो गाथां सज्जेधम्मा’ ‘निब्बानो गाथां ब्रह्मचरियं’। निर्वाण को ‘प्राप्तव्य’, साक्षात्कर्तव्य कहा गया है। वह अनुत्तर, उत्तम, परम है। वस्तुतः वही ऐश्वरीय है, वही वास्तविक प्रयोजन है। इसीलिए निर्वाण को अर्थ, निपुणार्थ, परमार्थ, उत्तमार्थ कहा गया है। यह स्मरणीय है कि उपनिषदों में भी निःश्रेयस के लिए अर्थ शब्द का प्रयोग मिलता है, यथा ‘हीयतेऽर्थांश्च उ प्रयेय वृणीते’ (कठ०) ‘कृतार्थो भवते वीतशोकः’ (श्वेत०)। निर्वाण को अनु-
त्तर योग-क्षेम भी कहा गया है (मज्झिम (रो०) १. १६३ इत्यादि)। उपनिषदों में उस ‘पार’ की उपमा अनेक बार आयी है—‘शोकस्य पारं—’ (छा० ७. १३), तमसः पारं—, ‘अभयस्य पारं—’, ‘अभयं तिस्रोऽर्थतां पारं—’ (मुण्डक० २. २. ६)। निर्वाण को भी बहुधा संसार का ‘वह पार’ कहा गया है, यथा संयुक्त० (रो०) ४. १७५ इत्यादि।

निर्वाण—परम-मुक्त—निर्वाण में निःशेष संस्कारों का उपशम हो जाता है और इस कारण उसे शान्त अथवा शान्ति-पद कहा गया है। यही नहीं, इस उपशम को

१७—उदान, सुत्त १०, “जहाँ जल, पृथ्वी, तेज, वायु की पहुँच नहीं है, वहाँ तार-
कादि द्योतित नहीं होते, न आवृत्त्य प्रकाशित होता है, न वहाँ चन्द्रमा चमकता
है, वहाँ अग्नि नहीं है, जब मुनि स्वयं अपने से जानता है, वह रूप और
अरूप, सुख और दुःख से मुक्त हो जाता है।”

१८—कठ० २. ५. १५—“न वहाँ सूर्य चमकता है, न चाँद-तारे, ये विजलियाँ नहीं
चमकती, यह अग्नि कहाँ से (चमकेगी) ?”

१९—संयुक्त (रो०) जि० १, पृ० १५—“जहाँ पृथ्वी, जल, तेज, वायु की पहुँच
नहीं है, वहाँ से शब्द निवृत्त हो जाते हैं, वहाँ ‘मति’ नहीं है, वहाँ अशेष नाम-
रूप निवृत्त हो जाते हैं।”

मुख कहा गया है। निर्वाण को साक्षात् भी परम अथवा अचल मुख कहा गया है।^{१००}। 'एतं सो परमं ज्ञाण एतं मुखमनुत्तमम्—'^{१०१}। विभाषा में सूत्र उद्धृत किया गया है—
 "मार्गे-मुख से निर्वाण मुख प्राप्त होता है।"^{१०२}। महायानी आचार्यों ने भी निर्वाण को मुख-स्य माना है—'अनपायमुखंकरमं विधम्'^{१०३}। किन्तु इस मुख को मुख-संबन्धन न समझना चाहिए। भगवान् ने केवल मुख वेदना को ही मुख में नहीं बताया है, अपितु जहाँ-जहाँ मुख उपलब्ध होता है सबको मुख में बताया है'^{१०४}। इस विलक्षण मुख की चर्चा उपनिषदों में भी है, यथा 'तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्य परमं मुखं—' (कठ० २.५.१४)। पूरे महोपन्य ने कहा है कि यह निराला मुख जो कि संबन्धन-व्यतीत है, कम-से-कम पाश्चात्य जिज्ञासुओं के लिए नितान्त दुर्बोध है! किन्तु पश्चिम में भी "बोधातीत शान्ति" की बात सुविदित रही है।

निर्वाण-मुक्ति—प्रज्ञा के द्वारा चेतोविमुक्ति का लाभ होता है। चित्त विमुक्त होता है, विमुक्त होने पर 'विमुक्त हुआ' यह बोध होता है, "जन्म क्षीण हो गया, बन्धन-कर्म पूरा हो गया, कर्तव्य कर लिया अब और संसार क्षीण नहीं है," यह समझ लेता है'^{१०५}। ज्ञान के द्वारा आसक्तियों के क्षीण होने पर अकुप्पा, अनुत्तरा विमुक्ति प्राप्त होती है। यही जर्हत्व का लाभ है। आसक्तियों का पहला वर्गीकरण कदाचित् त्रिविध था—कामासव, भवासव और अविद्यासव। शीघ्र ही इनके अतिरिक्त एक चौथा दृष्ट्यासव भी जोड़ा गया। विमुक्ति की अवस्था राग, द्वेष और मोह के क्षय की है और इसे अमृतत्व कहा गया है'^{१०६}। यहाँ सब गाँठें खुल जाती हैं, एषणाओं का क्षय हो जाता है, बन्धन टूट जाते हैं। इस विराम और विसर्पण, निरोध और विमुक्ति की दशा को निर्वाण-स्थानीय माना गया है। विमुक्ति को विद्या का प्रतिनाम कहा गया है, और निर्वाण को विमुक्ति

१००—संज्ञिम् (रो०) जि० १, पृ० १५०८, बीघ (रो०) जि० २, पृ० ९४ ?

१०१—अंगुत्तर (रो०) जि० ३, पृ० ३५४—("यहाँ परमज्ञान है, यही अनुत्तम मुख है।

१०२—अभिधर्मकोश, जि० ४, पृ० १२७, पाव टि० ३।

१०३—चन्द्रकीर्ति, मेम० एशियाटिक सोसायटी, ३.४७६।

१०४—संज्ञिम् (रो०) जि० १, पृ० ४००।

१०५—इ०—आरिजिन्स आंव बुद्धिज्म, पृ० ४५९-६०।

१०६—संयुक्त० (रो०) जि० ५, पृ० ८।

का प्रतिस्मरण^{१०७}। अन्यत्र विमुक्ति को स्मृति का प्रतिस्मरण कहा गया है और निर्वाण को विमुक्ति का^{१०८}। ऊपर निर्दिष्ट वर्णन उपनिषदों के मोक्षपरक वाक्यों का स्मरण दिलाता है—

‘सर्वगुहायन्विभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति’^{१०९}। ‘यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते । कामा मेज्य हृदि स्थिताः । अर्धं मर्त्योऽमृतो भवत्यथ ब्रह्म समश्नुते ॥’^{११०}। ‘विशया तपारोहन्ति यत्र कामाः परागताः’^{१११}।

निर्वाण में आसव, एषणाएँ, राग-द्वेष-मोह, संयोजन, तुष्णा, कर्म, भव, नाम-रूप, संस्कार, उपधि, आदि अशेष का निरोध हो जाता है। समासतः जन्म-मरण की परम्परा अविद्या, क्लेश और कर्म पर आश्रित है। विद्या से क्लेश क्षीय हो जाता है। इस प्रकार संसार-चक्र का निरोध हो जाता है। साधारणतः इसे ही निर्वाण कहा गया है। चन्द्र-कीर्ति के शब्दों में “सपायत का शासन और उसके धर्मानुधर्म की प्रतिपत्तिपूर्वक जिन पुरर्षों ने ब्रह्मचर्यवास किया है उतको भगवान् ने दो प्रकार का निर्वाण बताया है, सोपधि-रोध और निरुपधिरोध। निरवसेव, अविद्या, राग आदि क्लेश-मय के प्रहाण से सोपधि-रोध निर्वाण होता है।—उपधिरोध य आत्म-प्रशान्ति के निमित्त पाँच उपादान-स्कन्ध को छोड़ते हैं। जिस निर्वाण में स्कन्ध मात्र भी शेष नहीं रहते वह निरुपधिरोध निर्वाण है”^{११२}।

निर्वाण और निरोध—प्रश्नोपनिषद् में (१.१०) निरोध अपुनरावृत्ति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। छान्दोग्य में (८.६) कहा गया है कि अज्ञानियों के लिए जो निरोध है वही शान्ति के लिए प्रयत्न है। वस्तुतः निरोध अथवा निर्वाण केवल विनाश को सूचित नहीं करता। प्राचीन-संघर्ष में आग का बुझना आग का नाश नहीं, किन्तु उसका अपने मूल-प्रभव में फिर से लय माना जाता था। स्वैताश्वतर में (१.१३) कहा गया है कि “जैसे अपने जन्मस्थान में लौन बड़ि का मूर्तस्वरूप नहीं देखा जाता,

१०७-सज्जिम (रो०) १.३०४।

१०८-संयुक्त० (रो०) ५.२१८।

१०९-मुण्डक० ३.२.१—“तब बुद्धि की गाँठों से मुक्त, अमर हो जाता है।”

११०-कठ० ६.१४—“जब मर्त्य की हृदयास्थित सब कामनाएँ, छूट जाती हैं तो वह अमर हो जाता है, यहाँ ब्रह्मप्राप्ति करता है।”

१११-गतपथ० जि० २, ११११. (अभ्युत्पन्नमाला)।

११२-प्रसन्नपदा, मध्यमक०, पृ० ५१९।

किन्तु साथ ही उसके सूक्ष्मरूप का नाश नहीं होता—इत्यादि।" मैथायणीय आर-
व्यक (६.३४.१) में कहा गया है कि "जैसे ईधन के अभाव में अग्नि अपनी योगि में
उपशान्त हो जाती है, ऐसे ही वृत्तियों के क्षय से चित्त अपनी योगि में उपशान्त हो
जाता है।" कठोपनिषद् में (२.५.९) कहा गया है जैसे एक ही अग्नि विश्व में प्रकट
नामा रूपों में प्रकट होती है ऐसे ही एक ही अन्तरात्मा सब जीवों में विभिन्न रूप से
प्रकट होती है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि उपनिषदों में यह माना जाता
था कि अग्नि का एक सूक्ष्म, व्यापक रूप है जो अदृश्य है और एक जाव्यवस्थामात्र प्रकट
रूप है, जो बुझने पर संशुत हो जाता है और अग्नि फिर से अपने मूल में लीन हो जाती
है। आत्मा और चैतन्य के विषय में भी ऐसी ही धारणा थी कि इनकी संसार में
नामा अभिव्यक्ति होती है। जब इस नामात्व और बाह्य अभिव्यक्ति के कारणभूत
अज्ञान एवं काम और कर्म समाप्त हो जाते हैं तो आत्मा अथवा चैतन्य की ज्योति भी
अपना संसार में प्रकट रूप छोड़कर मूल परमरूप धारण कर लेती है। इस प्रसंग में
मिरोध अथवा निर्वाण नाम का सूचक नहीं है, किन्तु व्यक्तरूप छोड़कर मूलरूप धारण
करना प्रोत्तिष्ठ करता है। वस्तुतः आग के बुझने का दृष्टान्त इस प्रसंग में आपूर्तिक
दृष्टिभेद के कारण प्रायः ठीक नहीं समझा गया है। वत्सगोत्र नाम के परिब्राजक
ने भगवान् बुद्ध से पूछा था—“गौतम, विमुक्त-चित्त भिक्षु कहाँ जन्म ग्रहण करते हैं ?”
“वत्स, जन्म ग्रहण करते हैं यह नहीं कहा जा सकता।” “तो क्या गौतम, जन्म नहीं
ग्रहण करते ?” “जन्म नहीं ग्रहण करते, वत्स, यह भी नहीं कहा जा सकता।”
इस संलाप से वत्सगोत्र के चित्त में व्यामोह उत्पन्न हुआ और उसका निवारण करते हुए
तथागत ने कहा, “जो यह हमारे सामने आग बुझती है यह आग यहाँ से किस दिशा
की गयी ?” ऐसे ही जिस रूप से तथागत को संकेतिक किया जा सके, वह रूप तथा-
गत का ग्रहीत हो गया और उनके विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि उनका जन्म
होगा अथवा नहीं।” उपसीदमानवपुच्छ में यह कहा गया है “जैसे आग की लपट
वायुवेग से बिखरने पर अस्तंगत हो जाती है और उसका पता नहीं चलता ऐसे ही नाम-
काय से (=नाम-रूप में) विमुक्त होने पर मुनि भी अस्तंगत हो जाता है और उसका
पता नहीं चलता।” “अस्तंगत होने पर वह रहता है या नहीं रहता यह ठीक सम-
झाये”, यह पूछे जाने पर तथागत ने कहा, “अस्तंगत का कोई प्रमाण (नाम,
सीमा) नहीं है। जिससे उसके बारे में कहा जाय, वह नहीं है। सब धर्मों के निराकृत

होने पर समस्त वचनपथ भी निराकृत हो जाते हैं।^{११४} इन संदर्भों से स्पष्ट है कि अग्नि के बुझने की प्राचीन बौद्ध धारणा उपनिषदों के समान थी^{११५} और अतएव यह मानना उचित होगा कि निरोध अथवा निर्वाण का निरन्वय विनाश के अर्थ में तत्कालत में प्रयोग नहीं किया था अपितु संसार के अवसान और एक मूल अनिर्वचनीय पद की प्राप्ति की सूचना के लिए किया था। इस प्रसंग में बुद्ध के द्वारा उच्छेदवाद का प्रसिद्ध निराकरण स्मरणीय है। यदि निर्वाण की प्राप्ति में औपनिषद शाश्वतवाद नहीं देखना चाहिए तो साथ ही उसमें प्रचलित उच्छेदवाद भी नहीं देखना चाहिए। निर्वाण की प्राप्ति के बाद शाश्वत बना रहना इसलिए नहीं कहा जाता क्योंकि बने रहने का आमतक अर्थ नामरूप से सीमित है। नामरूप संसार के साथ निवृत्त हो जाता है, अतएव जैसी सत्ता को हम संसार में प्रचलित मानते हैं वैसी सविशेष सत्ता निर्वाण में नहीं रहती। दूसरी ओर परिनिवृत्त तत्कालत का उच्छेद सर्वथा निराकृत है। शाश्वत और उच्छेद, सत् और असत् में न समाता हुआ निर्वाण अनिर्वचनीय पद है जिसे समझने के लिए अन्य अन्तर्ग्राहिणी दृष्टियों की छोड़ मध्यमा प्रतिपद का स्वीकार आवश्यक है। श्री रामकृष्ण परमहंस ने इस विषय पर कहा था कि बुद्ध भगवान् स्वरूप-बोध की अवस्था में पहुँचे थे जहाँ सत् और असत् शब्दों का प्रयोग नहीं किया जा सकता, क्योंकि अस्तित्व और नास्तित्व प्रकृति के गुण हैं और स्वरूपबोध प्रकृति के परे।^{११६} इस प्रसंग में महाभारत के शान्तिपर्व में भरद्वाज और भृगु में आग बुझने पर विवाद स्मरणीय है। उच्छेदवादी दृष्टि से भारद्वाज की उक्ति थी कि अनिग्धन, शान्त अग्नि को मैं मृष्ट हुआ ही मानता हूँ क्योंकि उसकी गति, प्रमाण अथवा संस्थान कहीं नहीं उपलब्ध होते,^{११७} किन्तु भृगु उन्हें समझाते हैं कि अग्नि बनी रहती है यद्यपि उसका रूप अप्रत्यक्ष और सूक्ष्म हो जाता है।^{११८}

वस्तुतः निर्वाण को केवल विनाश अथवा अभाव मानने का दुराग्रह इस विश्वास पर आधारित है कि बुद्ध भगवान् ने आत्मा का सर्वथा निराकरण किया एवं अनित्य

११४—बुद्ध ना०, सुत्त निपात, जि० १, पृ० ४३०।

११५—सुल्लनीय—“यथा तद्यः स्थन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।

तथा विद्याभ्रामररूपादिमुक्तः परात्परं पुण्यमुपैति दिग्यम् ॥”

(मुण्डक, ३.२.८)

११६—रामकृष्णकथामृत, ३.२८०।

११७—महाभारत, शान्तिपर्व, १८७.३-६।

संसार-प्रवाह के अतिरिक्त जीवन में और कोई स्थिर साथ स्वीकार नहीं किया। यदि ऐसा है तो अवश्य ही संसार के प्रवाह का निरोध सर्वथा उच्छेद में प्रतिपाद्य है और यह मानना होगा कि समस्त अनुभव और जगत् केवल एक दुःख-प्रवाह है जो कि निर्वाण में बन्द हो जाता है। किन्तु यदि यही अक्षेप सत्य है तो शाश्वत के साथ-ही-साथ उच्छेद का निराकरण क्यों किया गया, और निर्वाण में, जैसा कि ऊपर दिला-जाया गया है, नित्य, अनन्त और अनिर्वचनीय शान्ति एवं मुक्त क्यों कहा गया? सध यह है कि निर्वाण में प्रपञ्च का उपशम हो जाता है और उसके साथ बाणों की शक्ति का। किन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि समस्त आध्यात्मिक साधना उच्छेद में समाप्त हो जाती है। निर्वाण का स्वल्प तर्कमय न होते हुए भी उसकी पर-साधना निर्विवाद है। निर्वाण में दुःख का अन्त हो जाता है, किन्तु सब कुल का अन्त नहीं होता। उपनिषदों के ब्रह्मवाद से यहाँ एक मुख्य भेद यह है कि ब्रह्म की उप-निषदों में प्रायः सद्गुण कहा है। दूसरी ओर निर्वाण अभावमय न होते हुए भी भावमय नहीं कहा जाना चाहिए। किन्तु यह भेद वस्तुतः प्रतिपादन की शैली का भेद है, क्योंकि उपनिषदों में भी ब्रह्म अथवा आत्मा की सत्ता निर्विशेष है एवं नाममय से मुक्त है और इस कारण द्वैत-विदित साधारण सत्ता से नितान्त भिन्न है। इससे अधिक महत्व-शाली भेद यह है कि उपनिषदों में ब्रह्म को जगत् का कारण बताया गया है। निर्वाण को केवल साधना के लक्ष्य के रूप में ही संकेतित किया गया है, किन्तु यहाँ पर भी यह स्मरणीय है कि पिछले शांकर वेदान्त में ब्रह्म का जगत्-कारणत्व केवल तदस्य लक्षण रह गया है और इस प्रकार वेदान्त एवं सद्धर्म में विभाजक-रेखा प्रतनु हो गयी है। गौडपाद के जागम-शास्त्र में देखने से इन दोनों का सादृश्य अनिवार्य रूप से प्रकट हो जाता है। किन्तु प्राचीन उपनिषदों एवं बौद्ध ग्रंथों में जगत् का मिथ्यात्व बीज-रूप से सूचित होने पर भी स्पष्ट प्रतिपादित नहीं है, और इसलिए उपनिषदों के ब्रह्म का जगत्-कारणत्व उसे केवल प्रपञ्चोपशम-रूप निर्वाण से विभाजित करता है।

आत्मा—निर्वाण का विचार आत्मा, पुरुष अथवा पुद्गल के विचार के बिना पूरा नहीं हो सकता। आपाततः माना पुरुष संसरण करते हुए दुःख अनुभव कर रहे हैं एवं निर्वाण की खोज करते हैं। इन संसारियों का स्वरूप क्या है, एवं कौन निर्वाण को प्राप्त करता है और निर्वाण की प्राप्ति के पश्चात् उसका क्या होता है, इन प्रश्नों का उत्तर देना आवश्यक है। अनेक विद्वानों ने यह कहा है कि भगवान् बुद्ध ने अपने समय में प्रचलित आत्मवाद का खंडन किया एवं संसारी को संसरण प्रवाह में निमग्न कर

दिया।^{११८} इसके प्रतिकूल कुछ विद्वानों ने यह कहा है कि इस प्रकार का वैराग्य-वाद परवर्ती भिक्षुओं और आचार्यों की बुद्धि की उपज है। तथागत ने केवल अनात्ममत तत्त्वों में आत्मा के न देखने का उपदेश दिया था; आत्मा का सर्वथा विरसकार नहीं।^{११९} सांगार्जून का कहना है कि विशेष अभिप्राय से तथागत ने आत्म-वाद अथवा अनात्मवाद दोनों का उपदेश किया, किन्तु उनका वास्तविक अभिप्रेत यह था कि न आत्मवाद सार्वत्रिक है, न अनात्मवाद। दोनों ही कोटियों के परे अमिर्वचनीय रूप से सत्य प्रतिष्ठित है।^{१२०}

प्राचीन पालि साहित्य में अजसत, पञ्चत, अतमाव, पण्डित्त, भावित्त आदि शब्दों में अत्ता का विभिन्न उपयोग मिलता है। "अजसत" मरवर्ती काल में 'बाह्य' का प्रतिधोमी मात्र रह गया था, किन्तु प्राचीनतर कुछ स्वर्यों में अजसत के साथ उपादेयता और कल्याण की भावना सम्बद्ध थी। अजसत-निर्वा, अजसतरतो, अजसलजित्त, इन अर्थों में स्पष्ट ही बाह्य जगत् में एक ऊँचे स्तर की आध्यात्मिक कहा गया है। 'अजसतं सुत्त अनुमुञ्जेस्स'^{१२१} अथवा "अजसतं जलपामि जोति"।^{१२२} इन प्रयोगों में भी आध्यात्मिकता केवल आन्तरिकता नहीं है। ऐसे ही "पञ्चतमेव जाण", "पञ्चतवेदनाय" आदि प्रयोगों में साधारण लौकिक चित्त के द्वारा बाह्य वस्तुओं के ज्ञान से परे का ज्ञान निषक्षित है। यह सच है कि 'पण्डित्त' और 'भावित्त' में अत्ता चित्त के अर्थ में प्रयुक्त हुआ माना जा सकता है। एवं 'अतमाव' का प्रयोग व्यक्तिविशेष के रूप में उपयोगिताय सूचित करता है। 'अतमाव' पिछले कर्म का फल था और व्यक्तित्व का मौलिक रूप उसमें संगृहीत था। 'अतमाव' स्पष्ट ही आत्मा नहीं है, अप्रयुत आत्मा का योनि-विशेष में देहपरिग्रह है।^{१२३} इसके विपरीत समुक्त-निकाय के कोसल-समुत्त में अत्ता को प्रियतम कहा गया है और यह

११८-उदा०, राइजर्वेविहस, अमेरिकन लेखक, पृ० ३६-४१, इवेरबाल्की, संस्कृत कलेक्शन ऑफ बुद्धिज्म, पृ० ७३, इत्यादि।

११९-ओमलो राइजर्वेविहस, "शाक्य", "बुद्धिज्म", "ग्राह जोन दि आरिजिनल गांस्लेस" इत्यादि।

१२०-सध्दमक०, १८.६।

१२१-सज्जिम (रो०) ३.२३०।

१२२-समुत्त (रो०) १.१६९।

१२३-'अतमाव' पर ३०-ऑरिजिनल ऑफ बुद्धिज्म, पृ० ४८६-८७।

कहा है कि 'अत्तकाम' हिंसा नहीं करता । आत्मा की प्रेष्टता और आत्मकामता की श्रेष्ठता का रानी मल्लिका के द्वारा अभिधान और तत्वागत के द्वारा उसका समर्थन बृहदारण्यक के याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवाद की याद दिलाता है, जहाँ यह कहा गया है 'आत्मानस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति ।' याज्ञवल्क्य का इससे निष्कर्ष यह था, "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यामितव्यः" । तत्वागत ने भी विनय में भद्रवर्गीय तत्त्वों का उपदेश दिया "अत्तानं भवेत्तेष्वप्यथ ।" ऐसे ही 'धम्मपद' में कहा गया है कि 'अन्वकारेण बोधोद्वा प्रदीप न गवेस्तथ ।'" एवं अनेक स्थलों पर 'अत्तदीपाविहरथ', यह उपदेश पाया जाता है । इसके साथ बृहदारण्यक का वाक्य सुलनीय है— "आत्मैवास्य ज्योतिर्भवतोऽयात्मनैवायं ज्योतिषास्ते पश्यन्ते कर्म कुर्वन्ते विप्रलम्बन्तीति ।" ऐसे ही "ब्रह्मभूतेन अत्तना" एवं "पहाम वो गमिस्सामी कतम्मे-सरणभत्तनो", इन वाक्यों में भी आत्मा का औपनिषद्-अर्थ देखा जा सकता है । इस प्रसंग में महाभारत (शान्तिपर्व, १९९.२३) का यह श्लोक भी सुलनीय है—

"अमृताच्चामृतं प्राप्तः शान्तोभूतो निरात्मवान् ।

ब्रह्मभूतः स निर्द्वन्द्वः सुखी शान्तो निरामयः ॥"

यह श्लोक मानों बौद्ध सम्बर्ध से उद्धृत हो । यहाँ "निरात्मवान्" आत्मा का नहीं, अहंकार का निषेध करता है । कुछ स्थलों पर आत्मा को विवेक-बुद्धि के अर्थ में भी प्रयुक्त किया गया है । धम्मपद में अत्ता शब्द जीव की संसार इया को बोधित करता है । परवर्ती बौद्ध आचार्यों ने इन प्रयोगों में अत्ता को अहंकारयुक्त चित्त का वाचक माना, किन्तु कुछ अन्य स्थलों में स्पष्ट ही अत्ता शब्द अर्थान्तर का द्योतक है, जैसे उदान की उत्तर निर्दिष्ट, "यदा च अत्तना वेदि मूनि मोतेन ब्राह्मणो", इस उक्ति में । ऐसे ही मुत्तनिपात के द्वैतानुपत्तन सुत्त में नामरूप को अनात्मा कहा गया है और अर्धतः निर्वाण में ही पारमार्थिक स्वरूपबोध उपदिष्ट है—

१२४—विनय, ना० महावग्ग, पृ० २५ ।

१२५—धम्मपद,— "अन्वकार से अण्ड (तुम) प्रदीप क्यों नहीं जोजते ?"

१२६—"आत्मा ही उसकी ज्योति होती है, आत्मा की ज्योति से वह आता-जाता एवं कर्म करता है"—(बु० उप० ४.३.६) ।

१२७—बीष, "तुम्हें छोड़कर चला जाऊँगा, मेने आत्मा की शरण ले ली है," "अमृत से अमृत की प्राप्त वह शान्तिभूत, निरात्मवान्, ब्रह्मभूत, सुखी, निरामय है ।"

“अनत्तनि अत्तमानं पस्स लोके सदेवके ।
निज्झिट्ठं नामकथंस्मि इवं सत्थं ति मज्जति ।
तं हि तस्स मृता होति मोत्तथम्मं हि इत्तरं ॥
अमोत्तथम्मं निब्बानं तदरिवा सच्चतोच्चिद् ।
ते वे सत्त्वानित्तमया निज्झता परिनिब्बुता ति ॥”^{१११२}

उपनिषदों के समान ही एक स्थान पर हृदय को ज्योतिस्त्वान और अत्ता को पुरुष की ज्योति कहा है ।^{१११} हृदय की अनुप्राप्ति को लक्ष्य भी बताया गया है, किन्तु यह सच है कि जहाँ उपनिषदों में पुरुष शब्द का प्रचुर प्रयोग प्राप्त होता है पालि ग्रन्थों में उसके स्थान पर पुरुष-पुद्गल अथवा पुद्गल शब्द प्रायः प्रयुक्त होते हैं ।

इन उद्धरणों से यह निविवाद रूप से सिद्ध होता है कि प्राचीनतम बौद्ध-संदर्भों और उपनिषदों में एक अविच्छिन्न अर्थपरम्परा विद्यमान है, यद्यपि बीच ही सड़कों के परवर्ती विकास ने इस परम्परा को नवीन शब्दों के प्रयोग से और नवीन सिद्धान्तों से लदित कर दिया । किन्तु यह स्पष्ट है कि बिपिटक में बाह्यत्व से प्राप्त सैद्धान्तिक वातावरण को बुद्धकालीन वातावरण नहीं माना जा सकता । प्रत्युत जो अपवाद रूप विरल स्थल ऊपर निरदिष्ट किये गये हैं उनका ही इस प्रसंग में अधिक महत्त्व समझना चाहिए । यह सच है कि इन संदर्भों के आधार पर श्रीमती राखलदेविबुस और श्री कुमारस्वामी का यह मत स्वीकार्य नहीं प्रतीत होता कि तथागत आत्मवादी थे । उनसे इतना ही ज्ञात होता है कि आत्मा का तथागत ने सर्वथा निराकरण नहीं किया । यह निश्चित है कि उनके समय में आत्म-सम्बन्धी नाना धारणाएँ प्रचलित थीं जिनका उपनिषदों में आत्म-सम्बन्धी नाना धारणाएँ प्रचलित थीं जिनका उपनिषदों से, ब्रह्मजाल; सामञ्जस्यफल आदि बौद्धसूत्रों से, एवं प्राचीन जैनसूत्रों से ज्ञान होता है । इन विभिन्न मतों का विस्तार देहात्मवाद से लेकर ब्रह्मात्मवाद तक था । प्रायः इनमें आत्मा भौतिक अथवा चैतन्यिक सत्ता मानी जाती थी । मज्झिम निकाय में कहा गया है कि आत्मा वक्ता, संवेदक, पुण्यापुण्य कर्मों का भोक्ता, नित्य, ध्रुव,

१२८—“अनात्मा में आत्मवशीं देवताओं तक के लोक को देखो । नामरूप में निरिच्छ वह समस्तता है “यही सत्य है” । किन्तु उसका वह नश्वर और गत्वर सत्य मिथ्या होता है । निर्वाण अविनाशी है । आर्य उसको सत्य मानते हैं । वे सत्य के साक्षात्कार से परिनिर्बुत होते हैं ।

१२९—संयुक्त० (रो०) जि० १, पृ० १२५, १६९ ।

शास्त्रतः, अविपरिणामी और कूटस्थ है।" अन्यथा आत्मा के तीन प्रकार कहे गये हैं—जोदारिक, अथवा स्थूल जो कि स्पर्शी और भौतिक है, समामय, जो कि सूक्ष्म, समामय, सर्वांगप्रत्यंगी एवं अहीनेन्द्रिय है, और तीसरे अरुण जो कि अरुणी, और संज्ञामय है।" अन्य स्थलों में आत्मवादियों को किसी-न-किसी स्कन्ध के साथ, विशेषतः विज्ञान-स्कन्ध के साथ, आत्मा का सत्त्वात्म्य स्थापित करके बताया गया है। इन सभी आत्मवादों को शास्त्रवाद एवं उच्छेदवाद के अन्दर रख दिया गया है और इन सभी का तथागत द्वारा खंडन मिलता है, किन्तु यह स्मरणीय है कि इनमें कहीं भी उपनिषदों में मुख्यभूत अनिर्वचनीय ब्रह्मात्मवाद का उल्लेख अथवा खंडन नहीं पाया जाता।

प्रत्युत उपनिषदों के नेति-नेति एवं सांख्यों के 'नास्मि न मे नाहं' की प्रतिध्वनि "नेतं मम नैषाहमास्मि नमसो अत्ताति", इस बौद्ध उपदेश में पायी जाती है।" समस्त वैदिक और चैतन्यिक संस्कृत तत्त्वों में आत्मा का प्रतिषेध त्रिपिटक में बार-बार उपलब्ध होता है। समस्त स्कन्ध, पातु और आयतन, समासतः सभी भूत और भौतिक, चित्त और चैतन्य धर्मों में अनित्यता, दुःखात्मता और परतन्त्रता व्यापक है। इन सभी में अनित्य, दुःख और अमात्म के लक्षण देखने चाहिए; ऐसे स्थलों में यह मान लिया गया है कि किसी वस्तु के आत्मा होने के लिए उसे नित्य, सुखात्मक और स्वतन्त्र होना चाहिए। ये ही आत्मा के वास्तविक लक्षण हैं, किन्तु इनके विपरीत लक्षण व्यावहारिक जगत् में उपलब्ध होते हैं। अतएव उसको सर्वथा अनात्मभूत मानना चाहिए। इस प्रकार का नैरात्म्य का उपदेश आत्मा का सर्वथा निषेध नहीं है, केवल अनात्म वस्तुओं को अनात्मता का उपदेश है। वस्तुतः आत्मा की सत्ता का सामान्यतः निषेध अकल्पनीय है, केवल उसके स्वरूप के विशेष-निर्लक्षण में ही विवाद होता है। विज्ञानप्रियु के शब्दों में, 'पुरुष की सत्ता के लिए साधन अपेक्षित नहीं है। चैतन्य अथवा पुरुष के अपलाप करने पर असद्व्यवस्था प्रसक्त हो जायेगी। अतएव भोक्ता अहम् पदार्थ में सामान्य रूप से बौद्धों का भी विवाद नहीं है।" पीट्ठपाद मुत्त में आत्मा का प्रत्याख्यान करने के स्थान पर तथागत पूछते हैं—'लेकिन पीट्ठ-

१३०—मज्झिम० (ता०), जि० १, पृ० १३।

१३१—ज्जा०, बीध० पीट्ठपाद मुत्त।

१३२—सु०—भावेर, जे० पी० टी० एस०, १९०४।

१३३—सांख्यसूत्र, १.१३८ पर।

पाद तुम आत्मा को क्या समझते हो ?" और आत्मा के रूपी, मनोमय, और जलपी भेदों को वे विशिष्ट 'अन्तर्-पटिलाय' बताते हैं जो कि केवल व्यावहारिक दृष्टि से सत्य है। इसी प्रकार महाविद्यान मुक्त में वह कहा गया है कि जो आत्मा का व्याख्यान करते हैं वे उसे स्त्री या अस्त्री बताते हैं, और आत्मा का वेदनाओं के साथ तादात्म्य स्थापित करते हैं, जबवा आत्मा को अप्रतिमवेदन कहते हैं, जबवा आत्मा को वेदयिता एवं वेदन-धर्म कहते हैं। किन्तु वेदनाएँ विविध और अनित्य होने से आत्मा नहीं हो सकती। ऐसे ही यदि आत्मा अप्रतिमवेदन है तो वह भी नहीं कहा जा सकता कि "मैं हूँ", और यदि आत्मा वेदनधर्मा है तो वेदनाओं के निरोध होने पर आत्मा का भी निरोध हो जायगा। इस विमर्श से यह स्पष्ट है कि आत्मा का सर्वथा निषेध अभिप्रेत नहीं था, केवल शरीर और चित्तप्रवाह के साथ आत्मा के भ्रान्त तादात्म्य का निराकरण अभीष्ट था। संयुक्त-निकाय में यह पूछा जाने पर कि आत्मा है अथवा नहीं, तथागत ने दोनों ही विकल्पों को अस्वीकार किया।" यही अन्तर्परिवर्जन निर्वाण के अनन्तर तथागत की सत्ता के विषय में भी किया गया। मुक्तनिपात के अट्ठकवग्ग में अनेक स्थलों पर यह कहा गया है कि दृष्टियाँ छोड़ देने पर एवं उपशान्त होने पर आत्मा एवं नैरात्म्य दोनों ही नहीं रह जाते। नैरात्म्य-परिपुच्छा में भी यही कहा गया है और इसको मध्यमा प्रतिपद बताया है। कायप-परिवर्त में आता है : "कायप, आत्मा एक छोर है, नैरात्म्य दूसरा। आत्मा और नैरात्म्य का सम्य अकर्म्य एवं अनिदर्शन है।" इस प्रकार के अन्तर्परिवर्जन का कारण यह था कि जबतक सविशेष एवं तर्कमय बोध रहता है तभी तक "एवं" अथवा 'अनेक' इस प्रकार से लक्षण और विभाजन सम्भव है। इसीलिए मुक्तनिपात के अट्ठकवग्ग में संज्ञा और दिट्ठि को हेय कहा गया है। यह स्मरणीय है कि संज्ञा का उपनिषदों में भी सविशेष ज्ञान के लिए प्रयोग हुआ है। ऐसे ही परमदृक् मुक्त में संज्ञा को परिकल्पित कहा गया है। चूलव्यूह मुक्त में कहा गया है 'संज्ञा के छोड़ देने पर ज्ञाना यत्न नहीं रहते। लोक में, दृष्टियों में तर्क को परिकल्पित करके 'सत्त्व और मिथ्या', इस प्रकार का पदार्थों में द्वैत स्थापित किया जाता है। किन्तु वास्तविक ज्ञान एवं निर्वाण में 'अधुमात्र भी संज्ञा नहीं रहती', प्रपञ्च छिन्न हो जाता है, एवं जल के गोचर का अतिक्रम हो जाता है। इस अवस्था में 'मूनि केवल मौन आत्मा से बोध करते हैं।' इस 'मौन आत्मा' की तुलना शंकराचार्य के द्वारा उद्धृत 'उपशास्तोप-

मात्मा' से की जानी चाहिए।^{१३५} तथागत ने आर्यमौल से वही उपदेश दिया जो कि बाध्य में बाष्पलि को अपने सृष्णोन्माद से।

मुनिरूपाय दार्शनिक देकार्त ने कहा है कि ज्ञान ही आत्मा की सत्ता प्रमाणित करता है।^{१३६} वस्तुतः ज्ञान की सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता क्योंकि यह अपलाप स्वयं ज्ञान के अन्तर्गत होगा। आत्मा की सामान्यतः प्रतीति प्रत्येक ज्ञान में होती है। उपनिषदों में बहुत खोज के बाद यही निदिष्ट किया गया कि आत्मा विज्ञानरूप ही है। अतएव आत्मा की सत्ता अनपेक्ष्य है, किन्तु ज्ञान अपनी सत्ता को सामान्यतः प्रत्येक अनुभव में अनिवार्यतः स्थापित करते हुए भी प्रकाश के समान अपने स्थान पर अपने विषयों को प्रदर्शित करता है। परिणाम यह है कि आत्मा अनिवार्य होती हुए भी अनिर्देश्य एवं अग्राह्य है।^{१३७} समस्त विषयों के ग्रहण में आत्मा की सत्ता पूर्ववर्ती, किन्तु अविषय है। इसी कारण आत्मा का निर्देष्ट अतद्व्यावृत्ति अथवा नेति-नेति के द्वारा ही सम्भव है। संसारदर्श में आत्मा विषय-ज्ञान में खोयी रहती है, किन्तु मुक्ति की अवस्था में वह अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है। यह अवस्था अनिर्वचनीय है क्योंकि न तो द्वैतमिश्रित ज्ञान यहाँ रह सकता है और न स्वरूपभूत ज्ञान का लोप अथवा उच्छेद सम्भव है। ज्ञानस्वरूप आत्मा की अनिवार्यता एवं अनिर्वचनीयता याज्ञवल्क्य के मैत्रेयी के साथ संवाद में सुस्पष्ट प्रतिपादित है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार का मत तथागत को अग्राह्य न था।

विषयों के आवरण के द्वारा ज्ञान के अपने को प्रकाशित करने के कारण ज्ञान की खोज प्रायः उसके विषयवर्गों की ओर दिष्टमूढ़ हो जाती है। इस भ्रामोह की दो प्रधान दिशाएँ हैं : विषयों में चैतन्य को खोजते हुए किसी विषय को चैतन्य समझ लेना, अथवा विषयों में चैतन्य को न पाकर इस अनुपलब्धि से उसकी असत्ता घोषित करना। पहली भ्रान्ति नाना प्रकार के विषयात्मवादों में प्रकट होती है, दूसरी बौद्धों के परवर्ती अनात्मवाद में। तथागत ने इन दोनों भ्रान्तियों का विवरण किया था। 'आत्मा है' कहने पर किसी-न-किसी दैहिक अथवा चैतन्यिक अनात्म-विषय का आत्मा में अभ्यास समर्पित होता है, क्योंकि ये विषय ही लोक में अस्तित्वेन प्रतीत हैं। 'आत्मा नहीं है' कहने पर उच्छेदवाद का समर्पण होता है जो कि समस्त आध्यात्मिक

१३५-ब० सु० ३.२.१७ पर।

१३६-नु०—धर्मकीर्ति, "अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नावबुद्धिः प्रसिध्यति।"

१३७-नु०—ब० उप० में (१.४) याज्ञवल्क्य का उपस्त चाक्रायण में संवाद।

जीवन का विरोधी है। इसलिए तथामत ने आत्मा को न अस्ति कहा है न नास्ति। मध्यमा प्रतिपद का यह स्वीकार एवं आगे मौन वस्तुतः अद्वैतसम्मत आत्मा की निर्वचनीयता से विमक्त नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि परवर्ती माध्यमिक दर्शन और शांकर दर्शन अत्यन्त समीप हैं। यहाँ तक कि शंकराचार्य के कुछ आलोचकों ने उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध कह डाला।

तथामत ने अनेक प्रकार के प्रचलित आत्मवाद का खंडन किया जोकि वस्तुतः विषयात्मकवाद अथवा मूल अविद्या या अज्ञान का निराकरण है। इसी प्रयोजन से उन्होंने देह और मन एवं उनके समस्त प्रपंच को बार-बार अनात्मभूत और हेय कहा, किन्तु साथ ही उन्होंने उच्छेदवाद का खण्डन किया। उनके मत से समस्त दुःखात्मक जगत् के प्रहाण के लिए ब्रह्मचर्यावास निरन्वय उच्छेद का निरपेक्ष, आत्मवादी आवास नहीं है। तथामत की देशना सूक्ष्म और गम्भीर एवं उपाय-कौशल के कारण विविध थी। उनके समय में भी उनका दुर्बल मत अन्य तीर्थिकों में और उनके कुछ शिष्यों में भी सम्मोह और भ्रान्ति उत्पन्न कर देता था। अतएव यह स्वाभाविक था कि उनके परिनिर्वाण के पश्चात् शीघ्र ही उनका 'मतोपेक्षी' वास्तविक अभिप्राय नाना मतवादों के अम्युदय में खो जाय। इसका परिणाम यह हुआ कि निकानों में ही विज्ञानवाद और पुद्गलवाद के बीज मिलते हैं और नैरात्म्यवाद का प्रचुर विकास। क्यों बौद्ध आचार्यों ने नैरात्म्यवाद के पक्ष का इतना पोषण और पल्लवन किया, यह समझना कठिन नहीं है। मनुष्यमात्र अनादि सम्मोह के कारण स्वरसतः मिथ्या आत्मवाद में ग्रस्त है। साधारण लोकबुद्धि के अनुसार प्रमातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्मों से विरिष्ट अहम्भूत्यस का मोहर एक चेतन शरीरी समस्त अनुभव और कर्म का अधिष्ठान है। स्थूल बुद्धि से यह प्रतीति समज्जस है और इस चेतन देहों को ही संसारी, जीव, आत्मा अथवा पुरुष माना जाता है। यह धारणा व्यवहार का आधार होते हुए भी साक्षात् अविद्या, दुःख का कारण, एवं मुक्ति की परिण्वी है। शंकराचार्य ने कहा है कि जीवकल्पना ही समस्त कल्पना का मूल है।¹²⁶ जीव-कल्पना का लक्षण है जीव में कर्तृत्व और भोक्तृत्व का आरोप कर उसे हेतु फलात्मक मानना। यही बौद्धों की आत्म-कल्पना अथवा सत्काम-दृष्टि है। भोग्य-पदार्थों एवं उनके भोक्ता आत्मा में स्थिरत्व की कल्पना कर अहंकार, ममकार, तृष्णा और कर्म निवृद्ध होते हैं। यह ठीक है कि इस प्रसंग में 'आत्मा' से बौद्ध वस्तुतः

उन तत्त्व का संकेत करते हैं जिसे सांख्य एवं वेदान्त में 'ब्रह्मकार' कहा गया है। किन्तु इस प्रकार का मिथ्या आत्मवाद हम सबके पाप स्वार्थिक प्रवृत्ति से ही उपस्थित हो जाता है और उसका नाश दर्शनों से और ओक-बुद्धि से पोषण होता है। इसीलिए निवृत्तिपराक बौद्ध आचार्यों ने उसके विरोध में नैरात्म्यवाद का समर्थन किया। बिना 'महम्' और 'मम', 'भोग्ये' एवं 'कारण्ये' से छुटकारा पाये विराग दुःखभूमि नहीं होता।

पञ्चस्कन्ध-वाद—नैरात्म्यवाद का निवारण में पञ्चस्कन्धवाद के रूप में विकास हुआ। विज्ञान, संज्ञा, वेदना, संस्कार और रूप, ये पाँच स्कन्ध हैं। सत् स्कन्ध देह-भाषी है और अपने व्यापक अर्थ में समस्त भूत और भौतिक पदार्थों को अपने अन्दर संगृहीत कर लेता है। बाकी चार अक्षरी अथवा अनीतिक स्कन्ध संगति रूप से चित्त कहे जाते हैं। इसमें वेदना मुख, दुःख आदि की उपलब्धि की आस्था थी। 'संज्ञा' शब्द विशिष्ट अवधारण के लिए प्रयुक्त होता था। विज्ञान सामान्यतः चैतन्य-वादी था। संस्कार के अन्तर्गत इच्छा, संकल्प आदि थे। पीछे अभिप्रेम में सम्भार का प्रयोग व्यापक हो गया और संस्कार केवल जैतनिक नहीं रहा। साथ ही विज्ञान का अर्थ संकुचित हो गया। निवारण में आकर इस पञ्चस्कन्धों को ही एकमात्र-सत्ता कहा गया और आत्मा को इनमें प्रतीत एक भ्रान्ति। जैसे तर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब देखते हैं, किन्तु चस्तुतः वहाँ कुछ नहीं रहता, ऐसे ही स्कन्धों के सहारे ब्रह्मकार की उपलब्धि होती है।¹ स्कन्धों के न रहने पर यह उपलब्धि नष्ट हो जाती है। आत्मा की सत्ता स्कन्धवाद की दृष्टि से एक अनादि भ्रम है जो कि चित्तप्रवाह में आसंसार बना रहता है।

स्कन्धवाद की कठिनाइयाँ प्रारम्भ से ही स्पष्ट थीं। यदि चित्त-प्रवाह में कोई स्थिर आत्मा नहीं है तो जन्मान्तर किसका होता है? कर्म के फल का भोग कौन करता है? एवं मोक्ष ही किसका होता है? और फिर, आत्मा की अनादिभ्रान्ति उत्पन्न हो कैसे हो जाती है? मुख होने पर ही उसका प्रतिबिम्ब दर्पण में पड़ता है। बिम्ब के अभाव में आत्म-प्रतीति की प्रतिबिम्बवत् कैसे माना जाय? यह स्मरणीय है कि सांख्यदर्शन में भी चित्त में पुरुष का प्रतिबिम्ब माना जाता है और इस प्रतिबिम्ब को भ्रान्ति ही समझते हैं, किन्तु इसे भ्रान्ति के लिए किसी मूल की आवश्यकता है। स्कन्धवादी इनमें से कुछ प्रश्नों का उत्तर प्रतीत्यसमुत्पाद एवं मध्यमा प्रतिपद के द्वारा वे देते थे, किन्तु इस उत्तर से सबकी शंकाओं का समाधान होना कठिन है।

‘विज्ञानवाद’—अतएव बुद्ध के समय में भी महर्षि का प्रसृत हुई कि कर्मों में चित्त, मत अथवा विज्ञान को ही आत्मा मान लिया जाय । उपनिषदों में आत्मा को प्रायः ही विज्ञान-स्वभाव कहा गया है और औपनिषद् प्रभाव के कारण एक प्रकार का मूल विज्ञानवाद प्राचीन बौद्ध सन्दर्भों में देखा जा सकता है । विज्ञान का निकायों में विविध प्रयोग मिलता है ।” पहले विज्ञान अथवा चित्त को स्त्री-देह का प्रतिरोधी अथवा धर्म-विशेष माना जाता था जो कि व्यक्तिविशेष की देह के साथ सम्बद्ध रहता था । इस अवस्था में सन्तुष्ट को देह एवं चित्त अथवा विज्ञान को समष्टि समझा जाता था । कहीं-कहीं पुरुष को छः धातुओं से निर्मित भी कहा गया है । इन स्त्रियों में विज्ञान छठी धातु है । विज्ञान की दो अवस्थाएँ हैं—एक प्रतीत्यसमुत्पन्न, प्रतिष्ठित, निष्ठित एवं सोपादान । यह विज्ञान की संसार-वस्था है, किन्तु इसके साथ ही विज्ञान की एक अप्रतिष्ठित, प्रभास्र, अकलिष्ट एवं विमुक्त या अप्रमाण अवस्था का भी उल्लेख मिलता है । चित्त अथवा विज्ञान का ही संघर्ष होता है, इस कारण का भी संकेत मिलता है एवं इसका समाप्त में सर्वथा प्रत्याख्यान नहीं किया । उन्होंने केवल इतना ही कहा कि यह संसार-गत चित्त निरन्तर परिणामी है, नित्य और अनन्य नहीं । चित्त का प्रवाह ही अन्तान्तर में चलता रहता है । इस अन्त में भी चित्त एकरस और ध्रुव नहीं है, अन्तान्तर में बरा होगा । किन्तु चित्त का एक प्रवाह-गत अविच्छेद अवश्य रहता है । परवर्ती व्याख्याओं के अनुसार सद्धर्म-सम्मत चित्त-सन्तति का सांख्यादि-सम्मत वृत्ति-प्रवाह से भेद करने पर भी नाना प्रतिविशिष्ट चित्त-प्रवाह स्वीकार करने होंगे जिन्हें कर्म के सेतु परस्पर विभक्त रखते हैं । कर्म की उत्पत्ति मूलतः चित्त के व्यापार से ही होती है एवं एक चित्त का कर्म जिस चित्तान्तर की विरासत बन कर उसके मुख-दुःखादि अथवा उसकी नामरूप में प्रतिष्ठा का नियंत्रण करता है, उस चित्त को पहले से सर्वथा अन्य कहना ताकिक दौब-पैब से सम्भव होते हुए भी वस्तुतः शब्दों का खेल ही होगा । इस प्रकार कम से कम अर्धतः सभागत की देशता में निरन्तर परिणामी चित्त ही संसारी है । इस मत में संसारी एक अनन्य ध्रुव पदार्थ न होकर अनुभव की वपल धारा है जिसका व्यक्तित्व कर्मभेद पर आश्रित है । इस प्रसंग में बुद्धवारण्यकोपनिषद् में उल्लिखित महावक्त्र का यह मत स्मरनीय है कि मृग्य के पश्चात् केवल कर्म शेष रहता है एवं कर्म ही वह मूल है जिससे पुरुष का पुनर्जन्म होता है ।

केशों के आगन्तुक मूल से छूटने पर चित्त प्रभास्वर हो जाता है एवं उसमें सम्बो-
धि-रूप प्रातिम ज्ञान की स्फूर्ति होती है। इस सम्बुद्ध और 'विसंस्कारगत' चित्त में
ही निर्वाण की प्राप्ति होती है। कर्म के सर्पचा अन्त एवं देह-रम्यग होने पर चित्त की
स्थिति अनिर्वचनीय है। यह प्रसंग वैसा ही है जैसा कि बृहदारण्यक के मातृवत्त्व-
मैत्रेयी-संवाद में 'अज्ञानघन' आत्मा का जहाँ दैत-लोप के कारण यह कहा गया है कि
'न प्रेत्य संज्ञास्तीति' किन्तु जहाँ उच्छेदवाद वस्तुतः अभिप्रेत नहीं है। इस प्रकार
की अद्वैत एवं अनिर्वचनीय विज्ञानावस्था का स्पष्ट व्याख्यान शान्तिपर्व की इन
पंक्तियों में उपलब्ध होता है—

'अघाणवगता नद्यो व्यवतीर्जहति नाम च । नदादय तानि पच्छन्ति तादृशः सत्त्व-
संवायः ॥ एवं सति कुतः संज्ञा प्रेत्यभावे पुनर्भवेत् । जीवे च प्रतिसंयुक्ते गृह्यमाणे
च सर्वतः ॥'"" इससे तुलनीय है—'वि आणमनिदस्सनं अनन्तं सव्वतोपभम्',
'ममस्सरमिदं चित्तं तं च आगन्तुकेहि उपक्किळेसेहि उपक्किलिट्ठं', 'अत्थङ्गतो सो न
यमाणमेति, अमोहमि मच्चुराजति बूमि', 'विसद्व्धारगतं चित्तं तण्हानं खयमज्झगा'।""
विज्ञान की इस विशुद्ध एवं असीम अवस्था को ही पीछे विज्ञप्तिमानता का पद दिया
गया। विज्ञप्तिमानता का वर्णन इस प्रसंग में स्मरणीय है—'अचित्तोऽनुपलम्भोऽज्ञो
ज्ञानं लोकोत्तरं च तत् । आश्रयस्य परावृत्तिर्ज्ञेया दीप्त्वहानितः ॥ स एवानाश्रयो
धातुरचिन्त्यः कुशलोद्भवः । सुखो विमुक्तिकापोऽज्ञो वर्मास्त्वोऽयं महामुनेः ।'"" आज्ञा-
शाहक-भेद न रहने के कारण 'अचित्त' और 'अनुपलम्भ' कहा गया है।

पुद्गलवाद—पुद्गलवाद का बीज समुत्त-निकाय के प्रसिद्ध भारहारसूत्र में
पाया जाता है। इस सूत्र में स्कन्धों को पुद्गल के लिए भारवत् आगन्तुक और
पृथक् सूचित किया गया है। परवर्ती पुद्गलवादियों ने मध्यम मार्ग का अनुसरण

१४१—"जिस प्रकार नवियाँ समुद्र से मिलने पर नाम और पार्थक्य छोड़ देती हैं,
ऐसा ही सत्त्वसंशय है। जीव के फिर से जुड़ जाने पर तथा संबंध व्याप्त होने
पर मृत्यु के अनन्तर 'संज्ञा' कैसे होगी?"

१४२—"विज्ञान अदृश्य, अनन्त, उद्योतिर्मय है," "यह चित्त प्रभास्वर है, आगन्तुक
उपप्लेक्षों से उपविष्ट है", "वह अस्तंगत होकर परिच्छिन्न नहीं होता, मृत्यु
को उसने अंकित कर दिया?" "विसंस्कार चित्त तुल्याक्षय को प्राप्त हुआ"
(इ०—आरिजित्त आदं बुद्धिम, पृ० ४९४-९५) ।

१४३-४०—तीव्र ।

कर पुद्गल को स्कन्धों से न भिन्न और न अभिन्न कहा एवं स्कन्धों के साथ पुद्गल का सम्बन्ध 'अवकतव्य' बताया । उनके मत से जनात्मरूपायक देशना का तात्पर्य अनात्म तरकों में आत्मा का निषेध है, आत्मा का सर्वथा निषेध नहीं । पुद्गल की सत्ता स्वीकार न करने से पुनर्जन्म, स्मृति, सर्वज्ञता आदि सभी निरपेक्ष हो जाते हैं । यदि तत्वागत को जीव की सत्ता मान्य नहीं थी तो वे स्पष्ट उसका प्रत्याख्यान कर सकते थे जबकि इसके विपरीत उन्होंने आत्मा के नास्तित्ववाद को दृष्टि-स्थान कहा है । इस प्रकार सूत्र और तर्क दोनों के ही आधार पर पुद्गलवाद का विकास हुआ ।^{१४४}

तत्वागत के अनुसार अज्ञान के कारण हम अपने को देह और चित्त से अभिन्न समझते हैं और संसार के दुःख में पड़े रहते हैं । देह और चित्त अनित्य और प्रतीत्य-समुत्पन्न हैं । उनमें अहंकार छोड़कर अपने को खोजना चाहिए एवं प्रत्यग्ज्ञान प्राप्त करना चाहिए । किन्तु जहाँ संसारावस्था का देह-चित्त-संघात के रूप में वर्णन सुकर है, पारमाधिक बोध अतिवचनीय है एवं आत्मा और अनात्मा, अस्ति और नास्ति के प्रापञ्चिक भेदों का अतिक्रम करता है । परमार्थ की अघाह्यता एवं निरसोप-दृष्टि-प्रहाण का यह सिद्धान्त अत्यन्त गंभीर और दुर्बोध है । इसी देशना के विविध अन्तराल से तर्क-मुलम एकांगिता के द्वारा नाना मतों का आविर्भाव हुआ । व्यवहार के अनात्म-भूत धर्मों के विश्लेषण से स्वान्धवाद एवं 'अभिधर्म' का जन्म हुआ । शाश्वत और उच्छेद के मध्य को पकड़ने से पुद्गलवाद का विकास हुआ । 'विज्ञान' अथवा 'चित्त' के अनिवार्य महत्त्व के आविष्कार से एवं औपनिषद् प्रभाव से 'विज्ञानवाद' की अवतारणा हुई । प्रतीत्यसमुत्पाद के मध्यम धर्म के रूप में व्यापक बोध ने शून्यवाद को जन्म दिया ।

परवर्ती व्याख्याएँ—परवर्ती काल में निर्वाण की अनेक व्याख्याएँ प्रस्तुत की गयीं । स्थविरवादिनों ने असंस्कृत धातु को अव्याकृत, अप्रमाण, अहेतु, अप्रतिष, अदृश्य, अरूप, लोकोत्तर, विचार और बुद्धि से परे, सुख-दुःख आदि के अतीत, एवं अनुत्तर कहा है ।^{१४५} कषावस्तु में निर्वाण को द्रुव, शाश्वत, अविपरिणामधर्म, अनात्मन् एवं चित्तविप्रयुक्त कहा गया है ।^{१४६} मिलिन्दपञ्चो में निर्वाण को भावरूप,

१४४-३०—मीचे ।

१४५-३०—ऑरिजिनल ऑब् बुद्धिमत, पृ० ४४४ ।

१४६-कषावस्तु, १.६; वही, ९.५; वही, १४.६ ।

अवास्तविक, शाश्वत एवं अनुत्तम बताया गया है।^{११६} अनुभवमोक्षर होते हुए भी निर्वाण अवर्णनीय है। सूत्रग्रंथ ने निर्वाण को शान्तिव्यवस्था, एवं अन्धुतिरक्त अवस्था काव्याचरणपरत, तथा अनिमित्त-प्रत्युपस्थान एवं मिश्रपञ्च-प्रत्युपस्थान कहा है। निर्वाण की अभावस्वभावा, असत्ता अवस्था उच्छेदस्वभावा का उन्होंने वर्णन किया है एवं उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि निर्वाण का स्वयम् अनुभवमोक्षर होते हुए भी वर्णनातीत है।^{११७} उसका मोक्षाभिधेय और अनुपाधिधेय में विभक्तन वस्तुतः उपपादान अर्थात् जगत्वा औपाधिक भेद पर आधारित है। इस प्रकार स्थविरवाद में निर्वाण को अतंसकृत, शान्त, अनुभवमोक्षर, अवर्णनीय, अनुत्तम एवं भावजन्य स्वीकार किया है।

बौद्धिकों के अनुसार तीन प्रकार के निरोध है, प्रतिसंख्यानिरोध, अप्रतिसंख्या-निरोध एवं अमित्यतानिरोध। इनमें पहले दोनों जन्तुसंस्कृत हैं, तीसरा संस्कृत। प्रतिसंख्यानिरोध को ही निर्वाण कहा गया है। निर्वाण असाधारण एवं असमाय, कुशल एवं नित्य है। वह न स्कन्धभाव है, न स्कन्धाभावभाव, किन्तु केवल सांख्य स्कन्धों की अपेक्षा उसका स्वभाव प्रतिष्ठित होता है। निर्वाण परम, प्रतिवेध, पंडित-प्रेमयोग, प्रमोद और मिस्तरण है। उसको उपसंख्य करनेवाली प्रतिसंख्या अवस्था प्रज्ञा अतीरणस्वभाव और साक्षात्कारात्मक है। निरुपाधि निर्वाण में केवल धर्मेता शेष रहती है। इस मत में निर्वाण शाश्वत और वास्तविक है।^{११८}

सौत्रांतिक मत के अनुसार निर्वाण निरोध मान है यद्यपि कुछ सौत्रांतिक भी निर्वाण में एक सूक्ष्म, किन्तु सर्वथा उपशान्त चेतना की अनुवृत्ति स्वीकार करते थे।^{११९} विज्ञानवादिनों के अनुसार बोधिसत्त्व परावृत्ति के द्वारा महापरिनिर्वाण की प्राप्ति करता है। निर्वाण स्वभावता विमृष्ट है, किन्तु अविद्यामल से उसका अनावरण धर्म

१४७-मिलिन्दपञ्चो, (बम्बई, १९४०), पृ० २६५, ३१६-१७।

१४८-सिद्धिनिर्णय, पृ० ३५५-५६।

१४९-इ०-वर्ल्ड्स वेलकोल फमिल वेब्सट्रेम ओरिपॉ, १९३०, पृ० १ प्र०, अभिधर्म-कोश, जि० १, पृ० ८-१०।

१५०-ओबेरमिलर, आई० एच० वयू०, जि० १०, पृ० २३५, काश्मीरक धर्माधिक तथा आगमानुसारी सौत्रांतिक निर्वाण को अभावभाव मानते थे। कोशा-नुसारी धर्माधिक तथा न्यायानुसारी सौत्रांतिक निर्वाण में लोकोत्तर संतन्य मानते थे। इ०-बुरोस, जि० २, पृ० ६७ पर ओबेरमिलर को वाद-दिप्पणो।

के द्वारा ही सम्भव है। वितर्तिमात्रतासिद्धि में चार प्रकार के निर्वाण कहे गये हैं।^{१५१} अनादिकालिक-प्रकृतिबुद्ध-निर्वाण, संप्रतिशेष-निर्वाण, निरुपरिशेष-निर्वाण, अप्रतिष्ठित-निर्वाण। इनमें पहला निर्वाण प्रकृतिमान्त तथता ही है। शेष तीन आध्यात्मिक विकास में तथता के क्रमिक प्रकार हैं। निर्वाण परमार्थ और परिनिष्चय-लक्षण है, वही मुचिसुद्ध धर्मधातु है। निर्वाण और संसार में कोई आत्यंतिक भेद नहीं है। वही अविद्याके द्वारा अध्वारोपित परतन्त्र-लक्षण संसार है एवं प्रज्ञा के द्वारा उन्मीलित उपघान्त-लक्षण निर्वाण है। संसार से निर्वाण में गति परावृत्ति द्वारा मिट्ट होनी है एवं वही धर्मसत्ता पारतन्त्र्य से विमुक्त होकर धर्मकाय में परिणत हो जाती है। यह अनुष्णोदि-निर्मूक, सर्वधर्म-परमात्मभूत, प्रपंचोपशम है। माध्यमिकों में भी निर्वाण और संसार में भेद नहीं माना जाता। निर्वाण को वे भावाभाव-निर्मुक्त शून्य-स्वरूप कहते हैं।^{१५२} समस्त परिच्छिन्न धर्म वस्तुतः पृथक्-पृथक् स्वभावों से शून्य है। यह स्वभाव-शून्यता अथवा पारमार्थिक अद्वैत ही निर्वाण है।

यह स्पष्ट है कि सभी परवर्ती व्याख्याओं में निर्वाण को मित्य और शान्त माना गया है। निर्वाण कार्य-करण-परिधि के बाहर है एवं निर्विषय होने के कारण वाणों का अगोचर है। उसका केवल साक्षात्कार सम्भव है। इस प्रकार अवर्णनीय होते हुए भी निर्वाण जीवन का परम लक्ष्य है। निर्वाण का साक्षात्कार सम्बोधि में होता है और उसकी प्राप्ति के साथ ही क्लेश, कर्म और दुःख से मुक्ति हो जाती है। अहंकार नष्ट हो जाता है और मृत्यु उतनी ही निरर्थक जितना जन्म। निर्वाण में संसारी का परम अनन्त सत्ता में वैसे ही उपशम हो जाता है वैसे अग्निशिखा का अपने मूल में।

परिच्छिन्न लौकिक चेतना के परिचित शब्दों में निर्वाण का वर्णन नहीं किया जा सकता। उसकी अनन्तता का सर्वोत्तम संकेत मौन के द्वारा हो सकता है। श्री अरविन्द ने ऐसी अवस्था का वर्णन करते हुए कहा है: “एक असंग परमार्थ ने समस्त का निषेध कर दिया, सम्मूढ जगत् को अपने अद्वैत से मिटा दिया, और आत्मा को अपनी शाश्वत शान्ति में डुबा दिया।”^{१५३}

समं—तथागत ने दुःख का कारण अविद्या में पाया जिसकी शक्ति से हम अपने लिए माना स्थिर पदार्थों के आशवास्य जगत् की भान्त कल्पना कर लेते हैं और उसमें

१५१—सिद्धि, जि० २, पृ० ६७० प्र०।

१५२—वे०—नीचे।

१५३—ड०—सावित्री, २, ७.६।

भोगतृष्णा से व्याकुल होकर विचरते हैं। हमारे आयासजनित कर्म ही वरवस हमें एक जन्म से दूसरे जन्म तक ले जाने का सेतु बन जाते हैं। इस दुःख की शृंखला से छुटकारा कर्म, तृष्णा एवं अविद्या के छूटने पर ही सम्भव है और वह प्रज्ञा अथवा सम्बोधि से ही हो सकता है। इस प्रकार वस्तुतः निरोधगामिनी प्रतिपद् सम्बोधि-गामिनी प्रतिपद् है। नियम के रूप में जो धर्म संसार में व्यापक है एवं अविद्यादि-कर्म से दुःख का कारण बनता है, वही विलोमक्रम से दुःख-निरोध की ओर ले जाता है। इस प्रकार मार्गरूपी धर्म एक निवृत्ति का क्रम है जोकि संसार के स्वाभाविक क्रम अथवा प्रवृत्ति को उलट देता है। छान्दोग्य उपनिषद् (६.१४) में अप्यारम की खोज की तुलना मार्ग की खोज से की गयी है—“जैसे किसी पुरुष को आँखें बाँधकर गन्धार से ले जायें और वहाँ से उसे दूर छोड़ दिया जाय—। उसके वन्धन को खोलकर कहा जाय, इस ओर गन्धार है, इस ओर जा। वह पंडित और मेधावी गाँव-गाँव पूछते हुए गन्धार पहुँच जाय। ऐसे ही यहाँ आचार्यवान् पुरुष ज्ञान प्राप्त करता है। इस संदर्भ के साथ मज्झिम और सङ्गुत्त के वे प्राचीन सदर्थ तुलनीय हैं वहाँ तथगत ने अपने को केवल मार्गदर्शक बताया है और धर्म को निर्वाण तक पहुँचाने वाला पुराना राजमार्ग” “जैसे कोई अरण्य यात्री महावन में चिर-अनुपात पुराना मार्ग देखे और उसके अनुसरण से पुरानी राजधानी तक पहुँचे। ऐसे ही मैंने पूर्व-बुद्धों के द्वारा अनुगत प्राचीन मार्ग प्रत्यक्ष किया है।” (संयुक्त टी० २. १०५-६) “यह राजगृह का मार्ग है, इसका अनुसरण करने पर एक गाँव मिलेगा, आगे एक निगम दीर्घोवा, और आगे रमणीय आराम, उद्यान, सरसी आदि से शोभित राजगृह। उस प्रकार उपदिष्ट होने पर भी यात्री पथभ्रष्ट हो सकता है—ऐसे ही, ब्राह्मण, निर्वाण है, निर्वाणगामी मार्ग है, मैं उसका उपदेशक हूँ।” उपनिषदों में यद्यपि ज्ञान को मुक्ति का प्रधान साधन माना गया है तथापि शील और कर्म की परिशुद्धि तथा सांसारिक एषणाओं और कामनाओं की हेयता का भी प्रतिपादन किया गया है। उपनिषदों में ही याज्ञिक कर्म के स्थान पर नैतिक सत्कर्म को प्रतिष्ठित कर दिया गया था, किन्तु ब्राह्मण-धर्म में उस समय उपनिषदों के द्वारा प्रतिपादित शील और ज्ञान का मार्ग अल्पसंख्यक विचारकों का मत था। साधारण तौर से वैदिक धर्म में द्रव्य-साध्य यज्ञादि के अनुष्ठान एवं नाना गृह्य-कर्मों का प्राधान्य था। यह प्रचलित वैदिक धर्म प्रवृत्ति-मार्गों था। सद्धर्म में इसके प्रतिकूल, किन्तु उपनिषदों की परम्परा के अनुकूल निवृत्तिमार्ग का प्रतिपादन

मिलता है। उपनिषदों में इसका भेद अंगतारतम्य एवं विस्तार में है। सद्धर्म में शील पर बहुत जोर दिया गया है और उसकी विस्तरण व्याख्या की गयी है, किन्तु इस भेद का कारण तत्त्वभेद नहीं था। उपनिषदों में सर्वजनश्राव्य अभिभाषण नहीं है, प्रत्युत विशिष्ट अधिकारियों के लिए सूक्ष्म संकेत है। पालि विधिपट्टक में प्रचुर विस्तार से सबको समझाने के लिए बराबर शील के विस्तर का व्याख्यान किया गया है। तथापि यह स्मरणीय है कि अहिंसा, करुणा, अपरिग्रह, शान्ति और वैराग्य का जैसा महत्त्व सद्धर्म में है वैसा उपनिषदों में नहीं है। ध्यान और समाधि का भी प्राचीन बौद्ध संदर्भों में अधिक परिष्कृत और विस्तृत वर्णन मिलता है जिसका उपनिषदों में संकेत-मात्र उल्लेख होता है। कदाचित् सबसे महत्त्वपूर्ण भेद ज्ञान के स्वरूप के विषय में है। उपनिषदों में ज्ञान श्रुति या शब्द के द्वारा ही प्रधान रूप से प्राप्त होता है यद्यपि मनन और निदिध्यासन का भी उपदेश किया गया है, किन्तु यह उपदेश दूसरी श्रेणी के अधिकारियों के लिए है। सद्धर्म में शब्दों के द्वारा केवल मार्ग ही प्रतिपाद्य है। चित्त के परिष्कार से ज्ञान स्वतः उद्भूत होता है।

तीन अवस्थाएँ—निर्वाण का मार्ग स्वभावतः विधा विभक्त हो जाता है। पहली अवस्था में असत्कर्म का न करना एवं सत्कर्म का आचरण, दूसरी अवस्था में ध्यान, एवं तीसरी अवस्था में साक्षात्कारात्मक ज्ञान, ये ही मार्ग के प्रधान अंग अपने अनिवार्य क्रम में हैं। संसार के बंधन की उत्पत्ति मन के सूक्ष्म और आन्तरालिक स्तर से होकर क्रमशः स्थूल देह के द्वारा बाह्य लोक में व्यक्त होती है। निवृत्ति का क्रम इसका प्रतिलोम है एवं पहले स्थूल देह और उसके कर्मों के संयमन के अनन्तर क्रमशः चित्त के परिष्कार के द्वारा उसकी अन्तर्निहित अविद्या के अय की ओर बढ़ता है। प्राचीन ग्रामण्यफल-सूत्र में भिक्षु की आध्यात्मिक प्रगति का क्रमिक वर्णन किया गया है तथा उसमें शील, समाधि और प्रज्ञा का त्रिविध भेद प्रकट होता है। और भी अनेक स्थलों पर यह भेद उल्लिखित है। कभी-कभी विमुक्ति अथवा विमुक्तिज्ञान-दर्शन के जोड़ने से त्रिविध मार्ग चतुर्विध अथवा पंचविध कर दिया गया है। विमुक्तिमग्गो एवं सर्वान्तिवाद के ग्रन्थों में विधा विभाजन ही प्रधान है। पर यह स्मरणीय है कि तथागत ने धर्म को अवसर के अनुकूल विविध रूपों में उपदिष्ट किया था और उपमा आदि के सहारे उसका प्रतिपादन किया था, किसी गणितोपयोगी गुरु का व्याख्यान नहीं। और सब बात यह है कि आध्यात्मिक मार्ग में प्रतिव्यक्ति कुछ-न-कुछ भेद रहता ही है। विमुक्तिमग्गो में बुद्धघोष का कहना है कि शील से काम-मुक्त में आसक्ति बर्जित होती है एवं दुर्गति के अतिक्रम का उपाय प्रकट होता है। जहाँ प्रज्ञा से दुष्टि-संक्लेश का विशेषण

होता है, और समाधि से तृष्णा-संश्लेष का, वहाँ शील से दुश्चरित संश्लेष का विसोपन होता है। पटिसम्मिदाममा के अनुसार, 'शील क्या है?' शील चेतना है, शील चेत-शिला है, शील संवर है, शील अव्यतिक्रम है। इस उक्ति में शील के दो पक्ष निदिष्ट हैं—आम्यन्तर और बाह्य। शील का सार है चित्त का कुशल धर्मों की ओर शुकाय और उसकी अभिव्यक्ति होती है कामिक और वाचिक संयम में। उपासक और उपासिकाओं के लिए नित्य-शील के रूप में पंचशील उपदिष्ट हैं। अनुपसम्पन्न आम-धर्मों के लिए दश-शील का विधान है। उपसम्पन्न भिक्षु के लिए नाना शिक्षापथों में प्राप्ति-मोक्ष-संवर, इन्द्रिय-संवर, आजीव-परिपुष्टि, प्रत्ययसंनिधित शील आदि प्रशस्त हैं।

उपासकधर्म—तथागत की धर्म-देवता प्रधानतया घर-बार छोड़कर संसार से निवृत्ति के लिए कमर बसे हुए भिक्षुओं के लिए थी, किन्तु अधिकांश जनता सहसा इतने त्याग के लिए सज्ज नहीं थी। अतएव तथागत ने उन्हें उपासक के रूप में ग्रहण किया एवं उनके लिए धर्म का गृहस्थोपयोगी संस्करण प्रचारित किया जिसमें निष्कामता और तैत्तिक्य के स्थान पर संयम, सन्तोष, एवं शुभ-कर्मों पर जोर था। इस मार्ग के अनुसरण से प्रत्यक्ष जीवन में सुख और सौभाग्य एवं और्ध्वदैहिक जीवन में सद्गति का लाभ होता है। दीपनिकाय में सिंगाल-सुत में उपासक-धर्म का विशेष निरूपण किया गया है। आर्य श्रावक को चार कर्म-क्लेशों को छोड़ना चाहिए, चार स्थानों से पाप न करना चाहिए एवं भोगों के ६ अपायमुखों का सेवन न करना चाहिए। इस प्रकार चौदह पापों से मुक्त होकर एवं छः दिशाओं का वास्तविक सत्कार कर ऐहिक और आमुष्मिक कल्याण का लाभ होता है। चार कर्म-क्लेश हैं—प्राणातिपात, अदत्ता-दान, काम-भिय्याचार, मूषावाद। छन्द, दोष, भय और मोह, चार स्थान हैं, पाप-कर्म के लिए। भोगों के छः अपायमुख हैं—मद्यपान, विकालचर्चा, समज्याभिचरण, द्यूत, पारमित्रता, एवं आलस्य। वस्तुतः सत्करणीय छः दिशाएँ हैं—माता-पिता, आचार्य, पुत्र-पार, मित्राणां, दास-कर्मकर, एवं आमल-ब्राह्मण। इनके लिए सम्पत् प्रतिपत्ति आवश्यक है। माता-पिता के लिए मरण, कृत्य-सम्पन्नदान, कुल-वंश-स्थापन, दायाद-प्रतिपत्ति, एवं उनके देहान्त पर दक्षिणा-दान अपेक्षित हैं। आचार्य की सेवा के लिए उत्पान, उपस्थान, श्रुश्रुषा, परिचर्या एवं शिल्प-ग्रहण आवश्यक हैं। भाग्यों के लिए सम्मानन, अनवमानन, अनतिचर्या, ऐश्वर्यव्युत्सर्ग एवं अलंकारानुप्रदान कर्तव्य हैं। मित्रों के लिए दान, प्रियवाद, अर्थचर्चा, समानात्मता एवं अवित्तवादना अपेक्षित हैं। दास-कर्मकरों के लिए यथावत् कर्मान्तसंविधान, भक्तवैतनानुप्रदान, म्लानोपस्थान,

रसगन्धिभाग, एवं समय में व्युत्सर्ग आवश्यक है। धाम्पण-ब्राह्मणों के लिए, सनत्ता, याचा, कर्मणा मैत्री, मित्रतद्धारता एवं आभिषानुसंधान अपेक्षित हैं।

द्रव्यमय सम्राटों का एवं माना देशताओं की पूजा का भगवान् बुद्ध ने विरोध किया। वास्तविक योग और पूजा को उन्होंने आध्यात्मिक एवं शील के आचरण से अभिन्न बताया है। ऐसे ही, कठोरतपश्चर्या का भी उन्होंने विरोध किया। यह प्रसिद्ध है कि उन्होंने अपने पहले ही उपदेश में मूलानुसंधान एवं कठोर तप के मध्यवर्ती मार्ग को सराहा था। ध्यान का समर्पण उन्होंने देव-लोकों की प्राप्ति के लिए नहीं, प्रत्युत चित्त के परिष्कार के लिए एवं ज्ञान तथा वैराग्य की प्राप्ति के लिए किया^{११५}।

बोधिपाक्षिकधर्म—महापरिनिर्वाण-सूत्र में यह कहा गया है कि तत्काल ने अपने अन्तिम समय में ३७ बोधिपाक्षिक धर्मों को ही अपने शिष्यों के लिए विरासत की तरह छोड़ा था, किन्तु यह स्मरणीय है कि इस सूची में इन बोधिपाक्षिक धर्मों की संख्यावृद्धि के क्रम से निर्दिष्ट किया गया है। पहले चतुष्क, फिर पंचक, फिर सप्तक और फिर अष्टक। किन्तु संपुट निकाय में इन्हीं वर्गों का इतना कमिक संकेत नहीं है, यहाँ तक कि अष्टांग मार्ग का स्थान अस्तित्व न होकर गहला है। इससे सूचित होता है कि कदाचित् महापरिनिर्वाण-सूत्र में बोधिपाक्षिक धर्मों का उल्लेख अपेक्षया परवर्ती है जबकि उनका क्रम अधिक सुक्तिपुक्त हो गया था एवं जब अष्टांग मार्ग का महत्त्व कुछ घट गया था।

प्रायः यह माना जाता है कि अष्टांग-मार्ग तत्काल की मूल देशना का अंग था। इस मत का श्रीमती राइब्रजेविट्स ने सबल विरोध किया है^{११६}। मार्ग की उपमा अवश्य ही मूल देशना में थी, किन्तु अंगुत्तर-निकाय के अष्टक-निपात से एवं दीप-निकाय के संगीत-सूत्र से अष्टांग-मार्ग का तत्कालांकित अष्टक के रूप में अनुल्लेख अभी भी सन्तोष-जमक रूप से समझाया नहीं जा सका है। यह भी स्मरणीय है कि अनेक स्थलों में मार्ग का उल्लेख बिना अष्टांगों के उल्लेख के हुआ है। वस्तुतः बोधिपाक्षिक धर्म की अन्तर्गत सूचियाँ विभिन्न दृष्टियों से मार्ग के अंगों का उल्लेख करती हैं। अष्टांग-मार्ग में ऐसी विशेषता नहीं है कि उसको शेष सूचियों से वैशिष्ट्य दिया जाय। कहीं-कहीं ब्रह्मचर्य को ७ अवस्थाएँ कही गयी हैं। कहीं दशांग मार्ग का उल्लेख है^{११७}।

१५५—सु०—श्रीमती राइब्रजेविट्स, शाक्य, पृ० १८०।

१५६—शाक्य, पृ० ८९ इत्यादि।

१५७—मज्झिम०, सुत्त, २४, १०७, अंगुत्तर० १०.१३-१६।

अष्टांग मार्ग के अन्तर्गत सम्यग्-दृष्टि का अर्थ उसके प्राथमिक अर्थ से भिन्न है। बौद्ध साहित्य में दृष्टि शब्द का उपयोग अक्सर भिन्ना धारणाओं के लिए किया जाता है। सम्यग्-दृष्टि को प्रायः चार आर्यसत्तों का ज्ञान बताया गया है। सम्यक्-संकल्प, सम्यग्वाक्, एवं सम्यक्कर्मन्त—ये उपनिषदों में विदित मन, वाणी और शरीर के कर्म हैं। सम्यक्-संकल्प को निष्काम-संकल्प, अव्यापाद-संकल्प एवं अविहिंसा-संकल्प कहा गया है। अर्थात् रागद्वेष-वर्जित संकल्प ही सम्यक्-संकल्प है। भूषावाद, पैशुन्य, प्रक्षयता, सम्प्रलाप—इनसे विरति सम्यग्वाक् है। प्राणातिपात, अदत्तादान, एवं कामगतभिष्याहार से विरति सम्यक्कर्मन्त है। सम्यग्-जानीव का ब्रह्मजाल-भूव में विस्तृत वर्णन किया गया है। सम्यग्-व्यापाम, सम्यक्-स्मृति एवं सम्यक्-समाधि प्रकारान्तर से सम्बोध्यमों, इन्द्रियों एवं बलों में भी गिने गये हैं।

व्यापाम, वीर्य, पराक्रम एवं उत्थान—इनका प्राचीन सङ्घर्ष में बहुत महत्त्व था। इस दिशा में सङ्घर्ष निर्घन्तों के मत के सदृश था। एक ओर, आजीवकों ने-पुरुषार्थ को निष्फल घोषित किया था। उनका कहना था कि पुरुष-पराक्रम अथवा आत्म-स्वातन्त्र्य नाम की कोई शक्ति नहीं है। सब कुछ पूर्व-कर्म से व्यवस्थित है। दूसरी ओर, उस युग में ईश्वरवाद के साथ-साथ अनुग्रहवाद की अवतारणा हुई थी। इस मत में भी व्यक्ति के पराक्रम का आध्यात्मिक आकिर्ण्य निश्चित था। इन दोनों प्रकारों के निपटिवाद का जैनों में और बौद्धों में तिरस्कार मिलता है। इनमें परस्पर भेद पहिले तो इस पर आश्रित था कि जैनों के लिए किया अथवा पुरुषार्थ कठोर तपोक्रम होना चाहिए जबकि बुद्ध भगवान् ने मध्यमा प्रतिपद का उपदेश किया था, और दूसरे इस पर कि बौद्धों में ज्ञान के लिए किया परिकर्म एवं पुर्वांग मात्र है। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि सम्यक्प्रधान से भी वही प्रायः वही अभिप्राय है जो सम्मग्यापाम से।

सम्यक्-प्रधान में अकुशल-धर्मों से संवर और उनका प्रहाण एवं कुशल धर्मों की भावना और उनका अनुरक्षण उपदिष्ट है। यह कहा गया है कि प्रधान शील पर आश्रित है, संयोजनों को नाष्ट करता है और निर्वाण तक ले जाता है।

पाँच इन्द्रियाँ और पाँच बल दोनों एक ही हैं। वस्तुतः इन्द्रिय शब्द का भी मूल अर्थ बल ही है। ये पाँच हैं—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि एवं प्रज्ञा। कुछ स्थलों में इन पाँच के स्थान पर केवल चार अथवा तीन का ही उल्लेख है^{१५}। कुछ अन्य स्थलों पर पाँच

बलों की सूची प्रकारान्तर से दी हुई है, यथा स्मृति, ह्रीं, अप्रमाद्य, धीर्ध और प्रज्ञा^{१५१}। स्थानान्तर में इन पाँच के साथ अद्वा और समाधि जोड़कर सात बल हो गये हैं^{१५२}। इन्द्रिय शब्द का निकाशों में नाना अर्थों में प्रयोग किया गया है। बल और इन्द्रियाँ उपश्रम और सम्बोधि की ओर ले जाती हैं तथा अनुश्रम और संयोजनों का क्षम करती हैं। योगदर्शन में भी इन पाँच का सम्प्रज्ञात-समाधि के प्रसंग में उल्लेख है^{१५३}।

तथागत ने अपने धर्म को प्रत्यात्मवेदनीय बताया था एवं उन सब मतों का निराकरण किया था जो कि केवल अद्वा, शक्ति, अनुश्रव, आकार, परिवर्तक एवं दृष्टि-निष्पन्नशान्ति पर आश्रित हैं^{१५४}। उन्होंने ब्राह्मणों और निग्रन्थों की अन्ध-अद्वा तथा परम्परावादिता का सम्बन्ध किया और अपने धर्म को "संवेदितको, अकालिको, एहि-परिसको, ओपनयिको, पञ्चत्तं, वेदितव्यो, विञ्जुहि धोषित किया^{१५५}। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सद्धर्म में जिस अद्वा का महत्त्व और शक्ति स्थापित की गयी है वह अद्वा अन्ध-अद्वा न होकर दर्शन-मूलिका अद्वा है। ऐसी अद्वा ही मनुष्य का सनातन सहारा है। यह स्मरणीय है कि योगसूत्र (१.२०) के व्यास-भाष्य में अद्वा की परिभाषा की गयी है चित्त का सम्प्रसाद। इस सम्प्रसाद को वाचस्पति मिश्र ने अभिरुचि तथा अतीच्छा कहा है एवं वातिककार का कहना है सम्प्रसाद का अर्थ है, 'प्रीति, यह इच्छा कि 'मेरा योग सफल हो'। ऐसे ही अर्थ को बुद्धिस्थ रखकर उद्गम में कहा है—'अद्वा-करके में घर से बेघर हुआ हूँ'। इस प्रकार अद्वा का अर्थ आध्यात्मिक उपायों में भरोसा और उत्साह है, न कि मत-विशेष में सुनने मात्र से युक्ति-निरपेक्ष आप्रह अपवा अभि-निवेश। अद्वा होने पर भीयं जघषा साधन में अथक पुरुषार्थ सम्भव होता है। श्रुति में कहा है 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः...'। साधन का निरन्तर और दीर्घकालीन अभ्यास बिना परिश्रम और पराक्रम के सम्भव नहीं है। आलस्य, अवसाद, मन्दता, आवि से भीयं ही बचा सकता है। योगशास्त्र में कहा है 'तीव्र संविगानामासन्नः'। समाधि की प्राप्ति अभोप्ता और प्रयत्न की तीव्रता पर निर्भर है।

१५१-अंगुत्तर० रो० जि० ३, पृ० १०।

१५०-अंगुत्तर० रो०, जि० ४, पृ० ३।

१५१-योगसूत्र, "अद्वाधोर्वस्मृतिसमाधि-श्रद्धापूर्वक इतरेषाम्।" (१.२०)।

१५२-मज्झिम० रो०, जि० २, पृ० २१८, २३४ इत्यादि।

१५३-उता०, बीष० रो० २.२२२ इत्यादि।

स्मृति—स्मृति का महत्व इससे स्पष्ट है कि बौद्धिपाक्षिक-धर्मों की बात भूचियों में से पाँच में उसका उल्लेख है और एक केवल उसी का विस्तार है। स्मृति शब्द अपने प्रचलित अर्थ में चित्त के सुविधित धर्म-विशेष का संकेत करता है। चित्त का यह स्वभाव है कि वह अनुभव के व्यतीत होने पर भी उसकी निशानी या संस्कार का संरक्षण करता है एवं अनुभूत अर्थ का संस्कार के द्वारा फिर से ज्ञान स्मरण कहलाता है। आध्यात्मिक साधन के प्रसंग में श्वेत विषय का निरन्तर स्मरण ही स्मृति शब्द से सूचित होता है। योगदर्शन के “अष्टावीर्ये-स्मृति-समाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्” इस सूत्र की व्याख्या में भाव्यकार ने कहा है कि स्मृत्युपस्थान सिद्ध होने पर चित्त समाहित हो जाता है। तत्त्ववैशारदी, भातजलरस्य एवं योगवातिक में स्मृति शब्द का अर्थ यहाँ ज्ञान किया है क्योंकि वही समाधि का साक्षात् द्वार है। ‘कायमता स्मृति’ अथवा ‘अनापान-स्मृति’ के पर्यालोचन से स्पष्ट है कि यहाँ अर्थ बौद्धों का भी अभिप्रेत है। धतुर्वे-ज्ञान के वर्णन में स्मृतिपरिशुद्धि की उपलब्धि कही गयी है। निरन्तर स्मृति का महत्व उपनिषदों में विरहित है। छान्दोग्य (७.२६.२) में कहा गया है “आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धा अथा स्मृतिः स्मृतिलभ्ये सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः”। अप्रमाद का उपदेश भी इस प्रसंग में स्मरणीय है, यथा ‘तामभारमा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्—’ “अप्रमत्तेन वेदव्यं—”। सबमें में अप्रमाद पर बार-बार जोर दिया गया है। तत्त्व-गत के अन्तिम शब्द यही कहे गये हैं—“अप्रमाद से सम्पन्न करना—”। सामान्यतः चित्त मोह एवं मिथ्ये में गड़ा रहता है। उसे समाहित करने के लिए यह आवश्यक है कि उसे प्रयत्नपूर्वक स्मृतिसाधन के द्वारा प्रत्यक्ष-जागरूक एवं एकाग्रभूमिक बनाया जाय। स्मृति की अनिवार्यता घोषित करने के लिए उसे “एकाग्रन मार्ग” कहा गया है। स्मृति का अभ्यास निरन्तर आध्यात्मिक जागरूकता का अभ्यास है। स्मृति चित्त को असत्तत्त्वक और असत्यचार से बचाती है। अतएव उसे चित्त का ‘आरक्षक’ अथवा ‘वैचारिक’ कहा गया है।

१६४—“आहार शुद्ध होने पर चित्त शुद्ध होता है, चित्त शुद्ध होने पर निरन्तर स्मृति होती है, स्मृति प्राप्त होने पर सब धनिय्यां सुल जाती हैं।”

१६५—सुष्ठक० २.२.४ “यह आत्मा बलहीन से लभ्य नहीं है, और न प्रमाद से (लभ्य है)।”

१६६—सुष्ठक० २. २.४, “अप्रमत्त होकर वेध करता चाहिए।”

निकायों में स्मृति-साधन के अनेक प्रकार निर्दिष्ट हैं^{१५५}। उनमें कायगता स्मृति, आनापान स्मृति, एवं चार स्मृति-प्रस्थान मुख्य हैं। कायगता स्मृति शरीर के ध्यान का ही नाम है। शरीर के अंग-प्रत्यंगों के रंग, आकार, स्थिति आदि का एक निश्चित क्रम में निरन्तर चिन्तन करने से काय-स्मृति उपस्थित होती है। इस स्मृति के सिद्ध होने से अपने एवं औरों के शरीर निरे हाड़-मांस के पुतले प्रतीत होते हैं तथा कामिक जीवन की ओर विच्युता उत्पन्न होती है। आनापान-स्मृति में सांस पर ध्यान दिया जाता है। जितना महत्त्व योग-में प्राणायाम का है उतना ही बौद्ध साधन में आनापान-स्मृति का। वस्तुतः यह स्मृति एक प्रकार का बौद्ध प्राणायाम ही है। जहाँ प्राणायाम में सांस का प्रयत्नपूर्वक नियमन और निरोध किया जाता है, आनापान स्मृति में केवल सांस की गति को निरन्तर लक्ष्य किया जाता है। किन्तु इस प्रकार सांस की ओर ध्यान देने से उपायी गति सुख और सुखमत्तर होते हुए प्रकर्ष में निरुद्धवत् हो जाती है। यह अवस्था केवल-कुम्भक की अवस्था से तुलनीय है। आनापान-स्मृति की प्रक्रिया अजपा-जाप की विधि से भी सापेक्ष रहती है, किन्तु उसमें किसी प्रकार के मन्त्र मन्त्रवा माप के अनु-सन्धान का कहीं उल्लेख प्राप्त नहीं होता।

चार स्मृति-प्रस्थानों में पहला कायानुपस्थाना है, दूसरा वेदनानुपस्थाना, तीसरा चित्तानुपस्थाना और चौथा धर्मानुपस्थाना। कायानुपस्थाना में कामिक धर्मों का यथा-स्थित अनुसन्धान विहित है। वेदनानुपस्थाना में सुख-दुःख आदि वेदनाओं का प्रचार्य बोध किया जाता है। चित्तानुपस्थाना-समस्त-चित्त-विषयक जागरूकता है। धर्मानु-पस्थाना नीवरण, स्कन्ध, आधतन, संयोजन, बोध्यग एवं चार आर्यसत्तों के बोध और स्मरण से सम्पन्न होती है। संक्षेप में स्मृति का साधन 'तन, मन, पवन' की गतिस्थिति के अनुसन्धान के द्वारा किया जाता है।

बोध्यगों को सम्बोधि के उपयोगी तत्त्व माना जाता है और प्रायः वे सात गिनाये गये हैं—स्मृति, धर्मे-विचय, बीधे, प्रीति, प्रशम्भि, समाधि एवं उपेक्षा। नीवरणों के प्रातिकार के लिए बोध्यगों का विशेष रूप से उपदेश मिलता है। कामच्छन्द, अभिध्या-व्यापाद, स्थापन-भूद, औद्धत्य-कौकृत्य, एवं विचिकित्सा, ये पाँच नीवरण हैं^{१५६}। चित्त को अभिभूत कर ये नीवरण उसे समाधि के अनुपयोगी न बना दें, इसलिए बोध्यगों की

१५७-मज्झिम०—सतिपट्ठानसुत्त; शीघ्र० महासतिपट्ठान०; संमुत्त० सति-पट्ठानसंयुत्त० प्रमृति स्वर्णों पर।

१५८-अर्थात् राग, द्वेष, आलस्य, उद्धतता, एवं संशय।

समापसर भावना करती चाहिए। स्मृति-ग्रन्थानों से बोध्यग समर्पित होते हैं एवं स्वा विद्या-विमुक्ति को समर्पित करते हैं^{११५}।

ऋद्धिपादों को ऋद्धि के अनुकूल साधन समझा जा सकता है। ऋद्धिपाद चार बताये गये हैं^{११६}।—छन्दसमाधिप्रधानसंस्कार-समन्वागत-ऋद्धिपाद, वीर्यं, चित्तं, एवं मीमांसा०। इनका स्पष्ट वर्णन प्राप्त नहीं होता। इस प्रसंग में स्मरणीय है कि तत्वागत ने चमत्कार अथवा प्रातिहार्य के तीन प्रकार बताये थे—ऋद्धि-प्रातिहार्य, आदेशना-प्रातिहार्य, एवं अनुशासन-प्रातिहार्य। ये सभी मनुष्योत्तर धर्म हैं, किन्तु इनमें पहले दो मानवारी विद्या अथवा मणिका विद्या से भी प्राप्त हो सकते हैं। ऐसे जादू के चमत्कार को भगवान् बुद्ध ने हेम बताया। उनके मत में धर्माचरण से लब्ध आध्यात्मिक विशुद्धि और प्रगति ही वास्तविक चमत्कार है^{११७}।

बोधिपाक्षिक धर्मों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि बुद्धोपदिष्ट मार्ग में संयम, पुण्यार्थ, आगमकता एवं एकाग्रता का अत्यधिक महत्त्व था। तत्वागत ने शील-व्रत-परामर्श का साधन किया। वे कठोर बाहरी आचार के नियमों को महत्त्व नहीं देते थे। जिन शीलों का उन्होंने उपदेश किया वे आपाततः वर्जनात्मक होते हुए भी वस्तुतः भावनात्मक हैं। संसारी एवं साधक-गण स्वभावतः अतिमानता की ओर प्रवण होते हैं। अतएव बुद्ध ने सुख-भोग और धार-तप, दोनों के मध्यवर्ती मार्ग का उपदेश किया।

प्रश्नोपनिषद् (१.१५-१६) में कहा है—‘तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तेषां ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥ तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं तमाया चेति^{११८}। मुण्डक के अनुसार ‘सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येव आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण मिश्रम्^{११९}। छान्दोग्य में कहा गया है—‘ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्टात्मानमनुविन्दते^{१२०}। ज्ञान के लिए सत्य और ब्रह्मचर्य की आवश्यकता बौद्धों में पूरी स्वीकृत है। अन्यत्र देवताओं, मनुष्यों

१६९-संयुत० रो०, ५.३२९ इत्यादि।

१७०-इ०—वीर्यं जनवसमसुतन्त; संयुत० रो० जि० ५, पृ० २६८ प्र०।

१७१-सु०—विमुद्धमगो, पृ० २६२ प्र०।

१७२—‘उन्हीं का यह निर्मल ब्रह्मलोक है जो तपस्वी, ब्रह्मचारी एवं सत्यनिष्ठ हैं।

यह ब्रह्मलोक उनका नहीं है जिनमें कुटिलता, झूठ या बंधना है।’

१७३—‘यह आत्मा सत्य से सम्य है, तप से, सम्यग्ज्ञान से, नित्य ब्रह्मचर्य से’ (मुण्डक ३.१.५)।

१७४—‘ब्रह्मचर्य से ही अनीष्ट आत्मा को प्राप्त करता है।’ (छा० ८.५.१)।

एवं अमुरों को क्रमशः दम, दान एवं दया का उपदेश दिया गया है^{१०५}। सद्धर्म में दम अथवा संयम सबके लिए आवश्यक है, दान उपासकों के लिए महत्त्वपूर्ण है एवं दया—“धर्म का मूल है”। वैदिक धर्म एवं सद्धर्म के शील-विधान में अनिवार्य सादृश्य होते हुए भी अंगतारतम्य का भेद है।

अहिंसा—अहिंसा, मैत्री, करुणा, सहानुभूति एवं सहिष्णुता का बौद्ध शील में मूर्धन्य स्थान है। शतपथ ब्राह्मण में ब्राह्मण को सबका मित्र तथा अहिंसक कहा गया है^{१०६}। दीक्षित को अक्रोध बताया गया है, एवं उत्तर-वैदिक-साहित्य में याज्ञिक हिंसा के प्रति कहीं-कहीं आपत्ति प्रकट होती है। इस प्रवृत्ति का बौद्ध साहित्य में प्रचुर विकास देखा जा सकता है और इस विकास का कारण संसारवाद एवं कर्मवाद का प्रचार माना जाना चाहिए। यह मानने पर कि एक ही जीव-सत्ता कर्म-भेद से नाना योनियों में जन्म पाती है, समस्त ब्रह्माण्ड के प्राणियों का आध्यात्मिक सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। लोक-जीवन हिंसा के विकट और जटिल जाल में फँसा है। बिना उस जाल को काटे निवृत्ति-मार्ग में गति सम्भव नहीं है। योगभाष्यकार ने कहा है कि शेष सब नियम अहिंसा को विशुद्ध करने के लिए ही स्वीकार किये जाते हैं। उन्होंने इस प्रसंग में एक प्राचीन उद्धरण दिया है जो उल्लेखनीय है—“स सत्त्वमं ब्राह्मणो यथा-यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा-तथा प्रमाद-कृतेभ्यो हिंसानिदानेन्यस्तामेवावदात्तक्यामहिंसां करोति”^{१०७}। वार्तिककार ने मोक्षधर्म से प्रासंगिक उद्धरण दिया है—

“यथा नागपदेऽन्यानि पदानि पदगामितान् ।
सर्वाण्येवापिधीयन्ते पदजातानि कौञ्जरे ॥
एवं सर्वमहिंसायां धर्माधेमपिधीयते”^{१०८} ॥”

इसी कारण निर्ग्रन्थ मत में हिंसा का सर्वथा वर्जन उपदिष्ट है। सद्धर्म में कर्म को मूलतः मानसिक माना है और अतएव निर्ग्रन्थों से भेद है। बौद्ध अहिंसा न केवल पशु-

१७५—बृ० उप०, ५.२ ।

१७६—शतपथ० जि० १, पृ० २७९ ।

१७७—“जैसे-जैसे ब्राह्मण बहुत-से वृत्तों को स्वीकार करना चाहता है, वैसे-वैसे वह प्रमादकृत हिंसामूलक (बोझों) से अहिंसा को ही विशुद्ध करता है।” (पृ० २७८) ।

१७८—“जैसे हस्तिपद में अन्य जन्तुओं के पद घिसीन हो जाते हैं, ऐसे ही अहिंसा में सब धर्म लीन हो जाते हैं।”

हिता अथवा पर-वीजन की वजहों से, भगिनु शान्ति, मैत्री एवं सहानुभूति की भावना है। दूसरे से घोर क्लेश पाने पर भी अप्रतिकार और सहिष्णुता के आदर्शों की मज्जिम-निकाय के 'ककुप्पमोखाय' में प्रसिद्ध अभिव्यक्ति उपलब्ध होती है। मैत्री की भावना का अनेक सूत्रों में गुणमान प्राप्त होता है। इस प्रसंग में चार ब्रह्म-विहारों का साधन विशेष रूप से उल्लेखनीय है^१। यह कहा गया है कि ब्रह्म-विहारों का अभ्यास बौद्धेतर सम्प्रदायों में पहले से विदित था और उन्हीं से बौद्धों ने उसे सीखा। यह सम्भव है। कम-से-कम परवर्ती-काल में योगसूत्रों में ब्रह्म-विहारों का चित्तप्रसादन के लिए उपदेश पाया जाता है। मैत्रीभावना पहला ब्रह्मविहार था। अन्य व्यक्तियों की आत्मोन्नति का स्मरण करते से मैत्री का भाव उत्पन्न होता है और 'बे सुखी रहें, दुःख न पायें, उनका कल्याण हो', इस प्रकार की इच्छा में साकार होता है। अधिकाधिक व्यक्तियों एवं वर्गों की ओर इस भावना को प्रसारित करना चाहिए। पर-दुःख के स्मरण से कठुणा का भाव उत्पन्न होता है, पर-सुख के स्मरण से मुदितता का, एवं सर्वत्र कार्यकारण-निगम के अन्वयाहत व्यापार के स्मरण से उपेक्षा के भाव का जन्म होता है। पहले तीनों भाव सहानुभूति के विभिन्न रूप हैं और ध्यान के द्वारा उनकी मुद्रि ही पहले तीन ब्रह्म-विहार हैं। चौथे ब्रह्म-विहार में दार्शनिक उपासीनता अथवा मम्मस्यता का अभ्यास किया जाता है। योगशास्त्र में उपेक्षा का विषय दूसरों के अपुण्य कृत्यों से है और इस कारण इस ब्रह्म-विहार का कुछ भिन्न प्रकार से प्रतिपादन किया गया है। ब्रह्म-विहार चित्त-मुद्रि के उत्तम उपाय हैं और साथ ही वे आदर्श सामाजिक भावनाओं को प्रस्तुत करते हैं। मैत्री जादि चित्त की उत्कृष्ट अवस्थाएँ हैं। जहाँ से एक-और आध्यात्मिक प्रसाद समर्पित करती हैं दूसरी ओर सामाजिक हित-सुख का भी इनमें साधन होता है। मैत्री का राग से विभेक करना चाहिए। दोनों ही अपने विषयों में मृग-दर्शी होते हैं, किन्तु मैत्री में परार्थता का प्राधान्य होता है, राग में स्वार्थ का। कल्ला को शोक से बचाना आवश्यक है। कथमा दूसरे के दुःख को हटाती है, शोक अपने को भी दुःख में निमग्न करता है। मुदितता लौकिक सौमनस्य से भिन्न है और ईर्ष्या का निरोध करती है। उपेक्षा मृग-दुःख की अनिवार्यता एवं संमस्त लौकिक अनुभवों की परतन्मता दिखती हुई खीरता और निर्विकारता में पर्यवसित होती है।

ध्यान—उपागत की देशना में ध्यान ही मार्ग का प्रधान अंग था। ध्यान के द्वारा ही बौद्ध सत्त्व ने सम्बोधि का लाभ किया था। वचन से ही वे ध्यानप्रवण थे और

उनको बराबर ध्यायी, ध्यानशीली, प्रतिसंलग्न-परावण, एवं ध्यानोपदेशी बताया गया है। यहाँ तक कि बौद्धों का ध्यानरत होना एक उपहास का विषय बन जाता था। एक स्थल पर मार के द्वारा समझाया कहा पाया जाता है— 'जैसे नदी के किनारे सिपार मछलियों को खोजता हुआ ध्यान करता है, प्रध्यान करता है, निध्यान करता है, अप-ध्यान करता है, ऐसे ही मूढ़क, अमण, इम्य, कुण्य, यम्पुपादापत्य यह कहते हुए कि "हम ध्यायी हैं" कल्पे झुकाये, मुँह नीचा किये, जैसे नये में हों, ध्यान करते हैं, प्रध्यान करते हैं, निध्यान करते हैं, अपध्यान करते हैं^{१८०}।' एक निर्वन्ध सन्दर्भ में भी कहा गया है कि "कुछ ऐसा ध्यान करते हैं जैसे सारस मछलियों के लिए^{१८१}।" यहाँ पर कदाचित् शाक्यपुरुषों की ओर निर्देश है। एक स्थान पर देवेन्द्र शाक के द्वारा पंचसिद्ध से कहा गया है 'तथा पंचसिद्ध, मूज जैसे के लिए ध्यायी, ध्यानरत, प्रतिसंलीन तथागतदुरुपसंक्रमं हूँ^{१८२}।' अनेक सूत्रों के अन्त में यह प्रशंसा पायी जाती है कि 'भिक्षुओ, ये बृद्ध-मूल हैं, ये शून्यागार हैं, ध्यान करो, प्रवाद मत करो, पीछे पश्चात्ताप न करना। यही हमारा अनुशासन है^{१८३}। ध्यान का बलों, इन्द्रियों और सम्बोधनों में प्रमुख स्थान है। तथागत के अनेक शिष्यों की ध्यानकुशलता की प्रशंसा की गयी है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बृद्ध भगवान् और उनके अनुयायी ध्यान को ही सम्बोधि का प्रधान उपाय मानते थे और उसका अभ्यास करते थे। अन्यत्र अतिरिक्त न होते हुए भी ध्यान का बौद्धों में अपेक्षाकृत प्रचार अत्यधिक था।

उपनिषदों में ध्यान का उल्लेख पाया जाता है। छान्दोग्य (७. ६. १) में पृथिवी, अन्तरिक्ष, आकाश, जल, पर्वत, देव, मनुष्य, सब को ध्यान करते हुए—से बताया गया है। बृहदारण्यक (२. ४. ५) में कहा गया है कि आत्मा द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य एवं निदि-ध्यासितव्य है। कठोपनिषद् (२. ४. १) में कहा गया है कि अन्तरात्मा के दर्शन के लिए इन्द्रियों का प्रत्याहार आवश्यक है। सूक्ष्म और एकाग्र बुद्धि से निर्गुद आत्मा का ज्ञान होता है। बाणी का मन में, मन का ज्ञानात्मा में, ज्ञानात्मा का महान्-आत्मा में एवं महान्-आत्मा का शान्त आत्मा में लय करना चाहिए^{१८४}। इस प्रकार उस परम,

१८०—मज्झिम० रो० जि० १, पृ० ३३४।

१८१—सुद्धगङ्ग, १, ११, २७।

१८२—दीप० मा० जि० २, पृ० १९८।

१८३—मथा, संयुक्त० रो० ४. ३५९ प्र०।

१८४—कठ० १. ३. १२-१३।

अद्वय-पुरुष-तत्त्व का दर्शन सम्भव है। "जब पाँचों इन्द्रियों के ज्ञान मन के साथ अवस्थित हो जाते हैं और बुद्धि त्रिषेष्ठाहीन हो जाती है, उसको परम गति कहते हैं। उस स्थिर इन्द्रिय धारण को योग कहते हैं। उस समय प्रमाद हट जाता है"^{१८}। मुण्डकोपनिषद् (२. २.) में कहा गया है कि पुण्य बुद्धि अथवा गुहा में निहित है। उसके ज्ञान के लिए भावगत चित्त से प्रणवरूप धनु को खींचकर उपासना के द्वारा निश्चित आत्म-रूप धार का ब्रह्मरूप लक्ष्य में अप्रमत्त ध्यान करना चाहिए। अन्यत्र कहा गया है कि आत्मा को प्रणवरूप ध्यान करना चाहिए और इस प्रकार उसके ज्ञान से हृदय-गंधि छिन्न हो जाती है एवं कर्म क्षीण हो जाते हैं। आत्मा अन्तस्थित ज्योति है जिसका दर्शन सच्च-शुद्धि होने पर ज्ञान के प्रसाद से एवं निष्कल ध्यान से होता है। श्वेताश्वतर (१. ३, २. ८-१५) में ध्यान योग का अधिक विस्तृत वर्णन है। यहाँ कहा गया है कि ध्यानयोग के अनुगत होकर अपने गुणों से निगूढ़ देवात्म-शक्ति का ब्रह्मवादिषों ने दर्शन किया। धर और अक्षर के निमन्ता एकमात्र देव के अभिध्यान से, योग से, तादात्म्य से माया-निवृत्ति होती है। अपने शरीर को अरणि समझकर एवं प्रणव को उत्तरारणि समझकर ध्यान के निमंवन के अभ्यास के द्वारा निगूढ़वत् देव का दर्शन करें। इसी उपनिषद् में अन्यत्र कहा गया है कि शरीर को सम एवं त्रिधा उन्नत स्थापित करके एवं हृदय, मन तथा इन्द्रियों का निरोध करके, प्राणायाम के अभ्यास से आत्म-तत्त्व को जानना चाहिए। योग में प्रकट होनेवाली ज्योतिःप्रभृति का उल्लेख यहाँ किया गया है। यह भी कहा गया है कि पंचतत्त्वात्मक योगगुणा के प्रवृत्त होने पर एवं योगाग्निमय शरीर के प्राप्त होने पर न रोग होता है, न जरा, न मृत्यु।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि कुछ उपनिषदों में ध्यान एवं योग का पर्याप्त परिचय उपलब्ध है। बाह्य विषयों से मन को हटाकर ज्योतिर्मय प्रत्यगात्मतत्त्व का ध्यान ही उपनिषदों में अनिप्रेत ध्यान है। अक्सर प्रणव को सहायक प्रतीक के रूप में लिया गया है एवं हृदयप्रदेश में प्राण और मन की निश्चल धारणा का उपदेश किया गया है। सद्धर्म में उपदिष्ट ध्यान को आत्मध्यान नहीं कहा जा सकता और न प्रणव का उसमें कोई स्थान है। वस्तुतः किसी भी प्रकार के मन्त्र का इस ध्यान की प्रक्रिया में उपदेश नहीं प्राप्त होता। प्राण-सम्बन्धी साधन का स्मृति-साधन के अन्तर्गत उपदेश होते हुए भी मन्त्र के साथ उसका साक्षात् सम्बन्ध स्थापित नहीं किया गया है।

तथागत ने सब प्रकार के ध्यानों की प्रशंसा नहीं की थी। विशेषतः नीवरणमुक्त चित्त को उन्होंने ध्यान का अनधिकारी बताया है। प्रायः ध्यान-वस्तुषट्थ को सराहा गया है^{१८६}। ध्यान समाधि का पूर्वपंग है। समाधि को शान्त-निमित्त, अव्यग्र-निमित्त कहा गया है। सब धर्मों में समाधि प्रमुख है। बुद्धधर्म ने समाधि को कुशलचित्त की एकाग्रता कहा है^{१८७}। इस प्रसंग में प्रणिधान शब्द भी विचारणीय है। एक परवर्ती ब्राह्मण व्याख्याकार^{१८८} ने कहा है कि ध्यान दो प्रकार का है—भावना एवं प्रणिधान। इनमें पहला सिद्ध अथवा कल्पित विषय को अधिकृत करके प्रवृत्त होता है, वस्तुतत्त्व की आवश्यक रूप से अपेक्षा नहीं करता। प्रणिधान में वास्तविक विषय की अपेक्षा रहती है। इस प्रकार का भेद निकायों में प्राप्त नहीं होता, किन्तु प्रणिधान एवं भावना दोनों ही शब्दों का प्रयोग मिलता है। समाधि की भावना अनेक प्रयोजनों के लिए की जा सकती है : दुष्टधर्म मुक्त-विहार के लिए, ज्ञान-दर्शन—प्रतिलाभ के लिए, स्मृति-संग्रह के लिए, एवं आश्रयस्थ के लिए। अन्य सम्प्रदायों में इनके अतिरिक्त ध्यान का देव-लोक प्राप्ति के लिए अथवा सिद्धियों के लिए भी उपयोग विदित था। ऊपर कहा जा चुका है कि उपनिषदों में प्रत्यक्षात् ही ध्यान का मुख्य प्रयोजन था। तथागत ने स्वयं ध्यान के द्वारा तीन विचारों एवं सम्बोधि का लाभ किया। यह स्पष्ट है कि ध्यान लौकिक अथवा लोकोत्तर विषयों और प्रयोजनों से प्रवृत्त हो सकता है। तीन भूमियों में कुशल चित्त की एकाग्रता लौकिक समाधि है। आर्य-मार्ग से संग्रमुक्त एकाग्रता लोकोत्तर समाधि है। प्रज्ञा के भावित होने से लोकोत्तर समाधि भावित होती है। तथागत ने जिस ध्यान का उपदेश किया वह लोकोत्तर समाधि का ही द्वार था। इस ध्यान का प्रयोजन नित्य शान्ति का लाभ एवं इसका प्रारम्भ अनित्यादि लक्षणों के विचार तथा भावना में है।

चित्त का स्वभाव विशुद्ध एवं भास्वर है, किन्तु वह आगन्तुक मल से आवृत है। इन आगन्तुक मलों को उपक्लेश एवं नीवरण कहा गया है। उपक्लेशों एवं नीवरणों के हटाने से चित्त मुदु, कर्मण्य और प्रभास्वर हो उठता है और आश्रयस्थ के योग्य हो जाता है। ध्यान की क्रिया एक प्रकार से चित्त का परिष्कार अथवा परिशोधन है।

१८६-३० आरिजित्त आंव दुद्धिम्म, पृ० ५३३ प्र०।

१८७-विमुद्धिमग्गो, पृ० ५७।

१८८-शान्तिपर्व, १९५.१५ पर नीलकण्ठ।

इस प्रसंग में स्वर्ण के विमोक्षण का उदाहरण दिया गया है। आखिर चित्त के आन्तरा-
त्मिक-योग ही जो कि अविद्या के साथ निवृत्त होते हैं।

ध्यान की चार अवस्थाओं का मुख्यस्थित और रीतिप्रद वर्णन अनेक स्थलों पर
मिलता है^(१)। पहले ध्यान में काम एवं अकृशाल धर्मों से विविक्त होकर चित्त वितर्क,
विचार, एवं विवेकजन्य प्रीति-मुख से युक्त अनुभव में निमग्न रहता है। बुद्धयोग
में वितर्क की विचार का प्रारम्भ एवं विचार की वितर्क का अनुभवजन्य बताया है।
प्रीति के उन्होंने तीन प्रकार निर्दिष्ट किये हैं। दूसरे ध्यान में वितर्क और विचार
उपशान्त हो जाते हैं। चित्त अपने अन्दर ही सम्मत्ता एवं एकाग्रता के साथ समाधि-
जन्य प्रीति-मुख का अनुभव करता है। यह निमालजीय है कि पहले ध्यान में मुख
विवेकजन्य है, दूसरे ध्यान में समाधिजन्य। तीसरे ध्यान में प्रीति भी छूट जाती है, एवं
स्मृति और संप्रजन्य से युक्त शरीर से सुख का प्रतिसम्बेदन होता है। तीसरे ध्यान में
पहुँच कर स्वाधी उपेक्षक, स्मृतिमान् एवं सुख-विहारी कहा जाता है। चौथे ध्यान में
सुख भी छूट जाता है। इस प्रकार सुख और दुःख, सीमनस्य एवं दीर्घनस्य के अस्त हो
जाने से सुख-दुःख-विर्जात उपेक्षानयी स्मृति-विरमुद्धि का चतुर्थ ध्यान में लाभ होता
है। इस स्थिति में साधक परितुष्ट, पर्यवसात, अनंगम, विसतोषकलेश, मुदुभूत, कर्मण्य,
आनेज्ज-प्राप्त हो जाता है। चतुर्थ ध्यान में चित्त के आनेज्ज अपवा निरचलता का
बहुव वर्णन है।

इन चार ध्यानों का शान्तिपर्व (अध्याय १९५) में भी उल्लेख मिलता है।
वहाँ यह कहा गया है कि इस चतुर्विध ध्यानयोग से योगी निर्वाण प्राप्त करता है।
सौमसूची (१: १७) में भी सम्प्रज्ञात-समाधि का एक सदा चतुर्धा विभाजन देखा जाता है
जो कि स्पष्टतर है। इससे प्रतीत होता है कि वितर्क और विचार की व्याख्या कदाचित्
बुद्धयोग ने ठीक नहीं की है और प्रीति-मुख करण-गत सारिषक सुख है। ऐसे ही
परवर्ती जैन ग्रन्थों में भी ध्यान के भेद वर्णित हैं। अभिषमके ग्रन्थों में चार ध्यानों की
पाँच ध्यान कर दिया गया है।

यह स्पष्ट है कि ध्यान कल्याण-प्रवण स्वप्निल अवस्था नहीं है, अगिणु ध्यान में
चित्त सर्वथा निस्तन्द्र एवं आसक्त रहता है। दूसरी ओर ध्यान विचार अपवा चिन्तन
भी नहीं है। वस्तुतः चिन्तन एवं संवेदन का निरोध ध्यान का धर्म है। ध्यान में चित्त
निरचल एवं उज्ज्वल हो उठता है। जैसे विशुद्ध दर्पण में अथवा स्फिर एवं विमल जल में

पदार्थे यथामत प्रतिबिम्बित होते हैं, ऐसे ही ध्यान के द्वारा समाहित चित्त में परमात्म का बोध स्वतः उत्पन्न होता है। समाहित चित्त में धर्म प्रादुर्भूत होता है^{१०}। स्थिर सुदृढ चित्त में ज्ञान का उदय अनेक प्राचीन दर्शनों में विशेषतः योगदर्शन में अभ्युपेत है।

अनेक स्थलों में ध्यान-चतुष्टय की रूपलोक में ही सीमित माना गया है। उनके पहले कामलोक मानव चेतना की औसत अवस्था है एवं उनके अनन्तर अरुणलोक-विषयक अनेक अल्प-ध्यान। इस क्रम में ध्यान-चतुष्टय निर्वाण का मार्ग नहीं रह जाता, क्योंकि निर्वाण रूप और अरुण दोनों के परे है। ऐसा प्रतीत होता है कि पहले ध्यान-चतुष्टय सम्बोधि का उपयोगी समझा जाता था, किन्तु पीछे उसको एक भिन्न व्याख्या भी प्रस्तुत हुई। कुछ स्थलों में निर्वाण और निरोध-समापत्ति को प्रायः एक समझा गया है। इस दृष्टि के अनुसार संज्ञा-वैधित्यनिरोध की अवस्था ही ध्यान का चरम विकास समझा जाता चाहिए। निरोध-समापत्ति योगदर्शन की अग्रप्रज्ञात-समाधि के समान प्रतीत होती है। ध्यान और समाधि के रूप एवं अरुण धातु से संबद्ध होने के कारण यह मत भी विकसित हुआ कि जमभ भाषना का प्रयोग केवल आनुपूर्वी में संस्कार निरोध ही है। विषयवत्ता अथवा ज्ञान-मार्ग सम्बोधि एवं निर्वाण के सिद्ध आवश्यक है।

आध्यात्मिक प्रगति—आध्यात्मिक साधना के मार्ग में प्रगति की विभिन्न अवस्थाओं के लिए आख्याभेद प्राचीनतम संदर्भों में स्पष्टतः उपलब्ध नहीं होता। प्रारम्भ में कदाचित् पृथग्जन, आर्य एवं अहत् की ही चर्चा थी। विपिष्टक में अनागामी शब्द के अपारिभाषिक प्रयोग की उपलब्धि इसे प्रमाणित करती है कि मार्ग-चतुष्टय का सिद्धान्त सर्वथा प्राचीन नहीं है। श्रामण्यफल-सूत्र में भी मार्गों एवं मार्गफलों के चतुष्टय की चर्चा प्राप्त नहीं होती। किन्तु पृथग्जन एवं आर्य का भेद अत्यन्त प्राचीन प्रतीत होता है। मज्झिमनिकाय में पृथग्जन उग्रपुल्ल को कहा गया है जोकि अहंकार तथा ममकार के मोह में पड़ा हो। इस मोह के कारण वह अनात्म पदार्थों में आत्मब्रह्मही रहता है एवं काम, भव और अविद्या के आसकों से प्रेरित होकर कर्म करता है^{११}।

१९०-नु०—“यदाहवे मातुभवन्तिधम्मा आतापिनो आपतो ग्राह्यणस्य ।”—दे०—ऊपर।

१९१-पुग्गल-पञ्चजति में तीन संयोजनों की पृथग्जन का लक्षण माना है। तीन संयोजन हैं—सत्कायदृष्टि, विविधित्ता एवं शीलव्रत-परामर्श। अन्यत्र संयोजन दस गिनाये गये हैं। इनके अन्तर्गत तीन संयोजनों के अतिरिक्त सात प्रायः ये माने जाते हैं—कामच्छन्द, व्यापाद, कथराग, अकथराग, मान, जीदत्त एवं अविद्या।

अनुसार-निकाय एवं पुनः-पञ्चजति में पुनर्जन्म के अनन्तर मोक्ष की अवस्था भी नहीं मानी है। इन धर्मों में मोक्ष की आर्य नहीं माना है। कुछ अन्य परवर्ती धर्मों में, जैसे कि पटिसमिदासम्भ और अभिधम्मत्वसंग्रह में, मोक्ष की आर्य माना गया है। बुद्धपंग ने भी मार्ग-ज्ञान के बाद ही मोक्ष-ज्ञान माना है^{११}।

आर्यत्व अथवा स्रोत-आपत्ति का अर्थ है कि पुरुष निवृत्ति की ऐसी आध्यात्मिक धारा में पहुँच गया है जो उसे अनिकाय रूप से सम्बोधित तक ले जायेगी। इसीलिए स्रोत-आपत्ति को अविनिपात-धर्म, नियत-सम्बोधिपरायण कहा गया है।

जैसे पुनर्जन्म संसार की बाड़ में मृत्यु से मृत्यु की ओर बहते रहते हैं, ऐसे ही उनके विपरीत आर्य-गण विद्या के द्वारा विमुक्ति की ओर नियत प्रवाहित होते हैं। स्रोत-आपत्ति के लिए सात से अधिक जन्म शेष नहीं रहते^{१२}। जब केवल एक ही जन्म शेष रहता

११-आर्यत्व की प्राप्ति स्रोत-आपत्ति से होती है, किन्तु मोक्ष और स्रोत-आपत्ति के मध्य में अज्ञानकारी एवं धर्मानुसारी पुण्य माने जाते हैं। पुण्यपञ्चजति के अनुसार जिनमें अष्टेन्द्रिय का प्राधान्य है वे अज्ञानकारी हैं एवं जिनमें प्रज्ञेन्द्रिय का प्राधान्य है वे धर्मानुसारी हैं। स्रोत-आपत्ति होने पर अज्ञानकारी अज्ञानविमुक्त कहलाता है एवं धर्मानुसारी बुद्धिप्राप्त। इनमें से पहले के कुछ आर्यों का श्रेय होता है, दूसरे के अधिक।

निर्वाण की ओर जाने के लिए दो धुरियाँ हैं—अज्ञा और प्रज्ञा, तथा दो अभिनिवेश हैं—शमध और विपश्यता, एवं दो शीघ्र हैं—उन्नतोभाग-विमुक्त और प्रज्ञा-विमुक्त। इनमें प्रज्ञाधुर और शमधभिनिवेश के अनुयायी स्रोत-आपत्ति के मार्ग में धर्मानुसारी कहलाते हैं, अगली छः अवस्थाओं में काम-साक्षी, एवं अर्हत्व में उन्नतोभाग-विमुक्त। प्रज्ञाधुर एवं विपश्यता-भिनिवेश के अनुयायी स्रोत-आपत्ति-मार्ग में धर्मानुसारी कहलाते हैं, अगली छः अवस्थाओं में बुद्धि-प्राप्त एवं अर्हत्व की अवस्था में प्रज्ञा-विमुक्त। अज्ञाधुर और शमधभिनिवेश के अनुयायी स्रोत-आपत्ति-मार्ग में अज्ञानकारी कहलाते हैं, अगले छः में अज्ञा-विमुक्त एवं अर्हत्व में उन्नतोभाग विमुक्त। अज्ञाधुर और विपश्यताभिनिवेश के अधिक स्रोत-आपत्ति-मार्ग में अज्ञानकारी, अगली छः अवस्थाओं में अज्ञानविमुक्त एवं अर्हत्व में प्रज्ञा-विमुक्त कहलाते हैं।

१२-बौद्ध धर्म और संघ में दूढ़ अज्ञा, अवैद्यप्रसाद, एवं शीलवत्त्व स्रोत-आपत्ति के अंग हैं। स्रोत-आपत्ति के अंगों से मुक्त होने पर हिंसा, अवसादान, काम-

है तब वह सहदागामी कहलाता है। स्वोत्तजापत्ति एवं सहदागामी शील की परिपूर्ति करते हैं। जब इसलोक में पुनरागमन शेष नहीं रहता तब वह अनागामी की अवस्था कहलाती है। अनागामी समाधि की परिपूर्ति करता है। प्रज्ञा के द्वारा सर्वथा आत्मवशय होने पर अहंत्व की प्राप्ति होती है। प्रारम्भ में अहंत् और बुद्ध का भेद स्पष्ट नहीं था, पर पीछे न केवल यह भेद विद्यमान हुआ अपितु कुछ सम्प्रदायों में अहंत् का पर्याप्त अपकर्ष घोषित किया गया।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मुक्ति मार्ग में प्रवेष्टा और प्रसूति की अवस्थाओं का विवेचन क्रमशः सूक्ष्म और विस्तृत हुआ। पूर्वजन्म और कार्य का भेद प्राचीनतम था। पीछे इन दो के अन्तराल में 'गोचर' की स्थिति कल्पित की गयी तथा आर्यत्व के विकास में स्वोत्तजापत्ति से अहंत्व तक चार मार्ग एवं उनके अनुरूप चार फल माने गये। उनमें भावना एवं विपश्यना के तारतम्य से अवान्तरभेद भी स्वीकार किये गये। महायान में आध्यात्मिक विकास की अवस्थाओं का और भी सूक्ष्म और विस्तृत चिन्तन हुआ।

निष्पाचार, मृदावाद एवं मद्यपान से मुक्ति होती है। स्वोत्तजापत्ति के अंगों की प्राप्ति के पश्चात् प्रीति, प्रामोद, प्रसन्नविधि और समाधि की वृद्धि होनी चाहिए तथा छः विद्याभागीय धर्मों की भावना करनी चाहिए। ये छः धर्म इस प्रकार हैं—अनिरयानुपशमना, दुःख, अनात्म, ग्रहण, विराग, एवं निरोध। चार आर्यसत्यों के ज्ञान से स्वोत्तजापत्ति पूर्ण निष्पन्न होती है।

अध्याय ३

संघ का प्रारम्भिक रूप और विकास

आर्य-संघ 'अविच्छिन्न समाज'—ऊपर कहा जा चुका है कि सथागत के समय में ताना ब्राह्मण और खमण परिव्राजकगण विदित थे जिनमें अनेक अध्यात्मगवेषी कुल-पुत्र घरबारसे प्रव्रजित होकर किसी शास्त्र अथवा आचार्य के अनुशासन में ब्रह्मचर्य-वास करते थे। परिव्राजकों के ये नेता 'संधी, गणी, गणाचार्य' कहे गये हैं और इनमें से कुछ के नाम तथा मत का उल्लेख प्राप्त होता है। इन गणों के आकार की पुष्कलता इससे प्रकट है कि राजगृह के संजय परिव्राजक के २५० भेले जाताये गये हैं और गया में जटिलों की संख्या १००० कही गयी है। परिव्राजकों में कुछ व्यापक नियम और प्रचार्समान थी। विशुद्धि के प्रयास में सभी संसार-त्याग पूर्वक ब्रह्मचर्य और अपरिव्रह्म का पालन करते थे और प्रायः सभी के संगठन में उपोसथ, वर्षावास आदि की प्रचार्स विदित थी। किन्तु उनमें आहार-विहार, वेष-भूषा आदि के नियमन का विस्तर अलग-अलग गणों में अलग-अलग था। इनमें केवल आजीवकों एवं निर्ग्रन्थों के गणों में प्रचलित नियमों का कुछ विवरण मिलता है और पहले प्रस्तुत किया जा चुका है। वैदिक धर्म के अन्तर्गत ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास की जीवन-विधा भी अनुशासन-नियत थी। धर्म सूत्रों में ऐसे नियमों का संग्रह है, किन्तु उल्लेख धर्मसूत्र तथागत से पूर्वकालीन नहीं कहे जा सकते। इनके पहले वैश्वानर-शास्त्र एवं भिक्षु-सूत्र अवश्य रहे गये थे, किन्तु उनका अब ठीक पता नहीं चलता। यह स्पष्ट है कि भगवान् बुद्ध के समय में यह धारणा अविरत न थी कि संसार छोड़ने पर भी परिव्राजकों को एक संगठित समाज का अंग बन कर अपनी चर्चा सम्पादित करनी चाहिए। वस्तुतः इन परिव्राजकों की स्थिति 'विविधिया-संन्यास' के समान थी और उसमें ब्रह्मचर्य और संन्यास, दोनों के ही लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। ब्रह्मचर्य शिष्यत्वपूर्वक और संन्यास-प्रधान है, संन्यास अपरिव्रह्मात्मक। संन्यास अथवा प्रव्रज्या में कुटुम्ब और सम्पत्ति के सूक्ष्म नमस्कारमूलक सम्बन्ध का विच्छेद हो जाता है और प्रव्रजित क्लृप्त सामाजिकता के दायरे से बाहर हो जाता है। संन्यास समस्त उपाधि-त्याग का और अतएव

नैतिकता का बोधक है। ब्रह्मचर्य में गुरु-शिष्य के विश्वामूलक विद्युद् आध्यात्मिक सम्बन्ध का जन्म होता है और एक संघम तथा साधन की अवस्था का। परित्राजक अविद्याभित अशुद्ध समाज से निकल कर विद्या के विद्युद् समाज में प्रवेश करता है। इस अविलम्ब सामाजिकता का विकास एवं उसका तार्त्विक बोध सर्वाधिक माया में तथागत के द्वारा स्थापित भिक्षु-संघ में निष्पन्न हुआ।

उत्पत्ति और वृद्धि—जितम के महावाग्य से ज्ञात होता है कि सारनाथ में तथागत की धर्मदेशना सुनकर सबसे पहले कौण्डिन्य नाम के पंचवर्गीय भिक्षु ने विमल 'धर्म-चक्षु' प्राप्त कर उसके निकट प्रव्रज्या ली। कौण्डिन्य का नाम 'जाज्ञात' कौण्डिन्य रहा। इसके अनन्तर वज्र (वज्र), अद्रिक (अद्रिक), महामास और अवर्जित् नाम के अन्य पंचवर्गीय भिक्षुओं ने भी 'धर्मचक्षु' और प्रव्रज्या का लाभ किया तथा इस प्रकार आर्य-भिक्षु संघ की नींव पड़ी। वाराणसेय श्रेष्ठिपुत्र यश और उसके मित्र विमल, सुबाहु, पूर्णजित् और सवान्ति तथा अन्य पचास मित्रों के प्रव्रज्या-ग्रहण करने पर संघ में तथागत के अतिरिक्त साठ भिक्षु हो गये जो कि सब ब्रह्मचर्य में। इनको भगवान् बुद्ध ने सामा विद्याओं में जाकर प्रव्रज्या और उपसम्पदा देने की अनुमति प्रदान की। यह स्मरणीय है कि धर्म-प्रचार की ओर जितनी प्रवणता आर्य संघ में रही उतनी किमी अन्य भारत के धर्म-शासन में नहीं। वाराणसी से गया जाते हुए तथागत ने तीस भद्रवर्गीय मित्रों को शासन में प्रतिष्ठित किया और गया में १००० जटिलों को संघ में आरुह्य किया। राजगृह में मगधराज बिम्बिसार ने उनकी शरण ली और वेणुवन उद्यान भिक्षु संघ को दिया। यह स्मरणीय है कि पहला उपासक यश का पिता वाराणसेय श्रेष्ठि था। राजगृह में ही सम्प्रद परित्राजक के २५० शिष्यों ने संघ में प्रवेश किया और इनमें कौण्डिन्य और जातिथ्य भी थे जो कि मौद्गल्यायन और शारिपुत्र नाम से प्रसिद्ध हुए। इस विवरण से स्पष्ट है कि संघ की बहुत शीघ्र ही आश्चर्यजनक वृद्धि और प्रचार हुआ। जहाँ एक ओर विभिन्न वर्गों और वर्गों से अनेक कुलपुत्रों ने प्रव्रज्या-ग्रहण कर संघ में प्रवेश किया, दूसरी ओर प्रभावशाली और समृद्ध राजकुलों और श्रेष्ठियों की सहायता ने संघ की सम्पत्ति को बढ़ाया। अपने परिनिर्वाण तक बुद्ध भगवान् ने ४४ वर्ष उत्तर प्रदेश और बिहार में धर्म का उपदेश किया और वहाँ भिक्षु और भिक्षुणी, उपासक और उपासिका उनके शिष्य बने तथा आक्षयपुत्रीय कहलाये।

शास्ता और मुख्याद—तथागत के समय के अन्य परित्राजक-गणों में संघात्मक गुरु अवस्था शास्ता अपने अनन्तर यश के नेतृत्व के लिए किसी उत्तराधिकारी की नियुक्ति कर देते थे। इस प्रकार एक तरह का मुख्याद अवस्था महन्ताई उस समय के साधुओं

संघ का प्रारम्भिक रूप और विकास

आर्य-संघ 'अरिस्तुत समाज'—ऊपर कहा जा चुका है कि तथान्त के समय में नामा ब्राह्मण और श्रमण परिव्राजकगण विदित थे जिनमें अनेक अध्यात्मगवेषी कुल-पुत्र परिवार से प्रयोजित होकर किसी शास्त्र अथवा आचार्य के अनुशासन में ब्रह्मचर्य-मास करते थे। परिव्राजकों के ये नेता 'संघी, गणी, गणाचार्य' कहे गये हैं और इतमें से कुछ के नाम तथा मत का उल्लेख प्राप्त होता है। इन गणों के आकार की पुष्कलता इससे प्रकट है कि राजगृह के संजय परिव्राजक के २५० चेले बताये गये हैं और गया में जटिलों की संख्या १००० कही गयी है। परिव्राजकों में कुछ व्यापक नियम और प्रथाएँ समाप्त थीं। विशुद्धि के प्रयास में सभी संसार-त्याग पूर्वक ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन करते थे और प्रायः सभी के संगठन में उपोसथ, वर्षावास आदि की प्रथाएँ विदित थीं। किन्तु उनमें आहार-विहार, वेष-भूषा आदि के नियमन का विस्तर अलग-अलग गणों में अलग-अलग था। इतमें केवल आजीवकों एवं निर्धनो के गणों में प्रचलित नियमों का कुछ मिश्रण मिलता है और पहले प्रस्तुत किया जा चुका है। वैदिक धर्म के अन्तर्गत ब्रह्मचर्य, वातप्रस्थ एवं संन्यास की जीवन-विधा भी अनुशासन-निमित्त थीं। धर्म सूत्रों में ऐसे नियमों का संग्रह है, किन्तु उपलब्ध चर्चसूत्र तथान्त से पूर्वकालीन नहीं कहे जा सकते। इतके पहले वैश्वानस-शास्त्र एवं भिक्षु-सूत्र अवश्य रचे गये थे, किन्तु उनका अब ठीक पता नहीं चलता। यह स्पष्ट है कि भगवान् बुद्ध के समय में यह धारणा अविदित न थी कि संसार छोड़ने पर भी परिव्राजकों को एक संगठित समाज का अंग बन कर अपनी चर्चा सम्पादित करनी चाहिए। वस्तुतः इन परिव्राजकों की स्थिति 'विविदिता-संन्यास' के समान थी और उसमें ब्रह्मचर्य और संन्यास, दोनों के ही लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। ब्रह्मचर्य शिष्यत्वपूर्वक और संयम-प्रधान है, संन्यास अपरिग्रहात्मक। संन्यास अथवा प्रव्रज्या में कुटुम्ब और सम्पत्ति के सुप्रकट समत्वमूलक सम्बन्ध का विच्छेद हो जाता है और प्रयोजित क्लिष्ट सामाजिकता के शायरे नै बाहर हो जाता है। संन्यास समस्त उपाधि-त्याग का और अतएव

नैष्ठिकता का द्योतक है। ब्रह्मचर्य में गुरु-शिष्य के विद्यामूलक विभूत आध्यात्मिक सम्बन्ध का जन्म होता है और एक समय तथा साधन की अवस्था का। परिव्राजक अविद्याभित अशुद्ध समाज से निकल कर विद्या के विभूत समाज में प्रवेश करता है। इस व्यक्तिगत सामाजिकता का विकास एवं उसका तारिखिक बोध सर्वाधिक माया में समागत के द्वारा स्थापित भिक्षु-संघ में निष्पन्न हुआ।

उत्पत्ति और वृद्धि—बिम्ब के महावत्स से ज्ञात होता है कि सारनाथ में तथागत की धर्मदेशना सुनकर सबसे पहले कौण्डिन्य नाम के पंचवर्गीय भिक्षु ने बिम्ब 'धर्मचक्षु' धार्य कर उनके निकट प्रव्रज्या ली। कौण्डिन्य का नाम 'आज्ञात' कौण्डिन्य पड़ा। इसके अनन्तर वज्र (वज्र), भद्रिक (भद्रि), महानाम और अश्वजित् नाम के अन्य पंचवर्गीय भिक्षुओं ने भी 'धर्मचक्षु' और प्रव्रज्या का लाभ किया तथा इस प्रकार ज्ञान-भिक्षु संघ की नींव पड़ी। वाराणसेय श्रेष्ठिपुत्र यश और उसके भिन्न बिम्बल, मुद्गाल, पूर्णजित् और गवाम्पति तथा अन्य पचास भिक्षुओं के प्रव्रज्या-ग्रहण करने पर संघ में तत्काल के अतिरिक्त साठ भिक्षु हो गये जो कि सब अहंत्वे। इनको भगवान् बुद्ध ने माना दिशाओं में जाकर प्रव्रज्या और उपसम्पदा देने की अनुमति प्रदान की। यह स्मरणीय है कि धर्म-प्रचार की और जितनी प्रव्रजता धर्म-संघ में रही उतनी किनी अन्य भारत के धर्म-शासन में नहीं। वाराणसी से गया जाते हुए तथागत ने तीस भद्रवर्गीय भिक्षुओं को शासन में प्रतिष्ठित किया और गया में १००० जटिलों की संघ में आकृष्ट किया। राजगृह में समघराज विम्बिसार ने उनकी शरण ली और तेषुवन उद्यान भिक्षु संघ को दिया। यह स्मरणीय है कि पहला उपासक यश का पिता वाराणसेय श्रेष्ठि था। राजगृह में ही सञ्जय परिव्राजक के २५० शिष्यों ने संघ में प्रवेश किया और इनमें कौण्डिन्य और उपतिष्य भी थे जो कि मौद्गल्यापन और शारिपुत्र नाम से प्रतिष्ठित हुए। इस विवरण से स्पष्ट है कि संघ की बहुत शीघ्र ही आत्मवर्जनक वृद्धि और प्रचार हुआ। जहाँ एक ओर विभिन्न वर्गों और वर्गों से अनेक कुलपुत्रों ने प्रव्रज्या-ग्रहण कर संघ में प्रवेश किया, दूसरी ओर प्रभावशाली और समृद्ध राजकुलों और श्रेष्ठियों की सहामात्र ने संघ की सम्पत्ति को बढ़ाया। अपने परिनिर्वाण तक बुद्ध भगवान् ने ४४ वर्ष उत्तर प्रदेश और विहार में धर्म का उपदेश किया और सहस्रों भिक्षु और भिक्षुणी, उपासक और उपासिका उनके शिष्य अने तथा शाक्यपुत्रीय कहलाये।

शास्ता और गुरुवाद—तथागत के समय के अन्य परिव्राजक-वर्गों में संघातक-गुरु अथवा शास्ता अपने अवलम्ब यश के नेतृत्व के लिए किसी उत्तराधिकारी को नियुक्त कर देते थे। इस प्रकार एक तरह का गुरुवाद अथवा महत्ताई उस समय के साधुओं

की जमात में सुविधित थी, किन्तु बुद्ध भगवान् ने अपना उत्तराधिकारी किसी व्यक्ति-विशेष को न बनाकर धर्मानुशासन को ही 'भिक्षुओं के दिग्दर्शक के रूप में छोड़ा'। परिनिर्वाण के पहले वेलुवग्राम में वर्षावास करते हुए, तबाराज बहुत बीमार पड़े थे। उस समय उन्होंने आनन्द से कहा 'भिक्षुसंघ मुझसे क्या चाहता है ? मैंने धर्म का निस्तोष उपदेश कर दिया है, कुछ अपने पास छिपाकर नहीं रखा है। मैं यह नहीं सोचता कि मैं भिक्षु संघ का नेतृत्व करूँ, भिक्षु संघ मेरे पीछे-पीछे चले। ** इसलिए तुम लोग आत्मदीप बनकर रहो, आत्मशरण, अनन्यशरण, धर्मदीप, धर्मशरण, अनन्य-शरण **।' परिनिर्वाण के पश्चात् राजगृह में भोषक मौद्गल्यायन के स्थान पर मगध महामाज वर्षाकार ने आनन्द से पूछा कि शास्त्रा के बाद संघ का प्रतिशरण कौन है। आनन्द ने इसके उत्तर में धर्म को ही प्रतिशरण बताया। यह स्पष्ट है कि प्रचलित प्रथा के विरुद्ध शाक्यमुनि ने अपने शिष्यों का संगठन शास्त्रमूलक न कर शासन-मूलक किया था।

उपनिषदों में आचार्य अथवा गुरु का अध्यात्मविद्या की अधिगति के लिए विशेष महत्त्व प्रतिपादित किया गया है और गुरु के वचन सुनने का ही ज्ञान का प्रधान द्वार माना गया है। वस्तुतः इस मत में शब्द अथवा श्रुति ही गुरुत्वानीय है और वेद की अपौरुषेयता ही वेदान्त-सम्मान सिद्धान्त है। श्रुति के द्वारा प्रवृत्तिधर्म में कर्म-विधान होने पर भी ज्ञान को कर्मसाध्य नहीं माना गया है। परम्परा कर्म का उपयोग होते हुए भी निवृत्तसिद्धि ज्ञान के अन्तःकरण के लिए श्रवण ही साक्षात् मार्ग है। इस प्रकार वैदिक गुरु-शिष्य परम्परा श्रुति और तत्त्वकाव्य ज्ञान के संक्रमण की परम्परा है। उपनिषदों में गुरु के निकट उपनयन, ब्रह्मभ्येवास, कर्म, धन आदि से गुरु की सेवा, परिश्रम, उपदेश एवं गुरु (अथवा ईश्वर) की कृपा का विवरण प्राप्त होता है। इस उपनयन-कथ दीक्षा में प्रचलित उपचार के अतिरिक्त और किसी आध्यात्मिक रहस्य की सत्ता

१-विनय-साहित्य पर अर्वाचीन ग्रन्थों में आउवाल्नर, अलियस्ट विनय एण्ड दि डिगितिग्स ऑव बुधिस्ट लिटरेचर विशेष रूप से दृष्टव्य है। वैदिक अनुशासन पर आधुनिक ग्रन्थ-हाबी, ईस्टन मोनेसिज्म; सुकुमार दत्त, अर्ली बुधिस्ट मोनेसिज्म, काइच हन्डेड ईयर्स ऑव बुद्धिज्म; नलिनाथ दत्त, अर्ली मोनेसिस्ट बुद्धिज्म जि० १; ई० आर० ई० यवाप्रसंग।

२-बौध०, सुतन्त्र १६।

३-मज्झिम०, गोपकमोग्गलान सु०।

अस्पष्ट है। परा विद्या के निमित्त गुरु-शिष्य सम्बन्ध और ब्रह्मचर्यवास अपरा विद्या के निमित्त प्रथम आश्रम के सदृश ही कल्पित किया गया है। ऐसी ही कल्पना तन्मागत-कालीन परिश्वाजकगणों में भी उपलब्ध होती है, यद्यपि उनमें संसार से मुक्ति बहुधा कर्म अथवा क्रिया के द्वारा मानी गयी है। ऐसी स्थिति में गुरु क्रिया-कौशल का उप-देशक बन जाता है। भागवत धर्म अथवा ईसाई धर्म-जैसे प्रपत्ति मार्गों में अवतार के रूप में ईश्वर ही वास्तविक गुरु है और उसकी कृपा ही अध्यात्म-मार्ग का एक मात्र सम्बल है। प्रकारान्तर से यह कहा जा सकता है कि इन प्रस्थानों में गुरु के उपदेश से अधिक गुरु का महत्त्व है क्योंकि वस्तुतः गुरु स्वयं ही मार्ग है। तान्त्रिक अथवा सिद्धों के मार्ग ~ गुरु की कृपा अथवा शक्तिपात से ही दीक्षा सम्पन्न होती है। दीक्षा से आध्यात्मिक साधन की योग्यता प्राप्त होती है। योग-मार्ग में साधक के वैयक्तिक स्वभाव और पूर्व संस्कारों के अनुकूल क्रिया के उपदेश के लिए एवं कर्म-जन्य अन्तराशों से बचाने के लिए सिद्ध गुरु की अपेक्षा है। यह स्पष्ट है कि प्रत्येक आध्यात्मिक मार्ग में गुरु का स्थान अनिवार्य है, किन्तु कार्य-भेद से उसके महत्त्व में भेद है।

बुद्ध-शासन में गुरु का रूप है कल्याणमित्र का और कार्य है मार्ग-प्रदर्शन। शाक्य मुनि के शिष्यों को अपने बल पर चलना और निर्भर रहना था। इसीलिए उन्हें आत्मदीप अथवा आत्मशरण होने का उपदेश किया गया। इस यात्रा में धर्म ही उनका सहायक और नियामक है। संसार की घटनाएँ जिस कार्यकारण भाव से नियत हैं उसका एक पक्ष विद्या के द्वारा विमुक्ति की ओर ले जाता है। ठीक दिशा में पग रखने से वस्तु-तत्त्व का अनुरोध ही आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर बढ़ाता है। इसीलिए धर्म को यान अथवा मार्ग कहा गया है। धर्म ही बुद्ध की वास्तविक काम है। धर्म को देखना बुद्ध को देखना है। उनके शिष्य को 'भगवतो पुत्तो औरसो धम्मजो' धम्मनिम्मितो धम्मदायावो' कहा गया है। यह स्पष्ट है कि बुद्ध अपने अनुयायियों का ध्यान अपने पारिव्यव्यस्तित्व से परे अपनी शिक्षा में सूचित अमृत पद और उस तक ले जाने वाले आध्यात्मिक नियमों और स्वभावगत प्रेरणा की ओर दिलाना चाहते थे और सच्चे शिक्षक की भाँति उनका अभीष्ट था कि उनके शिष्य अपने पैरों पर खड़े हों। इसीलिए उन्होंने संघ के संयोजक मुख को एक गुरु-परम्परा का रूप न देकर धर्म-विनय का रूप दिया। विरल में शरण लेने की प्रथा होती हुए भी इस प्रथा से अन्य सम्प्रदायों में विहित शरणागति के मार्ग का अनुमान न करना चाहिए। अपने उपदेशों में भी भगवान् बुद्ध ने शब्द को

कम महत्त्व दिया, अर्थ को अधिक। उनकी वाणी को वेदवत् समझने एवं स्मरण करने की अभिलाषा उनके कुछ शिष्यों ने प्रकट की थी, पर उन्होंने उसका प्रत्याख्यान किया और कहा कि सबको अपनी-अपनी बोली में उनकी शिक्षा का स्मरण करना चाहिए। वैदिक परम्परा के प्रतिकूल उन्होंने शब्द के स्थान पर अर्थ को ही प्रतिपादन बताया और कहा कि यह अर्थ अन्तर्गतत्वा प्रत्यास्मवेवर्नीय है। इस प्रकार प्राचीन सद्धर्म में शब्द-प्रमाण अथवा श्रुति, कृपा एवं भक्ति, तथा मन्त्र या शक्तिपातात्मक वीणा आदि का स्थान न होने से प्रचलित अर्थ में गुरुवाद का भी महत्त्व न था। उसमें शास्त्र के द्वारा आध्यात्मिक जीवन में सहायता को एक गंभीर रहस्यमय प्रभाव न मानकर धर्म-विनय में संगृहीत सिद्धान्त और साधन का प्रकट उपदेश ही माना जाता था। यह बात दूसरी है कि उस समय के सद्धर्म की यह प्रचलित धारणा, जिसका तथागत ने समर्थन किया प्रतीत होता है, वस्तुतः भ्रान्त हो। ऐसी दशा में यह भी सम्भव है कि तथागत के द्वारा इस 'भ्रान्ति' का समर्थन केवल उपायकीयलक्ष्य अथवा सामिप्राय हो। बौद्ध परम्परा के अनुसार भगवान् बुद्ध के उपदेश सुनने मात्र से अनेक उच्च अधिकारियों के चित्त आलव-विमुक्त हो गये एवं कुछ शिष्यों की उन्होंने अपनी अलौकिक शक्ति से सहायता की। यह निर्विवाद है कि शिष्यों को स्वावलम्बन का उपदेश देते हुए एवं अपने को केवल मार्गप्रदर्शक बताते हुए भी भगवान् बुद्ध के अलौकिक अनुभाव को कृपा अथवा शक्ति-पात से अन्य नहीं समझा जा सकता और न स्वयं उन्हें परमसिद्ध सद्गुरु से अन्य माना जा सकता है। इस दृष्टि से यह मानना होगा कि परिनिर्वाण के बाद भी शाक्यमुनि स्वयं अलौकिक रूप से शास्त्रपद में आसीन हैं और उनकी अथवा धर्म की शरण लेना केवल उपचार, श्रद्धा-प्रकाशन अथवा सिद्धान्त-स्मरण न होकर एक जीवन्त आध्यात्मिक शक्ति की शरण लेना है। पर यह भी स्वीकार करना होगा कि इस प्रकार के सिद्धान्त का प्राचीनतम बौद्ध साहित्य में जसन्दिग्ध प्रतिपादन नहीं मिलता यद्यपि परवर्ती बौद्ध साहित्य में यह अधिकाधिक महत्त्वशाली हुआ।

संघ और गण—कुछ विद्वानों का कहना है कि गण-तन्त्र के प्रशंसक होने के कारण शाक्यमुनि ने अपने पंचचात् संघ का नेतृत्व किसी व्यक्तिविशेष को न सौंप कर उसमें 'धर्म-राज्य' एवं 'गण-राज्य' स्थापित किया। यह सम्भावना भी प्रकट की गयी है कि कदाचित् विनय में उल्लिखित अनेक गणतन्त्रीय प्रक्रियाएँ एवं पारिभाषिक शब्द बौद्ध संघ ने तत्कालीन गणराज्यों के प्रचलित व्यवहार से लिये हों और इस प्रसंग में

ईसाई-संघ के विकास में रोमन साम्राज्य के प्रभाव का दृष्टान्त दिया गया। वे सम्भावनाएँ उपपन्न होती हुई भी निश्चित नहीं हैं। मगध के महामाघ बर्षकार से तत्काल ने परिनिर्वाण से कुछ पहले राजगृह में कहा था कि उन्होंने बज्जियों को वैशाखी के सारन्द्य चैत्य में सात अपरिहण्योम धर्मों का उपदेश दिया था। जब तक बज्जों इन धर्मों का पालन करेंगे उसकी वृद्धि ही होगी, परिह्राणि नहीं। बर्षकार ने भी इसका अनुमोदन किया और कहा कि ऐसी स्थिति में 'उपलामन' और 'मिघोमेव' को छोड़ कर राजा अजातशत्रु बज्जियों पर विजय प्राप्त न कर सकेगा। वहाँ उपदिष्ट ने सात अपरिह्राणीय धर्म इस प्रकार हैं—अन्तर सम्मिलित होना, और समग्र सम्मिलित होकर गण-कार्य को निवाहना, यथाप्रशस्त पुराने बज्जि-धर्म को वरतना, बड़े-बूढ़ों का सम्मान और अनुसरण करना, कुल-स्त्रियों और कुलकुमारियों का अनपहरण, चैत्यों की पूजा और यथापूर्व प्रतिहरण एवं अर्हत्तों की रक्षावरणगुप्ति का सुसंविधान। इन प्रथाओं में एक एक धर्मराजादी मगतन्वीय (कम्पार्टिबल वैमोकेटिक) आदर्श प्रलकता है जिससे बर्क (Burke) का चित्त प्रसन्न हो जाता। दीर्घनिकाय के अगम्य्य मुत्तन्त में राज्य की उत्पत्ति पर प्रकाश डाला गया है, यद्यपि यह सन्दर्भ दीर्घनिकाय के प्राचीनतम स्तर का नहीं कहा जा सकता। इसके अनुसार राजकीय अनुशासन अथवा दण्ड की आवश्यकता आदर्श-व्युत्त समाज में ही होती है। अर्थ और काम ही समाज की इस ध्युति के कारण हैं। परिग्रह और लिप्ता से विवाद और कलह जन्म लेते हैं और इनके निवारण और नियमन के लिए राज्य की आवश्यकता होती है। इस दृष्टि से राज्य की सत्ता मनुष्य के स्वभाव पर आश्रित न होकर उसके दोषों पर आश्रित है। पहले राजा को 'महासम्मत' कहा गया है क्योंकि वह सारी प्रथा से चूना गया था। वहाँ पर भी राज्य का अनन्तान्त्रिक आदर्श स्वीकार किया गया है।

तथामत के लिए मिश्रसंघ का संसठन गण-राज्यों के संविधान से सर्वथा असम्बद्ध न था, यह इससे स्पष्ट है कि महापरिनिर्वाण पूर्व में बज्जियों के सात अपरिह्य धर्मों का उल्लेख करने में मिश्र संघ की वंसे ही सात अपरिह्य धर्मों का उपदेश करते पाये जाते हैं जिनसे संघ की निरन्तर वृद्धि हो और हानि की सम्भावना न रहे। पहले चार धर्म सर्वथा अनुत्पत्त हैं—संघ की सन्निपात-बहुलता, समप्रता, यथाप्रशस्त शिक्षापद्धि का

६-३०—मायसवाल, हिन्दू पॉलिटी; मजुमदार, कौरपोरेट लाइफ इन एन्डोटे इण्डिया, गोकुलदास डे, डेमांसेरी इन दि बुधिस्ट संघ।

७-दीर्घ० सुत्त १६।

असमुज्जेद, और स्वविर भिक्षुओं का सत्कार । शेष तीन धर्म हैं—तृष्णा के बंध में न होना, आरम्भक शयनासन में सापेक्ष होना और प्रत्यात्म-स्मृति को उपस्थापित करना । वर्तमान महापरिनिर्वाण सूत्र में इन सात के अतिरिक्त अन्य अनेक अपरिहृत्य-धर्म-सप्तकों की सुविधा दी गयी है, किन्तु उनकी प्राचीनता अथवा प्रसंगानुकूलता सन्दिग्ध है । पहले कहे हुए सात-धर्मों में भिक्षु संघ को स्पष्ट ही गण-राज्य के अनुसंधाना गया है, और इस प्रकार के संगठन की सफलता का सूत्र यह बताया गया है कि सब लोग मिल-जुल कर और आपस में बातचीत कर निर्णय लें, परम्परा के अनुसार चले और बड़े-बूढ़ों का नेतृत्व स्वीकार करें ।

‘आवासिकता’ की वृद्धि—इन ‘अपरिहृत्य धर्मों’ में आरम्भक शयनासन का उल्लेख महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे इनकी प्राचीनता सिद्ध होती है । तयागत के जीवन-काल में भिक्षुओं की चर्चा में एक बड़ा परिवर्तन स्पष्ट हो गया था । भिक्षु संघ में पहले एकान्तशीलता का प्राधान्य था, पीछे कमजोर संवासशीलता का हुआ । अनेक प्राचीन स्थलों में भिक्षु के लिए साहाय्यविधान (पैठे) के समान एकाकी जीवन की प्रशंसा की गयी है, साथ ही यह निर्विवाद है कि पीछे इस एकाकित्व का स्थान आवासिकता ने अधिकाधिक ले लिया । देवदत्त ने भिक्षुओं के लिए कठोर चर्चा के विधान का अनुरोध किया था^१ । और उसकी बात का तिरस्कार इसका स्रोतक है कि भिक्षुओं के लिए आरम्भक चर्चा विरल हो चली थी । इस परिवर्तन के स्पष्ट ही अनेक कारण थे । तयागत के साहचर्य का ओलुमन और भिक्षुओं की संख्या-वृद्धि उनकी एकान्त चर्चा के पक्ष में न थी । पौष्य में भिक्षुओं के लिए नियत कथ से सम्मिलित होना आवश्यक था और चर्चावास में उनके लिए चारिका का निषेध था । समुद्र उपासकों ने संघ की सुविधा के लिए विहार बनवाये और दान दिये । ‘अपरिहृत्य धर्मों’ में परिणित गणतन्त्रता का आपह था कि भिक्षु अक्सर समग्र रूप से सम्मिलित होकर संघ-कार्य सम्पन्न करें । इन सबका यह स्वाभाविक परिणाम था कि भिक्षुओं में एक संगठित आवासिक जीवन का विकास हुआ ।

भिक्षुओं की संख्या एवं उनके विहारों की वृद्धि के साथ भिक्षुसंघ के संगठन में परिवर्तन होता गया । तयागत ने विभिन्न अवसरों पर भिक्षुओं के अनुशासन के लिए नाना नियमों की स्थापना की थी । उनके ये नियम-वाक्य शिक्षापद कहलाते थे और

८-उवा० सुत्तनिपात, सम्मविसास सुत्त ।

९-विनय, ना० सुत्तवग्ग, पृ० २१८-२१९ ।

उनका संघर्ष धर्म-विनय अथवा विनय । विनय के अर्थ अनुयायितार्थ शिखा होते हैं । यद्यपि विभिन्न सम्प्रदायों में उपलब्ध प्रस्तुत विनयों में शिखापदों का एवं तत्सम्बन्धी ऐतिहास्य और कथाओं का संघर्ष और सम्पादन प्रभावतया प्रथम बुद्ध-शाखादों का कार्य" तथापि उनके कुछ अंश अत्यन्त प्राचीन हैं और उनसे बौद्ध संघ के मूल-रूप की कल्पना की जा सकती है ।

संघ और वर्ण—जहाँ एक ओर अपने संगठन की अतन्त्रतात्मकता के कारण बौद्ध भिक्षुसंघ समाजार्थी राजकीय वर्णों की सहायता दिलाता है, दूसरी ओर उसमें वर्णभेद का तिरस्कार भी इन वर्णों से उसके सम्बन्ध का समर्थन करता माना गया है । किन्तु, यद्यपि इन वर्णों में ब्राह्मणों का आर्थिक निराधार और क्षत्रियों का विशेष सम्मान होता था", यह नहीं कहा जा सकता कि इनमें वर्ण-भेद-निराधार समाज की 'आदिम-उत्तम-वर्ग' (प्रिमिटिव ट्राइबल) भाती अशुष्ण थी अथवा नवीन सुधारवादी कल्पना का विशेष स्थान था" । वस्तुतः भिक्षुसंघ का मूल मुनियों की परम्परा में ही खोजना चाहिये । यह परम्परा अर्द्धविक्रम की ओर इसमें वर्ण-धर्म का प्रवेश सर्वथा दुर्बोध होता । तत्परतः भी वर्ण-भेद प्रभुत्वमय जीवन की अपेक्षा रखता है और वर्ण-धर्म प्रभुत्व-धर्म का अंग है । लौकिक एकाग्रता से निर्वृत्ति के प्रयास में उसकी सार्थकता नहीं रहती । अतएव न केवल बौद्ध भिक्षुओं में वर्ण एवं जाति के भेद की अपेक्षा थी, ब्राह्मण सन्ध्यासिद्धों में भी इस प्रकार का भेद स्वीकार नहीं होता था । यह अवश्य है कि जहाँ ब्राह्मणों के अनुसार संन्यास की व्यवस्था सब वर्णों के लिए नहीं है", बौद्धों में ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं माना जाता था । वस्तुतः भगवान् बुद्ध ने वर्ण-भेद की न केवल संघ के अन्दर अथवा उसमें प्रवेश की दृष्टि से अपेक्षा की अपितु उन्होंने वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्त का ही अन्वय किया" । उन्होंने बताया कि तत्त्व-दृष्टि से चार वर्णों में जाति-भेद न देखकर केवल कर्म-भेद ही देख सकता है । जन्म के स्थान पर कर्म के आधार को रख कर समाज के वर्ण-भेद को समझने का यह प्रयास प्राचीन ब्राह्मण साहित्य में भी यत्र तत्र देखा जा सकता है, विशेषतया महाभारत में । यह दृष्टि स्पष्ट ही तर्कमूलक और सुधारवादी है ।

१०-३०—जाउबालनर, पूर्व० ।

११-उदा० दीघ० अम्बट्ठमुत्त ।

१२-सु० जे० बी० आर० एस्०, १९५७, पृ० ३९८ ।

१३-इ०—जागे, पूर्व, जि० २ भा० २, पृ० ९४२-४४ ।

१४-इ०—मज्झिम, अस्सत्तापमसुत्त, वासेट्ठ०; सुत्तनिपात, वासेट्ठमुत्त ।

प्रव्रज्या—अपने पहले शिष्यों को भगवान् बुद्ध ने स्वयं ही प्रव्रज्या दी थी। पंचवर्गीय भिक्षुओं ने संघ में प्रवेश यह कह कर मांगा था कि 'हम लोग भगवान् के निकट प्रव्रज्या पाएँ, उपसंपदा पाएँ और शास्ता ने यह कह कर उनको दीक्षित किया था कि 'जाओ, धर्म स्वाक्यात है, अच्छी तरह दुष्ट के नाश के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करो'। जटिलों ने और राजगृह में संजय के चेलों ने भी इसी प्रकार प्रव्रज्या प्राप्त की। जब से भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं को धर्म के प्रचार के लिए नाना दिशाओं में भेजा उन्हें प्रव्रज्या एवं उपसंपदा देने की अनुमति प्रदान की। कपिलवस्तु में राहुल-कुमार की प्रव्रज्या इस प्रकार शारिपुत्र के द्वारा सम्पन्न हुई। प्रव्रज्या के प्राचीन की सिर और दाढ़ी मँड़वा कर, काषाय-वस्त्र पहन, उत्तरासन एक कन्धे में कर, बैठ कर और हाथ जोड़-कर तीन बार यह कहना पड़ता था—'बुद्ध की शरण जाता हूँ, धर्म की शरण जाता हूँ, संघ की शरण जाता हूँ'।

पन्द्रह धर्म की अवस्था से कम के व्यक्ति को प्रव्रज्या नहीं दी जा सकती थी। शूद्रो-दन शासन के अनुरोध से तथागत ने यह भी स्वीकार किया कि माता-पिता की अनुमति बिना पुत्र को प्रव्रज्या न दी जाए। कुष्ठ, गण्ड (फोड़ा), किलास (एक प्रकार का चर्म रोग), शोथ (क्षय), एवं अपस्मार (मूत्री) इन पाँच रोगों से पीड़ित व्यक्तियों को प्रव्रज्या के अयोग्य माना जाता था। अंगहीन अथवा विकृत अंग वालों को प्रव्रज्या नहीं दी जा सकती थी और न हिजड़ों, उभयलिङ्गियों अथवा मनुष्यदेही पशुओं को। ऐसे ही राज-नीतिक, श्रम कर्म चोर (डाकू), काराभेदक चोर (जेल तोड़ने वाला), लिखितक चोर (नामदज्जे, 'वहाँ देखा जाय, वहीं मारा जाम'), कन्याघात से दण्डनीय, लक्ष्मणहृत (दागा हुआ), शूनी, एवं दास को भी प्रव्रज्या का अनुधिकारी समझा जाता था'। इन निषेधों का तात्पर्य स्पष्ट है। संघ में ऐसा कोई व्यक्ति प्रविष्ट न होना चाहिए जो पहले से ही कानून के शिकंजे में अकड़ा हो और जिसके कारण समस्त संघ राजकोष अथवा मज्जीति का भागी हो। उपर्युक्त रोगियों, अपराधियों और असमर्थों के अतिरिक्त मातृघातक, पित्रुघातक, अजंघातक एवं भिक्षुणीदूषक, इन पाँच पापियों को भी प्रव्रज्या का निषेध था। तथागत के सचिरोत्पायक, संघभेदक, एवं चोरी से संघ में प्रविष्ट व्यक्ति भी प्रव्रज्या के अयोग्य थे।

१५—उपा० विमल ना०, महावग्ग, पृ० १६।

१६—वही, मू० २४।

१७—वही, पृ० ७३-८२।

जो पहले से किसी बौद्धितर परिव्राजकगण के अनुगत थे उनके लिए आवश्यक था कि वे संघ में प्रवेश के अनन्तर चार महीने तक परिवास ('प्रोवेशन') व्यतीत करें और इस समय में उनके आचरण को परखा जाता था। केवल जटिलों और शाक्यों के लिए अपवाद था क्योंकि जटिल अथवा तृतीयाश्रमी कर्मवादी एवं क्रियावादी थे तथा शाक्य लोग तथागत के सजाति थे^{१८}। इन नियमों के अनुसार संघ में प्रवेश सभी जातियों, वर्गों एवं देशवासियों के लिए सम्भव था। जहाँ वैदिक धर्म एक विशिष्ट जाति और समाज के लिए ही अपने को वैध मानता था, बौद्ध धर्म और संघ परवर्ती ईसाई संघ के समान सार्वभौम था।

प्रारम्भ में बौद्धों की सन्यासदीक्षा तथागत की शरण लेने से ही सम्पन्न हो जाती थी जैसा कि पंचवर्गीय भिक्षु आदि के उदाहरण से स्पष्ट है। कमशः तथागत के किसी योग्य शिष्य को अपना उपाध्याय बनाकर और उसके निकट नि-अरण मग्न के द्वारा सन्यासदीक्षा सम्पन्न होने लगी। ऐसा प्रतीत होता है कि अनेक अल्पवय एवं अपरिपक्व भिक्षुओं के संघ में प्रवेश के कारण और तथागत की व्यक्तिगत उत्सुकारी के क्षेत्र में उनके कम आ सकने के कारण प्रव्रज्या और उपसम्पदा का भेद स्थापित हुआ और साथ ही उपसम्पदा के नियम में परिवर्तन हो गया^{१९}। उपाध्याय के अतिरिक्त आचार्य का भी विधान हुआ। संघ में प्रवेशार्थियों की संख्या बढ़ने से और उनकी तथागत के अतिरिक्त अन्य भिक्षुओं के द्वारा दीक्षा सम्पन्न होने से इन परिवर्तनों का विधान युक्ति-युक्त प्रतीत होता है और इनकी आवश्यकता सम्भवतः तथागत के जीवन-काल में ही अनुभव गौचर हुई होगी।

उपाध्याय और आचार्य—वस्तुतः विनय के अनुसार प्रव्रज्या प्राप्त करने पर पहले भिक्षु धामणेर कहलाता था और उसे एक उपाध्याय और एक आचार्य चुनकर उनके 'निश्रय' में रहना पड़ता था। उपाध्याय में शिष्य अथवा मार्गविहारी को पिता-बुद्धि और सार्थ-विहारी में उपाध्याय को पुत्र-बुद्धि रखनी होती थी। धामणेर के लिए उपाध्याय की विविध सेवा विहित थी। वस्तुतः उपाध्याय और धामणेर का संबंध बहुत कुछ वैसा ही था जैसा कि वैदिक परम्परा में गुरु और शिष्य का। आचार्य और उपाध्याय के कर्तव्यों में भेद करना कठिन है। कदाचित् आचार्य अन्तेवासिक को ध्यान के लिए उपयुक्त कर्मस्थान का उपदेश देता था और उपाध्याय की अनुपस्थिति में

१८—वही, पृ० ७३-७६।

१९—वही, पृ० ५३-५४।

उसका स्थान ग्रहण करता था"। उपाध्याय एवं आचार्य होने के लिए कम-से-कम दस वर्ष वाला भिक्षु होना आवश्यक था। आमणेर को दस शिक्षापदों के अनुसार शील का पालन करना चाहिये। कम-से-कम बीस वर्षों की अवस्था होने पर और उचित योग्यता प्राप्त करने पर आमणेर उपसम्पदा का अधिकारी होता था। पहले वि-शरण-गमन से और पीछे श्रित्तिचतुष्ये कर्म के द्वारा उपसम्पदा दी जाती थी।

शिक्षापद—आमणेरों के लिए विहित दस शिक्षापदों का आशय उनके लिए प्रायः उस प्रकार के संघम के जीवन का विधान था जैसा कि वैदिक परम्परा में ब्रह्मचारियों के लिए सुविहित है। दस शिक्षापदों में दस विरतियाँ अवस्था वर्जनाएँ संगृहीत हैं—प्राण-हिंसा से विरति; चोरी से; अ-ब्रह्मचर्य से; झूठ बोलने से; शराब और नशीली चीजों से; दोपहर के बाद भोजन करने से; नाच, गाना-बजाना, और तमाशा देखने से; माला, गन्ध, मलेगन और अलंकरण से; ऊँची शय्या और बहुमूल्य शय्या से; सोना-चाँदी ग्रहण करने से। इन दस निषेधों से आमणेरों का शील परिभाषित होता था।

चार निधय—उपर्युक्त शील के अतिरिक्त आमणेरों को 'चार निधय' बताने जाते थे। इन 'निधयों' का विषय में एक परिचयित रूप दीख पड़ता है जो कि प्रत्येक निधय के साथ अतिरिक्त लाभों के संयोजन से निम्न हुआ है। विनय के कुछ स्वलों में 'पाँच भिक्षुओं के पिण्डपात, चीवर, शयनासन, एवं मलान्प्रत्यक्षभेषज के विषय में प्रश्न और तत्प्राप्त के द्वारा उनके संक्षिप्त उत्तर दिये गये हैं जिनमें वस्तुतः अतिरिक्त-लाभ-वर्जित निधय संगृहीत है"। यह सुझाव प्रस्तुत किया गया है कि ये 'पाँच भिक्षु' कीर्तिष्म्य आदि पंचवर्गीय भिक्षु हो थे और उनके लिए इस मूल-निधय-चतुष्टय का विधान कदाचित् तत्प्राप्त का सबसे पहला वैदिक अनुशासन था जो कि उस समय से एकान्त-ध्याना-प्रधान एवं आरम्भक-प्राप्त भिक्षु-जीवन के आदर्श का निरूपण करता है। इस अनुशासन में अतिरिक्त लाभों का समावेश परवर्ती संधारमों और विहारों के संवासाप्रधान भिक्षुजीवन की सूचना देता है। किन्तु यह परिवर्तन तत्प्राप्त के जीवन-काल में ही स्पष्टतः प्रारम्भ हो गया था।

विनय में चार निधयों का विवरण इस प्रकार मिलता है—भिक्षा में मिला हुआ भोजन प्रप्रज्या का पहला निधय है, पड़े चिमड़ों का बनाया हुआ चीवर दूसरा निधय है, वृक्ष के नीचे निवास तीसरा निधय है, एवं गोमूत्र की भेषज चौथा निधय है।

पहले निश्रय के साथ अतिरेक—छात्र के रूप में संघभोज, निमन्त्रण, उपोसथ के दिन का भोज एवं प्रतिपद के दिन का भोज भी अनुमत थे। पंगुकूल-चोवर (पांसु-कूल) के अतिरिक्त लीम, कर्पास, कौशेय, कम्बल, सन, एवं मांग की छाल के वस्त्र भी अनुमत थे। वृक्ष-मूल-वास के अतिरिक्त बिहार, अट्ठपोष (आठभूषण, अर्ध भूषण ?), प्रासाद, हर्म्य और गुहा भी विहित हैं। औषध में अतिरेक-छात्र के रूप में घी, मक्खन, तेल, मधु और चाँद का प्रयोग भी किया जा सकता था। तीसरे निश्रय में अनुमत अतिरेक-छात्र विशेष रूप से संघ की वृद्धि और समृद्धि सूचित करता है। यह भी स्मरणीय है कि बौद्धों के विरोधी उन्हें अक्सर आरामपसन्द और अतपस्वी कहते थे। स्वयं भिक्षु-संघ के अन्दर देवदत्त ने यही बात कही और चाहा कि भगवान् वृद्ध अनुशासन को कड़ा बनाएँ तथा भिक्षुओं को आदेश दें कि वे यावज्जीवन आरण्यक पिण्डपातिक, पांसुकुलिक, एवं वृक्षमूलिक रहें और मत्स्य-मांस का कभी भक्षण न करें। तथागत इससे सहमत नहीं हुए। कालान्तर में संघ के अन्दर कठोर तपस्वियों के वर्गों का विकास हुआ जो कि विभिन्न 'धुतंगों' का आचरण करते थे।

उपोसथ—परिनिर्वाण के अनन्तर वर्षाकार को समझाते हुए आनन्द ने कहा^{२२} कि एक ग्राम-लोच में जितने भिक्षु रहते हैं सब उपोसथ के दिन एकत्र सम्मिलित होते हैं और तथागत के द्वारा उद्दिष्ट प्रातिमोक्ष का पाठ करते हैं तथा जिस भिक्षु को आपत्ति अथवा व्यतिक्रम होता है उसे यथाधर्म अनुशासित करते हैं। इसी प्रकार धर्म के द्वारा संघ का संचालन होता है। इस सुतन्त्र से स्पष्ट है कि प्रातिमोक्ष और उपोसथ भिक्षुसंघ के अत्यन्त प्राचीन काल से लक्षण रहे हैं। वैदिक धर्म में दश और पूर्णमास की पाक्षिक दुष्टियों का बहुत महत्त्व था। इनके लिए यज्ञ के पूर्ण यज्ञमान को दीक्षित होकर उपवास आदि विशेष नियमों से रहना पड़ता था और इस व्रत काल को उपवसव कहा जाता था^{२३}। ब्राह्मणों के परवर्ती ग्रन्थों में संन्यासियों के लिए आरण्यकों अथवा उपनिषदों के आवर्तन का विधान पाया जाता है। विनय के अनुसार अन्य पारिव्राजकगण चतुर्दशी, पूर्णमासी, और पक्ष की अष्टमी को एकत्र होकर धर्मोपदेश करते थे और उनके पास लोग धर्म सुनने के लिए जाया करते थे। भगवन् राज बिम्बिसार ने तथागत से प्रार्थना की कि वे भी बौद्धों में इस प्रकार के उपोसथ का विधान करें जिसे कि तथागत ने स्वीकार किया^{२४}।

२२—मज्झिम० ना० नि० ३, पृ० ७१।

२३—मया, शतपथ (अध्वयुत ग्रन्थमाला), नि० १, पृ० २।

२४—विनय, ना० महावग्ग, पृ० १०५।

इसमें स्पष्ट है कि परित्राजकों के प्रचलित व्यवहार को देखकर बौद्ध सभ में पञ्च की विविध विधियों में एकत्र होकर धर्मोपदेश की प्रथा का प्रारम्भ हुआ। महापरान सुत्तान्त के अनुसार विपश्यी बुद्ध ने अपने शिष्यों को प्रति ६ वर्ष में एक बार प्रातिमोक्ष पाठ के उद्देश्य से एकत्र होने का उपदेश दिया। विपश्यी बुद्ध ने प्रातिमोक्ष का इस प्रकार उपदेश किया था, जिसे भिक्षु सभ गृह्यता था—

"छन्ती परमं तपो तित्तिवत्ता
निब्बानं परमं वदन्ति बुद्धा ।
नहि पण्णजितो परुषधाती
समणो होति परं बिहेठयन्तो ॥

सम्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा ।
सच्चित्तपरिपोषणं एतं बुद्धान्तासासनं ॥
अनूपवादी अनूपायातो प्रातिमोक्खे च संवरो ।
मत्तज्जमुता चमत्तरिमं पत्तन्ध सपवत्तनं ॥
अभिचित्ते च आयोगो एतं बुद्धान्तासनं ॥"

(वीथ० ना० २, पृ० ३९)

अर्थात् शान्ति और तित्तिवत्ता परम तप है, निर्वास को बुद्धों ने परमायें कहा है, प्रव्रजित अमम दूसरों को दुःख और हानि नहीं पहुँचाते। कोई पाप न करना, पुण्य सम्पादित करना और अपने चित्त को निर्मल रखना, यही बुद्धों का शासन है। दूसरों की न निन्दा करना, न हिंसा, प्रातिमोक्ष में संयमपालन करना, भोजन में माया जानना, विविध वस्तुसाधन का सेवन करना और ध्यान में मन लगाना, यही बुद्धों का शासन है। इस उल्लेख से कदाचित् यह सूचित होता है कि प्रारम्भ में उपोसथ के अवसर पर तयागत की प्रमुख शिक्षाएँ विशेष में गृह्यणी जाती थीं और यही धर्मोपदेश का रूप था। इस अवसर पर प्रत्येक भिक्षु के लिए आवश्यक था कि वह परिशुद्ध-बौद्ध हो। अवृद्ध होने पर अपने अपराध की प्रतिदेशना अथवा स्वीकार किये बिना वह उपोसथ में सम्मिश्रित नहीं हो सकता था। कदाचित् उपोसथ का यही प्रचलन कार्य हो गया। समग्र सभ की उपस्थिति में अपराधों की एक सूची पढ़ी जाती थी जिसे प्रातिमोक्ष की आवृत्ति कहा जाता था और दोषी भिक्षुओं को अपने अपराधों की प्रतिदेशना करनी होती थी। सुदूर अपराध आदेशना और चेतावनी से शालित हो जाते थे। गुरुतर अपराध के लिए दिनान्तर में कुछ भिक्षुओं की परिषद् बुलायी जाती थी।

उपोसथ के लिए आवास में एक विशिष्ट अगर निश्चित होता था और समय से पूर्व उसे झाड़-बुहार कर वहाँ जासन, दीप तथा जल का प्रबन्ध करना आवश्यक था। इसे उपोसथ का पूर्व-करण कहा जाता था। सभी भिक्षुओं को स्वयं अथवा प्रतिनिधि के द्वारा उपस्थित होना पड़ता था। रोगी भिक्षु अपना छन्द (मत) एवं परिसुद्धि दूसरे के द्वारा सूचित करता था। ऋतु के अनुसार उपोसथ की एवं उपस्थित भिक्षुओं की गणना आवश्यक थी। इन कार्यों को उपोसथ का पूर्वकृत्य कहा गया है। पहले, अववाद अथवा भिक्षुणियों को उपदेश भी इस पूर्व-कृत्य का अंग माना जाता था।

आनन्द के द्वारा वर्षकार को दिये हुए उत्तर में यह कहा गया है कि प्रातिमोक्ष पढ़ने वाले भिक्षु को संघस्मरि, संघपिता अथवा संघपरिणामक माना जाता था। उसके लिए आवश्यक था कि वह स्वयं प्रातिमोक्ष-संघर में निष्णात, धर्मविद्, सत्तोषी, ध्यान-कुशल एवं अभिज्ञाएँ प्राप्त किये हो।

उपोसथ में संघ का समग्र रूप से सम्मिलित होना अभीष्ट था, अतएव संघ की सीमा-निर्धारण के लिए नियम बनाये गये। यहाँ पर यह स्मरणीय है कि संघ शब्द कभी चतुर्दिश संघ के लिए प्रयुक्त होता है, कभी स्थानीय संघाराम अथवा आवास के लिए। स्थानीय संघ की ही सीमा बाँधी जाती थी और उसी के अन्दर समग्रता अपेक्षित थी। आनन्द के उत्तर में ग्रामक्षेत्र का उल्लेख स्थानीय सीमा का प्रायिक विस्तार बताता है। साधारण तौर से प्रातिमोक्ष-परिषद् में भिक्षुओं के लिए तीन बीघर धारण कर आना विहित था। यदि सीमा के अन्दर कुछ आगन्तुक भिक्षु हों तो आवासिकों के साथ उपोसथ में उनकी उपस्थिति भी आवश्यक थी। चार से कम भिक्षु होने पर प्रातिमोक्ष की सभा नहीं की जा सकती थी।

प्रातिमोक्ष—पालि का पाटिमोक्ख अथवा पातिमोक्ख संस्कृत ग्रन्थों में प्रातिमोक्ष के रूप में प्राप्त होता है। वस्तुतः पातिमोक्ख शब्द की व्युत्पत्ति प्रतिपूर्वक मुच् धातु से माननी चाहिए। और उसकी वृद्ध संस्कृत छामा प्रतिमोक्ष्य होनी चाहिए न कि प्रातिमोक्ष। प्रतिमोक्ष्य का अर्थ है 'जो (धर्मसंघर) प्रतिमुक्त अथवा आवद्ध किया जाय। कवच, कुण्डल आदि 'प्रतिमुक्त' किये जाते हैं। धर्म के नियम भी एक प्रकार का कवच अथवा आभरण हैं जो भिक्षु से आवद्ध होने चाहिए। विनय में पातिमोक्ख का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ कुशल धर्मों में प्रमुख होना बताया गया है। यहाँ पातिमोक्ख को संस्कृत 'प्रातिमुक्ष्य' का क्पान्तर माना गया है। एक प्राचीन टीका में कहा गया है "यो सं पाति रक्खति तं मोक्खेति मोक्खेति" "तस्मा पाटिमोक्खं ति वुच्चति"। यहाँ पर मूल शब्द मुच् से व्युत्पादित किया गया है। चीनी एवं तिब्बती अनुवादों में प्राति-

मोक्ष के अर्थ प्रायः प्रतिविशिष्ट मोक्ष लिये गये हैं, किन्तु यह स्पष्ट है कि वहाँ भी कुछ स्थलों में पाटिमोक्ष को मुख्याधिक माना गया है और कुछ स्थलों में मोक्षाधिक^{११} ।

अनेक सम्प्रदायों के प्रातिमोक्ष सूत्र उपलब्ध होते हैं और उनकी व्यापक समानता उनकी प्राचीनता प्रदर्शित करती है।^{१२} प्रातिमोक्ष के आठ विभाग हैं—पाराजिक, संघावशेष, अनियत, नैसर्गिक-पातयन्तिक, पातयन्तिक, प्रतिदेशनीय, शैश, एवं अधिकरण-शमय । इनमें अभिहित धर्मों की संख्या सब सम्प्रदायों के प्रातिमोक्षों में सर्वथा समान नहीं है । महासाधिकों के प्रातिमोक्ष में निदिष्ट धर्मों की संख्या २१८ और सब से कम है । सर्वास्तिवादियों के प्रातिमोक्ष में संख्या सर्वाधिक, २६३ है । पालि प्रातिमोक्ष में २२७ है । किन्तु यह स्मरणीय है कि इस संख्याभेद का कारण मुख्यतया शैश-धर्मों के परिगणन में भेद है । शेष वर्गों में प्रायः कोई भेद नहीं है और संख्याएं इस प्रकार हैं—पाराजिक-४, संघावशेष-१३, अनियत-२, नैसर्गिक-पातयन्तिक-३०, पातयन्तिक-९०, (महीनासकों के अनुसार, ९१), प्रतिदेशनीय-४, अधिकरणशमय-७, इनकी संख्या १५० होती है जो कि अंगुत्तरनिकाय और मिलिन्दपञ्चों के 'दियद्द-सिक्खपापदसत्' से समञ्जस है । वस्तुतः शैशधर्म प्रातिमोक्ष में उद्दिष्ट अन्य धर्मों से भिन्न है क्योंकि वे आध्यात्मिक शील (मोरेलिटी) के नियम न होकर सामाजिक शील (सिविलिटी) के नियम हैं । अतएव उनके परिगणन में भेद सुबोध है । शैश धर्म प्रारम्भ से नियतसंख्यक नहीं थे । महाव्युत्पत्ति में उनको 'सम्बहला' कहा गया है । पालि प्रातिमोक्ष में भी शैश धर्मों को नियत-संख्या निदिष्ट नहीं किया गया है । यह भी सम्भव है कि महापरिनिर्वाण के पहले क्षुद्रातिक्षुद्र शिशापदों को परिवर्तनीय बताते हुए तथागत का आशय कदाचित् शैश धर्मों से ही रहा हो । ऐसा प्रतीत होता है कि पीछे विभिन्न सम्प्रदायों में विभिन्न परिवर्तन स्वीकृत हुए और इस प्रकार शैश धर्मों का प्रस्तुत विभेद उत्पन्न हुआ । यह भी स्मरणीय है कि अधिकरण-शमय प्रातिमोक्ष के शेष वर्गों से पूरक है । इसमें अपराध एवं दण्ड का विधान न होकर संघ के अन्तर्गत

२५-३०—डा० पा-चाऊ, पूर्व० पृ० ४-६ ।

२६-३०—पा-चाऊ०, वहीं, ऑरिजिनल् ऑव् बुद्धिज्म, पृ० ३, फाउन्डेशनर, पूर्व० पृ० १४३, ओल्वेनबर्ग (सं०) विनय, जि० १, भूमिका, पा-चाऊ (सं०) महासाधिक प्रातिमोक्ष, (जे० जी० आर० आइ० १०.१-४), मूल सर्वास्तिवाद प्रातिमोक्ष-आइ० एच० क्यू० १९५३ ।

विवादों की शान्ति के लिए वैधानिक उपाय निर्दिष्ट है। अनियत-वर्ग में भी नवीन अपराध न गिन कर ऐसे दोषों का उल्लेख है जो कि पाराजिक, संपावशेष अथवा पात-यन्तिक समझ जा सकते हैं। शेष वर्गों में भी नियमों का कम विभिन्न सम्प्रदायों में सर्वथा एक नहीं है।

ऐसा प्रतीत होता है कि मूल प्रातिमोक्ष अब उपलब्ध नहीं है। उसका एक रूप महासांघिक सम्प्रदाय में संरक्षित हुआ, दूसरा मूलस्थविरवादियों से पालि-वेरवादियों ने एवं सर्वास्तिवादियों ने प्राप्त कर सम्पादित किया। मूलतः बौद्ध भिक्षुओं के लिए विहित शील पञ्चविध अथवा दशविध था। ब्राह्मण और जैन साधु भी इसके सदृश शील का पालन करते थे। वस्तुतः जिन पाँच नियमों को योगदर्शन में महाव्रत कहा गया है वे ही समस्त भिक्षुजीवन के आधार थे। इनके विभिन्न विस्तर ही प्रातिमोक्ष में अनेकधा संगृहीत हैं। किन्तु इसमें समानविषयक अपराधों का एकत्र संग्रह नहीं है प्रत्युत ऐसा प्रतीत होता है कि घटनाओं के प्रभाव से जैसे-जैसे व्रत-हानि प्रकट हुईं वैसे-वैसे उस पर प्रतिषेध प्रातिमोक्ष में जोड़ दिया गया। दूसरी ओर प्रातिमोक्ष के पाराजिक, संपावशेष आदि वर्गों का कम स्पष्ट ही अपराधगौरव के अनुसार है और अतएव कुत्रिम है। उदाहरणार्थ, यह कहना अनुचित होगा कि ऐतिहासिक क्रम में सब पाराजिक पहले प्रतिष्ठित हुए, सब शैक्ष धर्म पीछे।

प्रातिमोक्ष-सूत्रों को सामान्यतः भिक्षु-शील-निर्देश से विकसित मानने पर उपोसथ के विकास का उपर्युक्त क्रम भी संगत हो जाता है। पहले उपोसथ में सामान्यतः धर्म-चर्या अथवा शील के आदर्श का स्मरण होता था। पीछे परिशुद्धि की आवश्यकता के द्वारा, एवं शील-संरक्षण के व्यावहारिक पक्ष के आग्रह से, उपोसथ एवं प्रातिमोक्ष में वैधानिकता और कानूनीयता का समारोप हुआ जिसने उनका परवर्ती रूप सम्पादित किया।

प्रातिमोक्ष का प्रारम्भ 'निदान' से होता है जिसमें उपोसथ के लिए एकत्र भिक्षुओं को सूचित किया जाता है कि जिस भिक्षु से कोई दोष हुआ हो वह उसे प्रकट करे। दोष न रहने पर चुप रहना चाहिए। प्रातिमोक्ष के प्रत्येक वर्ग के पाठ के बाद तीन बार सबसे पूछा जाता था कि 'क्या आप लोग इन दोषों से मुक्त हैं?' दोष को प्रकट न करना झूठ बोलना माना जाता था। प्रातिमोक्ष के प्रथम पाराजिक काण्ड में ऐसे चार पातकों का उल्लेख है जो भिक्षु को संघ में रहने के अयोग्य बना देते हैं—अब्रह्मचर्य, चोरी, मनुष्य-वध, एवं अलौकिक शक्ति का झूठा दावा। मनुष्यवध के अपराध में दूसरे को आत्मघात के लिए प्रेरित करना भी गिना जाता है। संपावशेष (अथवा संपादिशेष)

काण्ड से ऐसे तेरह अपराध परिगणित हैं जिनके लिए अपराधी को कुछ समय के लिए परिवास अथवा भूषककरण का दण्ड दिया जाता था। यह दण्ड संघ की प्रथाविहित बैठक में प्रस्तावित और निर्णीत होता था। परिवास के अन्त में पुनः संघ की बैठक ही भिक्षु को दण्डमुक्त कर सकती थी। जान बूझ कर शूक्र-विसृष्टि, काम-व्रणना से किसी स्त्री का काय-संसर्ग, किसी स्त्री के साथ काम-सम्भाषण, किसी स्त्री से कहना कि 'काम-सन्तर्पण द्वारा परिचर्या कर', संवर्जन (स्त्री और पुरुष के बीच में मध्यस्थ बनना), अस्वामिक कुटी-निर्माण में युक्त स्थान अथवा विहित प्रमाण का अतिक्रमण, सस्वामिक विहार-निर्माण में ऐसा ही अतिक्रम, द्वेष से दूसरे भिक्षु पर निर्मूल पाराजिक दोष का आरोप करना, लेशमात्र पकड़कर दूसरे पर पाराजिक का अभियोग करना, संघ-भेद करना, संघ-भेदकों का अनुवर्तन, कुल-द्रुषण, दीर्घचस्य (दूसरों की सलाह का जान बूझ कर निरादर करना) — ये तेरह संघादिसोप अपराध हैं। इनमें पहले ९ अपराध प्रथम बार में दोषावह हैं, शेष बार तीन बार दोहराने पर। किसी स्त्री के साथ ऐसे एकान्त में बैठना जहाँ कि अनुचित संसर्ग अथवा सम्भाषण सम्भव है और उस बात का किसी श्रद्धालु उपासिका का आलोच्य विषय बनना, ये तो दो अनियत धर्मों में संगृहीत हैं। नैसर्गिक पातयन्तिक (पालि निसम्मिय-पाचित्तिय) तीस गिने गये हैं। इनका प्रतिकार संघ, बहुत-से भिक्षु अथवा एक भिक्षु के सामने स्वीकार कर उसे छोड़ देने से हो जाता है। इन नैसर्गिकों में अतिरिक्त-लाभ वस्तुओं का त्याग करना आवश्यक था। चौबर सम्बन्धी सोलह नियम दिये गये हैं, जिनके अनुसार भिक्षु को अतिरिक्त चौबर, अज्ञातिक (जिससे नाता नहीं है) भिक्षुणी से प्राप्त अथवा चोया हुआ चौबर, अपने आप मांगा अथवा बनवाया हुआ चौबर आदि का त्याग विहित है। सात नियम आसन के बनवाने और तैयार करने के बारे में हैं। कौशेय का अथवा काले भेड़ के ऊन का आसन निषिद्ध था। आसन बौद्ध नहीं बदलना चाहिए। नये आसन में पुराने आसन की छोर से बिता भर लेकर जोड़ना चाहिए। सोने चांदी का ग्रहण (स्पर्श), रुपिक-व्यवहार, एवं कय-विकय में भाग लेना भिक्षुओं के लिए निषिद्ध था। रंती भिक्षुओं के लिए भी, मक्खन, तेल, मधु, खाद आदि का अधिक-से-अधिक सप्ताह तक संग्रह करना चाहिए। अतिरिक्त पात्र वर्जित है। संघ के लिए प्राप्त लाभ को अपने लिए बदलवा लेना भी इन्हीं अपराधों में परिगणित है।

पाचित्तिय, प्रायश्चित्तिक अथवा पातयन्तिक धर्मों की गणना में सम्प्रदाय-भेद उपलब्ध होता है। पालि प्रातिमोक्ष में ९२ धर्म इस काण्ड में उल्लिखित हैं, महाव्यू-त्पत्ति में ९३। झूठ बोलना, धिड़ाना, चूगली, अनुपसम्पन्न के साथ अथवा स्त्री के

साथ लेटना, स्थियों को लम्बे उपदेश देना, चमत्कार की बातें करना, दुष्टलारोचन, जमीन लोदना या खुदवाना, वृक्ष आदि काटना, मित्वा करना, संघ की चीजों को आपस-बाही से छोड़ देना, प्राणियुक्त जल से सिंचन, बिना संघ की अनुमति के अथवा सूर्यास्त के बाद भिक्षुणियों को उपदेश देना, भिक्षुणी के साथ एकान्त में बैठना अथवा सलाह करके उसके साथ यात्रा, एक आवास में एक से अधिक भोजन, कुछ विशेष अवस्थाओं को छोड़कर गण के साथ भोजन, विकाल-भोजन, रखा हुआ भोजन खाना, मीरोग होते हुए मांग कर पी, मक्खन, तेल, मधु, खाँड़, मछली, मांस, दूध, दही आदि उत्तम भोजन का सेवन, बिना शिष्य हुए भोजन का सेवन, साया साधुओं को हाथ से भोजन देना, गृहस्थों में बैठकवाजी, सैनिक तमाशा या प्रदर्शन देखना, शराब पीना, ऊंगली से गुद-गुदाना, पानी में खेल करना, डराना या तिरस्कार करना, जाग तापना, गर्मी-बरसात एवं अन्य विशेष अवस्थाओं के अतिरिक्त आधे सहीने से पहले नहाना, प्राणि-हिंसा, झगड़ा बढ़ाना, दूसरे भिक्षु के पारार्थिक अथवा संपादित्य अपराधों को छिपाना, तीस वर्ष से कम उम्र वाले भिक्षु को जानते हुए उपसम्पदा देना, जानते हुए चोरों के काफिले में जाना, धर्म के शिक्षापदों को सीखने में आनाकानी अथवा धर्म के विरुद्ध भाषण, दूसरे भिक्षुओं को पीटना या चमकाना, संपादित्य का आरोप करना, किसी भिक्षु को हेरान करना या और भिक्षुओं के झगड़े में कान लगाना, संघकार्य में अपना मत न प्रकट करना अथवा प्रकट कर मुकर जाना, बिना सूचना के राजा के शयनागार में प्रवेश, बहुमूल्य वस्तु का हटाना, मध्याह्न के बाद बिना अत्यन्त आवश्यक कार्य के गाँव में प्रवेश करना, इत्यादि पाचित्तिय धर्मों में संगृहीत हैं।

प्रतिदेशनीय धर्म चार हैं। इनके करने पर भिक्षु को दूसरे भिक्षुओं के सामने अपना अपराध स्वीकार करना होता है एवं भविष्य में वैधान करने का वचन होता है। अज्ञा-तिक भिक्षुणी के हाथ खाद्य ग्रहण करना, भिक्षुओं के भोजन करते समय किसी भिक्षुणी को परोसने में हाथ बँटाने देना, निर्धन और श्रद्धालु उपासकों के घर भिक्षा ग्रहण करना, भय अथवा आशंका से आरण्यक शयनासन के युक्त होने पर पहले से अप्रतिसंविदित खाद्य-भोजन का स्वयं ग्रहण करना—ये ही प्रतिदेशनीय धर्म हैं।

शेष—काण्ड में शिष्ट व्यवहार के नियमों का संग्रह है जिन्हें कि भिक्षुओं को सीखना चाहिए। ऊपर कहा जा चुका है कि इनके परिगणन में बहुत संख्या-भेद है। उदाहर-णार्थ, पाणि-प्रातिमोक्ष में ७५ धर्मों का उल्लेख है, महाव्युत्सर्ग में १०६। अच्छी तरह कपड़ा पहनना, शऊर से उठना-बैठना, कहकहा न लगाना, सत्कारपूर्वक भिक्षा-ग्रहण करना, शऊर से खाना, दंग से उपस्थित व्यक्ति को ही धर्मोपदेश करना, खड़े-खड़े या

हरियाली या पानी में मल-मूत्र का त्याग न करना इत्यादि से सम्बन्ध रखनेवाली शिलाएँ इस काण्ड में संगृहीत हैं।

अधिकरण—शमथ में संघ के झगड़े मिटाने के तरीकों को बताया गया है—सम्मूल-विनय, स्मृति-विनय, अमूढ-विनय, प्रतिज्ञात-करण, यद्भूयसिक, यत्पापीयसिक और तृणप्रस्तारक—ये सात उपाय निर्दिष्ट किये गये हैं^{११}।

भिक्षुनिर्घा—यद्यपि स्त्रियों की प्रव्रज्या उस समय विधित थी तथापि भगवान् बुद्ध उसके लिए अपने संघ में पहले अनुमति नहीं देना चाहते थे। महाप्रजापति गौतमी के इस विषय में अनुरोध को उन्होंने कपिलवस्तु में अस्वीकार कर दिया था। पीछे गौतमी बहुत-सी शाक्य स्त्रियों के साथ केस कटाकर और कायाय वस्त्र धारण कर वैशाली पहुँची जहाँ कि तथागत महावन में विहार कर रहे थे। यहाँ द्वार पर उसके सूजे पैर, धूलि-घुसर गात्र और साधुमूख देखकर आनन्द के चित्त में कष्टा उपजी और उन्होंने तथागत से स्त्री-प्रव्रज्या का अनुरोध किया और कहा कि स्त्रियाँ आध्यात्मिक उन्नति कर सकती हैं और प्रजापति गौतमी तो भगवान् की मातृस्थानीया रही है। तथागत ने अनुरोध स्वीकार किया, किन्तु आठ शर्तों पर—भिक्षुणियाँ भिक्षुओं का आदर करेंगी, अभिक्षु-कुल में भिक्षुणियों का वर्षावास नहीं होगा, हर पक्षवारे भिक्षुणियाँ भिक्षु-संघ से उपोसथ—मूच्छा और अववादोपसंक्रमण प्राप्त करेंगी, वर्षावास के अनन्तर भिक्षुणियों को दोनों संघों में वृष्ट, धृत एवं परिशक्ति तीनों स्थानों से प्रवारणा करनी चाहिए, भिक्षुणी को दोनों संघों में पक्षमानता करनी चाहिए, दो वर्ष ६ धर्मों में शिक्षित होकर भिक्षुणी को दोनों संघों में उपसंपदा की प्रार्थना करनी चाहिए, भिक्षुणी को जाक्रोश-परिभाषण नहीं करना चाहिए, भिक्षुणियों के लिए भिक्षुओं को कुछ कहने का मार्ग निरुद्ध है, भिक्षुओं के लिए निरुद्ध नहीं है। इन शर्तों के साथ भिक्षुणी-संघ को अनुमति देते हुए भी तथागत ने यह कहा कि 'यदि स्त्रियाँ इस धर्म-विनय में प्रव्रज्या न पातीं तो यह सहस्र वर्ष तक ठहरता, स्त्री-प्रव्रज्या के कारण सद्धर्म केवल पाँच सौ वर्ष ठहरेगा।'

स्त्रियों के लिए प्रज्ञप्त ६ शिक्षापद (जो कि पार्श्वस्तिय संख्या ६३ से ६८ तक हैं) हिंसा, चोरी, अहङ्गचर्म, मुखावाद, मद्यपान और विकाल-भोजन का वर्जन करते हैं। उनके लिए उपदिष्ट प्रातिमोक्ष मेरे अनियत-काण्ड नहीं है। पाराजिक-काण्ड में ८ अपराध गिनाये गये हैं जिनमें भिक्षु-प्रातिमोक्ष के चार अपराधों के साथ चार और

का संनिवेश है—कामासक्ति से पुरुष का घुटने के ऊपर पैर दबाना, कामासक्ति से पुरुष का स्पर्श या एकाल में साथ, संघ से निकाले भिक्षु का अनुगमन, एवं किसी और भिक्षुणी के पारार्जिक अपराध को छिपाना । भिक्षुणियों के लिए १७ संघादिलेख अपराध बताये गये हैं—पुरुष के साथ घूमना, चोर को दीक्षा देना, अकेले घूमना, संघ से निकाली भिक्षुणी का अनुगमन, आसक्ति से पुरुष के हाथ से साथ लेना, अथवा दूसरी भिक्षुणी को इसके लिए उत्साहित करना, कुटनी बनना, निर्मूल या लेज माष से किसी पर पारार्जिक का आरोप करना, विरत्न का प्रत्याख्यान करना, संघ की निन्दा, कुसंग अथवा कुसंग के लिए प्रेरित करना, सीस न लेना, और कुलों को बिगाड़ना । नैसर्गिकों की संख्या भिक्षुणी-प्रातिमोक्ष में भी तीस है । पाबित्तियों की संख्या १६६ है जिनमें सहसुप्त खाना, कूड़ा-कचरा दीवार के पार फेंकना, नाच-गाने में जाना, दूसरे को सरापना, मृत कातना आदि सम्मिलित हैं । गभिणी, स्तन्यपायिनी, १२ वर्ष से कम की विवाहिता एवं बीस वर्ष से कम की कुमारी को उपसम्पदा नहीं दी जा सकती और न उसे जिसने दो वर्ष से कम शिक्षा ग्रहण की है । भिक्षुणियों के लिए पाटिदेननिय धम्म आठ हैं और भिक्षु-प्राति-मोक्ष के ३९ वें पाबित्तिय से अभिन्न हैं । शैक्ष धर्म और अधिकरण शमथ भिक्षुओं के सदृश है ।

वर्षावास—आज भी पूर्वी उत्तर प्रदेश एवं उत्तर बिहार में मागों और नदियों की अवस्था ऐसी है कि बरसात में यातायात दुष्कर हो जाता है । नदियों की बाढ़ से और भूमि के असाधारण रूप से समतल होने के कारण अनेक स्थल दीपवत् बन जाते हैं । तथागत के समय में इस प्रकार की कठिनाई आज से अधिक ही रही होगी । ऐसी स्थिति में यदि उस समय के परिव्राजकों में वर्षाकाल के लिए चारिका को स्थगित रखने की प्रथा का विकास हुआ तो उसे विस्मयावह नहीं कहा जा सकता । बाह्य भिक्षुओं के लिए भी वर्षा में स्थिर रूप से रहने का विधान है । विनय में कहा गया है कि पहले शाक्य-पुत्रीय भिक्षुओं को वर्षा में भी विचरण करते देखकर लोग हैरान होते थे कि जब अन्य सीपिक एक जगह रहते हैं और बिड़िया वृक्षों के ऊपर धौमले बनाकर रहती हैं शाक्य-पुत्रीय श्रमण कैसे हरे वृक्षों को रौंदते हुए एकेन्द्रिय जीवों को पीड़ित करते हुए तथा छोटे-छोटे जन्तुओं को मारते हुए विचरते हैं^{१६} । यह देखकर तथागत ने अपने अनुयायियों के लिए भी वर्षावास का विधान किया । आषाढ़ी पूर्णिमा अथवा श्रावणी पूर्णिमा के दूसरे दिन से तीन महीने तक उनके लिए यावा का निषेध था और उन्हें एक आवास में

रहना पड़ता था। अत्यधिक आवश्यकता पड़ने पर जैसे बीमारी के आपत्ति-काल में, या उपासकों के विशेष हित के लिए, अथवा आत्ययिक संघ-कार्य के लिए, भिक्षु आवास को सात दिन तक छोड़ सकते थे। यदि आवास में सुरक्षा-हानि, दुर्भिक्ष, रोग, शीत-विपत्ति, अथवा संघ भेद की सम्भावना हो तो आवास छोड़ने में दोष नहीं माना जाता था।

वर्षावास के अन्त में संघ की सम्मिलित होकर अपने अपराध की आदेशना करना आवश्यक था। इसको 'प्रवारणा' कहा जाता है। जिस प्रकार से उपोसथ पाशिक परिशुद्धि के लिए आवश्यक है ऐसे ही प्रवारणा एक प्रकार से वार्षिक परिशुद्धि है। वर्षान्त में ही उपासकों के द्वारा भिक्षु-संघ को दिये गये वस्त्रों से जीवर निर्माण कर भिक्षुओं की बंटे जाते थे। इस प्रकार के जीवर को 'कठिन' कहा जाता है। कठिन के निर्माण के लिए संघ एक विशेष भिक्षु को चुनता है जिसे दूर्वी के आवश्यक कार्य की अनुमति दी जाती है।

वैतनिक 'कर्म'—वित्त में अनुशासन के लिए अनेक विशिष्ट कर्मों का विधान पाया जाता है। यदि कोई भिक्षु विवादशील एवं कलहप्रिय हो अथवा अपनी मूर्खता से अपराध करे अथवा गृहस्थों से अधिक सम्पर्क में जाये तो उसके लिए तर्जनीय कर्म विहित है। ऐसे ही यदि कोई भिक्षु शील के विषय में उदासीन हो अथवा बुद्ध, धर्म एवं संघ की निन्दा करता हो तो वह भी तर्जनीय कर्म से दण्डनीय है। ऐसे अपराधी भिक्षु को चेतावनी देनी चाहिए। प्रातिमोक्ष के उपयुक्त नियम का स्मरण दिलाना चाहिए और फिर उसके लिए किये हुए विशिष्ट अपराध के दण्ड का उसे भागी बनाना चाहिए। संघ के समक्ष उसके अपराध को तीन बार शक्ति प्रस्तुत होनी चाहिए तथा संघ से उस भिक्षु के लिए तर्जनीय कर्म के आदेश का निवेदन करना चाहिए। दोषी भिक्षु को भी इस समझ में उपस्थित होना चाहिए तथा उसे इस बात का अंशतर मिलना चाहिए कि वह अपना अपराध स्वीकार करे अथवा अपनी निर्दोषता का स्मरण करे। जिस भिक्षु के लिए तर्जनीय कर्म का आदेश होता है वह उपसम्पदा नहीं दे सकता और न निश्रय। वह अन्य भिक्षुओं को उपदेश भी नहीं कर सकता और न भिक्षुणियों को उपदेश दे सकता है। इस प्रकार के निर्वचन का समुचित पालन करने पर दोषी भिक्षु से दण्ड हटा लिया जाता है।

यदि कोई भिक्षु गृहस्थों के साथ अधिक सम्पर्क में आता हो एवं प्रातिमोक्ष का उल्लंघन करता हो तो वह निश्रय कर्म का भागी होता है। उसके लिए एक भिक्षु जाचार्य के रूप में निश्चित किया जाता है और उसके आदेश का पालन दोषी भिक्षु के लिए आवश्यक होता है। यदि कोई भिक्षु कुलदूषक हो अथवा पापसमाचार हो तो

वह प्रयाजनीय कर्म का भागी होता है। उसे कुछ समय के लिए विहार छोड़कर स्वान्तर में विशेष नियन्त्रणों की परिधि में रहना होता है। यदि कोई शील अपवाध धर्म के विषय में विवादप्रिय हो अथवा आचरणहीन हो तो उसके लिए भी यही दंड विहित है। यदि कोई भिक्षु किसी गृहस्थ को हानि पहुँचाता हो अथवा उसकी निन्दा करता हो तो वह प्रतिस्मारणीय कर्म का भागी होता है। इस प्रकार के भिक्षु को न केवल तर्जनीय कर्म से दंडित भिक्षु के समान नियमों से रहना पड़ता है अपितु उस विशिष्ट गृहस्थ से क्षमा माँगनी पड़ती है। यदि कोई भिक्षु अपने अपराधों को स्वीकार नहीं करता अथवा कहे जाने पर धर्म-विरोध सिद्धान्त को नहीं छोड़ता तो वह उत्सेपणीय कर्म का भागी बनता है। वह अन्य भिक्षुओं के साथ नहीं ठहर सकता और न उनके साथ आहार आदि कर सकता है।

कुछ गौण अपराधों के लिए प्रतिशोषना का विधान है। संघ से भिक्षु को निकालने के लिए निस्सारणा शब्द का प्रयोग मिलता है। परिवास के चार प्रकार निर्दिष्ट हैं। अन्य सम्प्रदायों के सदस्य यदि बौद्ध संघ में प्रवेशार्थी हों तो उनके लिए चार सहोने का परिवास निर्दिष्ट है। यह एक प्रकार का 'प्रोबेशन' का समय है। संघादिवेष दोष के लिए अन्य तीन परिवासों का निर्देश है। जो भिक्षु परिवास में रहता है उसे अपने को अन्य भिक्षुओं से अनेक बातों में अलग रखना पड़ता है। उसके लिए सहावास, विप्रवास, एवं अनारोचना के नियन्त्रणों से शुद्ध रहना आवश्यक है। संघादिवेष अपराधों के लिए परिवास के अतिरिक्त मानस्य का विधान है। मानस्य में छः दिन के लिए भिक्षु को संघ की सदस्यता के सामान्य अधिकारों से वंचित रखा जाता है।

विवाद-शमय—प्रातिगोक्ष में विवादों के सुलझाने के लिए अनेक प्रकार निर्दिष्ट है। इसमें पहला सम्मुख विनय कहलाता है। संघ के समक्ष, अपवाधवादी और प्रतिवादी के आपस में एक-दूसरे के सामने, विवाद सुलझाने को सम्मुख-विनय कहते हैं। दूसरा स्मृति-विनय कहलाता है। यदि किसी भिक्षु के ऊपर लगे हुए अभिषेक को वह स्वीकार नहीं करता है और संघ के सामने आकर अपनी निर्दोषता को प्रकट करता है तो यह स्मृतिविनय कहलाता है। दर्म मल्लपुत्र ने भेत्तिवा भिक्षुओं के भिक्ष्या दोषारोपण का ऐसे ही प्रत्याख्यान किया था। तभी से इस स्मृति-विनय का प्रवर्तन हुआ। यदि किसी भिक्षु ने मूढ़ अवस्था में अपराध किया हो और उसे अमूढ़ अवस्था में उसका सचमुच स्मरण न हो और वह संघ के सामने यह प्रकट करे, तो उसे अमूढ़-विनय दिया जा सकता है। गर्ग भिक्षु के प्रसंग से इसका प्रारम्भ बताया गया है। अपने ऊपर लगाये गये अपराध का स्वीकार किया जाय तो प्रतिज्ञातकरण शमय होता। यदि किसी विवाद

का उद्वाहिका के द्वारा मुलज्ञान न होता हो और शलाकाग्रहण के द्वारा मुलज्ञान आवश्यक हो तो ऐसी अवस्था में यद्भूमिकीय अथवा मताधिक्य का सहारा लिया जाता है। यदि कोई भिक्षु अपने अपराध को कभी स्वीकार करे और कभी अस्वीकार करे अथवा विरह में जान-बूझ कर झूठ बोले तब उसे संघ के सामने अपराध के अभियोग का स्मरण दिलाया जाता है और उसकी उपस्थिति में उससे पूछने के बाद उस दंड का भागी समझा जाता है। यह तत्प्राणीपतिक कर्म कहलाता है। यदि बहुतने भिक्षु वर्गों, किसी अपराध में सम्मिलित हों तथा पीछे पश्चात्तापी हों तो उनके अपराध का संघ में प्रकट-विमर्श ठीक नहीं समझा जाता था एवं सामान्यतः संघ में आदेशना पर्याप्त मानी जाती थी। इसको ऊपर कहा जा चुका है कि संघ का कार्य गण-जन्यात्मक रीति से सम्पन्न होता था। आवास की परिपक्व में सभी भिक्षुओं का उपस्थित होना आवश्यक था। भिक्षु-संघ के सन्निहित होने पर कार्य सम्बन्धी प्रस्ताव अथवा 'शप्ति' का पेश किया जाता था, और उसकी तीन बार 'अनुधावणा' की जाती थी। संघ का मौन उसकी सम्मति मानी जाती थी और 'शप्ति' के आधार पर 'भारणा' प्रस्तुत होती थी। प्रायः सर्वसम्मति से ही निर्णय होते थे। किसी विषय पर मतभेद एवं विवाद उपस्थित होने पर उसे मुलज्ञान के लिए दो या अधिक भिक्षुओं के नाम संघ की सर्व-सम्मति से चुने जाते थे। इस समिति को 'उद्वाहिका' कहा जाता है। यदि ये भिक्षु भी निर्णय नहीं कर पाते थे तो प्रस्तुत विषय फिर से संघ के सामने लौट आता था और मताधिक्य से ही उसका निर्णय किया जाता था। मतदान शलाकाग्रहण के द्वारा होता था और इस कार्य के लिए एक विशेष अधिकारी शलाका-ग्राहक के नाम से नियुक्त होता है। यह स्पष्ट है कि यद्यपि संघ के कार्य-व्यापार में मतैक्य का प्राधान्य स्वीकृत था, तथापि आवश्यक होने पर मताधिक्य से भी निर्णय वैध था।

सम्पत्ति—संघ में संपत्ति का अधिकार अतीतानागत चातुर्विध संघ का माना जाता था। भिक्षु सभी अपरिग्रह का व्रत लिये होते हैं। अतएव भिक्षा में प्राप्त सामग्री पर संघ का मुख्य अधिकार मानना चाहिए, किन्तु इस अधिकार का अनियोजित प्रयोग नहीं किया जाता था। भिक्षु के मरने पर उनकी संपत्ति का संघ ही वितरण करता था। अन्न आदि दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संघ में विशेष भिक्षुओं को अधिकारी नियुक्त किया जाता है। ऐसे कई अधिकारियों के नाम उपलब्ध होते हैं। भक्तोद्देशक अन्न बाँटता था, यानु-भाजक यानु आदि बाँटता था। शयनासन-ग्राहक भिक्षु संघ की ओर से विहार आदि का दान स्वीकार करता था। शयनासन-प्रज्ञापक विहार के अन्दर शयनासन आदि का वितरण करता था। भाण्डानारिक चीवर, प्रतिग्राहक,

बीयर-भाजक, शाटी-घाहक, अल्पमात्रक-विसर्जक, पात्र-घाहक, नवकर्मिक, आरामिक, आमणेर-प्रेषक, आसन-प्रज्ञापक एवं ऊपर निर्दिष्ट शलाका-घाहक आदि की नियुक्ति आवश्यकता के अनुसार होती थी। नियुक्ति सर्वसम्मति से की जाती थी।

पहली संगीति और धर्म-विनय का संग्रह

प्रथम संगीति की ऐतिहासिकता—बौद्ध परम्परा के अनुसार विनय और सूत्र-पिटकों का संग्रह बुद्ध के परिनिर्वाण के अनन्तर राजगृह की प्रथम संगीति में हुआ था। प्रथम संगीति का उल्लेख अनेक संदर्भों से प्राप्त होता है। पालि विनय के चुल्लवग्ग में इस संगीति का एक प्राचीन वर्णन उपलब्ध है। परवर्ती सिंहलीय ऐतिहास तथा बुद्धधर्म की व्याख्याओं में यही से इस सम्बन्ध में सामग्री ली गयी है। महावस्तु एवं मनुष्यमूलकल्प में भी संक्षिप्त उल्लेख मिलते हैं। महाशासक, धर्मगुण, महासांघिक एवं सर्वास्तिवाद के विनयों में इस संगीति का उल्लेख है, किन्तु ये सब विनय चीनी अनुवादों में ही उपलब्ध होते हैं। काश्यप-संगीति-सूत्र, अशोकावदान, महाप्रज्ञा-पारमिता-शास्त्र, एवं परिनिर्वाणसूत्र में भी उल्लेख है, किन्तु ये भी चीनी में ही सुरक्षित हैं। चीनी में एक अन्य ग्रंथ की भी उपलब्धि होती है जिसमें काश्यप और आनन्द के द्वारा परिनिर्वाण के अनन्तर त्रिपिटक के संग्रह का विवरण दिया गया है। "एकोत्तरागम के पहले अध्याय की चीनी व्याख्या में भी प्रथम संगीति का उल्लेख है। तारानाथ एवं बुद्धों के बौद्धधर्म के तिब्बती इतिहासों में भी इस संगीति का विवरण उल्लिखित है।

पहली संगीति की ऐतिहासिकता और कार्य पर प्रचुर विवाद ऐतिहासिकों में हो चुका है। मितमेफ, ओल्डेन्बर्ग, फ्रान्के, प्रिलुस्की, दत्त, फ्राउवाल्लर, आदि ने समस्त सामग्री का संघन कर नाना मत प्रस्तुत किये हैं। ओल्डेन्बर्ग का विश्वास था कि पहली संगीति विषुद्ध कल्पना है। इस धारणा के समर्थन में प्रधान युक्ति यह थी कि महापरिनिर्वाण सूत्र में संगीति का उद्देश्य और अवसर दोनों प्रस्तुत हैं, किन्तु संगीति के विषय में पूर्ण मीन स्वीकार किया गया है। फ्रान्के ने इसे स्वीकार कर यह सुझाव

२९-वत्त, अली मोनेस्टिक बुद्धिस्म, जि० १, पृ० ३२६।

३०-३०-मिनयेफ, रेथर्श सूर ल बुद्धिस्म, ओल्डेन्बर्ग, स३० डी० एम० जी०, १८९८, पृ० ६१३-९४, फ्रान्के, जे० पी० टी० एस० १९०८, पृ० १-८०, नलिनालवत्त, अली मोनेस्टिक बुद्धिस्म, जि० १, प्रिलुस्की, लकीसीय द राजगृह, फ्राउवाल्लर, पूर्व०।

प्रस्तुत किया कि बुल्लवग के संगीति-सम्बन्धी अंश भी महापरिनिर्वाण-सूत्र पर ही आधारित रहे होंगे और अतएव उन्हें भी अप्रामाणिक मानना चाहिए। ओल्डेनबर्ग की युक्ति का प्राकोबी ने समीचीन उत्तर दे दिया है। महापरिनिर्वाण-सूत्र के लिए यह अनावश्यक था कि वह संगीत का विवरण दे। यह भी कहा गया है कि बुल्लवग के एकादश और द्वादश स्कन्धक कदाचित् मूलतः महापरिनिर्वाण सूत्र के अंग रहे हों। यह तो निस्सन्देह है कि ये दो स्कन्धक बुल्लवग के परिशिष्ट के रूप में हैं और मूलतः उसके अंग नहीं थे। बुल्लवग का एकादश स्कन्धक उसके अन्य अंगों की ओर आहवा प्रारम्भ होता है, कुछ-कुछ वैसे ही जैसे कि महापरिनिर्वाण सूत्र, और उससे वस्तुतत्पुत्र्य भी रहता है। संयुक्त-वस्तु नाम के मूल सर्वास्तिवादियों के विनय में एक साथ ही परिनिर्वाण और संगीतियों का वर्णन दिया गया है। अतएव यह सम्भव है कि बुल्लवग का एकादश स्कन्धक महापरिनिर्वाण सूत्र का अन्तिम अंग रहा हो, किन्तु ऐसा रहने पर यह सुबोध नहीं है कि स्वविरसादियों ने इन दो को पुनर्कृत कर दिया। कदाचित् बुल्लवग के द्वादश स्कन्धक के सादृश्य के कारण एकादश स्कन्धक को उसके साथ रखा गया हो। इस पर एक परिकृत मतान्तर कादवाल्सर ने प्रस्तुत किया है जिसके अनुसार महापरिनिर्वाण सूत्र और प्रथम संगीति का विवरण प्रारम्भ में साथ थे और विनय के अन्तिम अंग थे। दूसरी संगीति का विवरण प्रासंगिक परिशिष्ट के रूप में जोड़ दिया गया। यह मत सर्वाधिक समीचीन प्रतीत होता है।

यद्यपि अब पहली संगीति को केवल कल्पना नहीं कहा जा सकता तथापि उनका कार्य सदृश्य रहता है। पूर्व ने इस संगीति को एक बड़ी प्रातिमोक्ष-परिपक्व कहा है। मिनयेक ने पहले ही कहा था कि धर्म और विनय के संग्रह की कथा कदाचित् मूल संदर्भ में न रही हो। नलिनाश दत्त ने संगीति का प्रयोजन उन भद्रकामुद्ध-शिक्षापदों का निर्णय बताया है जिनको परिवर्तित करने की अनुमति तत्काल ने निर्वाण से पहले दी थी। इस दशा में ज्ञानन्द के द्वारा सूत्रों का समापन वाद का प्रयोग है जबकि मूल में केवल ज्ञानन्द की परिवादिका ही वर्णन रहा होगा। इतना तो स्पष्ट है कि उपलब्ध विनय और सूत्र पिछके अपने वर्तमान बृहद् कलेवर में परिनिर्वाण के समनन्तर तत्काल संगृहीत नहीं किये जा सकते थे, किन्तु संग्रह का प्रयास तत्काल किया गया हो, यह भी सर्वथा सम्भाव्य एवं युक्तियुक्त है। तथापि तो कहा जा 'धर्मों की भिन्नता समन्वयेन साधा' एवं ज्ञानन्द ने परिनिर्वाण के अनन्तर तत्कार से यही दुहराया था कि धर्म ही उनका मात्ता है। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक है कि तत्काल के अनन्तर उनके शिष्यों ने 'धर्म-विनय' का संग्रहण किया हो। समस्त भिक्षु-संघ को एक सूत्र में बाँधने

के लिए एवं उसके दिग्दर्शन के लिए इस प्रकार का धर्म-संग्रह एवं विनिर्णय आवश्यक था।

प्रथम संगीति—विनय में संगीति का विवरण इस प्रकार दिया हुआ है—पाँच सौ भिक्षुओं के साथ महाकाश्यप पावा और कुसीनारा के बीच थे जब उन्होंने एक आजीवनक से सुना कि सप्ताह भर पूर्व तपागत का परिनिर्वाण हुआ है। यह सुनकर अवीतराग भिक्षु रोये, वीतराग भिक्षुओं ने अनित्यता का स्मरण कर दुःख महत्। किन्तु भुभद्र नाम के एक बृद्ध प्रव्रजित ने कहा कि अच्छा हुआ जो महाभ्रमण के नाना विधि-नियमों से छुट्टी मिली 'अब हम जो चाहें करेंगे, जो न चाहेंगे, न करेंगे।' यह सुनकर महाकाश्यप ने कहा कि अधर्म और अविनय प्रकट हो रहा है, यह आवश्यक है कि धर्म और विनय का संगायन किया जाय।

संगीति के लिए महाकाश्यप ने एक कम पाँच सौ अर्हत् चुने। आनन्द के शीघ्र होने पर भी धर्म और विनय से उनके बहुत परिचित होने के कारण उन्हें भी चुन लिया गया। राजगृह में वर्षावास करते हुए धर्म और विनय के संगायन का निश्चय किया गया। पहले महीने में टूटे-फूटे की मरम्मत की गयी एवं दूसरे महीने में संगीति हुई। आयुष्मान् आनन्द भी संगीति के पहले अर्हत् बनाये गये। महाकाश्यप ने उपालि से विनय के सम्बन्ध में प्रश्न किया। उन्होंने पूछा कि प्रथम पाराजिक कहीं प्रज्ञप्त किये गये थे, किसे लेकर, एवं किस विषय में। उपालि के उत्तर सुनकर महाकाश्यप ने प्रथम पाराजिक की वस्तु, निदान, पुद्गल, प्रज्ञप्ति, आपत्ति एवं अनापत्ति भी पूछी। इसके अनन्तर दूसरे, तीसरे एवं चौथे पाराजिक के सम्बन्ध में प्रश्न किये गये। इस प्रश्नोत्तरी को कुछ विस्तार से दिया गया है। इसके अनन्तर कहा गया है कि इसी उपाय से दोनों विभंगों (उभयो विभंग) अर्थात् भिक्षु और भिक्षुणी विभंगों, को पूछा गया और आयुष्मान् उपालि ने उनका उत्तर दिया। इस विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि मूलतः केवल प्रातिमोक्ष के सम्बन्ध में ही प्रश्न किये गये थे।

इसके अनन्तर महाकाश्यप ने आनन्द से धर्म के सम्बन्ध में प्रश्न किया। उन्होंने पूछा कि ब्रह्मजाल-सूत्र कहीं नापित किया गया एवं किसे लेकर। ब्रह्मजाल-सूत्र के निदान और पुद्गल को भी उन्होंने पूछा। ऐसे ही फिर आमष्यफल के सम्बन्ध में प्रश्न किया। इसी उपाय से पाँचों निकायों को पूछा और आयुष्मान् आनन्द ने पूछे का उत्तर दिया। इसके अनन्तर आनन्द ने स्वविर भिक्षुओं से कहा कि भगवान् ने परिनिर्वाण के समय कहा था 'आनन्द, मेरे अनन्तर संघ श्रुद्रकानुश्रुद्र शिष्यापदों को चाहने पर हटा सकता है।' इस पर आनन्द से प्रश्न पूछा गया कि क्या उन्होंने इन शिष्यापदों के विषय में तपागत से प्रश्न किया था। आनन्द के 'नहीं' कहने पर स्वविरों ने

नाता मत प्रस्तुत किये। कुछ ने कहा कि चार पाराजिकों को छोड़कर शेष सब शिक्षापद तुच्छ हैं, कुछ ने कहा कि पाराजिकों और संधादिशेषों को छोड़कर शेष क्षुद्र हैं। इसी प्रकार अन्य स्थविरों ने प्रातिमोक्ष के विभिन्न भागों को क्षुद्रकानक्षुद्र बताया। इस प्रसंग में यह स्मरणयोग्य है कि अधिकारधिक पाराजिक, संधादिशेष, नैसर्गिक, प्रायश्चित्तिक एवं प्रायश्चित्तिक धर्मों को महत्त्वपूर्ण माना गया। प्रतिदेशनीय धर्म सभी ने क्षुद्रानुक्षुद्र बताया। शैव धर्मों का अथवा अधिकरण-धर्मों का इस प्रसंग में उल्लेख नहीं मिलता। इस पर महाकाव्य ने यह प्रस्ताव रखा कि संघ न तो अप्रजप्त का प्रजापन करे और न प्रजप्त का समुच्छेद, अन्यथा शिक्षापदों से कुछ उस समय छोड़ देने पर उनके गृहस्थों में भी विदित होने के कारण यदि उनमें संघ को लोकनिन्दा का भागी होना पड़ेगा। यह कहा जायगा कि शास्ता के परिनिर्वाण के अनन्तर शास्त्रपुत्रीय अपने धर्म का यथावत् पालन न कर पाये। यह प्रस्ताव संघ को स्वीकृत हुआ। तब स्थविरों ने आनन्द पर क्षुद्रानुक्षुद्र शिक्षापदों के तथागत से न पूछने का दुष्कृत अपराध आरोपित किया। आनन्द ने अपराध की आदेशना की। इसके अनन्तर आनन्द के कुछ और अपराध प्रकाशित किये गये, यह कहा गया कि उन्होंने भगवान् की वर्षाभाटी को पैर से दाब कर सिखा। आनन्द ने कहा कि यह उन्होंने अगौरव समझकर नहीं किया था एवं इसको वे दुष्कृत नहीं समझते, तथापि उन्होंने स्थविरों के गौरव को सांच अपराध की देशना की। आनन्द पर अन्य अभियोग थे—उन्होंने भगवान् के शरीर की वंदना सबसे पहले स्त्रियों से करवाई जिनके आँसुओं से उनका शरीर लिप्त हुआ, उन्होंने तथागत के संकेत करने पर भी उनसे कल्प भर ठहरने की प्रार्थना नहीं की, एवं उन्होंने तथागत के बतलाये धर्मचिन्तन में स्त्रियों की प्रव्रज्या के लिए उत्सुकता पैदा की। इन सब दुष्कृतों के लिए आनन्द से क्षमायाचन के लिए कहा गया। आनन्द ने अपराध स्वीकार नहीं किया और कहा कि बिकाल न हो इसलिए उन्होंने स्त्रियों से वंदना करायी। मार से विभ्रान्त होने के कारण तथागत से वे ठहरने के लिए प्रार्थना नहीं कर पाये एवं महाप्रजापति गौतमी के गौरव से उन्होंने स्त्री-प्रव्रज्या के लिए अनुरोध किया। तथापि स्थविरों के गौरव से उन्होंने क्षमा-प्रार्थना की।

उस समय आयुष्मान् पुराण दक्षिणागिरि में पाँच सौ भिक्षुओं के साथ चारिका कर रहे थे। जब वे राजगृह लौटे तबसे स्थविर भिक्षुओं ने अपने धर्मचिन्तन के संयायन का उल्लेख करते हुए कहा कि वे उस संयायन को मानें, किन्तु आयुष्मान् पुराण ने कहा, 'जैसा मैंने भगवान् से प्रत्यक्ष सुना है और समझा है, ऐंसे ही मैं समझूँगा।'

इसके अनन्तर आनन्द ने स्थविरों से छत्र नाम के भिक्षु को ब्रह्मदंड देने की तथागत

की आज्ञा का उल्लेख किया। 'ब्रह्मदंड कैसे होगा' यह पूछे जाने पर आनन्द ने कहा— 'छत्र भिक्षु जैसा चाहे, कोई भिक्षु छत्र से न बोले, न उपदेश करे, न अनुशासन करे।' आनन्द से कहा गया कि वे स्वयं छत्र को ब्रह्मदंड की आज्ञा दें। छत्र के कोपी और कटुभाषी होने के कारण आनन्द ने कुछ आशंका प्रकट की। अतएव बहुत-से भिक्षुओं के साथ उन्हें नाव से कोशांबी जाने की अनुमति दी गयी। कोशांबी में पहुँच कर राजा उदयन के अन्तपुर की स्त्रियों से आयुष्मान् आनन्द की मुलाकात हुई। आनन्द ने उन्हें धर्म का उपदेश किया। स्त्रियों ने उन्हें पाँच सौ उत्तरासंग प्रदान किये। जब राजा उदयन ने यह सुना उन्हें आकुलता हुई कि क्यों श्रमण आनन्द ने इतने अधिक चीवरों को लिया। 'क्या श्रमण आनन्द कपड़े का व्यापार करेंगे या दूकान खोलेंगे?' उन्होंने आकर आनन्द से पूछा कि वे इतने अधिक चीवरों का क्या करेंगे। आनन्द ने बताया कि जिनके चीवर फट गये हैं उन्हें बाँटेंगे, पुराने चीवरों के बिछौने, बिछौनों की चादर, पुरानी चादरों के गिलाफ और पुराने गिलाफों के फर्श बनावेंगे इत्यादि। यह सुनकर राजा उदयन ने आनन्द को पाँच सौ चादरें दीं। इसके अनन्तर आनन्द धोषिताराम गये और छत्र को ब्रह्मदंड दिया। यह सुनकर कि भिक्षुओं को उनसे नहीं बोलना होगा, छत्र मूर्छित हो गये, किन्तु शीघ्र ही उन्होंने अप्रमाद और उद्योग से एवं एकान्त-वर्षा से जर्हत्त्व प्राप्त किया। उनके जर्हत्त्व प्राप्त करने पर उनका ब्रह्मदंड हट गया।

इस विनयसंगीति में पाँच सौ भिक्षु थे, इसलिए इसे पंचशतिका कहा गया।

इस विवरण के विभिन्न अंश सब एक सुदृढ़ सूत्र से बँधे हुए नहीं हैं, किन्तु वे सभी एक स्वाभाविक रीति से कही हुई कथा के अन्तर्गत हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि आयुष्मान् आनन्द के तत्प्राप्त के विशेष कृतपात्र होने के कारण अन्य भिक्षु उनसे कुछ असन्तुष्ट थे एवं परिनिर्वाण के अवसर पर उनकी व्यवस्था से विशेष रूप से असन्तुष्ट हुए। यह अत्यन्त स्वाभाविक स्थिति है। यह भी स्पष्ट है कि महापरिनिर्वाण सूत्र से इस संगीति के वर्णन को यदि अनुसृत न माना जाय तो इसका बहुत-सा अंश निरर्थक एवं अप्रासंगिक हो जाता है। संगीति की ओर पुराण का दृष्टिकोण यह सूचित करता है कि वह सर्वमान्य नहीं हुई थी। यह भी स्वाभाविक है कि परिनिर्वाण के बाद की पहली वर्षा में समस्त संघ का एकत्र होना कठिन रहा होगा और जो भिक्षु वहाँ नहीं आ पाये थे एवं जिन्होंने स्वयं तत्प्राप्त से उपदेश ग्रहण किया था, उन्होंने अपनी स्मृति को ही प्रधान माना हो। कदाचित् इस संगीति में प्रातिपक्ष-सदृश कुछ प्रधान विनय के विषयों का एवं ब्रह्मजाल एवं आत्मफल सदृश कुछ प्रधान सूत्रों का संग्रहण हुआ था, किन्तु धर्म-विनय का कोई एक सर्वसम्मत अथवा सर्वग्राही स्वरूप प्रस्तुत नहीं हो पाया।

विनय का संपादन

वर्तमान समय में निम्नोक्त सम्प्रदायों के विनय उपलब्ध होते हैं—स्थविरवादियों का विनय पालि में, सर्वोस्तिवादी, धर्मगुप्तक, महीशासक एवं महासाधिकों का चीनी में, तथा मूलसर्वास्तिवादियों का चीनी और तिब्बती अनुवादों में तथा अंशतः मूलसंस्कृत में। इनमें सर्वोस्तिवादी, धर्मगुप्तक, महीशासक और स्थविरवादियों के विनयों में बहुत सादृश्य है। यदि कम, विस्तार एवं कुछ अभिव्यक्ति-भेद को छोड़ दिया जाय तो यह कहा जा सकता है कि इन विनयों में वस्तुगत अभेद है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये किसी एक मूल विनय की विकसित शाखाएँ हैं। काउजालनर महोदय ने यह मत प्रकट किया है कि सम्भवतः अशोक ने जिन भिक्षुओं को विभिन्न प्रदेशों में धर्म के प्रचार के लिए भेजा था और जिन्होंने उन प्रदेशों में संघ के आवास स्थापित किये थे, उन्हीं में इन सम्प्रदायों का उदय हुआ। अतएव सबको एक ही मूल की शाखाएँ मानना उचित होगा।

सर्वोस्तिवादियों का विनय चीनी भाषा में कुमारजीव, पुष्पघात एवं धर्मरत्न ने ईसवीय ४०४-४०५ में अनुदित किया था। इस विनय के दो भाग हैं—विभंग एवं विनयवस्तु। विनयवस्तु भिक्षु-विभंग एवं भिक्षुणी-विभंग के बीच में डाल दिया गया है, जैसा कि महासाधिकों के विनय में भी पाया जाता है। विनयवस्तु के भी दो भाग हैं—विनय-महावस्तु एवं विनय-शुद्रकवस्तु। यह स्मरणीय है कि पालि विनय में विनयवस्तु के स्थान पर स्कन्धक शब्द का प्रयोग किया गया है, यद्यपि पालि विनय में विनयवस्तु नाम अज्ञात नहीं था। कुल्लवम्मा के बारहवें सप्तशतिकास्कन्धक में चाम्पेयकस्कन्धक के स्थान पर चाम्पेयक-विनयवस्तु का उल्लेख इस बात का प्रमाण है। विभंग को तिब्बती अनुवाद में श्रान्तिमोक्षभाष्य कहा गया है।

धर्मगुप्तकों के विनय का काश्मीरक बुद्धयशसु एवं नृपोत्तिघन ने ईसवीय ४०८ में चीनी भाषा में अनुवाद किया। महीशासक विनय से इसका घनिष्ठ साम्य है। उदाहरण के लिए, इन्हीं दोनों विनयों में बीवरयसु के साथ विरुद्धक के द्वारा शाक्यों का विनाश वर्णित किया गया है। महीशासकों का विनय फासिघन सिंहल ने चीन लाये थे और काश्मीरक बुद्धजीव ने उसका ४२३-४२४ ईसवीय में चीनी अनुवाद किया था। इस विनय की अवस्था अज्ञात अपूर्ण और संक्षिप्त है। पालि विनय महेन्द्र एवं संघमित्रा के साथ भारत में सिंहल पहुँचा था एवं इस पर प्राचीन सिंहली अट्टकथाओं के आधार पर अन्वार्थ बुद्धर्षण ने पाँचवीं शताब्दी के आरम्भ में सघनपासादिका नाम

की अट्ठकथा लिखी थी। इसमें प्रातिमोक्ष सूत्रों को पूर्ण नहीं किया गया है, भिक्षु-विभंग को महाविभंग कहा गया है एवं परिवार नाम से दोनों विभंगों का एक आलोचनात्मक संक्षेप भी जोड़ दिया गया है। मूलसर्वास्तिवादियों के विनय का ई-वि ने ईसवीय ७०३-१० में चीनी अनुवाद प्रस्तुत किया, किन्तु यह अनुवाद अपूर्ण था। केवल इसी विनय का सिध्दन्ती में पूर्ण अनुवाद उपलब्ध होता है। 'गिलगित मैनेस्क्रिप्ट्स' नाम की ग्रन्थमाला में मूलसर्वास्तिवादी विनय का बहुत-सा अंश मूल संस्कृत में प्रकाशित हुआ है। यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि मूलसर्वास्तिवादी विनय में बुद्ध के जीवन-चरित का वृत्तान्त एक साथ अन्त में दिया गया है एवं उनके प्रारम्भिक जीवन का भी उल्लेख यहाँ मिलता है। महासंधियों के विनय की पांडुलिपि काशियन पाटलिपुत्र से चीन लामे से एवं बुद्धभद्र के साथ उन्होंने स्वयं उसका चीनी अनुवाद ४१६ ई० में प्रस्तुत किया था। अन्य विनयों से इसमें भेद अपेक्षाकृत अधिक है।

विनय की उत्पत्ति और विकास के विषय में ओल्वेन्बर्ग ने यह मत प्रकट किया था कि प्रातिमोक्ष, एवं स्कन्धकों में उपलब्ध कुछ कर्मवाचाओं का उद्गम सबसे पहले मानना चाहिए। इसके अनन्तर निरुक्तिप्रधान प्रातिमोक्ष के विभंग को मानना चाहिए। कथाएँ और इतिहास जो कि इस समय विभंग में उपलब्ध होते हैं और भी बाद में विकसित हुए होंगे। शूलवग्ग के अंतिम दो स्कन्धक इनके पश्चात् माने जाने चाहिए एवं सबसे बाद में परिवार का संयोजन स्वीकार होना चाहिए। इस प्रकार विनय का विकास पाँच अधस्ताओं में बताया गया है^{११}। इस विषय पर फाडवालनर महोदय ने अधिक विचार-पूर्वक मतान्तर प्रकट किया है^{१२}। उनका कहना है कि न केवल प्रातिमोक्ष अपितु विभंग में आयी हुई अनेक कथाएँ तथा अर्धवर्गीय सूत्र आदि कुछ सन्दर्भ अत्यन्त प्राचीन थे एवं इनके आधार पर परिनिर्वाण के प्रायः सौ वर्ष बाद मूलक स्कन्ध का एक समग्र-रचना के रूप में संपादन हुआ। इस मूल स्कन्धक के प्रणेता ने परम्परा प्राप्त वैनयिक नियम एवं तत्सम्बन्धित कथाओं के आधार पर एक विशिष्ट कमयुक्त एवं रीतिबद्ध ग्रन्थ की रचना की। इस मूलस्कन्ध के प्रारम्भ एवं अन्त में तथागत के जीवनचरित के अंश थे एवं उनकी जीवनी के अन्तर्गत विभिन्न अवसरों का उल्लेख करते हुए वैनयिक नियमों का प्रतिपादन किया गया था। महापरिनिर्वाण सूत्र इस मूल स्कन्धक का अन्तिम भाग था

११-ओल्वेन्बर्ग (पी० टी० एन० में सं०) विनयपिटक, जि० १, भूमिका, एत० वो० ई० जि० १, भूमिका।

१२-पूर्व०।

एवं उसके साथ प्रथम संगीति की कथा अनुसृतत थी। द्वितीय संगीति का वर्णन समसामयिक छटना का वर्णन है एवं उसे एक परिशिष्ट के रूप में माना जाना चाहिए। निकाय-भेद के अनन्तर इसी मूल स्वग्रन्थ के आधार पर साम्प्रदायिक विनयों की रचना हुई। इसी कारण उनमें मौलिक समुद्रम उपलब्ध होता है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है विनय के दो मुख्य भाग हैं—विभंग एवं स्वग्रन्थक स्वग्रन्थक के प्रधान अकरण विभिन्न विनयों में कुछ आठवांभेद, कमभेद एवं विभाज्य-भेद के साथ उपलब्ध होते हैं। इससे भी उपर्युक्त सम्भावना पुष्ट होती है। यह स्मरणीय है कि ललितविस्तर में तथा महावस्तु में शाक्यमुनि की जीवनी, उनके जन्म से प्रारम्भ कर उनके प्रारम्भिक धर्म प्रचार तक दी गयी है। यह सम्भव है कि मूल स्वग्रन्थ में ऐसा रहा हो, किन्तु पालि विनय में बूढ़ वरित सम्बंधों से धर्म-व्यवहारेण तथा विद्या तथा है। इस भूमिका के अनन्तर प्रव्रज्या, पोषध, वयोवास एवं प्रवारणा के सम्बन्ध में स्वग्रन्थों अथवा वस्तुओं की उपलब्धि होती है। ये चार प्रकरण संध में प्रवेश एवं उसके प्रमुख सामूहिक कार्यों को नियमित करते हैं। इनके अनन्तर धर्मवस्तु, भोग्यवस्तु, जीवरवस्तु एवं कठिनवस्तु में भिक्षुओं के उपयोगी वृत्ते, कपड़े, दवाएँ आदि का नियमन है^{३४}। तदनन्तर कोषान्वकवस्तु, धर्मवस्तु, पादुकोहितक वस्तु, पुद्गलवस्तु, पारिवारिकवस्तु, पोषध स्थापनवस्तु, धामवस्तु, संधभेदवस्तु, कवनोसनवस्तु, आचारवस्तु, शुद्धकवस्तु एवं अन्त में भिक्षुगीवस्तु का स्थान है^{३५}। इस प्रकार लगभग बीस प्रकरणों में स्वग्रन्थ मिश्रित होता है। दोनों संगीतियों का विवरण इत बीस स्वग्रन्थों अथवा वस्तुओं के अनन्तर रचना चाहिए। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पहली संगीति का विवरण महापरिनिर्वाण के वर्णन का अंतिम भाग था।

‘विनय’ का युग—निर्वाण की प्रथम शताब्दी में संध—उपलब्ध विनयवितक में बुद्धाब्द की प्रथम शती में संध की अवस्था का सजीव चित्र उपलब्ध हुआ है। शीघ्र कोटिकर्ण की कथा में सद्वर्णन की दृष्टि से प्रायन्त जनपदों का उत्प्रेषण इस प्रकार किया गया है—पूर्व में कल्लव नाम का निगम जिसके बाद बड़े साधु के अंशक है, उसके पदे प्रथम जगपद है। पूर्व-दक्षिण दिशा में कल्लवती नाम की नदी है, दक्षिण दिशा में

३४—यह सर्वास्तिवादो विनय का कम है। महासायिक और पालि विनयों में कुछ भेद है।

३५—विभिन्न सम्प्रदायों के विनयों में कमभेद के लिए ३०—काउचान्तर, पूर्व० पृ०

श्वेतकणिक नाम का निगम है, पश्चिम दिशा में स्वर्ण नाम का शास्त्रणग्राम है, उत्तर दिशा में उशीरध्वज नाम का पर्वत है। इस वर्णन से सद्यः की तत्कालीन भौगोलिक स्थिति का संकेत मिलता है। बिहार एवं उत्तर प्रदेश में सद्यः विकसित प्रतीत होता है। इनके बाहर के प्रचलित जनपदों में, जैसे कि अवंत दक्षिणापथ में, संघ के लिए कुछ विशेष निगम प्रवर्तित किये गये। इन प्रदेशों में केवल पाँच भिक्षुओं के गण से उपसम्पदा करनी विहित थी एवं भिक्षुओं को 'एकपलाशिका' उपासद् की अनुज्ञा थी। निराल स्नात भी उनको अनुमत था। अवंत-दक्षिणा-पथ में मगध में अजन्त में, एवं मगध में के आस्तरणों की अनुमति दी गयी थी। शीवर-गर्वाय भी अनुमत था। कहा गया है कि शीण कोटि-कर्ण के द्वारा महाकाव्यावन के अनुरोध पर तथागत ने ही इन अपवादों का प्रवर्तन किया था, किन्तु सम्भवतः यह परिनिर्वाण के बाद की अवस्था का चिह्न है। दूसरी संगीति के विवरण का विस्तृततर भूगोल इससे अनुमेय है कि वही अजन्त और मध्यम जनपदों का भेद विगलित हो गया है एवं मध्यदेश के अन्दर भी संघ में पूर्वदेशीय और पश्चिमदेशीय जातियों का भेद प्रकट हो गया है।

बौद्ध संघ अनेक संघारामों एवं विहारों में विभक्त या जिनकी अलग-अलग सीमाएँ थीं। सीमाएं प्रायः तीन पोजन से अधिक नहीं होती थीं एवं प्राकृतिक चिह्नों के द्वारा उनकी सूचना मानी जाती थी। प्रारम्भ में भिक्षुओं के लिए कृत्रिम विहारों का निर्देश नहीं था और वे जंगल, पहाड़, गिरिकंदरा, श्मशान एवं सुले मैदान या खंडहरों या निर्जन स्थानों में रहा करते थे, किन्तु उपासकों की दानशीलता से एवं वर्णाश्रम के आधार से धीरे धीरे विविध आरामों एवं विहारों का निर्माण प्रचलित हो गया। कहा जाता है कि पहले राजगृह के धौली ने संघ के लिए साठ विहार बनाये जिन्हें अतोवा-नागत चातुर्विंश भिक्षु संघ के लिए प्रतिष्ठित किया गया। इस अवसर पर तथागत ने पाँच प्रकार के लपनों अथवा निवास-स्थानों की अनुमति संघ को दी—विहार, अष्ट-द्योम (जिसे गरुड की तरह टेढ़ा मकान बताया गया है), प्रासाद, हर्म्य एवं गृहा। गृहा को चार प्रकार का कहा गया है—ईंट की, पत्थर की, लकड़ी की, एवं मिट्टी की। कमजोर विहारों का रूप और निर्माण अधिकधिक परिष्कृत एवं विकसित हो गया। प्रारम्भिक विहार कदाचित् वानप्रस्थों की गर्णशालाओं के सदृश थे, किन्तु पीछे इनका रूप परिवर्तित हो गया। विहारों के चारों ओर आराम होते थे जोकि बांस अथवा काँटों की बाड़ अथवा खाई से सीमित होते थे। इन बाड़ों में फाटक और तौरण इत्यादि बनते

ये । चारों तरफ की दीवार अथवा प्राकार का भी उल्लेख मिलता है । प्राकार के द्वार पर नीचाखाने की तरह से कोण्डक अथवा कोठा होता था । छोटे विहारों के एक और तथा बड़े विहारों के बीच में गर्भगृह अथवा कोठरियाँ बनती थीं । ये कोठरियाँ तीन प्रकार की कही गयी हैं—शिविकागर्भ, मालिकागर्भ एवं हर्म्यगर्भ । परिवेण अथवा अंगन में बालू एवं पत्थर का फर्श बनाया जाता था । भोजन के लिए पृथक् उपसद्यालयालया होती थी; पानी के लिए, स्नान के लिए एवं निवृत्त होने के लिए अलग शालाग्रां अथवा कुटियाँ बनती थीं । पाँच प्रकार की छतों का उल्लेख है—ईदों की, गिला की, बूने की, तितकों की, एवं पत्तों की । दीवारों पर और फर्श पर सफेद, काला और गेरुआ रंग रहता था । स्त्री-पुरुष के बिचों का निषेध था किन्तु माता, सभा, मङ्गरदान आदि की अनुमति थी । सोविर्मा, अल्लिव, प्रषण, प्रकुद्व आदि का उल्लेख मिलता है ।

बौद्ध भिक्षुओं के लिए ममता का निषेध था जोकि विशेष रूप से आजीवकों का लक्षण था । ऐसे ही उनके लिए ब्राह्मणों के विदित कुश-बीर, वल्कल-बीर, एवं मृग-छाल का निषेध था । अन्य तीर्थिकों में विदित फलक-बीर, केश-कम्बल, उम्बल के पक्ष के अथवा अर्कनाल के कपड़े भी बौद्ध भिक्षुओं को निषिद्ध थे । विनय की अदृढता के अनुसार तथागत की वद्वल-प्राप्ति से बीस वर्ष तक सब भिक्षु पांशुकुलिक रहे और किसी ने गृहपति-बीवर का धारण नहीं किया । बीवर-स्वल्पक के अन्तर्गत जीवक-चरित में जीवक के द्वारा तथागत और भिक्षुसंघ का पांशुकुलिक के रूप में वर्णन किया गया है । जीवक ने बुद्ध से राजा प्रघोत के द्वारा भेजे गये शिषि के पुत्राले के जोड़े की स्वीकार करने के लिए तथा भिक्षु-संघ को गृहस्थों के दिये बीवरों के स्वीकार करने की अनुमति के लिए अनुरोध किया । बुद्ध भगवान् ने यह अनुरोध मान लिया और भिक्षुओं को अनुमति दी कि वे चाहे पांशुकुलिक रहे, चाहे गृहपति, बीवर का धारण करें । पीछे देवदत्त के अनुरोध करने पर भी उन्होंने सब भिक्षुओं को पांशुकुलिक होने पर मजबूर नहीं किया । उन्हें पहिनावे के लिए तीन बीवरों का विधान था जो कि उत्तरासव, अन्त-बांसक, एवं संघाटी कहे जाते थे । छः प्रकार के वस्त्रों के बीवर बनाये जा सकते थे—झीम, कापांस, कोशेय, कम्बल, सल और भग । प्रावरण की भी भिक्षुओं को अनुमति थी चाहे वे कोलीय अथवा कोजय के हों । कम्बल की भी अनुमति थी । बीवरों को उपासकों से लेने, सम्हालने एवं भिक्षुओं में बाँटने के लिए बीवर-अतिवाहक, बीवर-निधायक, एवं बीवर-भाजक नाम के पदों में योग्य भिक्षुओं को बना जाता था । बीवरों को रखने के लिए संघाराम में एक भाण्डागार होता था और उससे सम्बन्धी एक भाण्डागारिक

उपासकों से प्राप्त वस्त्र को भिक्ष-बीवर के रूप में काटने, सीने और रंगने का विधान उपलब्ध होता है। आसनों के लिए प्रत्यस्तरण, सीमियों के लिए चौपीम, पथिक-सादिका, मूँह पोछने के लिए अंगोछा, एग बैला आदि आवश्यक गरिमाकार-वस्त्र का भी विधान प्राप्त होता है। इन कपड़ों में जोड़, पैबन्द, रफू आदि भी विहित थे। वर्षावास की समाप्ति पर सारे संघ की सम्मति से किसी भिक्षु को जो बीवर दिया जाता है, उसे 'कटित' कहा जाता है। विनय के अनुसार प्रयोजित हुए चम्पा के श्रेष्ठिमुख धोम कोटिचिद्य के क्षत-विक्षत पैरों की देखकर तथागत ने भिक्षुओं को एकतल्ले के जूते पहिने की अनुमति दी। बहुत तल्लों का जूता भी पहिना जा सकता था यदि उसे किसी ने पहिन कर छोड़ा हो। सत्कार्त्तव्यसमाज में प्रचलित नाना प्रकार के जूतों का भिक्षुओं के लिए उल्लेखपूर्वक निषेध किया गया है। नीरोग अवस्था में आराम के अन्दर भी जूते का निषेध था। किन्तु रात के समय आराम में भी उल्ला, प्रदीप और वस्त्र के साथ जूते का उपयोग भी अनुमत था। काठ की पादुका अथवा नाना ताड़, पास, मूँज तुष आदि से बनी पादुकाओं का व्यवहार भिक्षुओं की अनुमति नहीं था। उनके लिए आरोग्य की अवस्था में जूता पहिने माँघ में प्रवेश करना मना था। यद्यपि गृहस्थों को चमड़े से मड़ी चारपाइयों अथवा चौकियों में भिक्षु बैठ सकते थे, वहाँ केटना उनके लिए निषिद्ध था। चमड़े के लोम से पशु-हिंसा प्रेरित करना भिक्षुओं के लिए बड़ा अपराध था। चर्म का धारण, विशेष रूप से गाय के चर्म का धारण निषिद्ध था, किन्तु प्रत्यक्ष जन्तुपद में चर्ममय आस्तरण का उपयोग अनुमत था।

भिक्षुओं को साधारणतया केवल भिक्षा में प्राप्त अन्न से ही निर्वाह करना होता था यद्यपि निमन्त्रण एवं स्वयं उपगत दान का भी वे स्वीकार कर सकते थे। आराम के भीतर रखे, भीतर पकाने और स्वयं पकाने का ज्ञान उनके लिए निषिद्ध था। दुग्ध में इस नियम का अपवाद किया जा सकता था। निर्जल वन-प्रदेश में फलों का स्वयं ग्रहण किया जा सकता था। अरण्य और पुष्करिणी की उपज, यथा कमल-नाल, भोजन के अन्तर्गत भी खायी जा सकती थी। नये तिल और गहूँ की भी उसी प्रकार अनुमति थी। भिक्षुओं के लिए गुड़, मूँग और नमकीन सौंवरक या छाछ भी विहित थे। ऐसे मत्स्य और मांस का खाना निषिद्ध था जिसमें अपने लिए की गयी हिंसा दृष्ट, श्रुत अथवा परिष्कृत हो। हाथी, घोड़ा, कुत्ता, साँप, सिंह, बाघ, भालू एवं लकड़वाग्य के मांस का भक्षण सर्वथा निषिद्ध था। खिचड़ी न केवल अनुमत अपितु प्रशस्त थी। लहट्टू (मधुमोक्त) भी विहित था। विहार में प्राप्त साँघों के रखने के लिए एक विशेष स्थान होता था जिसे कल्प-भूमि कहा जाता है। भिक्षुओं के लिए पाँच गोरखों

का पहला अनुमत था—दूध, दही, मछी, मकलन और घी। मित्रित मार्ग में घाघन को निषेध नहीं था। पाच्य के रूप में तंदुल, मूँग, उजद, मसक, मूँद, तेल अथवा घी का प्रहण किया जा सकता था। मित्रु फलों के रस का विकास में भी ध्यान कर सकते थे।

भैषज्य के रूप में पहले केवल गोमय का विधान था। पीछे घी, मकलन, तेल, मधु, और खाँड़ की भी अनुमति भिक्षुओं को दी गयी। इस रूप में इनका प्रहण पूर्वाङ्ग और अपराङ्ग दोनों में ही किया जा सकता था। अनेक पदार्थों को चर्बी का भी दवाई के रूप में उपयोग किया जा सकता था। नाना मूल, कपास, पर्ण, फल, रस, और लतन की औषधों का प्रयोग अनुमत था। अनेक जमे-रोमी में चुने-रूप औषध विहित थी। दवा बनाने के लिए खरल-जट्टा, जौलती और मूमल, एवं चालनी का उपयोग किया जा सकता था। भूत-प्रेत के द्वारा आवेश होने पर कच्चे मांस और कच्चे खून का सेवन निषिद्ध नहीं था। आँख के रोग के लिए अजन, अजन पीसने की सामग्री, अजनधानी, मलाई, एवं मलाईधानी का उपयोग होता था। सिर के दर्द के लिए अनेक उपाय विहित थे—सिर में तेल मारना, नस लेना, एवं घूम-जेक में दवाई का घुंसा पीना। वात-रोग में तेल पकाता अनुमत था। तेल-पाक में आवश्यक होने पर जल-मात्रा में घट जाड़ी जा सकती थी। तेल को ताँवे, काठ और फल के तूँजे में रखा जा सकता था। वात में विहित अनेक चिकित्साओं का उल्लेख प्राप्त होता है—स्वेद-कर्म, सम्भार-स्वेद, महा-स्वेद, भगोदक, उदकाकोटक एवं सीम से खून निकालना। फटे पैरा में मालिश अनुमत थी। कोढ़ों में नीर-फाव और मलहम-बूँदी विहित थी। खों के काटने पर चार महाविकट शिष्या जाते थे—मल, मूत्र, राग और मिट्टी। बिच की भी ऐसी ही चिकित्सा थी। साँप से डकने के लिए एक 'रथा' का पाठ भी विहित है।

भिक्षुओं के लिए लम्बे केश रखने का एवं बाँधी, लटकन, कर्णमूत्र, फटिमूत्र, खट्टा, केजूर, हस्ताभरण, अंगूठी आदि आभूषणों का निषेध था। आरोग्य में कभी अथवा चर्बन का प्रयोग नहीं किया जा सकता था। मुख पर लेप, मालिश या चुर्चु का प्रयोग, या सैलमिल में मुख का अंकित करना अथवा संस्कार या मुखराग का प्रयोग निषिद्ध था। भिक्षुओं को केवल छोटे एवं मिट्टी के पात्रों की अनुमति थी। नींद बनाने के लिए चर्बी, मूँद और मसलन (कच) की अनुमति थी। मूँद, केची, दवाई आदि रखने के लिए घेनी का उपयोग होता था एवं पानी छानने के लिए परिखावण तथा मड्ड (धर्मकरक) की अनुमति थी। मच्छरों से डकने के लिए मसहरी का उपयोग विहित था। चूड़ा, झाड़ू, पत्ता, धात, छींका और बँडा—इनका भी आवश्यकता के अनुसार उपयोग किया जा सकता था।

पाँच प्रकार के संघों का निर्देश प्राप्त होता है—चार व्यक्तियों का भिक्षु-संघ जिसे चतुर्वर्ग कहते हैं, पंचवर्ग, दशवर्ग, विंशतिवर्ग, एवं अतिरेकविंशति वर्ग । चतुर्वर्ग भिक्षु-संघ उपसम्पदा प्रचारणा एवं आह्वान—इन तीन कर्मों को छोड़कर, धर्म से समत हो, सभी कर्मों के करने योग्य है । पंचवर्ग भिक्षुसंघ आह्वान और सभ्य जनपदों में उपसम्पदा को छोड़कर अन्य कर्मों में समर्थ है । विंशतिवर्ग एवं अतिविंशति वर्ग भिक्षु-संघ सभी कर्मों के करने में समर्थ माने जाते हैं । कर्त्तव्य आधुनिक 'कोरम' के समान है । निशुणी शिक्षमाणा, आमभेरी आदि से भी वर्गवृत्ति करना अपूर्ण वर्ग से व्यसक्त बताया गया है । कर्मों के सम्बन्ध में अनेक नियम विहित थे । उदाहरण के लिए, कुछ कर्म क्षणिकीय कहे जाते थे, इनमें क्षणिक के अनन्तर कर्मभाव्य कहे जाते थे । कर्म के लिए समागत भिक्षु सम्मुख हूँति में एवं आए हुए भिक्षुओं से उनके छन्द (मंत्र) प्राप्त होते थे । कुछ कर्म क्षणिकचतुर्थ कहे जाते थे । इनमें क्षणिक के अनन्तर तीन कर्मभाव्य आवश्यक थे । इन नियमों के उल्लंघन होने पर कर्म विनयविषय समझा जाता था । यदि कर्म-प्राप्त भिक्षु सभ्य न आये हों और न उनके छन्द प्राप्त हुए हों तो कर्म को धर्मकर्म कहा जाता था । इनके विपरीत सब की उपस्थिति में एवं मत के ज्ञात होने पर समग्रकर्म कहा जाता है । धर्मकर्म निर्दिष्ट था । संघ की समग्रता पर बहुत जोर दिया गया है । दो प्रकार की संघसामग्री का उल्लेख है—अधेरहित, किन्तु व्यञ्जनयुक्त, एवं अधेरयुक्त तथा व्यञ्जनयुक्त । जिस वस्तु में संघ में विषाद उत्पन्न होता है अथवा वस्तु का बिना निर्णय किये संघ सामग्री करता है, उसे अधेरहित किन्तु व्यञ्जनयुक्त संघसामग्री कहा गया है । जिस वस्तु में संघ में सगडा होता है उसके निर्णय के अनन्तर संघसामग्री अधेरयुक्त तथा व्यञ्जनयुक्त करी जाती है ।

संघभेद की प्रवृत्ति पाचमयुगीनों में विशेष रूप से विद्यमान थी और इसका पहला प्रकाश तथामत के जीवन काल में ही उपलब्ध होता है । देवदत्त, शासन, राजा भद्रिक, अनिकट आदि के साथ प्रवृत्ति हुआ एवं तपस्वियों के द्वारा उसने कुछ निर्दिष्ट प्राप्त की । देवदत्त की इच्छा थी कि तथामत के स्वाम पर वह स्वयं भिक्षु संघ का नेता बने । उसने पहले बुद्ध भगवान् से यह अनुरोध किया कि वे बड़े हो गये हैं, उन्हें आराम करना चाहिए और भिक्षुसंघ को देवदत्त की दे देना चाहिए । तथामत ने इसका अस्वीकार किया और राजगृह के संघ में देवदत्त का प्रयत्नयोग्य कर्म किया गया । अर्थात् वह घोषित किया गया कि देवदत्त पहले और प्रकार का था, अब और प्रकार का है, उसके कर्मों का जिम्मेदार संघ नहीं है । देवदत्त ने अज्ञातवास को बनाकर दिखला कर अपने पाद में लिया एवं उसके कहाने से अज्ञातवास ने अपने पिता वसवराज अंगिक विनिव-

सार के बच का प्रयत्न किया तथा देवदत्त ने स्वयं बुद्ध भगवान् को मारने के लिए अनुचर भेजे, किन्तु वे असफल रहे। इस पर देवदत्त ने गृध्रकूट पर्वत की छाया में टहलते हुए गौतम पर एक बहुत बड़ी शिला फेंकी जिसके एक टुकड़े से उनके पैर से तबिर बह निकला। इस प्रयत्न के भी असफल होने पर देवदत्त ने नालागिरि नाम का भल हाथी राजगृह में भगवान् बुद्ध पर छोड़ा, किन्तु बुद्ध के मैत्री-चित्त से हाथी उनके सामने झुक गया। इन सब प्रयत्नों में विफल होकर देवदत्त ने संघ में फूट डालने का प्रयास किया। उसने कोकालिक, कटमोर, तिस्सक और बंडवेवी-पुत्र समुद्रदत्त से कहा कि तपायत से पाँच वस्तुएँ मांगी जायें जिन्हें वे स्वीकार न करेंगे। उनके न मानने पर हम भिक्षुओं को समझाकर अपने साथ अलग ले जायेंगे। ये पाँच वस्तुएँ थीं—भिक्षु आजीवन आरज्यक रहें, पिण्डपातिक रहें, पांसकुलिक रहें, वृक्षमूलि रहें एवं मत्स्यमांस न खायें। भगवान् बुद्ध ने इन बातों की अनुमति नहीं दी। तब देवदत्त ने राजगृह में प्रवेश कर धूम-धूसरकर कहा कि श्रमण गौतम ने तपस्विता के इन प्रत्यक्ष नियमों का विरोध किया है, इन पाँच बातों की श्रमण गौतम अनुमति नहीं देते। यह सुनकर बहुतसे लोगों ने सोचा कि देवदत्त सचमुच तपस्वी है जबकि श्रमण गौतम केवल बटोर है, और यह सोच कर देवदत्त का अनुसरण किया। अनुयायियों का संग्रह कर देवदत्त ने भिक्षुसंघ से अलग हो अपना उपोसथ किया। उपोसथ में उसने इस बात पर शलाका पकड़वाई कि जिन लोगों को उसकी पाँच बातें पसन्द हैं वे शलाकाग्रहण करें। बैशाली में पाँच सौ बज्जि-पुत्रक नये भिक्षुओं ने शलाकाग्रहण किया। उसपर देवदत्त संभ्रमेद कर उन्हीं पाँच सौ भिक्षुओं के साथ गयाधीर्य चल दिया और वहाँ स्वयं धर्मदेखना करने लगा। पीछे शारिपुत्र और माण्डगल्याण वहाँ जाकर उन भिक्षुओं को वापिस ले आये। इस पर कहा जाता है कि देवदत्त के मूल से गर्म खून निकला।

विनय के उपर्युक्त वर्णन से यह प्रतीत होता है कि देवदत्त के द्वारा संभ्रमेद का प्रयत्न सर्वथा असफल हुआ था, तथापि तथ्य ठीक ऐसा नहीं है। आताक्षियों पीछे भी देवदत्त के अनुयायियों का उल्लेख प्राप्त होने से जान पड़ता है कि देवदत्त ने बुद्ध के समय में ही अपने पुत्रक सम्प्रदाय की स्थापना की थी जो कि किसी न किसी रूप में बहुत दिन तक रहा^{११}। इस वास्तविकता से सूचित आशंका से ही संघ में फूट डालना बहुत बड़ा अपराध बताया गया है।

नवामन्तुक भिक्षु के लिए अनेक नियम कहे गये हैं। उन्हें आराम में प्रवेश करते

समय जूता खोलकर और उसे हाड़कर हाथ में ले लेना चाहिए, छाते को उतार कर और शरीर के बीचर को कंधे में ठीक तरह से करने के पश्चात् आराम में प्रवेश करना चाहिए। जहाँ आवासिक भिक्षु उपस्थानशाला, मण्डप या वृक्षछाया में आ-जा रहे हों वहाँ जाकर एक ओर पात्र-बीबर रखकर बैठना चाहिए और आवश्यक पानी छिड़ककर हाथ-पैर धोना चाहिए और जूता पोंछना चाहिए। आगन्तुक को आवासिक भिक्षुओं का उचित अभिवादन करना चाहिए और फिर उनसे क्षयनासन विषयक एवं अन्य आवश्यक बातें पूछनी चाहिए। आवासिक भिक्षुओं के लिए भी यह आवश्यक था कि वे आगन्तुक भिक्षु को आसन-पादोदक आदि दें, उनका उचित स्वागत करें, शयनासन आदि का प्रसापन करें। रात्रि पर जाने के पहले भिक्षु को काष्ठ-मिट्टी के बरतनों से सम्भाल कर, सिंहकी-दरवाजों को बन्द कर, क्षयनासन के लिए पुच्छकर जाना चाहिए। पिच्छधारिक भिक्षु को बिना ठीक से वस्त्र धारण किये गाँव में नहीं जाना चाहिए। घर के अन्दर शीघ्र प्रवेश नहीं करना चाहिए और न देर तक खड़ा रहना चाहिए। भिक्षा देने वालों स्त्रियों के मुँह की ओर नहीं देखना चाहिए। आरम्भिक भिक्षुओं को समय से उठकर पात्र को सैले में रख, कन्धे पर छटका तथा बीचर को कन्धे पर रख, जूता पहन कर निकलना चाहिए।

दूसरी संगीति—दूसरी संगीति की सूचना जिन अनेक मूल ग्रन्थों से प्राप्त होती है उनमें पालिबिनमपिटक के जुल्लवग्ग एवं सर्वास्तवादी विनयशुद्धकवस्तु का स्थान मुख्य है। जुल्लवग्ग से ही परवर्ती पालि परम्परा निकली है। दूसरी ओर बुद्धों और तारानाथ का विवरण विनयशुद्धकवस्तु पर आधारित है। भव्य, वसुमित्र, विनीतदेव एवं द्वाग्धारा ने भी द्वितीय संगीति का वर्णन किया है, किन्तु भव्य, वसुमित्र और विनीतदेव महासाधिकों के विनय-विरुद्ध कार्यों का उल्लेख नहीं करते। वे संघभेद को केवल महादेव की 'पाँच प्रतिज्ञाओं' से प्रादुर्भूत मानते हैं। कुछ अन्य परवर्ती ग्रन्थों में भी द्वितीय संगीति के उल्लेख उपलब्ध होते हैं जैसे कि महावस्तु अथवा मञ्जुश्रीमूलकल्प में^{१६}।

३८-३०-वत्त, अल्लो मोनेसिटक बुद्धिस्स, जि० २, पृ० ३० प्र०; सर्वास्तवादी परम्परा के लिए ३०-रांकहिल, साहस्र ओष बुद्ध, पृ० १७१-८०; ओवर-मिलर आइ० एच० क्यू० १९३२; वसुमित्र के विवरण का अनुवाद—ममुवा, ऑरिजिन एण्ड डीवेलपमेन्ट ऑफ दि अल्लो इण्डियन बुद्धिस्स स्कूल्स; भव्य के लिए ३०-वालेडेरे, दी सेक्तेन देस आल्लेन बुद्धिस्समुस; बुद्धों के

अब कहा जा चुका है कि सम्भवतः विनयपिटक का स्कन्धक नाम का भाग दूसरी संगीति के आस-पास रचा गया होगा। वस्तुतः मूल स्कन्धक की रचना स्वविर-परम्परा के उल्लेख के साथ समाप्त हो गयी थी। यह अंश वस्तुतः पालि विनय में उपलब्ध नहीं होता, किन्तु मूल ग्रन्थ में सम्भवतः रहा होगा। इस प्रकार मुख्य ग्रन्थ के समाप्त होने पर दूसरी संगीति का विवरण एक प्रकार से परिशिष्ट का जोड़ना है और इस प्रकार के परिशिष्ट का संयोजन उसमें वर्णित वृत्तान्त की तत्कालीन स्थिति के कारण ही समझा जा सकता है।"

बुद्धधम्म के इस अंश की आख्या सप्तसत्तिका स्कन्धक है। उसका प्रारम्भ इस प्रकार होता है—उस समय परिनिर्वाण के १०० वर्ष बीतने पर वैशाली के वज्जिपुलक भिक्षु इन १० वस्तुओं का प्रचार करते थे—'भिक्षुओं, धूमि-सम्पन्न-कल्प विहित है, दम्भमुलकल्प विहित है, ग्रामान्तर कल्पः, जात्रास कल्पः, अनुमत कल्पः, आशीर्ष कल्पः, समीक्षा कल्पः, जलोनीधान कल्पः, वयशक कल्पः, जातकरवृत्त कल्पः।' इस १० बातों के ठीक-ठीक अर्थ दुर्बोध हैं। धूमि-सम्पन्न-कल्प के अर्थ अनेक प्रकार से बताये गये हैं—“सीम में तमक रखना, अथवा तमक बचा रखना, अथवा तमक बराबर आपने साथ रखना, अथवा तमक और अक्षरक जात रख लेना।" धूम्यमुल-कल्प का एक स्थान पर तर्प मध्याह्न के बाद जब छाया दो अपुल हो जाय तो भोजन करना बताया गया है। अन्य व्याख्या के अनुसार भोजन के अन्तर दो उर्मिकर्षों से ऐसे भोजन की उठा लेना जोकि जूँटा नहीं था—वही इसका अर्थ करना चाहिए। तीसरे, ग्रामान्तर कल्प का एक अर्थ है द्वारा खाने के इरादे से गाँव को जाना। गाँव जाकर भोजन माना किन्ति बने हुए भोजन के नियम का पालन करना—यह भी अर्थ बताया गया है। विहार में भोजन अथवा भोजनार्थ दूर होते पर यात्रा के समय भोजन करना, यह एक चौथरी व्याख्या है। आवास-कल्प का एक अर्थ यह किया गया है कि एक ही सीमा के अन्दर दूसरा उपोसथ करना। अन्य व्याख्या के अनुसार यह एक ही विहार में पृथक् समीक्षाका का समर्पण है। अनुमतिकल्प को कार्य करने के बाद अनुमति लेना, अथवा

इतिहास का भीष्मरमिलर ने तथा साराज्ञास का वीष्मर ने अनुवाद किया है। भिनयेंक (पुर्व) तथा वासिन्निमेक, वेर बुद्धिस्मृत, अभी भी उपलब्ध है। यथीन वृत्तिधर्म में इ०-आउवातमर पुर्वः, वारी, ले० सेकतबुद्धीक व पेति केहीकल सत्तानि, इस्वार ह बुद्धीम आधी, पृ० १३८ प्र०।

मस्त काम पहले कर लेना और पीछे संघ की अनुमति मांगना, अथवा वर्ग में पहले संघ से पुनः काम कर लेना तथा पीछे औरों की अनुमति मांगना बताया गया है। जातीय-कल्याण का तात्पर्य उपाध्याय के आचार का अनुकरण करना अथवा प्रचलित ढंग में आचरण करना, अथवा अपने पिछले गृहस्थ जीवन के आचार का अनुकरण करना बताया गया है। अभिषिक्त-कल्प को सम्पादित भोजन के बाद दही खा लेना, अथवा बिना उबला दूध, दही और मक्खन मिलाकर खा लेना, अथवा भोजन के पश्चात् पी. गह्वर, दही और मक्खन मिलाकर खाना अथवा दही का गिकाल में खाना, अथवा आधे दूध, आधे दही का भोजन के पश्चात् पीना बताया गया है। जलाशय कल्प का अर्थ अभी न सुवाई हुई अप्रामाण्य-मद्य तानी पीना, अथवा वरिष्ठ स्थिति में मद्य पीना, अथवा जलाशय-मद्य पीना, अथवा बौक की तरह से सूसकर खराब पीना बताया गया है। अश्वाक कल्प के अर्थ बताये गये हैं—बिना किनारी के आसन या कटाई का उपयोग, अथवा ऐसे नये आसन का उपयोग जिसमें गुरागे आसन का कुछ भाग त्रये के किनारे के तीर पर नहीं लगाया गया है, आसन को बिना जोड़-बाड़ के खाना, आसन खाने में नियत नाम न रखना। जातस्वरभक्त-कल्प के अर्थ सोना-चाँदी भिक्षा में ग्रहण करना अथवा सोना-चाँदी और अन्य बहुमूल्य वस्तुओं का या द्रव्य का ग्रहण करना बताये गये हैं। तिष्पती विवरण में इस दस वस्तुओं से भिन्न कुछ अन्य वस्तुएँ भी बतायी गयी हैं जैसे "जलज" का उपचारण करना, भोजन में अभिरति, एवं अभीन को खोदना माथूसरे से खीर खाना। महीमासक-नियम में एक और नयी बात का उल्लेख है—'बैठना और खाना', यद्यपि इसका ठीक-ठीक अर्थ नितान्त दुर्बोध है"।

इस दस विषय-विषय वस्तुओं में अधिकांश आध्यात्मिक दृष्टि से उत्तम नीति प्रतीत होती हैं, किन्तु अन्य वर्गों के इतिहास से भी यह सुविधित है कि धार्मिक विवाद और संगीतिर्मा बहुधा ऐसे ही छोटे-बड़े विचार अथवा अभिव्यक्ति के भेद से उत्पन्न होते रहे हैं। थीमती रीजडेविट्स का कहना है कि वेसाली के भिक्षुओं के इस विवाद में वस्तुतः एक प्रकार से जादेशिक आकाशों एवं व्यक्तियों की स्वतंत्रता का दावा अन्तर्निहित है। उनका यह भी कहना है कि उस समय की धार्मिक स्थिति ऐसी हुई सोना-चाँदी के उपयोग को महत्त्वशाली नहीं माना जा सकता और अतएव उनका ग्रहण भी महत्त्व का न रहा होगा। कुछ अन्य विद्वानों ने भी इस विमर्श-विरोध का कारण

वैशाली के भिक्षुओं की संप्रतन्त्रतात्मक दृष्टि को माना है एवं यह कहा है कि वज्रिपुत्रक भिक्षु अपने को अर्हत कहने वाले बड़े भिक्षुओं की सर्वथा आत्माकारिता के लिए तत्पर नहीं थे। इतना तो स्पष्ट है कि स्वविर भिक्षु नियमों में अधिक कट्टर थे और वैशाली के वज्रिपुत्रक भिक्षु आचार का अपेक्षाकृत कम संयत (दृष्टिनेत्र से, उदार) आदर्श उपस्थित करते थे। भोजन एवं भिक्षा सम्बन्धी भू मिलवण-कल्प, दयवृत्त०, धामान्तर०, अमन्ति०, जलोत्ती० एवं जातरूपपरजत० से यह स्पष्ट है। अनुमतकल्प, एवं जाचीर्य-कल्प आचार में तत्त्वधिक स्वाधीनता एवं अनियम के कारण हो सकते थे।

बुल्लवग्ग के अनुसार आयुष्मान् यश ने वैशाली में उपोसथ के दिन वज्रिपुत्रक भिक्षुओं को उपोसथों से संघ के लिए कार्यापण, अभेदापण, पादकार्यापण, अथवा साधारण मंगिते हुए देखा। आयुष्मान् यश के विरोध करने पर वैशाली के वज्रिपुत्रक भिक्षुओं ने उनका प्रतिसारणीय कर्म करने का निश्चय किया। यश ने निरमलः अनुवृत्त माँगा और उसके साथ वैशाली के उपोसथों के समस्त अपने पक्ष का प्राचीन संदर्भों से उद्धरण देते हुए समर्थन किया। इस पर वज्रिपुत्रक भिक्षुओं ने आयुष्मान् यश का उत्तेषणीय कर्म करना निश्चित किया। इस पर यश कौशाम्बी चले गये। वहाँ से उन्होंने पावा-निवासी एवं अवन्ति-दक्षिणापथ के निवासी भिक्षुओं के पास दूत भेजा कि वैशाली में अयमं हो रहा है, उसका निवारण होना चाहिए। आयुष्मान् सम्भूत पाणवासी जो कि जेहोगंग पर्वत पर वास करते थे इस विवाद-क्षम में भाग ग्रहण करने के लिए राजी हुए। वहाँ जेहोगंग पर्वत पर पावा के भी छः भिक्षु एकत्र हुए और अवन्ति दक्षिणापथ के ८८ भिक्षु आये। सबने सोरेय्य में वास करने वाले आयुष्मान् रेवत का अपने पक्ष में संग्रह करने का संकल्प लिया। आयुष्मान् रेवत इससे बचने के लिए सोरेय्य से संकाश्य चले गये, संकाश्य से कान्यकुब्ज, कान्यकुब्ज से उदुम्बर, उदुम्बर से अमलपुर और वहाँ से सहजाति। सहजाति में जाकर भिक्षु उन्हें पकड़ पाये।

आयुष्मान् यश ने आयुष्मान् रेवत से वैशाली में प्रचारित १० वस्तुओं का उल्लेख किया एवं पूछा कि वे निहित हैं अथवा नहीं। रेवत ने उन वस्तुओं के अभं की जिज्ञासा प्रकट की। आयुष्मान् यश ने उनकी विवादास्पद १० वस्तुओं के अभं बताये। रेवत ने उन सब काल्पों को निषिद्ध ठहराया एवं इस बात के लिए सहमत हुए कि वैशाली में उनके प्रचार का विरोध किया जाय। दूसरी ओर वैशाली के वज्रिपुत्रक भिक्षुओं ने यह सुनकर कि यश का कट्टरपुत्र अपने समर्थन के लिए पक्षसंग्रह कर रहे हैं, प्रतिपक्ष-

संघ का प्रयत्न किया। वे भी आयुष्मान् रेवत को अपनी ओर करने के लिए बहुत-से साज-सामान लेकर उनके पास गये। पात्र, चीवर, निर्घोदन, सूचीघर, कायबन्धन, परिभाषण, धर्मकरक आदि लेकर नाव से बज्जिपुत्तक भिक्षु सहजाति पहुँचे। बज्जिपुत्तकों के कहने पर भी आयुष्मान् रेवत ने उनसे श्रमण-परिष्कार का ग्रहण नहीं किया। आयुष्मान् रेवत का एक २० वर्ष का उत्तर नामक भिक्षु सेवक था। बज्जि-पुत्तकों के बहुत कहने पर उसने एक चीवर ग्रहण किया और इस बात पर राखी हुआ कि संघ के बीच में यह कह दे कि पूर्वी जनपदों में बुद्ध भगवान् उत्पन्न होते हैं, यहाँ के भिक्षु धर्मवादी हैं, पावा के अधर्मवादी। आयुष्मान् उत्तर ने आयुष्मान् रेवत से भी यह कहने के लिए निवेदन किया, किन्तु उन्होंने स्वीकार नहीं किया। विवाद के निर्णय के लिए वैशाली प्रस्थान किया गया। उस समय आयुष्मान् आनन्द के शिष्य सर्वकामी नामक सप्त-स्थविर १२० वर्ष की अवस्था के थे और वैशाली में रहते थे। वे भी आयुष्मान् यश के पक्ष में हो गये।

विवाद के निणय के लिए संघ के एकत्र होने पर बहुत समय तक बहस होती रही। अन्त में विवाद के निर्णय के लिए आयुष्मान् रेवत ने एक उद्वाहिका के चुनाव के लिए अग्नि प्रस्तुत की। चार पूर्वी और चार पश्चिमी भिक्षु चुने गये। पूर्वी भिक्षुओं में आयुष्मान् सर्वकामी, आयुष्मान् साइ, आयुष्मान् क्षुद्रलोभित और आयुष्मान् वाषाभपा-मिक एवं पश्चिमी भिक्षुओं में आयुष्मान् रेवत, आयुष्मान् संभूत शाणवासी, आयुष्मान् यश का कण्ठक-पुत्र, और आयुष्मान् सुमन चुने गये। आयुष्मान् अजित आसन-प्रसा-पक नियुक्त हुए, एवं बालुकाराम में विवाद के निर्णय के लिए उद्वाहिका की बैठक हुई। आयुष्मान् रेवत ने आयुष्मान् सर्वकामी से दसों वस्तुओं के विषय में प्रश्न किया एवं उस सबको अधिहित एवं विनयविच्छेद ठहराया। यह निर्णय समस्त संघ ने अनुमोदित किया। कहा जाता है कि इस विनय संगीति में ७०० भिक्षु उपस्थित थे।

निकाय भेद

उद्गम—दीपवंस की परम्परा के अनुसार वैशाली के बज्जिपुत्तक भिक्षुओं ने द्वितीय संगीति में संघ के निर्णय को स्वीकार नहीं किया और उन्होंने स्थविर अर्हत्ता के बिना एक अन्य सभा की एवं वहाँ अपने मत के अनुकूल दूसरा निर्णय किया। यह सभा महा-संघ अथवा महासंगीति कहो गयी। इसमें १०,००० भिक्षु एकत्र हुए। उन्होंने विनय और पाँच निकायों में सूत्रों का क्रम और अर्थ बदल दिये, कुछ सन्दर्भ निकाल दिये, एवं कुछ अपने रचित सन्दर्भों का समावेश कर दिया। उन्होंने परिवार, पटिसंविदाम्म,

निर्देश, कुछ जातक, एवं अभिधम्म के ९ ग्रन्थों का प्रामाण्य अस्वीकार किया। वहाँ पर स्मरणीय है कि ये ग्रन्थ वस्तुतः परवर्ती और मूल सद्धर्म की दृष्टि से अप्रामाणिक हैं।

यह विचारणीय है कि दूसरी संगीति के विवरण में महासंधिकों के अम्बुदय का उल्लेख किसी विनय में उपलब्ध नहीं होता, न धेरवादिनों के न महासंधिकों के। अतः सधभेद को वैशाली की संगीति का परवर्ती मानना ठीक होगा। वैशाली की संगीति को सधभेद की आवश्यक भूमिका मानने पर महावंस (५.३-४) की भी संगति हो जाती है। महावंस (४.७) के अनुसार इस समय मगध का राजा कालाशोक था। एक अन्य परम्परा, जिसका वसुमित्र, भण्ड और विनीतदेव ने संरक्षण किया है, यह बताती है कि पहला सधभेद विनय की इन १० वस्तुओं के कारण न होकर महादेव की पाँच वस्तुओं के कारण था^{४२}। महादेव के संबंध में अभिधर्म-महाविभाषाशास्त्र में यह सूचना उपलब्ध होती है कि वे मधुरा में एक ब्राह्मण व्यापारी के लड़के थे। पाटलिपुत्र के कुकुटाराम-विहार में उन्होंने उपसम्पदा पायी थी। वहाँ वे आवास के प्रधान हो गये एवं स्थानीय राजा उनका मित्र और समर्थक। उसकी ही सहायता से महादेव ने अपनी पाँच वस्तुएँ प्रचारित की^{४३}। स्वाध्याय का कहना है कि अशोक ने एक भिक्षु-सभा एकत्र की जिसमें ५०० अर्हत् तथा महादेव के नेतृत्व में ५०० विरोधी भिक्षु निमन्त्रित थे। अन्यत्र उन्होंने कहा है कि काश्यप की संगीति से बहिष्कृत १०००० भिक्षुओं ने एक महासंघ रचा तथा उसमें विपिटक के अतिरिक्त संयुक्त पिटक एवं धारणीपिटक का भी संग्रह किया^{४४}। तारानाथ के अनुसार इसी समय वत्स ब्राह्मण ने कश्मीर से आर्यवाद का प्रचार कर सधभेद किया^{४५}। स्वाध्याय ने इस वस्तुओं एवं पाँच वस्तुओं, दोनों का ही उल्लेख किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वी भिक्षु संगठन और सिद्धान्त दोनों में ही पुरानी कट्टर परम्परा में अलग चले गये थे एवं वैशाली की विनयपरक दूसरी संगीति के बाद पाटलिपुत्र में एक महासंगीति हुई जिसके फलस्वरूप मूल शाखा से अलग महा-संधिक सम्प्रदाय का जन्म हुआ।

महादेव के द्वारा प्रचारित पाँचों वस्तु अर्हद्विधमक हैं^{४६}। ऐसा प्रतीत होता है कि अर्हत्तों की संगीति में पराजित होकर महासंधिकों ने अर्हत्तों पर ही आक्रमण किया।

४२-सु०—मल्लिनाथ इत्त, पूर्व० जि० २, पृ० ३२।

४३-वाट्सं, जि० १, पृ० २६७-६८।

४४-बौल, स्वाध्याय, पृ० १९०, ३८०-८१।

४५-तारानाथ (अनु० शीफनर) पृ० ५३-५५।

४६-इ०—पुत्तं, जे० आर० पृ० एल०, १९१०, पृ० ४१३ प्र०।

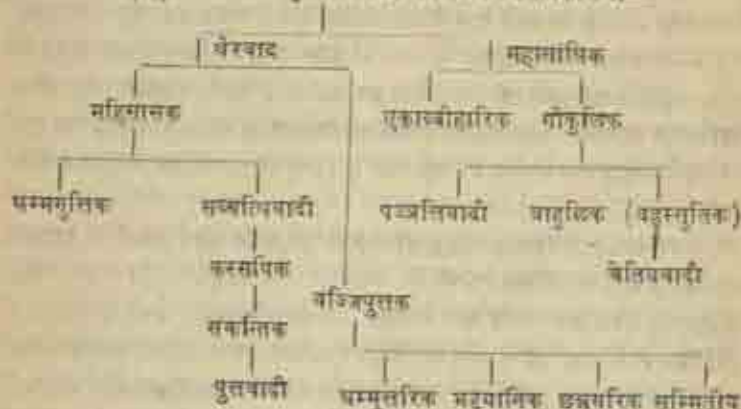
इन 'वस्तुओं' में पहली यह है कि अहंता के लिए भी राग सम्भव है, दूसरी, अहंता में भी अज्ञान सम्भव है, तीसरी, अहंता में भी संशय हो सकता है, चौथी, अहंत भी दूसरे के द्वारा ज्ञान या सकते है, पाँचवीं, सहसा शब्दीन्वयकरण करके भाग्य की प्राप्ति होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि अहंत शब्द से यहाँ प्राचीन अर्थ में वास्तविक अहंत अभिप्रेत न होकर वे व्यक्ति अभिप्रेत हैं जो कि अपने को अहंत कहते थे, किन्तु जिनके विषय में राग, अज्ञान, संशय आदि की सम्भावना का सब लोगों के लिए अभाव नहीं था। महादेव का आधिर्भाव १३७ बुद्धाब्द में तन्द और महाप्रभ के समय में बताया गया है। इस संश्लेष को अशोककालीन भी कहा गया है, किन्तु यह धारणा भ्रान्तिमूलक प्रतीत होती है।"

दूसरी संकीर्ण के विवरण से ज्ञात होता है कि उस समय सड़में अवन्ती से वैशाली और मथुरा से कौशाम्बी तक मिश्रण हो फैला हुआ था। भिक्षुओं में पूर्व और पश्चिम के सामान्य भौगोलिक भेद के साथ वैतयिक और सिद्धान्तिक भेद उत्पन्न हो गये थे। पूर्वी भिक्षुओं के केन्द्र वैशाली और पाटलिपुत्र थे। इसी वर्ग में महासाधिका का प्रारम्भिक विकास निष्पन्न हुआ। यह स्वरणीय है कि वैशाखी वज्जिपोंका प्रधान नगर था और बौद्धियों की स्वातन्त्र्य-निष्ठा प्रसिद्ध है, तथा विनय के बन्धनों की ओर एवं स्वविरों की ओर उनके आदर-वैचित्य की सूचना पहले भी उपलब्ध होती है। पश्चिमी भिक्षुओं के केन्द्र कौशाम्बी, मथुरा एवं अवन्ती थे। कालान्तर में मथुरा एवं उत्तराप्रभ, विशेषतया कश्मीर और गन्धार, मूल सर्वोन्निवादी तथा सर्वोन्निवादी सम्प्रदायों के विकास-क्षेत्र सिद्ध हुए। स्वविरवाद की कौशाम्बी से दक्षिणपश्चिम की ओर भाषा सिंहल जाकर पुरी हुई। अशोक के समय में सड़में का सुदूर प्रयाग प्रदेशों में ज़रार जा रहा हुआ और उस समय तक सब अनेक सम्प्रदायों में विभक्त हो चुका था।

विभिन्न परम्पराएँ—तन्त्रद्वय-भेद (निकाम-भेद) का एक प्राचीन विवरण दीर्घ-वस से उपलब्ध होता है जिसकी सिंहल में ईसवीय चतुर्थ शताब्दी में रचना हुई थी। इस परम्परा का आचार और प्राचीन रहा होगा। इसके अनुसार दूसरी और तीसरी संकीर्णियों के बीच में, अर्थात् परिनिर्वाण से दूसरी शताब्दी में, १८ सम्प्रदायों का आविर्भाव हो चुका था, एवं स्वविरवाद के विरुद्ध उनके अभिमतों के सङ्गठन के लिए अशोक के समय में भौगोलिक तत्त्व ने कवाचतन्त्रकरण की रचना की। जानार्थ बुद्धयोग

में कथावस्तु की बहुकथा में अनेक मने-सम्प्रदायों के नामों का उल्लेख किया है और उनके अवलोकन से यह सिद्ध होता है कि समग्र कथावस्तु अनौपचारिक नहीं हो सकती।

(क) दीपवंस के अनुसार निकाय-भेद का कम से कम प्रकार था—



इन १८ नामों के अतिरिक्त कथावस्तु की बहुकथा में उल्लिखित नाम हैं—राजगिरिक, सिद्धिवाक, पुम्बसेलिय, अणसेलिय, हेमवत, बज्जिरिय, उत्तरापन्न, हेनुवादी, एवं वेतुल्लक^{४८}। उनमें पहले बार सम्प्रदाय अथवा अथवा अथवा की शाखाएँ थी और उनके नाम अन्ध्रापण के अभिलेखों में प्राप्य होते हैं।

निकाय-भेद-विषयक महासाधिकों की परम्परा शारिपुत्रपरिपुच्छ सूत्र में अंशतः विवक्षित होती है। इस ग्रन्थ का तृतीय अनुवाद ई० ३१७ और ४२० के अन्तराल में हुआ था और उसका प्रपादन सम्भवतः उडुप्पान के प्रदेश में हुआ था। तारानाथ के विवरण में ग्रन्थ की दूसरी सूची^{४९} भी महासाधिकों की परम्परा में निहित है, किन्तु इसमें वृत्ति कम उपर्युक्त सूत्र में वृत्ति कम से भिन्न है जो कि अधः प्रदर्शित विवरण से स्पष्ट हो जायेगा।

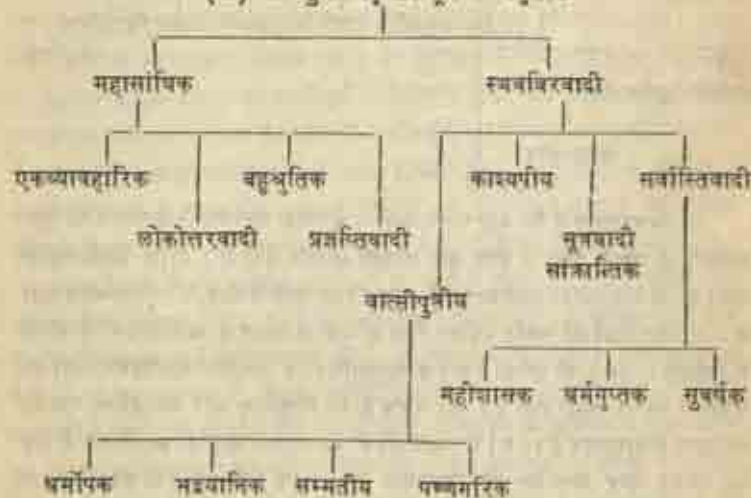
(ख) 'शारिपुत्रपरिपुच्छ सूत्र' के अनुसार परिनिर्वाण से दूसरी सताब्दी में महासाधिक सम्प्रदाय का जन्म हुआ एवं उनसे एक आध्वीहारिक, लोकोत्तरवादी, लोकुत्तिक-

४८-इसमें पहले छः नाम महावंस में भी उल्लिखित हैं—३०—महावंस (सं० एम० के० भागवत, द्वितीय संस्करण), पृ० २३।

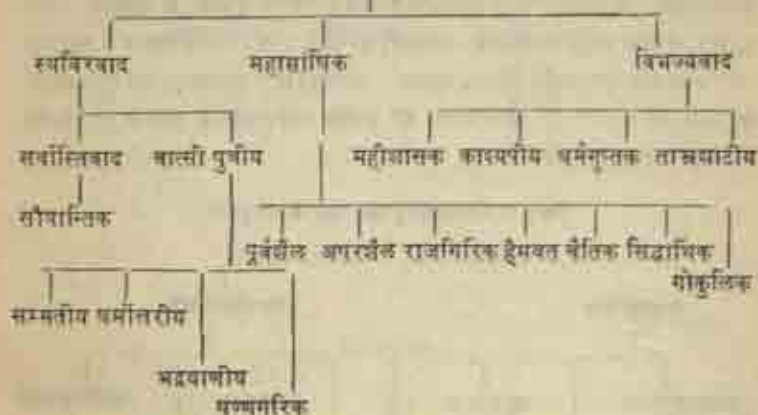
४९-तारानाथ (अनु० शोकनर), पृ० २७१, तु०—आरो, पूर्व०, पृ० २२।

लिक, बहुव्यक्तिक एवं प्रजापतिवादी सम्प्रदाय निकले। निर्वाण से तीसरी शताब्दी में वात्सीपुत्रीय एवं सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय निकले। वात्सी पुत्रीयों से धर्मोपक, भद्र-यानिक, सम्मतीय एवं पण्यगरिक सम्प्रदायों का जन्म हुआ। सर्वास्तिवाद से महीशा-सक, धर्मगुप्तक एवं सुवर्षक निकाय निकले। स्वविरों से ही काश्यपीय एवं मूलवादीयों का जन्म बताया गया है। संक्रान्तिकों की उत्पत्ति स्वविरवाद के फेर से ही निर्वाण की चतुर्थ शताब्दी में हुई।

(ख) शारिपुत्रपरिपुच्छा सूत्र के अनुसार



५०—मंजुभीपरिपुच्छासूत्र के अनुसार संघभेद प्रथम बुद्ध शताब्दी में ही परि-
निष्ठित हो गया था। एक ओर महासांघिकों से एकव्यावहारिक निकले,
एकव्यावहारिक से लोकोत्तरवादी, लोकोत्तरवादीयों से कौबहुक्तिक, कौबहु-
क्तिकों से बहुभुतीय, बहुभुतियों से चैतिक, चैतिकों से पूर्वशाल एवं पूर्वशालों से
उत्तरशाल का जन्म हुआ। दूसरी ओर स्वविरों से सर्वास्तिवादी, उनसे
सम्मतीय, उनसे पण्यगरिक, उनसे महीशासक, उनसे धर्मगुप्तक, उनसे
काश्यपीय एवं उनसे सांक्रान्तिकों के सम्प्रदाय का जन्म हुआ। यह पर-
म्परा स्पष्ट ही वसुमित्र पर आधारित है। ३०—बारी, पृष्ठ ५० १९।

(ग) भव्य (दूसरी सूची) के अनुसार^१

यह विचारणीय है कि जहाँ पहली सूची में धेरवादी परम्परा से सम्बन्धित दो मूल शाखाएँ हैं, दूसरी सूची में तीन मूल शाखाएँ बतायी गयी हैं। पालि विभज्यवादी अपने को ही मूल स्थविरवादी बताते हैं, भव्य की इस सूची में दोनों को पुषक् माना गया है। वात्सीपुत्रीयों की स्थिति पूर्वोक्त तीनों सूचियों में समान है, महीशासकों की तीनों में विभिन्न। (क) की अपेक्षा (ख) में महासांघिकों के अन्तर्गत लोकोत्तरवादियों का समावेश अधिक किया गया है। यह संभव है कि गोकुलिक और कौक्कुलिक एक ही सम्प्रदाय के नामान्तर है। (ग) में महासांघिकों की परवर्ती अवस्था का चित्रण है जब कि उनका केन्द्र अन्ध्रदेश में अमरावती था। (क) में मूल सूची की प्राचीनता के कारण एवं (ख) में देशगत दूरी के कारण महासांघिकों की इस विकसित एवं परिवर्तित अवस्था का अपरिज्ञान है। यह स्मरणीय है कि शारिपुत्रपरिपूच्छामूत्र में कहा गया है कि इन सम्प्रदायों के अनन्तर केवल पाँच सम्प्रदाय शेष रह गये—महासांघिक, धर्मगुप्तक, सर्वास्तिवादी, काश्यपीय एवं महीशासक।^१। स्वानुवाक के विवरण से इस उक्ति का कारण स्पष्ट होता है—उड्डियान में केवल इन्हीं निकायों का पता चलता था^२।

५१-३०—वालेजेर, पूर्व०, पृ० ४९-५०।

५२—बारी, पूर्व पृ० २२।

५३—बील, स्वानुवाक पृ० १६७।

सर्वास्तिवादियों की परम्परा वसुमित्र के समयभेदोपरजननक में गुराहित है। इस ग्रन्थ के तिखतों और चीनों में अनुवाद उपलब्ध है^१। प्राचीनतम अनुवाद ३५१ और ४३१ ई० के बीच में सम्पन्न हुआ था। चीनों परम्परा के अनुसार यह वही वसुमित्र था जिसने कनिष्ककालीन संगीति में स्याति पायी थी। वसुमित्र के अनुसार महासाधिक तीन शाखाओं में बँटे—एक—व्यावहारिक, लोकोत्तरवादी एवं कौकुलिक। पीछे महासाधिकों से बहुभुतीयों का जन्म हुआ तथा और भी पीछे प्रज्ञप्तवादियों का। बुद्धाब्द के दूसरे शतक के समाप्त होते ही जैत्वगिरिवादी दूसरे महादेश के विवाद के कारण जैवगीत, अपरगीत और उत्तरजैत शाखाएँ निकल पड़ीं। स्वविरवादी त्रिकाय सर्वास्तिवाद अथवा हेतुवाद, तथा मूलस्वविरवाद में विभाजित हुआ। मूल-स्वविर का ही नाम हैमवत-निकाय पड़ा। उत्तरकाल में सर्वास्तिवाद से वाल्सीपुत्रीयों का आविर्भाव हुआ और स्वयं वाल्सीपुत्रीयों से धर्मोत्तरीय, भद्रयाजीय, सम्मतीय एवं छद्मगर्गिक अथवा पण्यगर्गिक संप्रदायों की उत्पत्ति हुई। इनके अनन्तर सर्वास्तिवादियों से महोशासक निकले, महोशासकों से धर्मगुप्त और तीसरी बुद्ध-शताब्दी के अन्त में सर्वास्तिवादियों से काश्यपीय अथवा सुवर्षको का आविर्भाव हुआ। चतुर्थ बौद्ध शताब्दी के प्रारम्भ में सर्वास्तिवाद से सीनलिक अथवा संशान्तिवादियों का जन्म हुआ।

ग्रन्थ अपनी भूचना के लिए स्पष्ट ही वसुमित्र के ऋणी है।^२ उन्होंने तीन-तीन परस्पर भिन्न सूचियाँ दी हैं। इनमें से पहली उनकी गुरु-परम्परा के अनुसार कही गयी है और इसे तारानाथ ने स्वविरसम्मत बताया है, किन्तु यह वस्तुतः काश्यपीय सर्वास्तिवादियों की परम्परा का ही अनुवाद करती है। यह सूची महासाधिकों से आविर्भूत संप्रदायों में गोकुलिकों को छोड़ देती है। साथ ही इस सूची के अनुसार स्वविरों से निकले हुए संप्रदायों में कुछ नये नाम भी उपलब्ध होते हैं जैसे मरुन्तक, आवंतिक और कुत-कुल्लक। दूसरी सूची 'औरों के कहने के अनुसार' बतायी गयी है। तारानाथ से यह महासाधिकों की परम्परा प्रतीत होती है। इसका ऊपर तालिका (ग) के रूप में विवरण दिया गया है। स्मरणीय है कि इसमें ताम्रशाटीयों का नया नाम प्रस्तुत है और मूल संश-भेद में दो संप्रदायों के स्थान पर तीन का निर्देश किया गया है। तीसरी सूची में सम्मतीय परम्परा रक्षित है, जैसा कि तारानाथ एवं मञ्जु, योग वज्र के सिद्धान्त से विहित होता है^३। इसके अनुसार स्वविरवाद, मूल-स्वविरवाद और हैमवत-सम्प्रदाय में बँट

५४—अंग्रेजी अनुवाद, मनुवा कृत, एशिया मेजर २, १९२५, पृ० १-७८।

५५—भय के विवरण के लिए, बालेजर, दी सेक्तेन देस आलेन बुद्धिस्मृत।

५६—मु०—पूतें, जे० जार० ए० एत० १९१०, पृ० ४१३।

जाता है। मूल स्वविरों से वाल्मीय, पुर्वीयों एवं सर्वास्तिवादियों का आविर्भाव हुआ, सर्वास्तिवादियों से विभज्यवादियों एवं सक्कान्तिवादियों का तथा विभज्यवादियों से महोपासक, धर्मगुप्तक, ताम्रशाटीय, एवं काश्यपीय सम्प्रदायों का। दूसरी ओर महासाधिकों से एक व्यावहारिक तथा गोकुलिक निकले। गोकुलिकों से बहुभुतीय, प्रज्ञप्तिवादी, एवं चैत्यक सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ।

महाव्युत्पत्ति के अनुसार चार मूल सम्प्रदाय थे—आर्य सर्वास्तिवादी, आर्य सम्मतीय, महासाधिक और आर्य स्वविर। आर्यसर्वास्तिवादी कालान्तर में मूल सर्वास्तिवादी, काश्यपीय, महोपासक, धर्मगुप्त, बहुभुतीय, ताम्रशाटीय और विभज्यवादी सम्प्रदायों में बंट गये। दूसरे से कौरकुल, आवन्तक और वाल्मीयुवीय निकले। तीसरे से पूर्वशैल, अपरशैल, हैमवत, लोकोत्तरवादी और प्रज्ञप्तिवादी सम्प्रदायों का जन्म हुआ। चौथे से महाविहारवासी, जेतवनीय और अभय-गिरिवारिणीयों का आविर्भाव बताया गया है^{११}। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि इन नामों में कुछ सम्भ्रान्तःकृत अनुवाद के कारण भ्रान्त हैं। जेतवनीय के स्थान में चैत्यक, अभयगिरि के स्थान पर पण्डगिरि (पण्णगिरि), एवं आवन्तक के स्थान पर महोपासक का पाठ सुनाया गया है, जिसमें अन्तिम सुज्ञाप विशेष रूप से सन्दिग्ध है^{१२}।

इ-चिंग एवं चिन्तिदेव मूलसर्वास्तिवाद की परम्परा का अनुसरण करते हैं^{१३} इनके अनुसार चार मूल सम्प्रदाय थे—आर्यमहासाधिक, सर्वास्तिवादी स्वविरवादी एवं सम्मतीय। इ-चिंग के अनुसार आर्य महासाधिकों के सात भेद थे, आर्य स्वविरों के तीन, एवं आर्य मूलसर्वास्तिवादियों के चारमूलसर्वास्तिवादी, धर्मगुप्तक, महोपासक एवं काश्यपीय। आर्य सम्मतीयों के भी चार भेद बताये गये हैं।

चिन्तिदेव की सहायता से ज्ञात होता है कि आर्य महासाधिकों की पांच शाखाएँ इस प्रकार थीं—पूर्वशैल, अपरशैल, हैमवत, लोकोत्तरवादी एवं प्रज्ञप्तिवादी। सर्वास्तिवादियों की शाखाएँ थीं—मूलसर्वास्तिवादी, काश्यपीय, महोपासक, धर्मगुप्तक, बहुभुतीय, ताम्रशाटीय एवं विभज्यवादी। स्वविरों की तीन शाखाएँ थीं—जेतवनीय, अभयगिरिवासी एवं महाविहारवासी। सम्मतीयों की तीन शाखाएँ बतायी गयी हैं—कौरकुलक, आवन्तक एवं वाल्मीयुवीय।

११वीं शताब्दी में तिब्बती में अनुदित बर्षाप्रपुच्छासूत्र में प्रायः यही विभाजन और

५७-२०—महाव्युत्पत्ति, (वेगिहारा द्वारा सम्पादित), पृ० २३४।

५८-बारो, पूर्व० पृ० २०।

५९-इ-चिंग, (अनु०—तकाकुन), पृ० ७-१४।

क्रम प्रतिपादित किये गये हैं, केवल ताम्रशादीय और बहुभूतीयनिकाय सर्वास्तिवाद से हटाकर सम्मतीयों में रख दिये गये हैं। वर्णोपपञ्चामृत के अनुसार आर्य सर्वास्तिवादियों के अन्तर्गत काश्यपीय, महीषासक, धर्मगुप्तक एवं मूलसर्वास्तिवादी थे। आर्य महासाधिकों के अन्तर्गत पूर्वसैल, अपरसैल, हेमवत, विभज्यवादी, प्रज्ञप्तिवादी एवं लोकोत्तरवादी। आर्य सम्मतीयों की शाखाएँ थीं—ताम्रशादीय, आकृतक, कुलकुलक, बहुभूतीय एवं वात्सीपुत्रीय। आर्य स्वविरों की तीन शाखाओं का उल्लेख है—जेतवनीय, अभयगिरिवासी एवं महाविहारवासी।

इन विभिन्न सूचियों में यदि तारानाथ के अन्वये हुए नाम-साम्य का सहारा लिया जाय तो परिस्थिति विशद होती है^१। तारानाथ के अनुसार काश्यपीय और मुचर्षक एक ही संप्रदाय के दो नाम थे। ऐसे ही संकान्तिवादी, उत्तरीय और ताम्रशादीय वस्तुतः अभिन्न थे। महादेव के शिष्यगण, पूर्वसैल, एवं चैत्यक अभिन्न थे। लोकोत्तरवाद एवं कोवकुटिक, ये भी नामभेद से समान संप्रदायों को सूचित करते हैं। एक व्यावहारिक महासाधिकों का ही नाम था। कौलकुलक, वात्सीपुत्रीय, धर्मोत्तरीय, भद्रयानीय और छन्नगिरिक भी अत्यन्त सद्गुण सिद्धान्तों में विश्वास करते थे। उत्तरकालीन शाखाओं और प्रशाखाओं के भेद छोड़कर ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनतम और मुख्यतम निकाय थे—महासाधिक और वात्सीपुत्रीय, एवं स्वविरवादी और सर्वास्तिवादी।

महासाधिक धारा—उपर्युक्त विवरण से यह अनुमान करना स्वाभाविक है कि वैशाली की संगीति में विनय की दस वस्तुओं के कारण जो संघभेद प्रारम्भ हुआ वही सैद्धान्तिक बातों को लेकर कुछ वर्ष पीछे पाटलिपुत्र की संगीति में परिपूर्ण हुआ। चूँकि वैशाली की संगीति के स्वविर भिक्षु जो अपने को अर्हत् मानते थे विनय की नवी वस्तुओं के विरुद्ध थे, अतएव कदाचित् इन स्वविर अर्हत्तों के ही विरोध में महादेव की नवी प्रांच वस्तुएँ प्रतिपादित हुईं। इस प्रकार प्रथम संघभेद के अन्तर्गत संघ दो भागों में विभक्त हो गया—एक ओर अधिकसंख्यक, वैशाली और पाटलिपुत्र में केन्द्रित, पूर्वी भिक्षु जिनमें कि बड़े और अर्हत् लोग कम थे, और जो विनय और धर्म के सम्बन्ध में नवी बातें प्रचारित कर रहे थे; दूसरी ओर कौषाम्बी, मथुरा और अवन्ती में केन्द्रित, पश्चिम के भिक्षु जिनमें कि स्वविर भिक्षुओं का प्राधान्य था। इस कारण पहला धर्म महासाधिक कहा गया, दूसरा स्वविर।

यह प्रायः सर्वसम्मत है कि महासांघिकों का पहला विभाजन एकव्यावहारिक एवं लौकिक अथवा कौबकुटिक नाम के दो समुदायों में हुआ। लोकोत्तरवादियों की शाखा का भी इस स्थल पर उल्लेख मिलता है। यह सम्भव है कि लोकोत्तरवादियों का अन्य महासांघिकों से अपना सिद्धान्तकृत वैशिष्ट्य न हो कर आवासकृत अथवा भौबोलिक वैशिष्ट्य था। मूल महासांघिक भगवत्वासी थे, किन्तु लोकोत्तरवाद नाम की प्रकृया उत्तरापथ में ही प्रचलित थी एवं मध्य देश में उद्भूत परम्परा में उसका अनु-स्लेष है। स्वतन्त्रता से विदित होता है कि लोकोत्तरवादियों का केन्द्र बामियान में था। दूसरी ओर सिद्धान्तपथ में उनका पार्थक्य-निर्देश दुष्कर है। सम्मतीय परम्परा उनके सिद्धान्तों को एकव्यावहारिकों से अभिन्न बताती है। समुचित उनके सिद्धान्तों को महासांघिक, एकव्यावहारिक एवं कौबकुटिक सम्प्रदायों में डालते हैं। दूसरी ओर विनीतदेव एकव्यावहारिकों एवं महासांघिकों के बताये हुए सिद्धान्तों को भी लोकोत्तर-वादियों के बताते हैं। ऐसी स्थिति में तारानाथ की उपर्युक्त सूचना ही प्रकाश डालती है जिसके अनुसार लोकोत्तरवादी—कौबकुटिक एवं एकव्यावहारिकमहासांघिक। बारी ने लोकोत्तरवादियों का एकव्यावहारिकों से अभेद प्रतिपादित किया है एवं नलिनाश दत्त ने चैत्यकों से। वस्तुतः यह मानना चाहिए कि महासांघिक सम्प्रदाय का ही नाम पीछे एकव्यावहारिक एवं लोकोत्तरवादी भी पड़ा। ये दोनों नाम महासांघिकों के विभिन्न सिद्धान्तों को बुद्धिस्प करके उन्हें दिये गये होंगे। पिछली परम्परा के विशुद्ध हो जाने के कारण ही अनेक स्थलों पर एकव्यावहारिकों एवं लोकोत्तर-वादियों को महासांघिकों से एवं परस्पर वृथक् बताया गया है, किन्तु इस प्रकार के विवरण में सिद्धान्तमूलक संश्लेष का स्पष्ट एवं युक्तियुक्त प्रतिपादन दुष्कर है।

एकव्यावहारिकों की उत्पत्ति के संबंध में परमार्थ की यह सूचना उल्लेखनीय है कि महायान-सूत्रों की प्रामाणिकता के विषय में विवाद ही उनका जन्मदाता था^{११}। भव्य के अनुसार एकव्यावहारिकों का नाम उनके द्वारा तयागत की एक-चित्त-आश्रित सर्वज्ञता के सिद्धान्त को स्वीकार करने से पड़ा। वस्तुतः परिनिर्वाण की दूसरी अथवा तीसरी शताब्दी में महायान-सूत्रों की सत्ता ही स्वीकार नहीं की जा सकती। एकव्यावहारिकों के नाम का भव्यकृत निर्वचन भी अत्यन्त सन्दिग्ध है। वस्तुतः एकव्यावहारिक में व्यावहार शब्द बाधक है एवं एकव्यावहारिक का अर्थ है—एक अथवा एक ही, अथवा प्रत्येक शब्द से धर्म की अथवा सब धर्मों की प्रतिपाद्यता मानने

वाला। यहाँ तथागत के आदेश का अनुभाव एवं उनको उपदेशविधि की ओर एक लोकोत्तर दृष्टि विवक्षित है।

पाटलिपुत्र का कुक्कुटाराम ही महासांघिकों का पहला प्रधान केन्द्र था। यह सम्भव है कि इसी कारण महासांघिक कौक्कुटिक भी कहलाये। पीछे कौक्कुटिक शब्द विहृत होने के कारण उनकी आख्या कुक्कुलिक अथवा कौक्कुलिक एवं गोकुलिक भी बन गयी प्रतीत होती है। गोकुलिक नाम को मूल विशुद्ध नाम मानने पर उसका कौक्कुटिक से कोई सम्बन्ध समझना कठिन है। यह उल्लेखनीय है कि कौक्कुटिकों के विनय-वैधिल्य की सूचना दीगवंस से उपलब्ध कुक्कुटाराम की अवस्था से संगत है। इस दृष्टि से 'कुक्कुल' शब्द का अन्यत्र सूचित अर्थविशेष यहाँ अप्रासंगिक है। अथवा कौक्कुलिक सिद्धान्तपरक आख्या है, कौक्कुटिक आवासपरक।

महासांघिकों का प्रारम्भ से ही बुद्ध एवं बोधिसत्त्व की लोकोत्तरता तथा अर्हत्तों की परिह्राणीयता के सिद्धान्तों पर जोर था। इस लोकोत्तरवादी दृष्टि के कारण यह प्रश्न उठना स्वाभाविक था कि बौद्ध सूत्रों में उपलब्ध बातों का आपातिक अन्तरार्थ जो कि बहुधा लोकोत्तरवाद के विरुद्ध पाया जाता है, किस प्रकार समझा जाय। इस शंका के कारण नीतार्थ एवं नेयार्थ का भेद प्रतिपादित किया गया एवं इसी से सत्य-द्रव्य का सिद्धान्त अंकुरित हुआ। परमार्थ के अनुसार महासांघिकों में इस पर मतभेद प्रकट हुआ एवं कौक्कुटिकों के अन्तर्गत से बहुभूतीय एवं प्रज्जप्तिवादी शाखाओं का प्ररोह हुआ। प्रज्जप्तिवादियों को बहुभूतीय-विभज्यवादी भी कहा गया है। यह स्मरणीय है कि बहुभूत होने के कारण आनन्द की प्रसिद्धि थी। इन दोनों सम्प्रदायों का पारस्परिक भेद स्पष्ट नहीं है।

कालान्तर में एक दूसरे महादेव के कारण महासांघिकों में एक नयी प्रवृत्ति का जन्म हुआ। इस घटना को सम्भवतः ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में न रखकर दूसरी में रखना चाहिए।" मगध के स्थान पर अन्ध प्रदेश इन नवीन महासांघिकों का प्रधान केन्द्र बना। परमार्थ के अनुसार अपरमहादेव प्रदेश छोड़कर अपने शिष्यों के साथ पर्वताश्रित हो गये। बुद्धघोष के द्वारा ये लोग अन्धक अथवा अन्धक कहे गये हैं। अमरावती और नागार्जुनीकोण्ड में उपासकों की दानशीलता के कारण इन नवीन महासांघिकों के लिए बहुत-से चैत्य बने जिनमें अमरावती का महाचैत्य सर्वप्रधान था। दूर-दूर से उसके दर्शन के लिए बौद्धगण आते थे। यह स्वाभाविक था कि ये महासांघिक

चैत्यवादी अथवा चैत्यक कहालायें। इन्हीं के भीतर आवास-भेद प्रकट होने से पूर्वशील एवं अपरशील नाम की शाखाएँ प्रकट हुईं। अपरशीलों का ही नाम कदाचित् उत्तर-शीलीय भी था। इन अन्ध महासाधिकों के मध्य में साधिक प्रवृत्ति भी प्रकट हुई एवं प्रचलित लोकोत्तरवाद महाशून्यता के सिद्धान्त में परिणत हुआ। इस विकास में अद्य-यामी दल वैतुल्यकों का था जिनका उल्लेख बुद्धधोष ने किया है। और भी पीछे इन अन्ध महासाधिकों से राजनिरिक एवं सिद्धाधिक नाम के सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई। ये सम्भवतः इसवीय तीसरी अथवा चौथी शताब्दी के थे।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि चौथी शताब्दी ईसापूर्व के मध्य के निकट मगध में प्रारम्भ होकर 'अधोनाक' या पूर्वी बीड़ों की महासाधिक धारा ईसापूर्व तीसरी शताब्दी के अन्त के निकट अन्ध में पहुँची और पल्लवित हुई। बीड़ों के विकास की इस महासाधिक दिशा से ही लगभग ईसापूर्व पहली शताब्दी में महायान का जन्म हुआ। यह स्मरणीय है कि महासाधिक केवल मगध और अन्ध में ही विदित नहीं थे, उनके उल्लेख कश्मीर, बामियान, लाट और सिन्ध में भी यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं।

महासाधिकों के आगमिक शास्त्र में विनय पिटक, सूत्रपिटक एवं अभिधर्म-पिटक के अतिरिक्त संयुक्त पिटक एवं धारणी पिटक का भी उल्लेख मिलता है महासाधिक विनय अन्य उपलब्ध विनयों से जगैशाकृत अधिक भेद रखता है। लोकोत्तरवादियों का प्रधान उपलक्षण यन्म महावस्तु है जिसमें उनके विनय के पहले भाग के रूप में तपानत का जीवन चरित्र वर्णित है। लोकोत्तरवादी सिद्धान्त मुख्यतः इसके प्रारम्भिक अंश में पीछे से जोड़े प्रतीत होते हैं। हरिषर्मा का सत्यसिद्धि शास्त्र बहुश्रुतीयनिकाय का भाग माना जाता है।

स्वविरधारा : वाल्मीपुत्रीय—जहाँ बीड़ों के विकास की महासाधिक धारा महायानिक शून्यता एवं लोकोत्तर बुद्ध और बोधिसत्त्वों की ओर अग्रसर हुई स्वविरों की दूसरी धारा नाना धर्मों की पृथक्-पृथक् सत्ता की समर्थक बन गयी और अभिधर्म के मलभूत दार्शनिक दृष्टिकोण को विकसित और परिष्कृत करती रही। बुद्धाब्द की दूसरी शती में स्वविरों के मुख्य केन्द्र कौशाम्बी, मधुरा एवं अवन्ती थे। कदाचित् बल्लदेश की राजधानी कौशाम्बी से अनतिदूर ही वाल्मीपुत्रीयों का उद्भव हुआ हो। यह स्मरणीय है कि तपानत के समय में ही कौशाम्बी में विषाद और संघभेद की नीबट आ गयी थी। तारानाथ के अनुसार कालाशोक के समय में कश्मीर के बालनान्त के ब्राह्मण ने आत्मवाद का प्रचार किया था। किन्तु वस्तुतः कालाशोक के समय कश्मीर में सद्धर्म अविदित था और धर्माशोक के समय में ही मध्याह्निक ने कश्मीर में सद्धर्म

प्रचार का प्रारम्भ किया। पालिपरम्परा से प्रसिद्ध वज्जिपुत्तक नाम भी 'आन्ति-मूलक' प्रतीत होता है। वाल्मीपुत्र-वज्जिपुत्त-वज्जिपुत्त, इस क्रम से यह आन्ति सम्भव है। अथवा 'वज्जिपुत्तक' में वैजातीय के लिच्छवियों का संकेत पाया है। ऐसी स्थिति में 'वाल्मीपुत्र' का 'वज्जिपुत्त' का 'संस्कृत' रूप मानना होगा। किन्तु इस कल्पना के विरोध में यह स्मरणीय है कि वाल्मीपुत्र सम्प्रदाय का मूलतः वज्जिप्रदेश से सम्बन्ध अतिष्ठ था।

स्वबिरों के अन्त्यर्त यह पहला संघभेद था। इसका कारण मुख्यतः सैद्धांतिक था। वाल्मीपुत्रीय भिक्षु पुद्गलवादी थे। पालि-परम्परा के अनुसार एवं कथावस्तु के परिशीलन से यह पता चलता है कि अशोककालीन पाटलिपुत्रक संगीति में, जिसे कि तीसरी संगीति भी कहा जाता है, अशोक ने बहुत से भ्रष्ट भिक्षुओं को संघ से निकाल दिया एवं मोद्गलीपुत्र तिष्य ने नाना विप्रतिपक्ष बौद्ध-निकायों का खंडन किया। कथावस्तु की पहली पुद्गल-कथा ही प्राचीनतम प्रतीत होती है। और यह मानना यक्तिमत्त प्रतीत होता है कि मोद्गलीपुत्र तिष्य ने प्रधान रूप से पुद्गलवादियों अथवा वाल्मीपुत्रीयों का ही खंडन किया। फलतः यह मानना होगा कि स्वबिरों के अन्त्यर्त वाल्मीपुत्रीयों का उद्भव अशोक की तृतीय संगीति के कुछ पहले हुआ होगा। परम्परा के अनुसार उनका उद्भव परिनिर्वाण से २०० वर्ष बीतने पर अथवा कुछ और पीछे हुआ था। इसकी पूर्वोक्त विवरण से पूरी संगति है।

वाल्मीपुत्रीयों का अभिधर्मपिटक शारिपुत्राभिधर्म अथवा धर्मलक्षणानिधर्म कहलाता था एवं उसके नौ भाग थे। वाल्मीपुत्रीयों ने धर्मोत्तरीय, भद्रपार्थीय, छत्रनरिक एवं सम्मतीय नाम की बाष्पाएँ प्राप्त हुईं जिनमें अन्तिम सर्वाधिक महत्त्व को प्राप्त हुई। अनुमित्र के अनुसार एक गत्था के व्याख्यान पर विवाद के कारण बाष्पाएँ प्रकट हुई थीं। सम्मतीय महाकल्याणन को अपना प्रवर्तक मानते थे। यह स्मरणीय है कि महाकल्याणन ने अवन्तिदक्षिणाप्रथ में सद्धर्म के अनुयायियों के पहले आवास को स्थापित किया था और वहाँ के निवासियों का आचारभेद देखकर विनय में आवश्यक परिवर्तन अभीष्ट समझा था। भ्रम और विनीत देव के अनुसार सम्मतीयों में जाग्रन्ताक और कौणकुल्लक नाम के सम्प्रदाय उद्भूत हुए थे। यह भी स्मरणीय है कि भद्रपार्थीयों और धर्मोत्तरीयों के नाम अपराजित के अभिलेखों में उपलब्ध होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वाल्मीपुत्रीय-निकाय का विकास और विस्तार सद्धर्म की गीताम्बी से अफगानिस्तानी पथ पर यात्रा के प्रसंग में सम्पन्न हुआ था। ईतवीच दूसरी गताब्दी में भद्रपार्थीयों और धर्मोत्तरीयों के नाम अपराजित में अभिलिखित मिलते हैं। श्वान-

प्लांग के समय में सम्मत्तीयों का प्राधान्य था। पाल-युग में वात्सीपुत्रीय निकाय अवशिष्ट था।

क्राउवाल्सर महोदय ने यह प्रतिपादित किया है कि अशोक ने सद्धर्म के प्रचार के लिए जिन बौद्ध आचार्यों को प्रत्यन्त प्रदेशों में भेजा था उनके स्थापित आवास ही सर्वास्तिवाद, धर्ममुत्पत्तक, काश्यपीय, महीशासक और थेरवाद नाम के निकायों में परिणत हो गये।^{१३} निदिष्टा से ही ये सब प्रचारक गये थे और अपने साथ एक समान विनय ले गये थे। इसके विरोध में यह स्मरणीय है कि अशोक ने 'धर्म' का प्रचार किया था, न कि 'सद्धर्म' का। पाल परम्परा में संरक्षित और अभिलेखों से समर्थित प्रचारकों के नामों को अशोक के द्वारा प्रेषित प्रचारकों के नाम मानने के लिए कोई समर्थ उपपत्ति नहीं है। इसके अलावा यह मानना कठिन है कि सर्वास्तिवाद की उत्पत्ति मूलतः सैद्धान्तिक न होकर आवासिक थी।

सर्वास्तिवाद और महीशासक—सर्वास्तिवाद और महीशासक सम्प्रदायों में कौन मूल या एवं कौन उससे प्रवृत्त, इसके निर्णय के लिए कई सुझाव प्रस्तुत किये गये हैं। दत्त महोदय का मत है कि पूर्व महीशासक सर्वास्तिवादियों से प्राचीन थे एवं उत्तर-महीशासक उनसे परवर्ती। प्रिलुस्कि महोदय के अनुसार पूर्व-महीशासक पुराण के अनुगामी थे। महीशासक विनय से ज्ञात होता है कि पहली संगीति के बाद दक्षिणागिरि से लीटे हुए ५०० भिक्षुओं के साथ स्वविर पुराण ने अपनी सम्पत्ति तब तक नहीं दी जब तक उनके सामने दुबारा संगायन नहीं हुआ एवं इसके बाद भी उन्होंने अपने आहार सम्बन्धी आठ नियमों का विनय में समावेश किया। ये आठ नियम इस प्रकार हैं—अन्दर भोजन पकाना, अन्दर पकाना, स्वेच्छा से पकाना, स्वेच्छा से खाना, प्रातः उठते समय अन्न का स्वीकार करना, दाता की इच्छा से अन्न घर ले जाना, विविध फल रखना, एवं जलाशय में उत्पन्न वस्तुओं का खाना।^{१४} महीशासकों के नाम की मद्रिपमण्डल से सम्बद्ध बताया गया है। अभिलेखों से उनका जनवासी से सम्बन्ध सिद्ध होता है। चीनी यात्री (फाह्येन) ने उनका विनयपिटक सिंहल में पाया था। इ-चिंग ने उन्हीं ठीक भारत में कहीं नहीं पाया था।

धर्ममुत्पत्तक—सभी परम्पराओं में महीशासकों से धर्ममुत्पत्तकों की उत्पत्ति बताया गया है। इस शाखा-भेद का कारण सम्भवतः बुद्ध और संघ को दिये हुए दान के स्वरूप

६३—क्राउवाल्सर, पूर्व पृ० ६ प्र०।

६४—तु०—दत्त, पूर्व० जि० २, पृ० ११।

के सम्बन्ध में विवाद था। परमाय के अनुसार इस सम्प्रदाय का प्रवर्तन धर्मगुप्त ने किया था जो कि महामौदगल्यायन के शिष्य थे। प्रिलुस्कि और फाउवाल्सर इस धर्म-गुप्त का अपरान्त के धर्म-प्रचारक यौनक धर्मरक्षित के साथ अभेद प्रतिपादित करते हैं। कालान्तर में धर्मगुप्तक अपने त्रिपिटक में एक बोधि-सत्त्वपिटक और एक धारणी-पिटक अथवा मन्त्रपिटक भी मानते थे। धर्मगुप्तकों का उल्लेख भारत में कहीं अभिलेखों से प्राप्त नहीं होता। स्वाच्छांग और इन्धिय ने भी उन्हें उद्दिष्टान में एवं मध्य एशिया में पाया था।

काश्यपीय—काश्यपीयों का उद्भव परिनिर्वाण से लगभग ३०० वर्ष पश्चात् बताया गया है। यह स्पष्ट नहीं है कि इनका मूल स्वाविर-निकाय या अथवा सर्वास्तिवाद-निकाय। यह संभव है कि इनका प्रादुर्भाव सर्वास्तिवादियों से हुआ, किन्तु स्वाविरवादी प्रभाव के कारण, किन्तु यह भी सम्भव है कि स्वाविरों से इनकी उत्पत्ति सर्वास्तिवादी प्रभाव के कारण हुई हो। इनके अन्य नाम भी बताये गये हैं—स्वाविरिय, सद्धर्मवर्णक, एवं सुवर्णक। अभिलेखों से एवं चीनी यात्रियों के विवरणों से इनके आवासों का क्षेत्र उत्तरापथ में ही प्रतीत होता है। यह स्मरणीय है कि पालि-परम्परा एवं सांघी के अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि काश्यपगोत्र के भिक्षु समस्त हैमवतों के आचार्य थे। चीनी भाषा में उपलब्ध विनयमातृका नाम के ग्रन्थ से काश्यप हैमवतों के आचार्य प्रतीत होते हैं। अतएव यह सम्भव है कि काश्यपीय और हैमवत एक ही सम्प्रदाय के दो नाम रहे हों। इनकी उत्पत्ति हिमवत्प्रदेश में अशोककालीन धर्म प्रचार से ही प्रतीत होती है। भण्ड की काश्मीरी परम्परा के अनुसार हैमवत स्वाविरों से अभिन्न थे। अन्यथा उन्हें महासाधिकों की आग्नेय शाखाओं के साथ रखा गया है, किन्तु यह उनके नाम से संगत नहीं है।

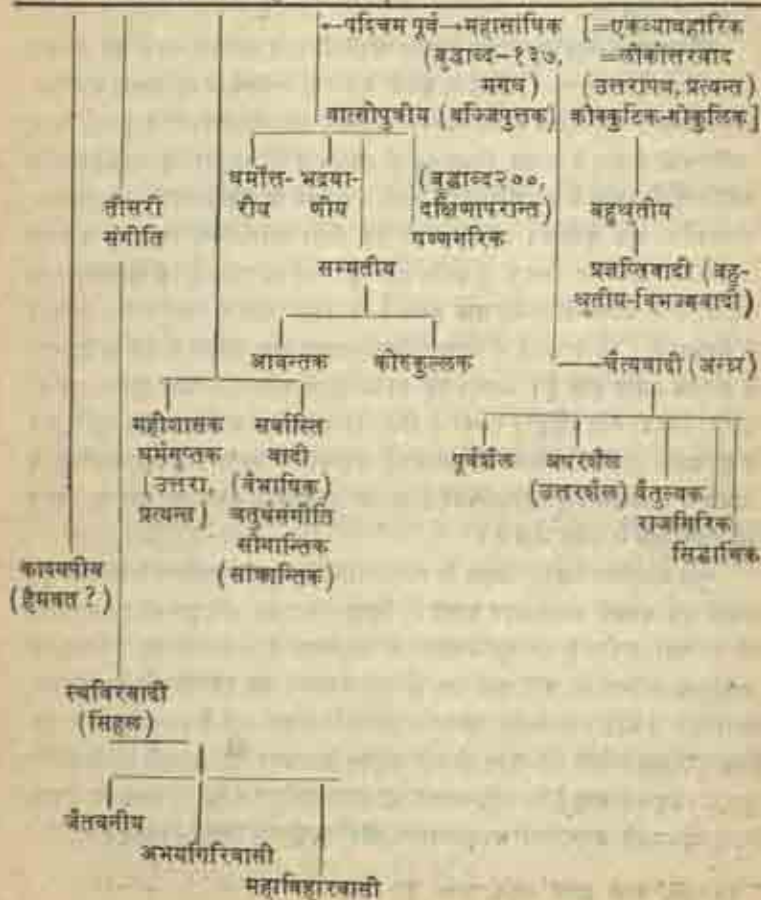
कुछ आधुनिक विद्वान् सिंहल के स्वाविरवादियों को मूल स्वाविरों से निकली हुई उनकी एक परवर्ती शाखा-मात्र मानते हैं, किन्तु सिंहलगत होते हुए भी इन स्वाविरों की परम्परा प्राचीन है एवं मूल-स्वाविरों से अनुसन्तत है। सब तो यह है कि इनके अतिरिक्त स्वाविरों का और कहीं पता ही नहीं चलता। यह स्मरणीय है कि विमल्व-वादी नाम से कोई एक विशेष सम्प्रदाय सर्वदा विवक्षित नहीं है। स्वाविरों का एक निकाय-विशेष के रूप में विकास तीसरी संगीति के अवसर पर मौदगली पुत्र के प्रयास से हुआ। यह कहा गया है कि इसी अवसर पर कात्यायनीपुत्र ने सर्वास्तिवाद का प्रचार किया और उनके अनुगामियों का उत्तरापथ और कश्मीर में विशेष विकास हुआ।^{११}

बौद्ध विकासों की वंशावली एवं काल-क्रम का इस प्रकार उपसंहार किया जा सकता है—

बुद्धशासन (देवदत्त का प्रयत्न)

(परिनिर्वाण, राजगृह की संगीति,
संघागति एवं पुराण का मतभेद)
बैजाली की संगीति

स्वविरों की पश्चिमी शाखा बुद्धान्द १००



प्रारंभिक भेद—ऊपर कहा जा चुका है कि महासाधियों का प्रारम्भिक केन्द्र वैशाली एवं पाटलिपुत्र का कुकुत्साराम-विहार था। इसवीय दूसरी शताब्दी के अभिलेखों में महासाधियों का उल्लेख उत्तर-पश्चिम में कपिला के निकट, मथुरा में एवं काली में प्राप्त होता है।^{१६} श्वान-च्चांग ने उन्हें अस्तप्राय पाया था—कश्मीर, गन्धार, एवं कृष्णा नदी के प्रदेश में उन्हें २० विहारों में लगभग १००० भिक्षु शेष थे। इन्हीं में उन्हें मगध, लाट और सिन्ध में बताया है। उनकी शाखाओं में बहुभूतीयों का नागार्जुनिकोण्ड के एक तीसरी शताब्दी के अभिलेख में उल्लेख है, एवं गन्धार के एक पाँचवीं शताब्दी के अभिलेख में। अमरावती और नागार्जुनिकोण्ड के अभिलेखों में उनकी चैतिक, पूर्ववर्ण, एवं अपरवर्ण शाखाओं के नाम आते हैं। लोकोत्तरवादियों को श्वान-च्चांग ने बामियान में देखा था।

वात्सीपुत्रीयों को मूलतः कश्मीर, वैशाली अथवा वत्स-जनपद से सम्बद्ध किया गया है। यदि वात्सीपुत्रीयों का उद्भव बृहद्वाज की दूसरी शती में हुआ तो उनका कश्मीर की अपेक्षा कौशाम्बी से सम्बन्ध मानना अधिक सम्भाव्य प्रतीत होता है। इसवीय दूसरी शताब्दी में वात्सीपुत्रीयों की कई शाखाओं का अभिलेखों में नाम उपलब्ध होता है—धर्मोत्तरीयों का काली और जुधर में, भद्रयार्णवों का नासिक और कण्ठेरी में, सम्मतीयों का मथुरा में। चतुर्थ शताब्दी के एक अभिलेख में सम्मतीयों का सारनाथ में भी उल्लेख प्राप्त होता है। श्वान् च्चांग के समय में वे हीनयान के सम्प्रदायों में प्रधानतम थे। चीनी यात्री ने उनके १००० विहारों में ६५००० भिक्षु बताये हैं। यद्यपि मध्य देश और पूर्व में भी उनके विहार थे, तथापि उनका प्राधान्य पश्चिम में—मालवा, गुजरात और सिंध में—था। इन्हीं से भी इस विवरण का समर्थन प्राप्त होता है।

सर्वास्तिवादियों का उल्लेख दूसरी शताब्दी के अभिलेखों में गन्धार, कश्मीर, मथुरा और आनन्ती में पाया जाता है। श्वान-च्चांग ने उन्हें काशगर, कूचा, एवं मध्यदेश में फैले देखा था। महीशासकों का उल्लेख तक्षशिला के निकट नागार्जुनिकोण्ड एवं बनवासी के अभिलेखों में प्राप्त होता है। गन्धार के अभिलेखों में काश्यपीयों का उल्लेख भी मिलता है। इन्हीं में मूल सर्वास्तिवादियों को मगध और उत्तर भारत में रखा था, महीशासक, धर्मगुप्तक और काश्यपीय केवल उडुबान, काशहर और

६६—बौद्धनिकायों की भौगोलिक स्थिति पर प्रकाश डालनेवाले अभिलेखों के विस्तार के लिए ३०—बारो, पृष्ठ ०, पृ० ३४-४०; लामान्त, पृष्ठ ०, पृ० ५७८-८४।

स्रोतान में ही उपलब्ध थे। स्वविरो को श्वानृत्वांग० ने दक्षिण में विशेष रूप से देखा था, यद्यपि समतट और मुराष्ट्र में भी वे पर्याप्त मात्रा में थे। इन्हीं ने भी उन्हें प्रधान-मया दक्षिण में पाया।

तथागत की सीला-भूमि और सद्गम की जग्गभूमि यी पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार। यहाँ बौद्धतीर्थों के होने के कारण इस प्रदेश में उनके प्रायः सभी सम्प्रदायों के अलग-अलग वा मिले-जुले विहार थे। महासाधियों का केन्द्र पहले मगध में पाटलि-पुत्र था, पीछे उत्तरागम का सीमान्त भाग (गन्धार से कश्मीर) एवं अन्ध्रागम में श्री-पर्वत था। बाल्मीकुत्रियों का प्रारम्भिक केन्द्र कदाचित् जलभूमि में कौशाम्बी के पास था, पीछे पश्चिमी भारत में। सर्वास्तिवादियों का प्रारम्भिक केन्द्र मयूरा था, पीछे उड्डियान, गन्धार और कश्मीर। धर्मगुप्तक और काश्यपीयों का विकास भी उत्तरागम में हुआ। स्वविरो का एक प्राचीन केन्द्र कौशाम्बी और दूसरा बिदिशा था। पीछे उन्होंने दक्षिणागम में वृद्धि प्राप्त की।

तारानाथ के अनुसार वसुवन्धु एवं धर्मकीर्ति के मध्यवर्ती काल में पूर्वशैल, अपर-शैल, हेमवत, काश्यपीय, विभज्यवादी, महाविहारवासी और अवन्तक सम्प्रदाय लुप्त हो गये थे। उनके अनुसार पाल-युग में केवल ६ सम्प्रदाय रहे थे—वात्सीपुत्रीय, कौशकुल्यक, प्रज्ञप्तिवादी, लोकोत्तरवादी, ताम्रपाटीय, एवं मूलसर्वस्तिवादी।^{११}

विवादास्पद विषय—इन विभिन्न बौद्ध-निकायों में नाना आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विषयों पर लगभग ५०० वस्तुएँ अथवा सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये। बुद्ध, बोधिसत्त्व, अर्हत्, अन्य आर्य-गण एवं पृथग्जन, संघ एवं दान, आर्य-सत्य, कर्म, हेतु-फल, पाप-गुण्य, संयोजन एवं क्लेश, आध्यात्मिक मार्ग एवं उसके अंग, शील, ध्यान, ज्ञान, समापत्ति, निरोध, निर्वाण, अंतरकृत, चित्त एवं चैत, रूप, काल, आकाश, वैधातुक, पुद्गल—इन सभी पर नाना मत, नाना निकायों में प्रकाशित किये गये। इनमें से बहुत कम पर सन्तोषजनक जानकारी प्राप्त की जा सकती है। कुछ प्रधान मौमासित मत इस प्रकार थे—बुद्ध और बोधिसत्त्व की अलौकिकता, विशेषतया उनका जन्म भौतिक देह, आध्यात्मिक चर्या एवं उपदेश-विधि; अर्हत्ता में दोष एवं पतन की सम्भावना, स्रोतजापन्न के पतन की सम्भावना; संघ के लिए दान-प्रतिग्रह की सम्भावना एवं उसकी विशुद्धि और फल की महत्ता; पुद्गल का अस्तित्व; अतीत और अनागत पदार्थों का अस्तित्व; इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की सरागता अथवा विरागता; काम और इन्द्रियों का विभिन्न

लोकों में अस्तित्व; रूप अथवा भौतिक घटकों का कर्म-फल होना, एवं उनकी अरूप-लोक में सत्ता; अन्तराभव का अस्तित्व; चित्त की स्वाभाविक भास्वरता, देवलोका-में ब्रह्मचर्यावास की सम्भावना, श्रद्धा आदि पाँच इन्द्रियों की एवं सम्पद्भूषिणी की शक्ति-कता; आकाश, प्रतीत्यसमुत्पाद, निवाम, तथता, आरूप्य समापत्ति, एवं दो निरोधों की असंस्कृतता ।^{१८}

बारो का मत—संदोष—विवाद-वस्तु विषयों में मतैक्य एवं मतभेद का परिणाम कर बारो महोदय ने यह प्रतिपादित किया है कि (१) महीशासक, महासाधिक, विभाषा में वर्णित विभज्यवादी, शारिपुत्राभिधर्मशास्त्र (धर्मगुणक), एवं अन्धक परस्पर संलग्न प्रतीत होते हैं, (२) सिंहल के धेरवादी, एवं काश्मीर के सर्वास्तिवादी एक दूसरा वर्ग बनाते हैं, (३) वात्सीयुजीय और सम्मतीय साध चलते हैं, (४) दाष्टोन्तिक और सौवाम्तिकों का परस्पर एवं पहले वर्ग से सम्बन्ध है ।^{१९}

किन्तु इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि दूसरे और तीसरे वर्ग में आन्तरिक अभि-सम्बन्ध सुविदित है। महासाधिक और महीशासकों का सम्बन्ध बारो महोदय की समीक्षा-प्रणाली के दोष से उद्भासित है। उन्होंने इन सम्प्रदायों के मर्मभूत सिद्धान्तों के भेद की ओर ध्यान न देकर केवल सदृश और विसदृश सिद्धान्तों की संख्या पर ही अपना निर्णय आधारित किया है।

६८—इन समस्त 'वस्तुओं' का वर्गीकृत तालिका के रूप में विस्तृत प्रवर्णन—

बारो, पूर्व, पृ० २९०-८९।

६९—वही, पृ० २९०-९५।

बौद्ध धर्म का प्रसार और कला

बुद्ध से अशोक तक—भगवान् बुद्ध और उनके धर्म की जन्म-भूमि प्राच्य अथवा पूर्ण देश या जिसका पश्चिमी छोर ब्राह्मण धर्मों में प्रयाग अथवा काशी माना जाता था। दूसरी संगीति के अवसर पर 'प्राचीनक' भिक्षुओं ने पूर्व देश की इस महिमा का स्पष्ट विरूपापन किया था।^१ ऊपर कहा जा चुका है कि तथामत ने सद्धर्म का उपदेश प्रधानतया मगध एवं कोशल के जनपदों में तथा शाक्य, लिच्छवि, एवं मल्ल आदि गणराज्यों में किया था। राजगृह एवं श्रावस्ती में उन्होंने अनेक बार अवस्थान किया। उनकी चारिका की पूर्वी सीमा राव के सेतक नाम के गृहमनिगम तक अथवा कज्जल तक बतायी गयी है। पश्चिम की ओर वत्स-राजधानी कोशाम्बी में तथामत ने निवास एवं उपदेश किया था। अनुधुति के अनुसार उन्होंने चारिका के १२ वें वर्ष मधुरा के निकट बेरम्ब में वास किया, किन्तु वहाँ उन्हें विशेष साफल्य नहीं प्राप्त न हुआ। लौटते समय वे सौर्य्य, संकसस, कणकुञ्ज, तथा पमागपटिट्ठान, होते हुए वाराणसी पहुँचे। उत्तर में कुह-जनपद के कम्मसपम्म तथा धुल्लकोटिट्ठ नाम के ब्राह्मण-निगमों तक उनकी यात्रा बतायी गयी है।

पहले कहा जा चुका है कि तथामत ने अपने लिप्यों को सद्धर्म के प्रसारार्थ चारिका के लिए प्रोत्साहित किया था। चैतियों के सहजाति निगम में महाचन्द के द्वारा धर्म-देशना का उल्लेख मिलता है। महाकच्चापन प्रभृति भिक्षुओं ने अवन्ति में सद्धर्म का प्रसार किया। यह स्मरणीय है कि महाकच्चापन का प्रव्रज्या से पूर्व का नाम नालक था एवं उन्हें अवन्तिवासो बताया गया है। यह कहा गया है कि उन्होंने तथामत के परिनिर्वाण के कुछ समय पश्चात् राजा मधुर अवन्तिपुत्र को सद्धर्म में दीक्षित किया। मुनापरान्त के मुदुर प्रत्यन्त प्रदेश में धर्म-प्रचार के लिए वहाँ के निवासी पुण्य को भोजने का उल्लेख उपलब्ध होता है।^२

१-विनय ना०, चुल्लवाग, पृ० ४२५।

२-इ०—मल्ललेकर, शिवश्रमरी आँध्र पालि प्रोवर मेन्स, जि० २, पृ० २२०।

विनय में सद्धर्म की मूल भूमि को 'मज्झिमा जनपदा' कहा गया है और इनके सीमा-वर्ती प्रदेश 'पञ्चन्तिम जनपद' कहे गये हैं ।^१ इनकी सीमाएं इस प्रकार निरदिष्ट हैं—पूर्व दिशा में कज्जगल नाम का निगम, पूर्व दक्षिण में सल्लवती (सल्लवती) नाम की नदी, दक्षिण दिशा में 'सेतकण्ठिक' नाम का निगम, पश्चिम दिशा में 'घृण' नाम का ब्राह्मणग्राम, उत्तर दिशा में 'उसीरद्वज' (उसीरध्वज) नाम का पर्वत । इन सीमाओं के इस ओर 'मज्झिम' देश है, उस पार 'पञ्चन्तिम' जनपद यथा अवन्ति-दक्षिणापथ । यह उल्लेखनीय है कि प्रत्यन्त जनपदों में धर्म-प्रचार की सुविधा के लिए विनय में आवश्यक परिवर्तन किया गया । परिस्थिति की ओर सद्धर्म की यह जागरूकता उसके प्रसार में निश्चित सहायक थी ।

मञ्जुश्रीमूलकल्प के अनुसार बुद्ध के अनन्तर कुछ समय तक सद्धर्म की यथोचित प्रगति नहीं हुई । किन्तु धर्म के भौगोलिक प्रसार में विशेष अवरोध नहीं प्रतीत होता । इस समय विस्तारशील भगध साम्राज्य के अनेक शासकों की सद्धर्म के प्रति अनुकूलता उल्लेखनीय है । इन शासकों में उदामि, मुण्ड, कालाघोष एवं शूरसेन के नाम

३-महावग्ग (भा०) पृ० ३३५, २१४-१६ ।

४-वही, पृ० २१६ ।

सु०—“पूर्वेषोदालिन् पुण्ड्रवर्धनं नाम नगरं तस्य पूर्वेष पुण्ड्रकलोनाम वावः । (सोऽन्तः) ततः परेण प्रत्यन्तः । दक्षिणेन शरावती नाम नगरी । तस्याः परेण शरावती (सरावती) नाम नदी । सोऽन्तः । ततः परेण प्रत्यन्तः । पश्चिमेन स्फुणोपस्फुण्णो ब्राह्मणग्रामो । ... उत्तरेण उसोरगिरिः ।” (मिलगित मेनुस्क्रिप्ट्स, जि० ३, भा० ४, पृ० १९०) ।

इससे ज्ञात होता है कि सल्लवती=सल्लवती=शरावती=सरावती । 'अन्त' सीमा के इस ओर है, 'प्रत्यन्त' उस पार ।

५-मञ्जुश्रीमूलकल्प (जायसवाल), श्लो० ३२४, 'उज्जाराण्य' राजाबुद्धशासन के लिए उद्यत होगा और शास्ता के प्रवचन को लिपिबद्ध करायेंगे ।

६-अंगुत्तरनिकाय (रो०) जि० ३, पृ० ५७ प्र० ।

७-जिसके समय में 'बुद्धरी संगीति' कही गयी है ।

८-सु०—मञ्जुश्री मूलकल्प (जायसवाल) श्लो० ४१७-२१; 'वीरसेन' पर

इ०—तारात्वाम् (अनु० शोफनर) पृ० ५०-५१ ।

निर्दिष्ट है। परिनिर्वाण के १०० वर्ष पश्चात् कालाचोक के समय में दूसरी संगीति का विवरण प्राप्त होता है। इस समय संघ के तीन प्रधान केन्द्र थे—बैशाली, कौशाम्बी, एवं मथुरा, तथा संघ के अन्दर 'प्राचीनक' (पूर्वी) तथा 'पच्छिमक' (पश्चिमी) निक्षेत्रों के दो विभिन्न दल बन चुके थे। पूर्व में राजधानी के परिवर्तन के साथ राजगृह का स्थान पाटलिपुत्र में ले लिया था। पावा, सहजाति, कान्यकुब्ज, सोरेण्य, संकाश्य, स्तूपन, और जवन्ती सद्धर्म के इस समय अन्य केन्द्र थे। यह स्पष्ट है कि आर्यों-वर्त में इस समय बौद्ध धर्म का प्रसार अवन्ति से बैशाली तथा मथुरा से कौशाम्बी तक था। परवर्ती काल में विदेशी बौद्ध यात्री मथुरा से ही 'मध्य देश' का जारम्भ मानते थे। इस मध्य देश का बौद्धों के लिए विशेष महत्त्व था क्योंकि उसी में बुद्ध-जीला में सम्बद्ध उनके पुण्यतीर्थ थे।

ऊपर कहा जा चुका है कि बैशाली की संगीति के अनन्तर प्रादेशिक भेद के साथ-साथ बौद्धों में साम्प्रदायिक भेद प्रकट हुए तथा विभिन्न सम्प्रदायों के नेतृत्व में सद्धर्म विभिन्न दिशाओं में प्रसारित हुआ। एक ओर मगध से महासांघिक अन्ध्रापथ की ओर प्रवृत्त हुए, दूसरी ओर कौशाम्बी से अवन्ति-दक्षिणापथ के मार्ग पर स्वविरवादी, तथा मथुरा से उत्तरापथ की ओर सर्वास्तिवादी अग्रसर हुए। नन्दमौर्य साम्राज्य में पहली बार अखिल भारतीय एकसूत्रता आभासित हुई तथा प्रशासकीय, सैनिक, व्यापारिक एवं सांस्कृतिक दृष्टियों से अन्तः प्रादेशिक सम्बन्धों की अग्रतारणा हुई। एक ओर अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, व्याकरणशास्त्र आदि के विकास में जो अखिल भारतीयता प्रतिबिम्बित है, उसे ही पुरातत्त्वीय मृदभाष्य जगत् में एन्० बी० पी० का प्रसार सूचित करता है^{१०}। इस अखिलभारतीयता का सबसे ज्वलन्त प्रतीक अशोक की धर्मलिपियाँ और स्तम्भ हैं।

अशोक—अशोक और सद्धर्म के सम्बन्ध पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है, किन्तु कुछ विवाद अभी तक शान्त नहीं माने जा सकते। सभी बौद्ध परम्पराएँ अशोक को बौद्ध घोषित करती हैं^{११}। किन्तु अहाँ स्वविरवादी उन्हें निर्धोष एवं मोक्षमयी पुत्र तिष्य

१-इ०—प्रिलुस्कि, पृष्ठ० ।

१०-सु०—सुम्भाराव, पर्सनेस्विटी ऑफ् इण्डिया, पृ० ४६; तु०—जी० आर० सार्म, पृष्ठ० ।

११-उदा०—दीपवंत, महावंत, दिव्यावदान, काश्येन, श्वानच्चांग, तारानाथ, बुद्धो ।

के अनुयायी बताते हैं, मगध के सर्वास्तिवादी उन्हें उपगुप्त के शिष्य मानते हैं^{११}। अशोक के अपने अभिलेखों में उनके स्वयं बौद्ध होने के कुछ संकेत होते हुए भी यह कहना कठिन है कि जिस 'धर्म' का उन्होंने विविध उपायों से प्रचार किया वह सद्धर्म ही है। अशोक सभी धर्मों के हितैषी थे और किसी विशेष सम्प्रदाय का पक्ष-पोषण अनुचित समझते थे। वे सभी धर्मों की सारवृद्धि चाहते थे तथा उनकी धर्मलिपियों में एक प्रकार का सारभूत सर्वसाधारण धर्म ही उपदिष्ट प्रतीत होता है। तथापि उनके व्यक्तिगत धर्म होने के कारण सद्धर्म को अशोक से अवश्य पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई। 'पाटलिपुत्र-संगीति' की अनुश्रुति में तम-से-कम आंशिक सत्य स्वीकार करना चाहिए^{१२}। अशोक के स्तम्भों में स्पष्ट ही धर्मचक्र आदि बौद्ध प्रतीक उत्कीर्ण हैं। बौद्ध परम्परा के अनुसार अशोक ने ८४,००० स्तूपों का निर्माण कराया^{१३}। यह निस्सन्देह है कि अशोक के ही समय में बौद्ध प्रस्तरकला इतिहास में प्रकट होती है^{१४}। दिव्यावरान के अनुसार अशोक आर्य संघ का पञ्चवार्षिक सत्कार करते थे^{१५}। यह सम्भव है क्योंकि परवर्ती काल में भी पञ्चवर्षीय दान परिषदों का बौद्ध-भासकों से प्रचार उपलब्ध होता है^{१६}।

तृतीय संगीति—'तृतीय' संगीति का विवरण दीपवंस, महावंस, समन्तपासादिका एवं कथावत्थुअट्ठकथा में उपलब्ध होता है। किन्तु सैहलक स्वबिरवादी परम्परा के अतिरिक्त अन्यत्र इस संगीति के विषय में 'मीन' के कारण यह सन्देह उत्पन्न होता है कि कि यह संगीति कदाचित् एकनिकायिक थी, चातुर्दिश नहीं^{१७}। यह भी कहा गया है

१२-मगध की 'स्वबिर-परम्परा' (आचार्य०) मूलसर्वास्तिवाद-विनय तथा अशोकराजसूत्र में इस प्रकार उपलब्ध होती है—महाकाश्यप—आनन्द—शणिक (शानवास) —उपगुप्त, इ०—काउबाल्लर, पृ० २८-३४, पालि स्वबिरपरम्परा दीपवंस आदि में प्रसिद्ध है, इ०—नीचे; तु०—बुद्धेन, वि० २, पृ० १०८-९।

१३-दे०—नीचे।

१४-दिग्वावदान (सं० पद्य), पृ० २४०।

१५-दे०—नीचे।

१६-दिग्वावदान, पृ० २५९।

१७-काश्यपेन और इवानच्चांग, दे०—नीचे।

१८-उवा० तु०—कीथ, बुध्तिस्ट फिलांस्को, पृ० १८-१९, टॉमस, हिन्दूरी आँव बुध्तिस्ट पोट, पृ० ३५।

कि कदाचित् दिव्यावदान में प्रोक्त अशोक की पञ्चवर्षीय परंपरा को ही अतिरजित कर 'संगीति' बना दिया गया हो। अशोक के अभिलेखों में इस संगीति का निर्विवाद उल्लेख प्राप्त नहीं होता। यदि पालिपरम्परा सत्य है तो अशोक का मौन दुर्बोध है। दूसरी ओर, कौशाम्बी, सारनाथ तथा सांची के अभिलेखों में अशोक ने स्पष्ट ही संघ-भेद को निराकृत करने का निश्चय प्रकट किया है^१। उनका कहना है कि उन्होंने संघ की समग्र किया, तथा जो भिक्षु अथवा भिक्षुणी संघभेद के लिए प्रवृत्तशील हो, उसे अवदात वस्त्र पहिना कर संघ से निकालने की उन्होंने आज्ञा दी। सारनाथ-स्तम्भ-लेख में महामाची को आदेश दिया गया है कि वे उपोसथ के दिनों में नित्य जाकर उल्लिखित राजशासन के पालन की ओर सावधान हों। इससे पालिपरम्परा का समर्थन होता है कि अशोक के समय संघ नाना सम्प्रदायों में विभक्त था तथा अशोक ने संघ की समग्र किया। यह स्मरणीय है कि विभिन्न सम्प्रदायों के भिक्षु पृथक्-पृथक् आवासों में नहीं रहते थे। अतएव उनमें विनय-सम्बन्धी मतभेद के कारण एकत्र उपोसथ के पालन में कठिनाई दुनिवार रही होगी। कहा गया है कि इस अवरोध से सात वर्ष तक अशोक-राम में उपोसथ नहीं किया गया^२। इस पर अशोक ने मीदगली पुत्र तिष्य की संरक्षकता में भिक्षुओं को एकत्र किया, तथा उनके सिद्धान्तों की परीक्षा के अनन्तर जो भिक्षु विभक्त-वादी नहीं थे उन्हें संघ से निकाल दिया।

यह निश्चित है कि अशोक ने संघभेद के विच्छेद, एवं संघ की समग्रता के पक्ष में नियम बनाये। किन्तु यदि उन्होंने 'संगीति' संगीत की होती तो इसका अवश्य ही स्पष्ट उल्लेख करते। दूसरी ओर, यदि संगीति न हुई होती तो विभिन्न सम्प्रदायों के संघर्ष में अशोक किस सम्प्रदाय के अनुसार संघ की समग्रता के विषय में राजशासन प्रवर्तित करते? ऐसा प्रतीत होता है कि संगीति अवश्य हुई थी, किन्तु उसके जापोजन में संघ का ही हाथ था। इसीलिए अशोक ने उसका साक्षात् उल्लेख नहीं किया है^३। तथापि भाबू अभिलेख में इस संगीति का संकेत कर्चचित् देखा जा सकता है। इसमें अशोक अपने को 'मागध राजा' बतलाते हुए संघ का अभिवादन करते हैं तथा सद्धर्म

११-२०—डी० आर० भण्डारकर, अशोक (द्वितीयसंस्करण), पृ० १६; तु०—

बी० स्मिथ, अती हिस्टरी ऑफ़ इण्डिया (४थ संस्करण), पृ० १६९।

२०-३०—दि० रिबेट्स कमेंटरी (पी० टी० एस०, अनुवाद) पृ० ५।

२१-तु०—बी० स्मिथ, वही, स्मिथ के अनुसार अभिलेख पहले के हैं, संगीति बाद की।

के सब अनुयायियों के लिए विशेष रूप से स्मरणीय कुछ धर्मपर्यायों का निर्देश करते हैं। डा० भण्डारकर का सुझाव है कि यहाँ पर 'संघ' शब्द से किसी विशेष स्थान पर एकत्र समस्त संघ के प्रतिनिधियों का अर्थ ग्रहण करना चाहिए^{२२}। ऐसी व्याख्या करने पर अशोक का अपना स्वयं परिचय देना भी समझ में आता है। क्योंकि कदाचित् संगीति में दूर-दूर के भिक्षु आये होंगे। अन्य सम्प्रदायों के मौन का कारण इस संगीति में विभज्यवादियों का प्राधान्य हो सकता है, किन्तु यदि संगीति एकदेशी थी, तो अशोक उसके नियमों को क्यों मानते? वे स्वयं साम्प्रदायिकता एवं पक्षपात के प्रतिकूल उपदेश करते थे। वस्तुतः यह स्मरणीय है कि पहली दो संगीतियाँ विनय में उल्लिखित हैं, अतएव उनका विवरण परवर्ती बीड़ परम्पराओं में सर्वत्र उपलब्ध होता है। यही नहीं, वे संगीतियाँ संघभेद के पूर्व की होने के कारण सर्वमान्य हैं, किन्तु दूसरी संगीति के अनन्तर शाखा भेद उत्पन्न होने से, तथा भिक्षुओं के ऐतिहासिक अज्ञान के कारण घटनाओं और व्यक्तियों की स्मृति भुंखली हो जाने से यह सम्भव है कि उपेक्षा एवं विस्मरण अथवा स्मृति-संकर के कारण ही इस तीसरी संगीति का स्पष्ट विवरण 'उत्तरी बीड़' परम्परा में नहीं मिलता। तथापि वह उल्लेखनीय है वसुमित्र के अनुसार संगीति अशोक के समय में कुसुमपुर में हुई थी तथा इस विवरण में दस विनय-वस्तुओं की वर्णना होकर महादेव की प्रतिपादित 'पाँच वस्तुओं' का उल्लेख है^{२३}। महादेव की 'पाँच बातें' कदाचित् में उपलब्ध होती है^{२४}। यह स्पष्ट है कि वसुमित्र ने 'दूसरी' और 'तीसरी' संगीतियों को एक कर दिया है और इस प्रक्रिया में कुछ अंश दूसरी संगीति का और कुछ तीसरी का मूल्य हो गया है। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तीसरी संगीति के विषय में न तो अशोक सर्वथा मौन है, न विभज्यवादियों के बहिर्भूत अन्य सम्प्रदाय^{२५}। तीसरी संगीति की ऐतिहासिकता अवश्य सूचित होती है, किन्तु उसका निष्पक्ष ऐतिहासिक विवरण प्राप्त नहीं होता।

महावंस के अनुसार संघ में प्रविष्ट तीर्थीकों के बाहुल्य के कारण सात वर्ष तक

२२-३०—भण्डारकर, अशोक, पृ० १०१-२।

२३-मनुवा, पूर्व, पृ० १४।

२४-पूर्व, जे० आर० ए० एस०, पूर्व० खल।

२५-श्वानुच्चारण के विवरण में भी इस संगीति का कथंचित् उल्लेख दृष्टव्य है—

बील, जि० ३, पृ० ३३१।

उपोसव एवं प्रवारणा न हुई^१। यह सुनकर अशोक ने एक अमात्य को अशोकाराम^२ भेजा और कहा कि विनाय को शान्ति के अन्तर उपोसव का विधान होता चाहिए। अमात्य के राजसामन सुनाने पर भिक्षुओं ने तीर्थिकों के साथ उपोसव न करने का आना निर्णय दुहराया। अमात्य ने बलपूर्वक उपोसव कराने के प्रयत्न में कुछ स्वविरों का सिर काट लिया। राजा के अनुजतिष्ठ स्वविर के बीच-बचाव से वह बाण्ड रुका और अशोक को सूचना पहुँची। अशोक ने दुःखी होकर जानना चाहा कि ऐसी परिस्थिति में बोधी कील टूटरेगा। भिक्षुओं ने विभिन्न मत प्रकट किये। कुछ ने राजा को भी बोधी माना। अन्ततः राजा ने निर्णय के लिए मौद्गलीपुत्र तिष्ठ^३ को बुलाने का निश्चय किया। उनके बुलाने के लिए पहले बार स्वविर और बार अमात्य भेजे गये। प्रत्येक स्वविर के साथ एक सहस्र भिक्षु और प्रत्येक अमात्य के साथ एक सहस्रावपुत्र थे। किन्तु मौद्गलीपुत्र ने निमन्त्रण अस्वीकार कर दिया। इस पर पूर्ववत् अनुचरों के साथ आठ स्वविर और आठ अमात्य भेजे गये, किन्तु कोई सफलता प्राप्त न हुई। सातवें सोलह स्वविर और सोलह अमात्यों के भेजने पर मौद्गली पुत्र ने अहोमंग पर्वत से उतरना स्वीकार किया, जहाँ वे सात वर्ष से एकान्त ध्यान में निरत थे। राजा ने स्वयं मंगा जल में खड़े होकर स्वविर को नाव से उतारा। सत्कार के पश्चात् राजा ने चमत्कार प्रदर्शन के लिए अनुरोध किया। स्वविर ने भूकम्प-सिद्धि दिखला कर राजा को समुप्ट किया। इसके पश्चात् उन्होंने राजा को समझाया कि भिक्षुध का अपराध उल्लोम लभेमा और क्योंकि कर्म तब तक संदीप नहीं होता जब तक मत संदीप न हो।

राजा ने पृथ्वी भर के भिक्षुओं को अशोकाराम में एकत्र करवाया। भिक्षुओं के मत की परीक्षा के अन्तर मिथ्या दृष्टि वाले भिक्षुओं की प्रश्रय्या छीन ली गयी। इस प्रकार ६०,००० भिक्षु निकाले गये। राजा ने धार्मिक भिक्षुओं से भी भगवान्

२६-महावंस (बम्बई, १९५९), पृ० ४३ प्र०।

२७-जमन्तपासाविका (सं० तकाकुमु) के अनुसार अशोकाराम अशोक ने ही बनवाया था।

२८-सांची, द्वितीय स्तूप के एक अभिलेख में 'सपुरित्त सोमसिपुत्त' (समुपुत्त मौद्गलीपुत्र) का नाम उपलब्ध होता है।

२९-एकमत से वे मूलतया महासांघिक थे, (इत्त, पूर्व० पृ० २६९)। किन्तु यह स्मरणीय है कि कथावस्तु की प्राचीनतम 'कथा' वात्सोपुमियों के विरोध में है।

बुद्ध का वास्तविक मातृपूजा, जो उन्होंने विभज्यवाद बताया। मौद्गलीपुत्र ने इसका समर्थन किया तथा भिक्षु-संघ ने बुद्ध होकर पुनः उपोसथ का विधान किया।

मौद्गलीपुत्र ने बहुसंख्यक भिक्षु-संघ में से एक सहस्र बुद्धिमान्, पंडित, त्रिपिटक-विद् और प्रतिस्मिद्धा प्राप्त भिक्षुओं को सद्धर्मसंग्रह के लिए चुना और उनके साथ अशोकाराम में ही संगीति की। अन्य मतों के खण्डन के लिए स्पष्टिर ने कथावस्तु-रचन की रचना की। इस प्रकार अशोक की संरक्षकता में तथा मौद्गली पुत्र की अध्यक्षता में एक सहस्र भिक्षुओं ने सौ महीनों में तीसरी धर्मसंगीति समाप्त की। अशोक के शासन का उस समय १७ वर्ष वर्ष था तथा मौद्गलीपुत्र ७२ के थे। संगीति समाप्त करके मौद्गलीपुत्र ने भविष्य की देखते हुए प्रत्यन्त प्रदेशों में बुद्ध शासन की स्थापना के लिए अनेक स्पष्टिरों को भेजा।

दीपवंस, कथावस्तु-रचन एवं समन्तपासादिका में तृतीय संगीति का विवरण इसके समञ्जस है। यह स्पष्ट है कि इस 'संगीति' के दो भाग थे—'तीर्थिक' भिक्षुओं का संघ से निष्कासन, त्रिपिटक का विशेषतया अभिधर्म पिटक का, संग्राह्य। विनय भेद के कारण उपोसथ में कठिनाई ही संगीति का मूल कारण था। कदाचित् अशोक ने केवल इसी विषय में संगीति के निर्णय की मान्य ठहराया हो। त्रिपिटक-संग्राह्य, जयया, जैसा अधिक सम्भाव्य है, मौद्गलीपुत्र के द्वारा विभज्यवाद के विरोधियों के निराकरण का प्रयत्न, कदाचित् एकदेशी अर्थात् एकनिकायिक था। कथावस्तु-रचन अपने वर्तमान रूप में एक साहित्यिक इकाई नहीं है। नाना सप्रयामिक मतों के आधिर्भाव एवं उनसे परिचय होने पर उनका खण्डन भी सम्भवतः मौद्गलीपुत्र की मूल कथावस्तु में संश्लेषित कर दिया गया और इस प्रकार उसकी वर्तमान रूप में कमिक निष्पत्ति हुई। भाषा के विचार से प्रथम 'कथा' में मागधी छाया उसकी प्राचीनता चोखित करती है।

अशोक के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उसने सर्वत्र अपने साम्राज्य में, प्रत्यन्त प्रदेशों में तथा सुदूर पश्चिमी विदेश में 'धर्म-विजय' का प्रगट किया तथा अपने दूत भेजे। अनेक इतिहासकारों ने यह मान लिया है कि अशोक की यह धर्म-विजय सद्धर्म का ही प्रचार था और अतः इसे स्वीकार किया है कि अशोक के संरक्षण के कारण मगध

३०-३०—ओरिजिनल ऑव् बुद्धिज्म, पृ० १३-१४, तु०—भीमती राहुल डेविड्स, पाहन्स ऑव् कान्हेसरी, भूमिका, अट्ठसालिनी के अनुसार 'कथावस्तु' की रचना भी परम्परया बुद्ध भगवान् के द्वारा ही माननी चाहिए। (३०—नोट)।

का एक धार्मिक सम्प्रदाय विश्वविख्यात धर्म में परिणत हो गया^{११}। किन्तु इसके विपरीत यह स्मरणीय है कि स्वविरवादिनों की उपर्युक्त परम्परा के अनुसार मोक्षगती पुत्र तिथ्य में ही प्रत्यन्त जनपदों में धर्म प्रचार के लिए मिथुओं को भेजा। कश्मीर-गन्धार के लिए मज्जन्तिक भेजे गये, महिषमण्डल के लिए महादेव, वनवासी के लिए रक्षित, अपरान्त के लिए यौनक अम्मरक्षित, महारट्ट के लिए महाधम्मरक्षित, वनवासी में महारक्षित, हिमवत्प्रदेश में मज्जिम, काश्यपगोत्र, मूलदेव, सहदेव और दुन्दुभिस्वर, सुवर्णभूमि में सोण और उत्तर, ताक्षणी को महेन्द्र, 'इट्ठिय', 'उत्तिय', सम्बल और भद्रसाल। अभिलेखों से स्वविरवादिनों के द्वारा धर्म प्रचार के इस प्रयत्न का आंशिक समर्थन उपलब्ध होता है^{१२}।

प्रत्यन्त जनपदों में प्रसार—महावंस के अनुसार उपासि के शिष्य दासक थे, दासक के सोणक, सोणक के सिम्भव और चण्डवज्जि, सिम्भव के मोग्गलिपुत्र तिस्स। यह आचार्य-परम्परा सर्वास्तिवादी परम्परा से भिन्न है जिसके अनुसार आनन्द के शिष्य शाणवास थे, शाणवास के उपगुप्त। बरेवादी परम्परा वैशाली, राजगृह और पाटलिपुत्र की है, सर्वास्तिवादी परम्परा मगध की। मोग्गलिपुत्र की प्रेरणा से अशोक के शासन के छठे वर्ष में उसके लड़के महेन्द्र और लड़की संघमित्रा ने प्रव्रज्या ली। महेन्द्र बीस वर्ष के थे, संघमित्रा अठारह की। तृतीय संगीति के पश्चात् मोग्गलिपुत्र ने महेन्द्र को इट्ठिय, उत्तिय सम्बल और भद्रसाल के साथ धर्म प्रचार के लिए लका भेजा। उस समय महेन्द्र की प्रव्रजित हुए बारह वर्ष हुए थे। महेन्द्र की माता विदिशा में रहती थी और विदिशा के ही मार्ग से वे लका में मिथक पर्वत (मिहिल्लले) पहुँचे जहाँ देवानाम्पिय तिथ्य शासन करते थे। पीछे संघमित्रा ताक्षणीय से नाव पर चढ़-कार अम्बुकोल पहुँची। सिंहल में मिथु और मिथुणी-संघ की स्थापना कर महेन्द्र और संघमित्रा ने तिथ्य के उत्तराधिकारी उत्तिय के शासनकाल में निर्वाण प्राप्त

३१-सु०—बी० सिम्भव, पूर्व० पृ० १९७-१९८।

३२-मोक्षगती और सोणी के स्तूपों से प्राप्त अभिलेखों में हेमवत दुन्दुभिस्वर, सत्युध मज्जिम (मज्जिम), एवं 'सर्वहेमवताचार्य काश्यपगोत्र' के नाम उपलब्ध होते हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि नागार्जुनिकोण्ड के एक परवर्ती अभिलेख में ताक्षणी के स्वविर आचार्यों को कश्मीर-गन्धार-वीन-चिलास-तोसलि-अवरंत-वंग-वनवासि-यवन-इविह-यलुर के प्रसादक कहा गया है। (दे०—नीचे)।

किया^{३३}। यह उल्लेख है कि काश्येन ने सिन्धु में सद्धर्म का प्रवेश बृद्ध भगवान् के द्वारा बताया है^{३४}। श्वानुष्वांग ने अशोक के अनुज महेन्द्र की सिन्धु में बौद्ध धर्म का प्रथम प्रचारक बताया है^{३५}। यह स्मरणीय है कि काश्येन भी अशोक के अनुज का उल्लेख करता है, जिसे वह अहंत् बताया है।^{३६}। किन्तु इन अनुभूतियों को सिन्धु परम्परा से अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता^{३७}।

सुवर्ण भूमि और वसिष्ठापथ—‘सुवर्णभूमि’ का अर्थ स्पष्ट नहीं है। बर्मा में सुवर्णभूमि का रामज्जदेश (बर्मा) से तादात्म्य स्वीकार किया गया है, किन्तु यह सन्दिग्ध है^{३८}। सुवर्णभूमि का सम्बन्ध ‘सुवर्णगिरि’ से स्थापित किया जाना चाहिए। सुवर्णगिरि अशोक की प्रादेशिक राजधानी थी और कदाचित् उसकी स्थिति दक्षिण में मास्को के निकट थी^{३९}। वहाँ की स्वर्ण बर्मा भूमि ही कदाचित् ‘सुवर्णभूमि’ थी जहाँ सोण और उत्तर की धर्मप्रचार के लिए भेजा गया। दूसरी ओर यह भी स्मरणीय है कि सुवर्णभूमि का भारत के जन्वर अन्यत्र उल्लेख सुलभ नहीं है। अपेक्षाकृत एवं मिलिन्द-पञ्चों में कदाचित् विदेश उद्दिष्ट है। यह सम्भव है कि ‘अलबोरेडो’ के समान सुवर्ण भूमि भी भारत के बाहर दक्षिणपूर्व के किसी भाग का नाम रहा हो। किन्तु इतना निश्चित है कि बर्मा में सद्धर्म की निश्चित सत्ता अशोक के समय से अनेक शताब्दी परवर्ती है। प्रोग के निकट ई० सी० तीसरी से छठी शताब्दी के मध्य के पालि अभिलेख प्राप्त हुए हैं जो उस समय वहाँ हीनयान का प्रचार सूचित करते हैं^{४०}। कदाचित् ई०

३३—महावंस, पृ० ८४ प्र०।

३४—काश्येन (अनु० लेख) पृ० १०२।

३५—श्वानुष्वांग (अनु० बील, प्र० सुशील मुत्त) जि० ४, पृ० ४४२।

३६—काश्येन (अनु० लेख), पृ० ७७।

३७—तु०—स्मिथ, अलॉ हिस्टरी ऑफ् इण्डिया, पृ० १९६-९७।

३८—तु०—इल्लिगट, हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, जि० ३, पृ० ५०, तारानाथ के अनुसार भी अशोक के समय से कोकिलेश में धर्म का प्रचार हुआ। कोकिलेश कदाचित् बर्मा था। इ०—तारानाथ (अनु० टीकरर) अध्याय ३९।

३९—तु०—स्मिथ, वहाँ, पृ० १७२, पलोड ने सुवर्णगिरि का तादात्म्य राजगृह के निकट सोमगीर से स्थापित किया है—जे० आर० ए० एस्०, १९०९, पृ० ९८१-१०१६, वत्त के अनुसार सुवर्णभूमि कदाचित् मगध के पास रही होगी, पूर्व, जि० २, २७१।

४०—इ०—जे० ए० १९१२, पृ० १३१-३६।

तीसरी शताब्दी में दक्षिण भारत अथवा सिङ्गल से सद्धर्म दक्षिणी बर्मा पहुँचा। दूसरी ओर उत्तरी बर्मा में सद्धर्म कदाचित् समतट से पहुँचा था।^{४१}

बौद्धधर्म का महिषमण्डल, जम्बुद्वीप, महाराष्ट्र और अपरान्त में अशोक काउत्ति प्रचार और प्रसार अनायास विरहात्म्य है। महिषमण्डल अथवा महिषराष्ट्र से मही-यासकी को सम्बद्ध किया गया है, किन्तु यह सम्भाव्यताय है। यह अवश्य है कि अपरान्त में प्रचार का कार्य एक भवन (यौनक) को दिया गया है जो कि मुराष्ट्र में अशोक के प्रान्तपाल वसन्तराज मुषाण का स्मरण दिलाता है। यह भी विचारणीय है कि सध के द्वारा इस धर्मप्रचार के प्रसंग में दक्षिणपूर्वी भारत का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। नन्दराज के समय में कलिंग में जैनशासन विदित था। कलिंग विजय के अनन्तर अशोक ने वहाँ 'धम्म' के अनुकूल व्यवस्था की थी।

उत्तरापथ—यात्रि परम्परा में हिमवत्प्रदेश, कश्मीर, गन्धार, एवं वसन्तराष्ट्र में धर्मप्रचार का श्रेय मौर्यगौतम के भेजे हुए काश्यपयोग, दुन्दुभिस्वर, मध्यान्तिक, एवं महारक्षित को दिया हुआ है। हेमवतों के आचार्य काश्यपयोग, दुन्दुभिस्वर एवं मध्यान्तिक की ऐतिहासिकता उत्तर सूचित की जा चुकी है। हिमवत्प्रदेश में काश्यपीय अथवा हेमवत सम्प्रदायों का प्रचार वहीं से मानना चाहिए।^{४२} समन्तप्रासादिका में कहा गया है कि कश्मीर में एक नाग का आधिपत्य था। मध्यान्तिक ने उसे प्रसादित कर सद्धर्म का प्रचार किया तथा सबसे पहले आशीविषोपम मुत्तस्त का उपदेश किया।^{४३} कश्मीर और गन्धार परवर्तीकाल में सर्वास्तिवादियों के केन्द्र थे। उत्तरापथ में सद्धर्म की प्रसारित करने का कुछ श्रेय मयूरा के सर्वास्तिवादियों को देना चाहिए जिन्हें उत्तरकाल में 'मूलसर्वास्तिवादी' कहा गया है।^{४४} इनके विजय में न केवल मध्यान्तिक के द्वारा कश्मीर में धर्म प्रचार का उल्लेख है, अपितु बूद्ध भगवान् को उद्दिष्टपान एवं गन्धार तक गया हुआ कल्पित किया गया है। चीनी यात्रियों के विवरण से ज्ञात होता है कि उत्तरापथ में प्रचलित अनुभूतियों ने नाना स्वार्थों को बूद्ध भगवान् के जीवन और शरीर से सम्बद्ध किया था और वही श्रद्धालु उपासकों ने स्तूप, चैत्य आदि का निर्माण किया था। बूद्ध भगवान् के सर्वथा अपरिचित इन प्रदेशों में श्रद्धानुगामिनी कल्पना

४१-इलिफट, पृष्ठ ३, पृ० ५३।

४२-दे० नीचे।

४३-तु०—बील, इवानज्यांग बि० २, पृ० १८१।

४४-इसके विरोध में इ०—छाउवात्मर, पूर्व पृ० २४-४०।

का सह महत्त्व भी अधिकतर सर्वास्तिवादियों की तथा कुछ अंश तक लोकोत्तरवादी महासाधक आदि की देन है।^{१५} उत्तरापथ में सद्धर्म का प्रसार वैदेशिक राजकुलों का भी श्रेणी था।^{१६}

अशोक ने जम्बूद्वीप के बाहर सुदूर पश्चिम तक 'धम्म' के दूत भेजे जिनके द्वार से भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति विशेषतया सद्धर्म का कुछ न कुछ परिचय अवश्य ही उन देशों तक पहुँचा होगा। यह सम्भव है कि निवृत्ति, तप, अहिंसा, मैत्री, निर्माण-काय आदि के सिद्धान्तों ने ईसाई धर्म के अन्वेषण और विकास में सहायता पहुँचायी हो।^{१७}

बौद्ध कला का विकास; कला का उद्गम और बौद्ध धर्म—सिन्धु-सभ्यता में शिल्प और वास्तु धार्मिक जीवन के अंग और सहायक के रूप में उपलब्ध होते हैं। सैन्धव शिल्प में परवर्ती भारतीय कला के कुछ विशिष्ट लक्षण देखे जा सकते हैं—मानव रूप की आदर्शपरक अभिव्यक्ति, पशुओं का स्वाभाविक निरूपण।^{१८} मानव रूप आध्यात्मिक शक्ति अथवा चेतना की प्रतिबिम्बित करने की योग्यता से ही देवता को 'मूर्ति' प्रदान करता है। प्रतिमाएँ उपयुक्त नररूप के लिए आवश्यक है कि उसमें वैहिकता के स्थान पर धार्मिक स्फूर्ति का प्राधान्य हो तथा वह 'वैयक्तिक' न होकर साधारणीकृत अथवा आदर्शीकृत हो। दूसरी ओर, पशु प्रकृति के अंग हैं, सजीव होते हुए भी उनमें कर्मशक्ति का अभाव है। यदि सैन्धव सभ्यता 'योगविद्या एवं संसारवाद' से परिचित थी, जैसा कि सम्भाव्य है, तो उसकी कला में नर और पशु का निरूपण-भेद सुबोध हो जाता है

४५—श्चमलच्छांग ने लोकोत्तरवादियों की धार्मिकान में देखा था, बील, जि० १,

पृ० ११४, उद्दिष्टान में उसने सर्वास्तिवादी, धर्मगुप्त, महीजातक, काश्यपीय एवं महासाधकों का उल्लेख किया है, वहीं, जि० २, पृ० १६७।

४६—३०—नीचे।

४७—३०—राय चौधरी, पुलीटिकल हिस्टरी ऑफ़ एन्ग्लैन्ड इण्डिया पृ० ६१४-१७; इलिपट हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धिज्म, जि० ३, पृ० ४२९, प्र०, विन्टरनिस्स, पूर्व, पृ० ४०२ प्र०; सिम, पूर्व पृ० १९७। सामान्यतः तु०—एडमंड्स, बुधिसट एण्ड क्रिश्चियन मोत्येल्स (धर्म संस्करण, सं० आनेसाकि, १९०८-९); गार्ड, इन्दी न एन्व दास क्रिस्तेन्नुम।

४८—३०—मत्तकी की लाम्भमूर्ति, मुद्रांकित पशुपति; मुद्रांकित वृषभ; ३०—छीलर, पूर्व० चित्रफलक, १७, २३।

और परवर्ती भारतीय धर्म और लिपि के समान कला की परम्परा का भी मूल उद्गम सिन्धु सभ्यता में ही मानना चाहिए।^{१५}

वैदिक काल में यह परम्परा बिच्छिन्न-सी प्रतीत होती है। सैन्धव नागरिकता वैदिक धर्मों की प्रामीणता में विलुप्त हो गयी। ईंटों के स्थान पर लकड़ी के उपयोग से वास्तुकला अपने उपादान के समान पुरातत्त्वविदों के लिए भी मिश्रेश्वरभंगुर हो गयी। पुरुषविध, नररूप देवताओं का स्थान 'प्रत्यक्ष-तनु' देवताओं ने ले लिया जो काव्य की प्रेरणा होते हुए भी कला के लिए अमूर्त थे।^{१६}

सूर्य, अग्नि, वायु अथवा सोम के यजन के लिए उनकी प्रतिमाएँ अनावश्यक थी। यह अदम्य है कि जहाँ सिन्धु सभ्यता का अपने देवताओं के समान केवल सामहीन अवाक्य शेष मिलता है, वैदिक सभ्यता का अभीष्ट वाक्य रूप ही उपलब्ध होता है। वैदिक देवता भी शब्दात्मक थे न! अस्तु, उत्तर वैदिक काल से यह परिस्थिति क्रमशः परिवर्तित हुई तथा अनेक कारणों के समवेत प्रभाव से अशोक के युग में कला का पुनर्जन्म हुआ। इन कारणों को विविध कहा जा सकता है—कला के पोषक सामाजिक वर्ग का उदय, कारीगरी का विकास, एवं धार्मिक प्रेरणा का प्रभाव। ई० पू० छठी शताब्दी से नगर-जीवन, धनिकवर्ग, तथा राजदरबारों के अम्बुदय के साथ वास्तुकला तथा विविध शिल्पों का पुनरुज्जीवन स्वाभाविक था। कुछ शताब्दियों तक इस वास्तु के विषय धनिकों के हर्म्य तथा राजप्रासाद ही थे और इसका अधिकार्य दारमय होने के कारण अतीव भंगुर था। चन्द्रगुप्त मौर्य का पाटलिपुत्र का प्रासाद इसके एक उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में स्मरणीय है।^{१७} हाथीदांत, काष्ठ आदि के शिल्पों ने इस युग में पर्याप्त प्रगति की। प्रचलित धर्म में यक्षों की प्रतिमाओं का भी उपयोग होता था।^{१८} जैनियों के विकास ने शिल्पियों को संगठन, शिक्षा एवं परम्परा प्रदान की

४९-मु०—रोसगढ़, अष्ट एण्ड आर्किटेक्चर, ऑव् इण्डिया, पृ० ४८।

५०-मु०—'प्रत्यक्षभिस्तनुभिरधनु कस्ताभिरष्टाभिराशः' (शाकुन्तल)।

५१-ड०—मेकिन्डल, एस्टेट इण्डिया एंड डिस्ट्रिक्ट मेगास्थनीज एंड एरियन, पृ० ६५-६८ मु०—मूनर, ए० एस० आइ० ए० जार० १९१२-१३; वेडल, रिपोर्ट ऑव् एक्सकवेसन्स एट पाटलिपुत्र (१९०३); मु०—फाउलेन (अनु० आइएल), पृ० ४५।

५२-उदा०—पारलून और पटना की प्रतिष्ठा, किन्तु विद्यापति मूर्तिप्रा, वीदारणज की यक्षी।

जिसके सहारे कला में निपुणता का विकास सम्भव हुआ। अपने समर्थक धर्मियों और शासकों के अनुग्रह से बौद्ध विहारों की समृद्धि बड़ी तथा कालान्तर में वे स्वयं कला के पोषक बन गये और कला धर्मप्रचार का माध्यम।

कला और धर्म का यह सम्बन्ध एक विशाल आध्यात्मिक कान्ति का द्योतक था। संशेष में इस कान्ति का अर्थ था मनुष्य और देवता का समुपसर्पण। प्राचीन वैदिक धारणा में मर्त्य और अमर्त्य का विभेद आत्यन्तिक था। कर्मवाद ने इस भेद को जर्जरित कर दिया। कर्म के बल से मनुष्य देवलोक में जन्म ग्रहण करते हैं, कर्म क्षीण होने पर देवता मनुष्यलोक में गिर पड़ते हैं। ऐसी स्थिति में पुराने देवता अपार्थक्य हो गये तथा उनका स्थान एक और परम देवता अथवा ईश्वर ने ले लिया, दूसरी ओर 'कपिल', बुद्ध, महावीर आदि ईश्वरोपम सिद्ध गुरुओं ने। ईश्वर के अनुग्रह से कर्म का बन्धन मिथिल हो जाता है तथा ईश्वर स्वयं मनुष्य रूप में अवतार ग्रहण करते हैं। सिद्धगण कर्म से मुक्ति का पथ प्रदर्शित करते हैं तथा वे स्वयं मनुष्य होते हुए भी संसार से उत्तीर्ण हैं। संसार में अवतीर्ण ईश्वर एवं संसार से उत्तीर्ण सिद्ध पुरुष, दोनों में ही लोक एवं लोकोत्तर का सम्बन्ध दृष्ट होता है। अवतार एवं महागुरु का तार्त्विक भेद ज्ञानियों का गौचर है, साधारण अज्ञान एवं मनुष्य के लिए दोनों ही पारमार्थिक आदर्श के प्रत्यक्ष रूप तथा भक्ति के विषय हैं। धर्म की इस जनमुलभ एवं भक्तिप्रधान धारा के विकास में कला ने सुयोग प्रदान किया।

बौद्ध कला के विषय—बौद्ध कला के प्राचीनतम विषय विहार एवं स्तूप थे। विनय में पाँच प्रकार के 'लवनों' अथवा शयनासनों का उल्लेख प्राप्त होता है जिन्हें विहार, अर्धपौन प्रासाद हर्म्य एवं गुहा कहा गया है^१। इनमें चतुर्विध गुहाका परवर्ती कला के दृष्टिकोण से विशेष महत्त्व सिद्ध हुआ। वस्तुतः विहार भिक्षुओं के सभास थे; प्राकृतिक गुहावास का प्रयोजन एकान्तचर्या थी। कुविम गुहात्मक विहारों ने कालान्तर में आवासिकता तथा एकान्तचर्या का विविध समाधान प्रस्तुत किया। प्रारम्भ में यह स्वाभाविक था कि पहाड़ी काट कर गुहा निर्माण करने में जादर्र के रूप में पृथ्वीस्थित दारुनिर्मित विहार की रचना का अनुकरण किया जाय। इस प्रक्रिया में क्रमशः प्रस्तर-कला का विकास भी उतना ही स्वाभाविक था। स्तूप परिनिर्वृत तन्मायत का प्रतीक था, अतएव स्तूप अथवा नीय की पूजा के प्रचलित होने पर कालान्तर में चैत्यगृहों का निर्माण हुआ। सामान्यतः सभी प्राचीन विहार एवं चैत्यगृह जो गुहा व्यतिरिक्त या अनुरवर्तित थे, धराद्याभी हो चुके हैं।

बौद्ध परम्परा के अनुसार परिनिर्वाण के समनन्तर ही तपागत की चित्ताशेष शरीर धातु का अष्टधा विभाजन हुआ तथा प्रत्येक पर पुनर्कृत्युक्त स्तूप की रचना हुई। यह सन्दिग्ध है^{५४} किन्तु मृत देह अथवा उसके कुछ अंश के संग्रहण निखनन की प्रथा अत्यन्त प्राचीन है। भारतीय प्रागितिहास तथा वैदिक साहित्य में इसके अनेक भेद ज्ञात होते हैं^{५५}। मृतक को गाड़कर उस स्थान को चिह्नित करने के लिए मृत्तिका, इष्टका अथवा प्रस्तर का विविध उपयोग अनेकन पाया जाता है। स्तूप का अण्डाकार स्वाभाविक मृत्तिकासंघर्ष के आकार से निःसृत प्रतीत होता है^{५६}। हुमिका एवं छत्र कदाचित् मृदु-वय से ऊपर गाड़े हुए पत्थर का परिष्कार है। वेदिका की उत्पत्ति स्पष्ट ही स्तूप की रक्षा के लिए बनाये हुए बाड़े के विकास से है। सम्भवतः राजाओं या चक्रवर्तियों के लिए स्मारक प्रधान स्तूपों का निर्माण किया जाता था^{५७}। तपागत की धर्मराज, धार्मिक चक्रवर्ती मान लेने पर उनके लिए भी वैसे ही स्तूपों की कल्पना एवं रचना स्वाभाविक थी। स्तूपों के आकार का वर्धन, उनकी चिरस्थिति के लिए प्रस्तर का उपयोग तथा उनके अलंकरण के लिए कलारमक परिष्कार का आधान, विकास के क्रम में स्वभावतः सिद्ध होते हैं।

मौर्यकाल—बौद्ध कला के ऐसे उदाहरण, जो निश्चयपूर्वक अशोक से प्राचीन

५४—महापरिनिब्बानमुत्तन्त के अनुसार कुसीनारा के मल्ल, मागध अजातशत्रु, वेंसाली के लिच्छवि, कपिलवस्तु के सक्थ, अल्लकण्ड के ब्रुलि, रामगाम के कोलिय, वेठदीपक बाह्यण, तथा पावा के मल्लों में 'शरीरशेष' का विभाजन हुआ था।

५५—ऋग् संहिता, ७.८९.१, मंडकोपनिषद्, वैदिक माह्यभोलजी, पृ० १६५।

५६—तु०—स्तूप का अक्षरार्थ-निक्षप, इ०—पॉलि टेक्स्ट सोसायटी का पॉलिकोश। तु०—शिल्पशास्त्र में, स्तूपिका-शिलारथ;। कम्युसन स्तूप के अण्डाकार से यह अनुमान करते हैं कि उसका मूल मृत्तिका-संघर्ष न रहा होगा, इ०—हिस्टरी ऑफ इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, जि० १, पृ० ६५-६६, शतपथ वेद प्राण्यों के 'परिमण्डल' दमनान का उल्लेख है।

५७—इ०—महापरिनिब्बानमुत्तन्त—“चक्रवर्त्तिस्स सरोरं सत्तेति, जातुम्महावसे रउजो चक्रवर्त्तिस्स धूपं करोन्ति।” पश्चिमी एशिया और मध्य में राजाओं के मकबरों का प्रायः धूमधाम से निर्माण किया जाता था, तु०—रोलन्ड, पूर्व० पृ० ६१, नोट ४।

कहे जा सकें, उपलब्ध नहीं हैं।^{१६} यह भी सत्य है कि मौर्य-युग काल का बौद्ध प्रस्तर-शिल्प काठ-शिल्प का अनुकरण करता है, तथा मौर्यों के पहले की किसी प्रस्तर-कला का निश्चित अवशेष भी प्राप्त नहीं होता।^{१७} इन तथ्यों के आधार पर यह कहा गया है कि अशोककालीन प्रस्तरकला की मौर्य साम्राज्य के पश्चिमी सन्ध्या के परिणाम मानना चाहिए।^{१८} शातामनीषी साम्राज्य के प्रचुर विस्तार ने नाना पश्चिमी सन्ध्याओं के 'संग्रहण' की प्रक्रिया को अक्षर किया। मिश्र, असीरिया और यूनान की कलाओं के सम्मिश्रण से उत्पन्न शातामनीषी ईरानी कला इन विभिन्न सन्ध्याओं के असमञ्जस मेल की प्रतिबिम्बित करती है।^{१९} पर्सीपोलिस का प्रसिद्ध स्तम्भ अपने आकार से इस संस्कृति संगम का प्रतीक माना जा सकता है। अशोक के स्तम्भों को इस प्रकार के स्तम्भ से निःसृत अथवा यवन शिल्पियों के द्वारा निर्मित बताया गया है। गृहाभिहारों का मूल भी असीरिया एवं ईरान में खोजा गया है। यह भी कहा गया है कि अशोक धर्मलिपि प्रकाशित करने के अभिप्राय में भी ईरानी सम्राटों के अभिलेखों से प्रेरित हुए। लेखनकला और लिपि भी पश्चिमी एशिया से सीखी गयी। मौर्य प्रशासन तक पश्चिम का ज्ञान बताया गया है। वस्तुतः मौर्य साम्राज्य एवं कला पर समकालीन प्रभाव को सम्भाव्य मानते हुए भी मौर्य संस्कृति की मौलिकता एवं भारतीयता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। कतिपय अनिश्चित शैलिक तत्त्व विदेश से संगृहीत होने पर भी यह निर्विवाद है कि अशोककालीन कला की मुख्य प्रेरणा बौद्ध धर्म के विकास से ही प्राप्त थी।

बौद्ध परम्परा के अनुसार अशोक ने ८४,००० स्तूप तथा बहुसंख्यक विहारों

५८-पिप्राय स्तूप को शायदनिर्मित कहा गया है किन्तु वहाँ से लब्ध पात्र के अभिलेख को निर्विवाद रूप से पढ़ना सम्भव नहीं है।

५९-हाल में कोशाम्बी के उत्खनन में श्री जी० जार० शर्मा द्वारा प्राप्त नवीन सामग्रियों से इस पुरानी धारणा को आघात पहुँचता है।

६०-उदा० ३०-रोल्लट, पूर्व० पृ० ४४-४५, मार्शल, सी० एच० आइ० जि० १, फोमल, बुध्दिस्ट आर्ट इन इन्डिया सीलोन एण्ड जावा, पृ० ११, फर्ग्युसन, पूर्व० जि० १, पृ० ५९, स्मिथ, ए हिस्टरी ऑफ फाइन आर्ट्स इन इन्डिया एण्ड सीलोन, पृ० २०, ५९-६२।

६१-३०-गशमन, ईरान, पृ० १६५-६६, फ्रेंकफोर्ट, वि आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर ऑफ़ दि एन्डोट ओरिएण्ट, पृ० २१५-३३।

का निर्माण कराया। चीनी यात्रियों ने भारत में नाना स्थानों पर स्तूप एवं विहार देखे जो उन्हें अशोक-निर्मापित बताये गये। दुर्भाग्यवश इनमें से कोई भी इस समय कम से कम अपने मूल रूप में निश्चयपूर्वक शेष नहीं कहा जा सकता। जलतिक-पर्यंत में अशोकदत्त एक गुहा का पता चलता है। किन्तु यह धान आर्जीवियों को दिया गया था। इस गुहा की दीवारों पर चमकीला पालिश विस्मयास्पद है। अशोक के स्तम्भों में भी यही चिकनाई और चमक मिलती है। ये स्तम्भ वृत्ताकार हैं तथा पृथ्वी से बिना किसी आधार अथवा पीठिका के उद्गत होकर ऊपर की ओर कुछ तनु हो जाते हैं। स्तम्भाग्र के सामान्यतया तीन भाग हैं—मूल अधोमुख कमल के आकार का है, मध्य में आतत कर्तुल पट्टिका पर धर्मचक्र, हंस-श्रेणी, अश्व, वृषभ आदि निरूपित हैं, शिरोभाग में सिंह, अथवा गज अथवा वृषभ आदि की मूर्ति निमित्त है। उदाहरण के लिए सारनाथ के सिंहाग्र स्तम्भ के शीर्षभाग की मध्यपट्टिका पर चार धर्मचक्र और उनके अन्तराल में गज, वृषभ, अश्व और सिंह तन्वित हैं तथा सर्वोपरि किसी समय चार सिंहों पर धर्मचक्र प्रतिष्ठित था। इस स्तम्भ में धर्मचक्र-प्रवर्तन का संकेत देखना कठिन नहीं है।^{१४} सिंह और गज शाक्यमुनि के प्रतीक हैं, हंस-श्रेणी विनेयजन का इंगित करती है। पद्य न केवल प्रसिद्ध अलंकरण है अपितु उसकी आध्यात्मिक व्यञ्जकता भी गंभीर एवं विविध है। अश्व, आदि को दिशा वाचक भी माना जा सकता है।^{१५} अशोक के स्तम्भों में पशुओं का तक्षण निर्दोष रमणीय है। कदाचित् ही कला के किसी युग में इससे चारुतर निरूपण मिले।

शृंगकाल—यह कहा गया है कि मौर्यराज बृहद्रथ को मार कर स्वयं सम्राट् बनने में उसके ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने मौर्यों की बौद्ध धर्म के अनुकूल नीति से असन्तुष्ट ब्राह्मणों का नेतृत्व किया।^{१६} इस कथना को प्रमाणित करना कठिन है, किन्तु यह निस्सन्देह प्रतीत होता है कि पुष्यमित्र ब्राह्मणों के अनुकूल तथा बौद्धों के प्रतिकूल था। धनदेव के अयोध्या-अभिलेख में पुष्यमित्र को दो बार अवबोध का राजन करने वाला बताया गया है।^{१७} मालविकाग्निमित्र से पुष्यमित्र का अवबोध-

६२-मु०—रोल्लंड, वही, पृ० ४५-४६।

६३-फोर्सेल, पूर्व०, पृ० ११, रोल्लंड, पूर्व०, पृ० ४९।

६४-मु०—एन० एन० घोष, डिड पुष्यमित्र शांग पर्सोक्पूट दि बुद्धिस्ट्स, पी० आइ० एच० सी० १९४३।

६५-एपिघाक्रिया इण्डिका, जि० २०।

यजन समाधिगत होता है। दूसरी ओर विष्णुध्वजान एवं तारानाथ ने पुष्पमित्र को बीड़ विरोधी बताया है।^{११} कहा गया है कि पुष्पमित्र ने सद्धर्म के विनाश का निश्चय किया। उसने पाटलिपुत्र में कुक्कुटाराम विहार को नाष्ट करना चाहा, किन्तु द्वार पर सिंहनाथ से भयभीत हो गया। तथापि स्तूपों और विहारों का नाश तथा भिक्षुओं का व्रथ करते हुए यह सेना के साथ साफल्य तक गया।^{१२} वहाँ उसने यह घोषणा की कि प्रत्येक भ्रमण के मस्तक के लिए बड़े १०० दीनार देगा। पुष्पमित्र को यश कुमित्र से पराजित बताया गया है। जो कदाचित् यवनों की ओर संकेत हो।^{१३} ये बीड़ अनु-धृतियाँ इस रूप से भले ही अविश्वास्य हों, उन्हें सर्वथा निराधार नहीं कहा जा सकता।

शृंगों की प्रतिकूलता से सद्धर्म उच्छिन्न नहीं हुआ, इसका एक प्रमाण भारहुत और सांची के स्तूप है।^{१४} प्रारम्भिक स्तूप अष्टाकार तथा इष्टका-सजित होते थे। अष्ट के अग्रभाग में शूमिका और छत्र तथा मूलभाग में एक प्रदर्शनालय होता था। चारों ओर रक्षा के लिए वेदिका बना दी जाती थी जिसमें द्वार या तोरण होते थे। क्रमशः स्तूपों का आकार बड़ता और ऊँचा होता गया तथा वेदिका और तोरण उभारे हुए उत्कीर्ण चित्रों से अलंकृत किये गये, जिनके विषय जातक अथवा बुद्ध की जीवनी से लिये गये हैं। भारहुत नागौर में है, किन्तु वहाँ का स्तूप सर्वथा उन्मूलित हो चुका है। उसकी वेदिका एवं तोरण अलंकृत थे एवं इनके शेष मुख्यतया इण्डियन म्यूजियम, कलकत्ता तथा प्रयाग संग्रहालय में संरक्षित हैं। पूर्वी तोरण पर एक अभिलेख के अनुसार, "सुमन रजे रथो गार्गीपुत्रस जिसदेवस पीतेण मौत्तिपुत्रस जागर-जुस पूतेण वाछिपुतेन धनभूतिन कारितं तोरणं सिलाकमंतोच उषण।"^{१५} शृंगों के राज्य में राजा गार्गीपुत्र विषवदेव के पौत्र एवं मौत्तिपुत्र के पुत्र धनभूति ने तोरण का निर्माण कराया। वेदिका में प्राप्त एक अन्य अभिलेख धनभूति के पुत्र वधपाल का भी

६६-विष्णुध्वजान (सं० बौद्ध) पृ० २८२, तारानाथ (अनु० शीफनर), पृ० ८१।

६७-तारानाथ के अनुसार मध्यदेश से जलन्धर तक, वहाँ।

६८-मु०-बागची, आई० एच० ब्यू०, जि० २२।

६९-इ०-कनिहम, स्तूप और भारहुत (१८७९), बड़ौदा और सिन्हा, भारहुत इन्सफिशन्स (१९२६), बड़ौदा, भारहुत (१९३४), मार्शल एण्ड फ्री, दि मांनुमेन्ट्स ऑव सांची, ३ जि० (१९४०)।

७०-डी० सी० सरकार, सेलेक्ट इन्सफिशन्स।

प्राप्त होता है।" भारहुत के क्षिप्र में प्रस्तर-तक्षण काष्ठ-तक्षण के निकट है और आकृतियों का उकेरना इतना निपुण नहीं है कि उनकी औषादनिक-बड़ता बौद्ध भावधर्मिता में सर्वथा चिलीन हो जाए। तथापि यह पहला अवसर था कि बुद्ध और बोधिसत्व के प्रति साधारण जनता के सम्मुख चित्रों की सर्वसुगम भाषा में प्रत्यक्ष हो उठते। कथानिरूपण में अनेक घटनाओं को समान फलक में प्रदर्शित करने की विधि अपनायी गयी है। दिग्विभाग के चत्वारदश निरूपण के स्थान पर एक प्रकार के 'समय' का अवलम्बन किया गया है जिसमें पृष्ठ-स्थित वस्तु ऊपर स्थित दिवायी जाती है।" बुद्ध भगवान् की रूप-काय का चित्रण न कर उसके स्थान पर विविध प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। उदाहरण के लिए, बोधिवृक्ष एवं स्तूप क्रमशः सम्बोधि तथा निर्वाण को सूचित करते हैं। बुद्ध भगवान् ने अपने को सन्तुष्ट, देवता, यक्ष, आदि सबसे विलक्षण 'बुद्धमात्र' बताया था।" उनका दर्शन भीतिक देह के सहारे न होकर धर्म के दर्शन से ही हो सकता है। धर्म ही बुद्ध की वास्तविक काम है।" परिनिर्वाण के अनन्तर रूपकाय नष्ट ही हो गयी एवं बुद्ध की स्थिति अनिर्वाच्य तथा अपरिभाष्य हो गयी। कदाचित् रूपकाय की अनुपयोगिता तथा धर्ममय वास्तविक बुद्ध की अप्राप्यता के कारण भारहुत एवं अन्ध उनका दैहिक चित्रण न कर प्रतीकों का सहारा लिया गया है।

सांची प्राचीन विदिशा के निकट है जिसका अशोक के जीवन से गहरा सम्बन्ध प्रसिद्ध है। यहाँ अनेक स्तूपों के अवशेष प्राप्त होते हैं। स्तूप (संख्या, २) का सैलिंग आकर्षण भारहुत के सदृश है और कदाचित् समकालीन रहा होगा। इस स्तूप में से तृतीय संगीति से सम्बद्ध अनेक प्रचारकों के नाम उपलब्ध हुए हैं। सांची के स्तूप (संख्या १) का प्रारम्भ कदाचित् अशोककालीन रहा हो, किन्तु उसे पीछे विवर्धित तथा प्रस्तर-सज्जित किया गया। इसकी वेदिका अनलङ्घित है, किन्तु तोरण प्राचीन शिल्प की उत्कृष्ट कृतियों में परिगणनीय हैं। इन तोरणों का निर्माण अपेक्षया परवर्ती है। दक्षिण तोरण में राजा श्री सातकनि के कारीगरों के अग्रपथ वासिष्ठीयुग आनन्द का नाम अभिलिखित मिलता है, जिससे इसके समय का कुछ

७१-जे० आर० ए० एस०, १९१८, पृ० १३८।

७२-इसे 'बौद्धिकल पसेपेक्टिव' कहा गया है।

७३-अंगुत्तर (रो०), जि० २, पृ० ३८-३९।

७४-संयुक्त (रो०) जि० ३, पृ० १२०।

अनुमान किया जा सकता है।^{१३} इस तोरण का निर्माण विदिशा की एक दन्तकार-श्रेणी ने किया था। अन्य तीन तोरण इसके अनतिचिर ही के स्थापित किये गये थे क्योंकि जयचूड के शिष्य बलभित्र का नाम दक्षिण एवं पश्चिम, दोनों तोरणों में अभिलिखित है।

सांची के तोरणों में भारहुत की अपेक्षा कला का निश्चित विकास सूचित होता है। 'एकत्र चित्रण', दिग्भेद का अवधारण प्रदर्शन, तथागत का प्रतीकात्मक उपस्थापन आदि भारहुत की कला के सामान्य लक्षण सांची में भी पड़ते हैं, किन्तु यहाँ रूप का उकेरना और मढ़ना अधिक निपुण और परिष्कृत है। दृश्य की उभरी हुई विभिन्न सतहों में सामञ्जस्य है तथा 'लताव्रति' का प्रौढ़ प्रदर्शन किया गया है। जनसंकुल दृश्यों को नयनगोचर करने की इस शिल्प में अद्भुत क्षमता है। प्राकृत जीवन का चित्रण और जीवन्त चित्रण होते हुए भी इसमें दृष्टि को अध्यात्म से समञ्जस एक प्रकार की शान्ति अथवा निश्राम की उपलब्धि होती है।^{१४} प्रकृति के साथ इसमें गहरी समवेदना है जो पौधों और पशुओं के आलेखन में उभर आती है। कुमार-स्वामी ने सांची के दूसरे स्तूप की कला को 'पौधों की खेती' कहा है और रवीन्द्र-नाथ ने सांची की कला में अभिव्यक्त भावना की तुलना कालिदास की कविता से सुझायी है।^{१५}

भारहुत और सांची के स्तूपों में प्रकट इस मध्यभारतीय कला का उद्गम अशोककालीन भागधी कला में ही मानना चाहिए जिसका कि अधिकांश विलुप्त हो चुका है। यह स्मरणीय है कि भारहुत और सांची कौशाम्बी से विदिशा के मार्ग में पड़ते हैं। यह मध्यभारतीय कला की परम्परा दक्षिणापथ के शिल्प लिए पथ-प्रदर्शक हुई और इसका विकास पीछे अमरावती और अजन्ता में देखा जा सकता है। अमरावती में सांची की शान्ति का स्थान एक प्रकार की जीवन्त स्फूर्ति अथवा भावाकुलता ले लेती है जिसकी अभिव्यक्ति में कला की निपुणता पहले की अपेक्षा अधिक है। अजन्ता की चित्रकला भी इसी मूर्तिविधान की परम्परा का रूपान्तरित परिणाम एवं उत्कर्ष है जहाँ आध्यात्मिक शान्ति एवं शैलिक दक्षता, परमार्थ की

७५-ए० एस० आइ० ए० आर० १९१३-१४, पृ० ४, तु०—जन्म, एम० ए० एस० आइ०, १।

७६-उत्कीर्ण-शिल्प की अनुदयता इसमें सहायक है, भासंत एम्ब कूरो, पूर्व०।

७७-प्राचीन साहित्य।

सूचना तथा जीवन की प्रेरणा, दोनों का चरम सम्बन्ध है।" उत्तरापथ में स्तूप जैसे होकर बहुभूमिक शिखर से प्रतीत होने लगे तथा उकेरी हुई मूर्तियों का स्थान अधिकाधिक कोरी हुई मूर्तियों ने ले लिया। उन्कीर्ण मूर्तिशिल्प (रिलीफ-स्कल्पचर) ने एक ओर चित्रकला को प्रेरणा दी, दूसरी ओर 'अनाश्रित' मूर्तियों के विधान को। किन्तु उत्तरापथ में बौद्ध कला के प्रसार का केन्द्र मधुरा को मानना चाहिए न कि विदिशा को।

सातवाहन-युग—मौर्य साम्राज्य के पतन के अनन्तर दक्षिणापथ में कुछ समय तक सातवाहनों का प्राधान्य था। सातवाहनों को पुराणों में जम्घभृत्य तथा अन्य-जातीय कहा गया है तथा उनके अनुसार मुसर्मा नाम के अन्तिम काण्व शासक को मार कर सिमुक (—शिशुक, सिन्धुक, आदि) ने सातवाहन वंश को स्थापित किया।^१ सातवाहनों के उद्गम के देश अथवा काल के विषय में प्रचुर विवाद है। ई० पू० प्रथम शताब्दी में सातवाहन अवश्य ही शक्तिशाली थे तथा ई० दूसरी शताब्दी तक घट-बढ़ के साथ उनकी शक्ति बनी रही। शक क्षत्रपों के साथ उनका संधर्ष विशेष रूप में उल्लेखनीय है। सातवाहन मरेण ब्राह्मण एवं ब्राह्मण धर्मावलम्बी थे, किन्तु उन्होंने तथा उनके विरोधी क्षत्रपों ने बौद्धों की ओर उदारता एवं दानशीलता का परिचय दिया। फलतः ई० पू० दूसरी शताब्दी से ई० दूसरी शताब्दी तक दक्षिणापथ में बौद्ध धर्म एवं कला का प्रचुर विकास सूचित होता है। भाजा, पितलखोरा, कोण्डाने, जुधर, वेडसा, नासिक, एवं काली में अनेक शिलोत्थात चैत्य एवं विहार उपलब्ध होते हैं। भट्टिप्रोल, अमरावती आदि स्थलों में स्तूप भी सड़में का प्रसार दिखलाते हैं। पश्चिमी घाट की गुफाओं में ब्रह्मयानीय, अर्मात्तरीय, और महासाधिक सम्प्रदायों का प्रचार विदित होता है। दक्षिण पूर्व में चैत्यक, पुबंशील, अपरशील आदि उत्तर-कालीन महासाधिकों के आवास थे।^२

७८—मार्शल एण्ड फूसे, पृष्ठ ० ।

७९—इ०—पाजिटर, पुराण। टेबस्ट्स ऑव दि ड्राईनेस्टिज ऑव दि कलि एज ।

८०—अभिलेखों के लिए, इ०—गुडसे, लिस्ट ऑव ब्राह्मी इन्स्क्रिप्शन्स; सेनार, एपिग्राफिया इण्डिका, जि० ७, ८; सरकार, सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स; वर्जेल, ए० एस० एस० आइ०, जि० १०; चन्द, एपिग्राफिया इण्डिका, जि० १५; फोगल, एपिग्राफिया इण्डिका, जि० २०—; गृहावास्तु पर इ०—फर्गसन एण्ड वर्जेल, दि केज टेम्पल्स ऑव इण्डिया, (१८८०); पर्सो बाउन, इण्डियन

शिलोत्खात वास्तु का प्रथम परिचय अशोककालीन मगध से प्राप्त होता है। सातवाहनों का सम्बन्ध विदिशा और उसकी कला से निश्चित है, कदाचित् मगध से साक्षात् सम्बन्ध भी था। सैनिक और व्यापारिक पथ-पद्धति के सहारे कला का प्रसार होना स्वाभाविक है। इसी क्रम से शिलोत्खात वास्तु का पश्चिमी घाट में विकास समझना चाहिए। भाजा, पितलछोरा, कोन्दाने, अजन्ता (गुहा १०), एवं जुहर की गुफाएँ प्राचीनतर हैं, वेदसा, नासिक और कार्ली की अपेक्षा परवर्ती। भाजा से कार्ली तक एक दीर्घ विकास देखा जा सकता है।

इस 'गुहा-वास्तु' का सामान्य वास्तु से भेद स्मरणीय है। भूमि पर निर्माण नीचे से ऊपर तथा समावेश के द्वारा होता है। इसी में स्थापत्य की शक्ति-सन्तुलन-सम्बन्धी वास्तविक समस्याएँ प्रकट होती हैं तथा अलंकरण की प्रेरणा को औपादानिक एवं नैर्माणिक सम्भावनाओं पर आधारित करना पड़ता है। शिला-सज्जित वास्तु ऊपर से नीचे तथा अपहार के द्वारा सिद्ध होता है। इसकी निर्माण-विधि स्थापत्य के निकट कम है, उत्कीर्ण-शिल्प के अधिक। इसी कारण इस शिल्प के निष्पादित आकारों में नैर्माणिक अनिवार्यता नहीं है। प्रारम्भ में इसमें दाक्षिणित कुटियों एवं गृहों का अनुकरण किया गया, जिसने क्रमशः एक अधिक प्रास्तारिक एवं विशिष्ट आकार को जन्म दिया।

पूजाार्थक स्तूप को ही चैत्य कहते हैं। चैत्यगृहों का आकार सामान्यतः एक दीर्घ चतुरस्र गुहा का होता था, जिसमें सामने प्रवेश द्वार तथा दूसरे सिरे पर चैत्य रखते थे। गुहा का चैत्यान्त प्रायः अर्धपरिमण्डल बनाया जाता था। द्वार से स्तूप तक के मुख्य मध्य भाग के दोनों भागों में स्तम्भावलियों से विभाजित दो बीधियाँ होती थीं जो स्तूप के पीछे मिल कर एक प्रदक्षिणापथ का निर्माण करती थीं।^{८१} द्वार के ऊपर एक बृहद् गवाक्ष होता था जिसके अन्वर्ध आकार की 'घोड़े की नास' से तुलना की गयी है।^{८२} छत छाजमनुमा और कहीं कमानीदार बनायी जाती थी। चैत्यगृह, ध्यान, वन्दन, आदि के लिए होते थे और उनके आकार का ईसाई गिरजा से अन्तः

आकिटेक्कर (बुध्दिष्ट एण्ड हिन्दु पीरियड्स); कर्मुत्तन, हिस्टरी ऑफ् इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आकिटेक्कर जि० १।

८१—इ०—ब्राउन, पूर्व०, प्लेट्स, १५ और १६ में चैत्यगृहों के मानचित्र।

८२—इ०—वही, प्लेट २१ में चैत्यगवाक्ष के आकार का विकास।

८३—प्रोपियुम्।

सादृश्य अद्भुत है। चैत्यगृह एक प्रकार का गर्भगृह या वहाँ उपासक अपेक्षाकृत अन्धकार में तथा उपास्य चैत्य महाकमल रश्मियों से आलोकित होता था। बिहार भिक्षुओं के आवास में और उनका मानचित्र सिन्धुघाटी की सभ्यता के समय से परिचित साधारण भारतीय गृहों के मानचित्र के समान है—बीच में आंगन, उसके चारों ओर कोठरियाँ, सम्भव होने पर ऊपर ओर बजिल, कमरों के आगे स्तम्भयुक्त अनुसन्तत बीच, तथा आंगन के मध्य में एक या अधिक मण्डप, इस योजना के परिष्कार में।

भाजा के चैत्यगृह की छत में छतरी की कमानियाँ देखी जा सकती हैं। अष्टाक्ष स्तम्भों की वहाँ लकड़ी के खम्भों की तरह कुछ तिरछा बनाया गया है मानो इससे उन्हें छत का दबाव सम्हालने में सहायता मिल रही हो। कोन्दा-ने में छत की कमानीनुमा शहतीरों का अनुकरण प्रदर्शित नहीं किया गया है और आकार बृहत्तर है। पितलखोरा में पार्श्वदीर्घियों की छत में शिला काट कर कमानियाँ बनायी गयी हैं। बेदसा में प्रवेश द्वार एक प्रकार के प्र-स्तम्भ आमुल^१ से सज्जित है। यहाँ के अष्टाक्ष स्तम्भ कलसमूल तथा पद्माक्ष हैं जिनके शीर्षभाग में विविध शैलिक अलंकरण हैं। कार्ली का चैत्यगृह इस कला की सर्वोत्कृष्ट कृति है। यहाँ द्वार के आमुल में तिहास स्तम्भ हैं। गृहामुख विविध और समृद्धिपूर्वक अलंकृत हैं। गर्भगृह का आयाम १२'४", विस्तार ४६'६", तथा उच्चता ४५' फुट है। शिलोत्थात वास्तु में यह प्रमाणगत वैकुल्य अद्भुत है। मध्यबीच के दोनों ओर की स्तम्भश्रेणियों का शीर्षभाग मूर्ति-मण्डित है तथा इस कारण मानो एक उत्कीर्ण शिल्प का सतत प्रस्तार प्रस्तुत हो जाता है। मवाल का आकार मनोहारी है तथा विपुल गर्भगृह में उससे प्रसिद्ध आलोक मानो सन्ध्यालोक की सृष्टि करता है।

ई० पू० दूसरी शताब्दी से ई० तीसरी शताब्दी तक पूर्वी दक्षिणापच के कुष्ठा एवं मन्दुर जिलों में बौद्ध धर्म की समृद्धि के अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। कुष्ठा नदी के तट पर जमरावती और नामार्जुनिकोण्ड तथा जमरावती से कुछ दूर उत्तर की ओर जगदपेट एवं नामार्जुनिकोण्ड के निकट श्रीदीश (=श्रीपर्वत) बौद्ध धर्म के प्रधान केन्द्र थे। सातवाहन नरेशों की सङ्घर्ष के प्रति अनुकूलता का ऊपर उल्लेख किया गया है। वासिष्ठीपुत्र श्री मुलुमावी के समय का एक अभिलेख जमरावती में चैतिकीय निकाय के परिषद में महाचैत्य की सत्ता सूचित करता है। जमरावती

के इस महाचैत्य की रचना, विवर्धन एवं परिष्कार ई० पू० २री शती से ई० २री शतीके बीच में माने जाते हैं। चन्द्र महोदय ने इसी पुलुमावी को नागार्जुन का समकालीन सातवाहन राजा बताया है। इस प्रदेश में सातवाहनों के उत्तराधिकारी इक्ष्वाकु वंश के शासक थे।^{८५} नागार्जुनिकोष्ठ में इनके अनेक अभिलेख प्राप्त हुए हैं। वासिष्ठी-पुत्र शान्तभूल प्रथम, वैदिक धर्म का समर्थक था, किन्तु माठरीपुत्र वीरपुरुष दत्त के शासन काल में सद्धर्म की समृद्धि हुई तथा जम्बवपेट एवं नागार्जुनिकोष्ठ के महाचैत्यों की निर्मिति, संस्कार एवं वृद्धि सम्पन्न हुई। वीरपुरुषदत्त की एक रानी 'वपिसिरिनिका' के एक अभिलेख में नागार्जुनिकोष्ठ के महाचैत्य के निर्माण का पूरा होना तथा वहाँ अपरमहापनशीनीयों का केन्द्र होता सूचित होता है। अगस्त यहाँ महोपासक आचार्यों के लिए प्रदत्त विहार का उल्लेख है। वीरपुरुषदत्त के १४वें वर्ष का एक अभिलेख श्रीपर्वत में ताम्रपत्तियों के स्वविर आचार्यों के परिग्रह के लिए निर्मित एक चैत्यगृह का उल्लेख करता है। यहाँ गन्धार, कश्मीर, चीन, विलास, तोमलि, अथरान्त, वंग, वनवासी, यवन (१), द्रविड (?), पल्लु (?), एवं ताम्रपर्णीदीप के प्रसादक स्वविरों (?) का उल्लेख है। जिस उपासिका बोधिशी ने इस चैत्यगृह को बनवाया था उसी के अन्य दानों में एक "सिंह-विहार" में बोधि-मूल-प्रासाद का निर्माण भी था। अल्लरु के एक मल्ल स्तम्भ अभिलेख में पूर्वशीलीय आचार्यों का उल्लेख है। श्रीगुरुपुत्र दत्त के पुत्र एडुवुल शान्तभूल के शासनकाल में बहुश्रुतीय आचार्यों के लिए भहादेवी मट्टिदेवा ने नागार्जुनिकोष्ठ में एक विहार स्थापित किया।

इक्ष्वाकुओं के अनन्तर बृहत्कल्मषों एवं पल्लवों के समय में बौद्धों की यह समृद्धि क्षीण हो गयी। ७वीं शताब्दी में इक्ष्वाकुवंश ने जम्बुद्वीप में विहारों और चैत्यों को बौरान पाया।^{८६} अमरावती का महाचैत्य अब सर्वथा नष्ट हो चुका है और उसके अवशेष अधिकतर मद्रास जवना ब्रिटिश म्यूजियम में देखे जा सकते हैं।^{८७} मूल स्तूप भंटाकार था जिसके अधभाग में चौकोर हर्मिका तथा उसमें दो स्तंभ थे। मूलभाग के चारों ओर प्रदक्षिणापथ था जिसमें 'प्रायक क्षम्भों' का संनिवेश था। स्तूप के चारों ओर वेदिका थी। न केवल यह वेदिका और प्रदक्षिणापथ अपितु स्तूप का

८५-३० नौचे।

८६-३०—इजेंस, बुधिस्ट स्तूपज ऑब् अमरावती एण्ड जम्बवपेट (पृ० ६५०, ६५० आदि०, जि० १)।

सम्बन्धमान भी उत्कीर्ण-शिल्प से अलंकृत है। जैसा पहले कहा जा चुका है, इस शिल्प में विविधतः दक्षता जीवन के प्रति एक उत्साहमय भाव के साथ संयोजित है। बुद्ध भगवान् यहाँ सम्राज्य के द्वारा भी चित्रित हैं, प्रतीकों के द्वारा भी, जो इस स्तूप के निर्माण की दीर्घ अवधि सूचित करता है। कम से कम एक और आन्ध्रदेश की कला का सातवाहनों के सूत्र के द्वारा विदिशा से सम्बन्ध जोड़ना चाहिए। महासाधकों के प्रभाव से चैत्यपूजा का यहाँ विशेष विस्तार हुआ तथा अनेक साध्यों से सूचित होता है कि सद्धर्म का महाधान में महत्त्वपूर्ण कालांतर इसी प्रदेश और युग में सर्वप्रथम सम्पन्न हुआ।

अमरावती की कला में बुद्धमूर्ति का उपयोग तथा अग्न्यान्व इंगित मधुरा एवं गन्धार की कला का प्रभाव सूचित करते हैं। मध्यदेश को उत्तरापथ और विदेश से सम्बद्ध करने वाला मार्ग मधुरा से तक्षशिला और पुष्करावती होकर जाता था। इस युग में शाहीक, कपिशा, उद्दिक्मान, गन्धार, शाकल और कश्मीर नाना व्यापारिक, सैनिक और राजनीतिक गतिविधि से संसृषित थे तथा इस उत्तरापथ चक्र के साथ मध्यदेश के घाटाघात का मुख्य द्वार मधुरा थी। मधुरा, कश्मीर, गन्धार और ऊ्खि-वान में विस्तृत सर्वास्तितवाद इस निविध सम्पर्क-जाल की प्रतिबिम्बित करता है।

यवन-शासक—ई० पू० दूसरी और पहली शताब्दियों में अनेक यवन शासकों ने शाहीक से अप्रभर हो कर गन्धार और उत्तरापथ में शासन किया तथा उनमें से कुछ ने सद्धर्म के प्रति सचि प्रदर्शित की।^{८०} मैनेन्डर अथवा मिलिन्द का नाम सर्व-प्रसिद्ध है जिनकी राजधानी शाकल एवं नागसेन के साथ संवाद का मिलिन्दपञ्चो में विवरण प्राप्त होता है। ऐसी अनुश्रुति है कि मैनेन्डर ने सद्धर्म के लिए बहुत से विहार एवं चैत्य बनवाये। उनकी कुछ मूर्तियों में चक्र का लक्षण उपलब्ध होता है तथा उनके लिए ग्रामिय अर्थात् ग्रामिक का विरुद्ध भी मिलता है।^{८१} प्लूटार्क के अनुसार मैनेन्डर के निधन के अनन्तर उनके दम्पत्यो के लिए उनके साम्राज्य के नगरों में जैसी ही होड़ हुई जैसी स्वयं बुद्ध भगवान् के निधन के अनन्तर हुई थी।^{८२} आगाथोक्लेस नाम के यवन राजा की मूर्तियों में भी स्तूप एवं बोधिवृक्ष चित्रित हैं। स्वतः (स्टेटो) प्रथम के चाँदी के सिक्कों में उसे 'ग्रामिक' कहा गया है। अनेक यवनों

८०-४०—मेमोरियस सिन्थेलिख, पृ० २०४ प्र०।

८८-तु०—आइ० एच० क्यू०, जि० १४, पृ० २९३-३०८।

८९-तु०—सी० एच० आइ० जि० १, पृ० ५५१।

के द्वारा सद्वर्त्म के लिए दिये गये दानों का भी अभिलेखों में उल्लेख प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए, इन्द्राग्निदत्त नाम के एक यवन ने नासिक में गुहा का उत्खनन करवाया था। कुन्नर में ईरिल के धर्मदान का उल्लेख मिलता है। स्वात से एक अभिलेख में मेरिदक्ष घेन्द्रशोर के द्वारा शाक्यमुनि के देशावशेष की प्रतिष्ठा उल्लिखित है। उसी प्रदेश से घेन्द्रशोर दत्तिवपुत्र के द्वारा एक लहाना के दान का उल्लेख प्राप्त होता है। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि यवनों की सद्वर्त्म में एचि अशोक के समय से विद्यत होती है। अशोक ने उनमें धर्मप्रचारक का उल्लेख किया है तथा अपने साम्राज्य में बसे हुए उनके नाम के लिए यवन भाषा और लिपि में अपनी 'धर्म प्रशस्ति' का प्रकाशन तक किया। मौर्यगुप्ति तिष्य में धर्मरक्षित नाम के यवन की प्रचार कार्य के लिए चुना।

गान्धार-कला—गान्धार यवनों का मुख्य केन्द्र था तथा वहाँ यवन-शिल्प और बौद्ध आदर्श के समन्वय से एक विशिष्ट कला का उद्गम हुआ जिसे 'गान्धार-कला' का नाम दिया गया है।^{१०} 'यवन-शिल्प' का अर्थ वहाँ हेलेनिस्टिक अथवा रोमन प्रभाव है। दुर्भाग्यवश गान्धार प्रतिमाओं का कालनिर्णय अतिव्याप्ततया विवाद-ग्रस्त है और अतएव वहाँ कुछ विद्वान् गान्धार-कला की उत्पत्ति प्रथम शती ई० पू० में मानते हैं कुछ अन्य उसे ई० प्रथम शताब्दी में रखते हैं। यह निस्सन्देह है कि इस कला के पीछियों में यवनों के स्थान पर शक और कुषाण ही प्रमुख प्रतीत होते हैं। गान्धार कला के विकास में यवन कारीगरों और कारीगरों का हाथ था न कि यवन शासकों का। पहले यह माना जाता था कि बुद्ध प्रतिमा को जन्म देने का श्रेय गान्धार-कला को ही है। किन्तु इस पर सन्देह प्रकट किया गया है और यह कहा गया है कि मथुरा में बुद्ध की प्रतिमा का आविर्भाव स्वतन्त्र रीति से और सम्भवतः गान्धार प्रतिमा के पूर्व हुआ। ई० पू० दूसरी और पहली शताब्दियों में सभी बौद्ध सम्प्रदायों में न्यूनाधिकतया बुद्धभक्ति का विकास हुआ। विधरण-गमन तथा बुद्धानुस्मृति सर्वत्र प्रसिद्ध थी। बुद्ध भगवान् के अनुस्मरण में उन्हें अंगविद्या में विदित महापुरुष-

- १०—गान्धार-कला पर ड०—कूशेर, लार ऐकोबुडोकि डु गान्धार, वही, विभिन्न आर्थ बुद्धिस्ट आर्ट एण्ड अवर एसेज; घूनवेदेल, बुद्धिस्ट आर्ट इन इण्डिया; स्मिथ, ए हिस्टरी ऑफ़ फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन; वालहोफर, आर्थ इण्डियन स्कल्पचर, २ जि०; लुइजोवस्की, दि सिधियन पीरियड; मार्शल, टेंक्सिल, ३ जि०।

लक्षणों के अनुसार कल्पित करना स्वाभाविक था। इन लक्षणों के अनुसार ध्यान में तपागत की मानस प्रतिमा हो उनकी भौतिक प्रतिमा का पुनर्सिद्ध आदर्श था। महासाधकों में "जनास्त्रव रूप" की कल्पना तथा तपागत की लोकोत्तरता से प्रेरित भक्ति के भाव ने बुद्ध प्रतिमा के उपयोग की सहायता की होगी तथा साहाय्यनिक सिद्धांतों और भावना के विकास ने इसका समर्थन किया होगा। शैलिक पर्व में यक्ष-प्रतिमा की परम्परा ने बौद्ध आदर्श को दृश्यरूप प्रदान करने में आवश्यक निर्माण-विधि के द्वारा उपकृत किया होगा।^{११} एक बौद्ध परम्परा के अनुसार जब तपागत तपस्विन्स लोक गये थे, प्रेतनिजित ने उनकी गोशार्पेचन्दन की प्रतिमा बनवायी थी जो प्रथम बुद्ध-प्रतिमा थी। तपागत ने इसे भविष्य के लिए आदर्श बताया। यह प्रतिमा जेतवन विहार में बहुत दिन रही, (देन, फारमेन पृ० ५६-५७)। विष्णुवर्धन के अनुसार अशोक ने पिण्डोलभारुद्धाज ने प्रतिमोपयोगी महापुरुषलक्षण पुके। महावस्तु में जलोक की नागराज से प्रतिमाविषयक जिज्ञासा उल्लिखित है। किन्तु ये सब परम्पराएँ श्रद्धेय नहीं प्रतीत होती।

ई० पू० पहली शताब्दी में यवन शासकों का स्थान शक-यस्त्रव शासकों ने ले लिया। इनमें मोग, बोनोनेस, स्पलहोर, स्पलगदन, अब, अयलिष तथा गुहुहुर के नाम उल्लेख हैं। इन शासकों की जाति, तिथि तथा परस्पर सम्बन्ध विवादग्रस्त है। तक्षशिला से प्राप्त ताग्रपट्ट अभिलेख महाराज मोग के शासनकाल में तक्षशिला के क्षत्रप लिखक के पुत्र महादानपति पतिक के द्वारा शक्यमुनि के शरीर तथा संधाराम की स्थापना का उल्लेख करता है। मोग की एक मुद्रा के पृष्ठ में बुद्ध की मूर्ति उत्कीर्ण बतायी गयी है जो निस्संदेह नहीं है।^{१२} स्पलहोर और स्पलगदन की मुद्राओं में 'धर्मिय' कहा गया है किन्तु यह सम्भवतः मगन 'दिकाइओस' (न्यामशील) का अनुवादभाव है। गुहुहुर की ईसाई प्रचारक टॉमस से परिचित मानना हो सही प्रतीत होता है। मुद्राओं में उसे 'धर्मिय' और 'देवव्रत' कहा गया है तथा कुछ में त्रिमूलधारी भिन्न कदाचित् चिह्नित हैं। एम्मेवाही प्रस्तर अभिलेख उनके शासन काल के २६वें वर्ष में एक श्रद्धा-दान का उल्लेख करता है।

मगुरा के शक अवधियों की सड़म में शचि वहाँ प्राप्त प्रसिद्ध सिंह-स्तम्भ अभिलेखों

९१-३०—कुमाररत्नामी, हिस्टरी ऑफ इण्डियन एण्ड इन्डोनेशियन आर्ट, बहो, फिगर ऑफ स्पीच और फिगर ऑफ वांट।

९२-३०—टॉम, दि प्रोक्स इन बेक्टिया एण्ड इण्डिया।

से प्रकट होती है।^{१३} इसमें महाधनर राजकुल की अप्रमहिषी तथा अन्य राजपरिवार का सर्वास्तित्वादिषों के लिए विविध दान उल्लिखित है जिसमें बुद्ध-शरीर, स्तूप, संधाराम, स्तम्भ एवं गृहाभिहार की स्थापना का विवरण है। इस अभिलेख में महासांघिकों का नाम भी उल्लिखित है।

ई० पू० १३८ में हनु-सम्राट क बु-ति ने च-छियेन को अपने दूत के रूप में खेची के पास भेजा जो उस समय बंजु के उत्तरी तट पर बसे थे, किन्तु बाल्हीक प्रदेश उनके अधीन था। च-छियेन के 'ताहिषा' के विवरण में बौद्ध धर्म के विषय में कुछ उल्लेख प्राप्त नहीं होता। तथापि यह स्मरणीय है कि चीनी हनु-इतिहास के अनुसार ई० पू० १२१ में ह्युङ्ग-नु (=हूण) जाति के लोगों से चीनियों ने एक 'स्वर्ण-युद्ध' प्राप्त किया था। यह 'स्वर्ण-युद्ध' सम्भवतः बुद्ध की प्रतिमा रही होगी। ऐसी स्थिति में यह मानना उचित होगा कि खे-चि जाति भी उस समय अवश्य ही सद्धर्म से परिचित थी। ई० पू० २ में चीनी सम्राट् झाङ ने खे-चि शासक के पास एक दूत भेजा जिसने वहाँ सद्धर्म का उपदेश सुना। खे-चि शासन ने चीनी सम्राट् के पास कुछ बौद्ध ग्रन्थ तथा बुद्ध के वेहावक्षोभ भेजे।^{१४} पहली शताब्दी ई० में कुषाण शासक कुजुल-कस को सिक्कों में 'धर्म-स्थित' अथवा 'सत्त-धर्मस्थित' कहा गया है। उसका उत्तराधिकारी विम कर्पुणिय माहेस्वर था। सम्भवतः इसी के समय में तक्षशिला का रजत-पाटिका-अभिलेख मानना चाहिए जिसमें जय के १३६ वर्ष का उल्लेख है। इसमें एक उरध-वासी के द्वारा तक्षशिला में अपने बोधिसत्त्वगृह में धातु-स्थापना निर्दिष्ट है। कल-वान का तास्रगट्ट-अभिलेख इससे दो वर्ष पूर्व का है और उसमें एक उपासक परिवार के द्वारा गृहस्तूप में सर्वास्तित्वादिषों के परिग्रह के लिए 'शरीर' की स्थापना उल्लिखित है।

बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध समवेक कनिष्क के समय में कुषाण साम्राज्य मध्य एशिया से 'पूर्वी भारत' तक विस्तृत कहा गया है।^{१५} गांधार कला का यह स्वर्ण-काल था। राजकुल की गहापता ने बुद्ध और बोधिसत्त्वों की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित करने में तथा स्तूप, चैत्य आदि के निर्माण में योग दिया। कनिष्क के ३२ वर्ष के सारनाथ बौद्ध-प्रतिमा-अभिलेख में सैण्टिक भिक्षु बल के द्वारा भगवत् चैकम में बोधिसत्त्व और छत्र-

१३-इ०—सरकार, सेलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स।

१४-इतिहास, हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, जि० ३, पृ० २४५।

१५-बुद्धचरितं संतीति चर इ०—वीथे।

गण्टी की प्रतिष्ठा का उल्लेख मिलता है। इस अभिलेख में क्षत्रप वनस्पति एवं महा-क्षत्रप तरासलान की पुण्यवृद्धि अभीष्ट है। इसी भिक्षु बल ने आक्ली में भी एक देव-धर्म प्रतिष्ठित किया था जो कि सर्वास्तिवादी आचार्यों के परिग्रह के लिए था। १८वें वर्ष के माणिकपाल प्रस्तर अभिलेख में क्षत्रप चैत्यपतिकेदानपति दण्डनायक लल के द्वारा अनेक स्तूपों की स्थापना सूचित है। स्वयं कनिष्क ने ताना चैत्य और बिहारों को स्थापित किया। पुरुषपुर में उनका वनवाधा महाचैत्य अत्यन्त प्रसिद्ध था और इसका निवरण फाशेन और श्वानज्वांग से प्राप्त होता है।^{१५} पेशावर में शाह जी की ढेरी में उत्खनन से 'कनिष्क बिहार' की सूचना प्राप्त होती है। इसमें 'नय-कमिकअगिसल' का नाम यवन कारीगरी का योग प्रकट करता है। फाशेन के अनुसार यह स्तूप ४००' से अधिक ऊँचा था तथा उसके देखे स्तूपों से अधिक प्रभाव-शाली था। श्वान् ज्वांग के अनुसार यह स्तूप पाँच भूमियों में निर्मित था और इसके शिखर में २५ सुनहले मण्डल बने थे। स्तूप के पूर्वी मूल के सोपान के दक्षिण की ओर महाचैत्य की दो छोटी प्रतिष्ठितियाँ थीं तथा बृद्ध भगवान् की दो विशाल मूर्तियाँ थीं। दक्षिणसोपान के निकट एक १६ फुट ऊँची भगवत् मूर्ति थी। दक्षिण पश्चिम की ओर एक १८ फुट ऊँची एक और मूर्ति थी। श्वान् ज्वांग के भारत आने के कुछ पूर्व ही यह स्तूप जल कर नष्ट हो गया था। इसके निकट ही कनिष्क ने एक प्रसिद्ध बिहार वनवाधा था जो कि अनेक शिखर, भूमि, स्तम्भ आदि से मण्डित था। यह स्मरणीय है कि गन्धार में स्तूप का आकार मध्य भारतीय नहीं है। उसकी ऊँचाई बहुत बड़ गयी तथा उसके चोकोर मूल भाग का अनेक भूमियों में निर्माण होता था जिन पर आरोहण के लिए एक या अधिक सोपान श्रेणियाँ बनायी जाती थीं। किन्तु बेसिका और तीरण अप्रयुक्त हो गये थे। स्तूप स्वयं प्रभूत शिल्प-मण्डित होता था जिसका विषय अब जातकों से कम उद्धृत होता था, बृद्ध चरित्र से अधिक। समस्त स्तूप एक बुर्ज-या प्रतीत होता था।

गन्धार की बृद्ध प्रतिमा में लक्षण और भाव मदा एक-सा नहीं है। उदाहरण के लिए एक प्रसिद्ध प्रतिमा में शिरस्त्रक, दक्षिणामर्तकेस, उष्णीष ऊर्णा, वृश्चकगता तथा संघाटी की मलवटें प्रदर्शित की गयी हैं।^{१६} इनमें शिरस्त्रक और संघाटी के आकुञ्चन

१५-फाशेन (अनु० जाइन्स) पृ० १३, श्वानज्वांग (अनु० धील) जि० २, पृ० १५१-१४।

१७-इ०—कुशे, विगिनिगल ऑब् बुचिस्ट जार्ट, प्लेट ११।

का निरूपण यद्यपि कला से अनुकूल माने जाते हैं। मूर्ति का भाव "स्वप्निल, लेगतः, स्त्रीमुलभ सौन्दर्य" का है। सहरो बहुकोल से लब्ध मूर्ति में बुद्ध की मूर्ति दिखायी गयी है। गान्धार मूर्तियों में अनेक प्रकार की मुद्राएँ प्रदर्शित हैं—अभय, वरद, भूमिस्पर्श, ध्यान, धर्मचक्रप्रवर्तन। पीठ प्रायः पद्मासन अथवा सिंहासन होता है।

गन्धार में बुद्ध प्रतिमा का आविर्भाव कल हुआ, यह विवादास्पद है। टार्ने ने मोग की एक मुद्रा में बुद्ध मूर्ति को उत्कीर्ण माना है। किन्तु यह सन्देह है। लोरियान तंगई अथवा हगतनगर से प्राप्त मूर्तियों में उल्लिखित अर्थ ज्ञात है। यदि इनमें सिल्युकिय अर्थ माना जाय तो इन्हें ई० प्रथम शती में रहना होगा। तक्ष-शिला की खुदाई में प्राप्त साक्ष्य के आधार पर गान्धार-कला के उद्गम के लिए ई० पू० प्रथम शती में अथ का समय अथवा ई० प्रथम शती में विमकफिजा का समय सुझाया गया है। कनिष्क के पूर्व गान्धार बुद्ध प्रतिमा का निर्माण हो चुका था, यह निश्चित है।

मथुरा की बुद्ध प्रतिमा का गान्धार प्रतिमा से सम्बन्ध अवश्य था, किन्तु एक से दूसरी का जन्म हुआ, यह नहीं कहा जा सकता। मथुरा में प्राप्य बुद्ध प्रतिमाएँ सामान्यतः दो प्रकार की हैं जिनमें एक का उदाहरण जेतवन-विहार से प्राप्त मूर्ति है। दूसरी का मथुरा के कटरे से प्राप्त मूर्ति। इनका भेद गान्धार कला के प्रभाव से अथवा विकास भेद से समझाया गया है।

भीम सांघाय्य पहला अखिल भारतीय सांघाय्य या एवं भीम सम्राट् अशोक की सहानुभूति सङ्घर्ष के अखिल भारतीय प्रसार में सहायक हुई। कुषाण-साम्राज्य मध्यदेश से हिन्दुकुश के उस पार तक फैला हुआ था। उसकी अध्यक्षता में सांस्कृतिक एवं जातीय संगम का अपसर होना अनिवार्य था और साथ ही गन्धार से मध्य एशिया में विस्तृत सैनिक एवं व्यापारिक पथ-व्यवस्था के सहारे सङ्घर्ष का क्रमः सुदूर पूर्व तक प्रसार। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि सिन्धु नदी को पार करने पर फारसेन से वहाँ के लोगों ने यह प्रश्न किया था कि सङ्घर्ष पूर्व की ओर सर्वप्रथम कब प्रचारित हुआ। इसके उत्तर में फारसेन ने कहा—“मैंने जब उन देशों के लोगों से यह प्रश्न किया तो उन सबने यह कहा कि उनके पास सङ्घर्ष प्राचीन परम्परा से प्राप्त हुआ है और मैंने बौद्धत्व की प्रतिमा की स्थापना के उत्तरकाल में भारतीय श्रमकों ने सिन्धु नदी पार कर बिनय और मूर्ति के संघों को वहाँ तक पहुँचाया। यह स्मरणीय है कि प्रतिमा परिनिर्वाण के ३०० वर्ष पश्चात् स्थापित की गयी और अतएव इसे चाक वंग के पिंग सम्राट् के समय से रखना चाहिए। इस विवरण के अनुसार इस घटना

में प्राची की ओर सद्वर्त्म का सर्वप्रथम प्रचार मानना चाहिए । यदि मैत्रेय महापुरुष की प्रेरणा न होती तो सद्वर्त्म की सुदूर प्रत्यन्त प्रदेशों तक कौन पहुँचाया ? इस प्रकार अद्भुत धर्मप्रचार का कारण केवल मनुष्य का मन नहीं हो सकता । इसीलिए हन सम्राट् मि के स्वप्न का भी उचित हेतु मानना चाहिए ।^{१८} चाऊ वंश के सम्राट् का उल्लेख फाश्वेन की ऐतिहासिक काल-गणना में अप्रवीणता प्रदर्शित करता है । किन्तु यह अनुश्रुति विचारणीय है कि परिनिर्वाण के ३०० वर्षों परचात् सद्वर्त्म की प्राचीयाया प्रारम्भ हुई और इसके अधिष्ठाता मैत्रेय थे । मैत्रेय की उपर्युक्त प्रतिमा को फाश्वेन और श्वान-ज्वांग ने 'दरेल' में देखा था । श्वान-ज्वांग ने इसे १०० फुट ऊँचा, काष्ठनिर्मित तथा स्वर्णम बताया है । इसकी स्थापना अर्हत् मध्यान्तिक ने की थी ।^{१९} यह स्मरणीय है कि मध्यान्तिक अधीककालीन धर्म-विस्तार में अप्रसन्न थे ।

मुक्तकाल—मुक्तकाल को बौद्धधर्म के प्रसार और कला का स्वर्णयुग कहा जा सकता है । उस समय मध्य-एशिया के अतिरिक्त, फाश्वेन ने उत्तराध्व और मध्य-देश में बौद्ध धर्म की समृद्धि का उल्लेख किया है, जिसका पुरातत्त्वीय सामग्री से समर्थन होता है । कामियान में बील-पार्श्वपर एक मील तक विहार और चैत्य उत्खात मिलते हैं । इस वास्तु-अस्तार के दोनों ओर बुद्ध की दो विशालकाय सड़ी मूर्तियाँ हैं, पूर्व की ओर १२०' ऊँची और पश्चिम की ओर १७५' ऊँची । इन्हें ३री-४वीं शताब्दियों में रत्ना गया है । कामियान के गुहावास्तु में विविध परिमण्डल शिखर प्राप्त होते हैं । यहाँ से मूर्तियाँ और भित्ति चित्र भी उपलब्ध हुए हैं । चित्रों में तीन शैलियाँ बतायी गयी हैं—सासानों, भारतीय और मध्य-एशियायी । भारतीय शैली अजन्ता की मुक्तकालीन चित्रकला से सादृश्य प्रकट करती है । कपिशा (आधुनिक बेधाम) में पुरातत्त्वीय खोज ने कुषाणकालीन राजप्रासाद से देश-विदेश के व्यापार के अवशेष प्रकाशित किये हैं । यहाँ रोमन-साम्राज्य से आयात घातु की मूर्तियाँ, शाम से काँच का सामान तथा चीन से 'लेकर' के डिब्बे मिले हैं । तीसरी-चौथी शताब्दी के गान्धार-शिल्प के पर्याप्त चिह्न मिलते हैं । यहाँ से प्राप्त हाथी दाँत के उत्कीर्ण फलक उल्लेखनीय हैं । प्राचीन नगरहार जनपद के आधुनिक हड़दा नामक स्थान से १९२२ की फ्रांसीसी पुरातत्त्वीय गवेषणा में बहुत-सी अमूल्य शिलाराशि प्राप्त हुई जिसमें से कुछ

१८—फाश्वेन (अनु० आइन्स) पृ० १० ।

१९—श्वान-ज्वांग (अनु० बोल), जि० २, पृ० १७७ ।

जलालाबाद में अफगानों के द्वारा नष्ट भी कर दी गयी । नगरद्वार की गान्धार कला में सुधा-प्रलेप (स्टको) का महत्व था । यहाँ की मूर्तियों की तुलना 'गोथिक' मूर्तियों से की गयी है । इसमें वैयक्तिकता, भाव-व्यञ्जना तथा रोमान प्रभाव द्रष्टव्य है । कभी पुरूपपुर में ४००' ऊँचा कनिष्क स्तूप था जिसमें अधिक समृद्ध और सुन्दर स्तूप फाश्वेन में अपनी यात्रा में कहीं नहीं देखा था ।

फाश्वेन के अनुसार आपाकत के सब राजा सद्धर्म में श्रद्धालु थे, जबकि वस्तुतः गुप्त नरेश 'परम भगवत' थे । स्पष्ट ही गुप्तों की धार्मिक नीति अत्युदार थी । फाश्वेन ने मध्यदेश के शासन और समाज की बहुत प्रशंसा की है । यहाँ के विहारों के विषय में उसका कहना है कि परिनिर्वाण के समय से विभिन्न राजा एवं धनी गृहपति भिक्षुओं के लिए विहारों को बनवा उनके लिए क्षेत्र, मृत्, उद्यान एवं आराम आदि का दान करते रहे हैं । उस प्रकार दी हुई भूमि में रहने वाले लोग और पशु आदि भी इन विहारों के अधीन माने जाते थे । ये दानवध धातुमयी पट्टिका पर उत्कीर्ण होते थे और इनका पीढ़ी दर पीढ़ी राजाओं के द्वारा आदर किया जाता था (इ०—लेम, फाश्वेन, पृ० ४३, तु०—जाह्नस, फाश्वेन, पृ० २१) ।

गुप्तकाल में मथुरा का कुषाणकालीन महत्त्व घटा नहीं था । यहाँ से शिल्प के अवशेषों को देखने से यह प्रकट होता है कि ५वीं और ७वीं शताब्दियों के मध्य में कला का जो स्वर्णयुग विदित है उसमें मथुरा की बौद्ध प्रतिमाओं का अपना सुर-भित स्थान है । गुप्तकालीन कला के परिष्कार और परिनिष्पन्न सौष्ठव की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस समय की बौद्ध प्रतिमा विश्वकला की चिरन्तन कृतियों में गिनी जायगी । सामान्यतः गुप्तकालीन बौद्ध-प्रतिमा में धीर्ष के प्रभावचक्र में एक-केन्द्रिक वृत्तों में अलंकरण उत्कीर्ण होते हैं, केश सावर्त प्रदर्शित किये जाते हैं, उर्णा का प्रदर्शन नहीं होता, भीर्ही का जालेखन निराला है, नयन कुङ्कुमाकार होते हैं, अंगुलियों का जालबद्ध निरूपण होता है, मुख-शिला वारीक, मुखाकृति दान्त और प्रसन्न, परिधान का अनु-मग्न रूप में वर्धात् 'मग्नाशुक' के रूप में निरूपण, तथा अनेक मुद्राओं का प्रदर्शन किया जाता है । मध्यदेश में बौद्ध प्रतिमाओं के इस समय दो महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे—मथुरा और सारनाथ । इन मूर्तियों में मग्नाशुक के निरूपण में सीलीभेद देखा जा सकता है । कुछ मूर्तियों में वस्त्र का सबैत केवल उसके श्रान्त-निर्देश से होता है, कुछ में महीन रेखाओं से वस्त्र की सलवटे प्रदर्शित की जाती हैं । पहली सीली का उदाहरण धर्मे-वक्र-प्रकाशन मुद्रा में सारनाथ की प्रसिद्ध बौद्धमूर्ति है जिसे सब समय की उत्कृष्ट कलाकृतियों में रखना चाहिए । दूसरी सीली का उदा-

हरण मधुरा से प्राप्त बुद्ध की खड़ी मूर्ति है जिसमें अभयमुद्रा प्रदर्शित है और जो अब इण्डियन म्यूजियम, कलकत्ता, में रक्षित है।

स्वान-ज्वांग ने अजन्ता के भित्तिचित्रों और गुहाचित्रों का उल्लेख किया है, जिनका निर्माण कराने में अपरान्त के अर्हत अवल का भी हाथ था। अजन्ता की २९ गुफाओं में विभिन्न गुणों के उत्थात विहार और शैव प्राप्त होते हैं। पहले इनमें से अधिकांश में भित्तिचित्र थे, किन्तु अब से ये गुफाएँ 'आविष्कृत' हुई हैं, तथा और रोगनी के प्रभाव से अधिकांश चित्र विनष्ट हो चुके हैं बचवा हो रहे हैं। अजन्ता की चित्रकला मध्यभारतीय उत्कीर्ण-चित्र की परम्परा का विकसित और परिष्कृत रूप है। यहाँ भी बुद्ध और बोधिसत्त्व के चरित अंकित हैं तथा निष्कण-विधि सद्गुण हैं क्योंकि समान आलेख्य प्रदेश में अनेक घटनाओं का चित्रण तथा आगे-पीछे की वस्तुओं का अवधारण रूप से सीधे-उपर प्रदर्शन यहाँ भी पाया जाता है। भित्ति में 'चित्रों' का विभाजन प्रायः चित्रित व्यक्तियों के केन्द्र की ओर आभिमुख्य से सूचित होता है। पशु-पक्षियों के चित्रण में प्रकृति का प्रेम तथा जनसंकुल और उत्कलित जीवन की अभिव्यक्ति भी साँची का स्मरण दिलाती है। अजन्ता के चित्रों में समर और अरण्य के विविध दृश्य एक आध्यात्मिक आशय से अनुप्राणित हैं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र और स्तर में बोधिसत्त्व के आदर्श का अनुसरण सम्भव है जिसके द्वारा बुद्धत्व की प्राप्ति अभीष्ट है। गुफा की दीवारों में चित्रित बोधिसत्त्व-लीला मानों चैतान्त में प्रतिष्ठित बुद्ध की ओर प्रत्यक्ष संकेत हैं।

चित्रण के पहले गुफा की शिलामयी सतह पर गोबर, तुष, शिलाचूर्ण आदि का लेप किया जाता था। इसके ऊपर चूने का लेप होता था तथा आलेखन के पूर्व आलेख्य-भूमि को जल-सिक्त किया जाता था। गैरिक वर्ण में रूपरेखा खींच कर काले रंग से उसका आवश्यक संशोधन किया जाता था। उन्मीलन में उपयुक्त रंग कुल ही वे जिनमें लाल और नीला प्रधान थे। कहा गया है, 'रेखां प्रशंसन्त्याचार्याः' आचार्य-गण रेखा के सहारे चित्र आँकते हैं। इस कसौटी पर अजन्ता के चित्र अपना सानी नहीं रखते। गुहाभित्ति की विपुल भूमि पर जिस निर्बाध, निःशंक और निर्दोष रूप से रेखाएँ खींची गयी हैं, और उनके सहारे सुधमातिसूक्ष्म भावों की व्यंजना की गयी है, उसकी समुचित प्रशंसा अथवा वर्णन असम्भव है। "गिरा जनपत, नयन विनु बानी"। यों तो एशिया की चित्रकला में सर्वत्र रेखा का प्राधान्य है, किन्तु अजन्ता के रेखांकन में अपनी विशिष्टता है। फारसी चित्रों में रेखा मानों बारीक सजावट की रेखा है।

चौथी चित्री में रेखा एक व्यक्तिक संकेतमात्र है। अजन्ता में रेखा मानों किसी महा-
काव्य का छन्द है।

बौद्ध चित्रकला के लिए अजन्ता एक शाश्वत प्रेरणा थी। मध्यएशिया में
बन्दान बलिक, बिर्जिल, सिरान, और तुम-हुंग तक उसके प्रभाव का विस्तार आशङ्क्य
है। यही नहीं, जापान के प्रसिद्ध पर अभ्यास्यवश किनष्ट चित्रचित्री तक अजन्ता
की परम्परा देखी जा सकती थी।^{१००}

१००—अजन्ता पर इ०—प्रिन्सिपल, पेंटिंग्स इन दि ब्रुपिन्स केथ टेम्पल्स ऑफ अजन्ता,
२ जि०, १८९६-७; लेडी हेरिंगम, अजन्ता प्रोन्कोन, १९१५; मजदानी,
अजन्ता, ३ जि०, १९३१-४६।

अध्याय ५

हीनयान के सम्प्रदाय—स्थविरवाद

इतिहास और साहित्य—तीसरी संगीति के अनन्तर—पालि परम्परा के अनुसार पाटलिपुत्र की संगीति में मौद्गलीपुत्र तिष्य के द्वारा निकामान्तरिम मतों का स्रष्टन कथावस्तु में संगृहीत है। श्रीमती राइडगेविह्स का यह मत मुक्तिपुस्त है कि समस्त कथावस्तु की रचना एक समय की नहीं है^१। उस ग्रन्थ का प्रारम्भिक अंश सम्भवतः अलोककालीन है, किन्तु पीछे अन्य विप्रतिपत्तियों का निराकरण भी उसमें जुड़ कर ग्रन्थ का वर्तमान रूप सम्पन्न हुआ। पुद्गल-कथा ग्रन्थ में अपने प्रथम स्थान एवं भाषागत वैलक्षण्य के कारण प्राचीनतम प्रतीति होती है। एवं वात्सीपुत्रीयों को स्थविरों का प्रधान विरोधी सूचित करती है। अन्यत्र कथावस्तु में महासाधिक, सर्वास्तिवादी एवं काश्यपीय सिद्धान्तों का विशेष रूप से स्रष्टन मिलता है। निकामसंग्रह के अनुसार तृतीय संगीति में स्थविरों के प्रधान विरोधी महासाधिक थे^२। सर्वास्तिवादियों को भी स्थविरों के विरोध में अग्रणी कहा गया है^३। शानप्रस्थान के रचयिता कात्यायनीपुत्र का सर्वास्तिवादियों में वही स्थान है जो कि मौद्गलीपुत्र का स्थविरों में। सम्भवतः सर्वास्तिवादी अनिधर्म के विज्ञानसाध नाम के ग्रन्थ में जिस मौद्गल्यायन का उल्लेख है वह मौद्गलीपुत्र तिष्य ही हो। यह स्मरणीय है कि सर्वास्तिवादियों के अनुसार अशोक के धर्म-गुरु मौद्गलीपुत्र न होकर उपगुप्त थे जो कि मपुरा के संघ के प्रधान थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि तृतीय संगीति के अनन्तर संघ से अ-स्थविरवादी भिक्षुओं के निकाले जाने के कारण एवं अशोक तथा संघ के प्रत्यन्त प्रदेशों में एवं विदेश में धर्म-प्रचार के प्रयत्न के कारण बौद्ध-निकायों का स्थानान्तरण, प्रसार एवं बहुलीकरण हुआ। महासाधिक भिक्षु मगध से निष्काशित होकर द्वितीय महादेव की अध्यक्षता में

१—गोडम्स ऑफ् कान्दोवर्त्सो, भूमिका।

२—तु०—इस, अर्ली मोनेस्टिक बुद्धिज्म, जि० २, पृ० २६८।

३—बारी, ले सेप्ल, पृ० ३३।

अन्ध-देश की ओर अग्रसर हुए। निकायसंग्रह के अनुसार तीसरी संगीति के अन्तर्गत महासांघिक सौ शाखाओं में बँट गये—हेमवत, राजगिरिय, सिद्धत्वक, पुष्वसेल, अपर-सेल, वाजिरिय, वेतुल्लक, अन्धक, अञ्ज-महासंघिक। सर्वास्तिवादी मधुरा से उत्तरा-पथ, विशेषतः कश्मीर की ओर अग्रसर हुए। मध्यान्तिक अथवा मध्यान्तिक के द्वारा इस समय कश्मीर में सद्धर्म का प्रचार अनेक आकरों से विदित होता है। धर्मगुप्त और काश्यपीय निकायों की उद्दुडियान और गन्धार में स्थापना हुई। हिमवत् प्रदेश में ही कदाचित् काश्यपीयों से सम्बद्ध हेमवतों का प्रचार हुआ। अवन्ति और विदिशा से दक्षिण-पश्चिम की ओर वात्सीपुत्रीय, महोपासक और स्वविरों का प्रसार हुआ।

पालि साहित्य और भाषा—पेरवादी साहित्य पालि में निबद्ध है और इसका यह विशेष महत्त्व है कि किसी भी अन्य बौद्ध सम्प्रदाय का साहित्य इतने प्राचीन और सर्वांग-सम्पूर्ण रूप से मूल भारतीय भाषा में उपलब्ध नहीं है। उसी कारण अनेक विद्वान् पालि साहित्य को ही प्राचीनतम एवं प्रामाणिकतम बौद्ध साहित्य स्वीकार करते हैं। अन्य सम्प्रदायों के प्राचीन साहित्य के चीनी अथवा तिब्बती अनुवाद बहुत उपनोगी होते हुए भी यह निर्विवाद है कि उनके मूल के अधिकांश का नाश हो जाने के कारण पालि-साहित्य से ही प्राचीन सद्धर्म का सबसे पूर्ण और प्रामाणिक विवरण प्राप्त हो सकता है। अभिधर्म को छोड़ कर पालि-त्रिपिटक का अधिकांश सैहलक साम्प्रदायिकता से अविकृत है।

वस्तुतः पालि शब्द के अर्थ 'पंकित', "पाठ", अथवा 'मूल ग्रन्थ या सन्दर्भ', होते हैं। इसी कारण आजकल जिस भाषा में इन मूल ग्रन्थों की रचना है उसे भी पालि-भाषा कहा जाता है, एवं यही अर्थ आजकल सुप्रचलित हो गया है। यह भाषा मध्य-भारतीय उद्गम की एक प्राचीन प्राकृत है जिसने परिष्कृत साहित्यिक रूप धारण कर लिया है। यह अवश्य स्मरणीय है कि उपलब्ध पालि त्रिपिटक की भाषा सर्वत्र एकरस नहीं है। उसमें विभिन्न काल और प्रदेशों के चिह्न मिलते हैं, किन्तु पालि के वैकासिक

४-६०—ऊपर।

५-बंकाक से पालि-त्रिपिटक स्पामो लिपि में १८९४ में प्रकाशित हुआ था।

सिंहली, जर्म, रोमन और नागरी लिपियों में भी त्रिपिटक के म्यूनार्धिक अंश प्रकाशित हुए हैं। सामान्य विवरण के लिए ३०—विन्टरनित्स, पूर्व०, जि० २; बी० सी० लॉ, हिस्ट्री ऑफ् पालि लिटरेचर; पाण्डे, ऑरिजिनल ऑफ् बुद्धिज्म।

६-विषय विवाद-ग्रस्त है—३०—ऑरिजिनल ऑफ् बुद्धिज्म, पृ० ५७३-७४।

स्तरों का एवं प्रादेशिक प्रभावों का प्रवेष्ट मूल्य विवेचन अभी तक नहीं हो पाया है। बुद्धपद्य के अनुसार पालि वास्तव में भागधी है। बुद्ध भगवान् ने अवश्य भागधी में देशना की, किन्तु पालि को भागधी नहीं माना जा सकता क्योंकि उसमें भागधी के प्रसिद्ध लक्षण उपलब्ध नहीं होते—'र' के स्थान पर 'ल', एवं 'स' के स्थान पर 'दा' रखने की प्रवृत्ति, तथा अकारान्त पुल्लिङ्ग एवं नपुंसक-लिङ्ग के एक पञ्चम की प्रथमा विभक्ति में 'ए' का प्रयोग। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि बुद्ध भगवान् ने अपने शिष्यों को यह अनुमति दी थी कि वे उनके उपदेशों को अपनी-अपनी बोली में याद रखें। अतएव मूल देशना भागधी में होती हुए भी भागधी के संरक्षण का विशेष प्रयास न किया गया तो आश्चर्य नहीं है।

सिंहल में पालिभिषिटक महेन्द्र तार्ये थे। वे विदिशा के निवासी थे और वहीं से पश्चिमी तट के मार्ग से कदाचित् सिंहल पहुँचे। अतएव यह स्थानाधिक है कि वे अपने प्रदेश में प्रचलित बिषिटक लाये हो एवं उसी प्रदेश की बोली में यह निबद्ध हो। पालि की तुलना कारवेल के अभिलेख की भाषा से की गयी है एवं अशोक की गिरनार में उपलब्ध पत्थे-लिपियों से भी उसका सादृश्य बताया गया है। एक प्राचीन परम्परा के अनुसार स्वविरवादी पिटक पैशाची में था। यह पैशाची कदाचित् उत्तरपश्चिम की भाषा न होकर मध्य-भारत की थी, जिसमें कि कालान्तर में गुजरात में बृहत्कथा की रचना की। ये सब प्रकट सादृश्य एवं अनुभूतियाँ पालि की मध्य-भारतीय सिद्ध करती हैं। स्वविरवाद के प्रसार को दिशा का स्मरण करने से यही सम्भावना बृद्धतर होती है कि पालि विदिशा और अवन्ति के प्रदेश की बोली रही होगी।

पालि-भिषिटक—इसा कि ऊपर कहा जा चुका है, बौद्ध परम्परा के अनुसार धर्म और चिन्तन का समूह पहली संगीति में हुआ था एवं अभिधर्म का अन्तिम ग्रन्थ कथा-कारपु तीसरी संगीति में रचा गया। अभिधर्म को बुद्धपञ्चन नहीं माना जा सकता और यह प्रायः सर्व-सम्मत है कि विभिन्न उपलब्ध अभिधर्मों की—जिनमें सर्वोत्तिवादी एवं वैरवादी अभिधर्म प्रधान हैं—तुलना करने पर उनकी निकाय-भेद में उत्तरकालीनता एवं साम्प्रदायिकता स्पष्ट हो जाती है। चिन्तन और सूत्र पिटकों की विभिन्न साम्प्रदायिक प्रतियों के उपलब्ध मुक्ततीय अंशों की आलोचना से यह प्रतीत होता है कि वे किसी अभिधर्म मूल पर आधारित रहे होंगे। इन साम्प्रदायिक प्रतियों में प्रधान भेद प्रायः

७—“सकाय निवर्तिसा”—मूलवचना (ऊपर प्रदूत), यहाँ “त्वं” का संकेत श्रोताओं की ओर मानना ही ठीक है।

वस्तुगत न होकर संयुक्त, कम एवं विस्तार के विषय में है। सूत्रपिटक के सूत्र-निकाय अथवा सूत्रकायम की स्थिति इस प्रसंग में तिराली है। इसके अन्तर्गत अनेक धर्म संगृहीत हैं और अपने वर्तमान रूप में इस संघ को साम्प्रदायिक कहना होगा, यद्यपि इसके अन्तर्गत अनेक प्राचीन और सर्व-निकाय-सम्मत सन्ध्यों की सरा निविवाद है।

ईसापूर्व दूसरी शताब्दी के अभिलेखों में पेटकी, मुत्तन्तिक, पञ्चवैक्यायिक आदि पदों के उपलब्ध होने से पिटकों की प्राचीनता सिद्ध होती है। अशोक के द्वारा निदिष्ट धर्म-वर्षाव प्रस्तुत त्रिपिटक के ही भाग प्रतीत होते हैं और यह भी उनकी प्राचीनता एवं प्रामाणिकता का समर्थक है। त्रिपिटक में अशोक के नाम का अनुल्लेख भी इस प्रसंग में स्मरणीय है। अशोक के समय तक कम-से-कम त्रिपिटक एवं सूत्रपिटक के चार-निकायों तथा पाँचवें निकाय के अनेक अंशों की रचना हो चुकी थी। अभिषम का कितना भाग उस साहित्य के अन्तर्गत था जिसे अशोक के समय में महेंद्र सिंहल ले गये, यह कहना कठिन है। भारत और ताशगार्जी का सम्बन्ध उन दिनों और भी बराबर बना हुआ था। अतएव यह सम्भव है कि कुछ धर्म-ग्रन्थ अशोक के बाद दक्षिण-भारत से भी सिंहल पहुँचे हों। इस कल्पना के समर्थन के लिए साक्षात् प्रमाण बहुत नहीं हैं तथापि कुछ संकेत प्राप्त होते हैं। कषाबन्धु की अट्ठकथा के अनुसार-कषाबन्धु में 'अण्डको' के एवं उनकी शाखाओं के अनेक मत उल्लिखित हैं। ये मत, विशेषतः 'वैतुल्यको' के, अशोक से उत्तरकालीन हैं एवं दक्षिण-भारतीय हैं। दक्षिणभारत से सिंहल का सम्बन्ध अनेक उल्लेखों से सिद्ध है। इस प्रकार यह प्रति-पादित करना सत्य से बिभूषित होगा कि वर्तमान पाणि त्रिपिटक का अधिकांश अशोक से पूर्वकालीन है। सम्भवतः अभिषम के कुछ अंश, विशेषतः कषाबन्धु अशोक के परवर्ती हैं। ई० पू० पहली शताब्दी में समस्त त्रिपिटक सिंहल में वट्टसावणि के शासन-काल में लिखा गया था। परम्परा के अनुसार अट्ठकथा भी इसी समय लिखित हुई। बुद्धाचार्य की अट्ठकथाओं से अनुमेय है कि इन पुरानी अट्ठकथाओं में बुद्धकालीन भारत के सम्बन्ध में कितनी सूक्ष्म जानकारी थी। अतः उन अट्ठकथाओं को भी त्रिपिटक के साथ समानीत ध्यात्वा की परम्परा पर आधारित मानना होगा।

पेरवादी मत के अनुसार बुद्ध-वचन तीन पिटकों में, पाँच निकायों में, नव अंगों में, अथवा बीसवीं हजार धर्मस्कन्धों से संगृहीत है। तीन पिटक प्रसिद्ध हैं—विनय-

पिटक, सुत्तन्त-पिटक एवं अभिघम्मपिटक। पिटक शब्द के अर्थ 'पर्याप्ति' एवं 'भाजन' किये गये हैं।

'पर्याप्ति' (पर्याप्ति) शब्द के अर्थ सामर्थ्य अथवा शिला अभिप्रेत है। भाजन अथवा पात्र के अर्थ में पिटक शब्द का प्रयोग सुनिश्चित है एवं कदाचित् पिटक शब्द का प्रयोग प्रारम्भ में राशीकृत शिक्षा के अनुप्रदाय को सूचित करने के लिए हुआ। जैसे बाहकों भी परम्परा से पिटकों में राशीकृत ज्ञानात् मूर्तिका आदि का अनुप्रदाय होता है, ऐसे ही शिला का भी विभिन्न सुत्तन्तिक, विनयधर एवं भातिकाधर स्वकिरों को गुरु-शिष्य परम्परा के द्वारा विभिन्न राशियों अथवा पिटकों में अनुप्रदाय होता रहा है।

इन तीन पिटकों को क्रमशः आज्ञा, व्यवहार एवं परमार्थ की देशना, यथापराक, यथातुल्य एवं यथाधर्म शासन, तथा संवरासवर, दृष्टिबिनिवेशन, एवं नामरूप-परिच्छेद को कथा कहा गया है। विनयपिटक में अपराधों का शासन है, आज्ञा का बाहुल्य है, एवं संवरासवरको कथा है। सुत्तन्त-पिटक में व्यवहार की देशना है, अनेक सत्त्वों की चित्तप्रकृति एवं प्रवृत्ति के अनुरूप (अनुल्लोम) शासन है, तथा वासठ दृष्टियों के लङ्घन को कथा है। अभिघम्मपिटक में परमार्थ देशना है, अहं एवं मम में अभिनिवेश करने वाले जीव के स्थान पर धर्मपूज-भाव का शासन है तथा नाम-रूप को परिभाषित किया गया है। विनयपिटक को शिक्षा अधिशीलशिक्षा है, सुत्तन्तपिटक को अधिचित्त शिक्षा एवं अभिघम्मपिटक की अधिप्रज्ञ शिक्षा है। विनयपिटक के परिशीलन से व्यतिक्रम-ग्रहाण होता है, सुत्तन्त-पिटक से पञ्चवस्थान-ग्रहाण, अभिघम्मपिटक से अनुसंगप्रहाण"।

विनय और सुत्तपिटक—विनयपिटक का सामान्य विवरण ऊपर दिया जा चुका है। यह उल्लेखनीय है कि पालि विनय में प्रातिमोक्ष सूत्र अलग से नहीं रखे गये हैं, किन्तु विनय के अन्तर्गत रूप में ही प्रस्तुत किये गये हैं। सम्पूर्ण विनय को, जिसमें भिक्षु-प्रातिमोक्ष सूत्र का एवं भिक्षुणी-प्रातिमोक्ष-सूत्र का प्राचीन व्याख्यान है, दो विभागों में बांट दिया गया है जिन्हें पाराजिक एवं पाचिस्तिन की आस्था दी गयी है।

१-३०,—पिटकं पिटकत्थविदु परियत्तिभाजनत्थतो आहु ।

तेन समोषानेतथा तपो पि विनयासो व्येष्सा ॥

(जट्ठसालिनी, पृ० १८)

१-३०—अट्ठसालिनी, पृ० १८ प्र० ।

खंघक में महावग्ग एवं चुल्लवग्ग के दो विभाग संगृहीत हैं। सम्बोधि के समनन्तर बुद्धचर्या के विवरण से महावग्ग का प्रारम्भ होता है एवं राजगृह में शारिपुत्र-मौद्गल्या-पन की प्रवचना तक बुद्ध के जीवनचरित्र का निरूपण कर उसमें प्रव्रज्या, उपसम्पदा आदि के लिए अपेक्षित सामान्य नियमों का वर्णन है। जिन परिस्थितियों में नियम बनाने की आवश्यकता हुई, उनका कथा के रूप में हर बार उल्लेख किया गया है। चुल्लवग्ग के अन्त में बुद्ध की जीवनी का कोई अंश नहीं है और पहली संगीति का विवरण असम्बद्ध परिशिष्टवत् जोड़ दिया गया है। खंघक के अतिरिक्त पालि विनयपिटक में परिवार नाम से एक और भाग है। यह भाग स्पष्ट ही बहुत बाद की कृति है।

पालि मुत्तन्तपिटक तीन निकायों में विभक्त है—दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुक्तनिकाय, अंगुत्तरनिकाय एवं खुदकनिकाय। दीघनिकाय में तीन वर्गों में बह्ज्जाल आदि बीतिस मुत्तन्तों का संग्रह है। परम्परा के अनुसार दीघनिकाय का नाम उसके अन्तर्गत सूत्रों के प्रमाणदर्ध्य के कारण है। चीनी भाषा में उपलब्ध दीर्घागम में कुल तीस सूत्र हैं, जिनमें से छः पालि दीघनिकाय में कम-से-कम उन्हीं नामों से उपलब्ध नहीं होते हैं। ऐसे ही, दीघनिकाय के दस मुत्तन्त दीर्घागम में उपलब्ध नहीं होते। इनमें से कुछ आगमान्तर अथवा निकायान्तर में मिलते हैं, जिसे यह सूचित होता है कि विभिन्न सम्प्रदायों में सूत्रान्तों का समान रूप से रक्षीकरण नहीं हुआ। मज्झिम-निकाय एवं मध्यमागम, संयुक्तनिकाय एवं संयुक्त-आगम की तुलना से भी यह निष्कर्ष समर्थित होता है। सूत्रों का कम भी इन सम्प्रदायों में बहुत विभेद प्रकट करता है। फांके महोदय ने पालि दीघनिकाय में बह्ज्जाल मुत्तन्त के अवगती होने के कारण उसके क्रम को अधिक प्रामाणिक कहा है और यह सुझाव युक्तिपुक्त प्रतीत होता है। पालि दीघनिकाय के दूसरे एवं तीसरे भाग पहले की अपेक्षा साधारणतः परवर्ती सूत्रान्तों को प्रस्तुत करते हैं, किन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि दीघनिकाय के पहले दस मुत्तन्त सम्पूर्णतः बाद के बीस मुत्तन्तों से प्राचीन हैं। मुत्तन्तों में अनेक स्थलों पर अनेक स्तर संगृहीत हैं। उदाहरण के लिए महापरि-निब्बान मुत्तन्त में बहुत प्राचीन सामग्री के साथ-साथ बहुत बाद तक संयोजित सामग्री उपलब्ध होती है। बह्ज्जाल-मुत्तन्त में प्राचीन

११-बोनी त्रिपिटक पर ३०—मज्झिमो, कंटेडोम; ; सी० अकानुना, कम्पेरेटिव कंटे-
लोम ऑब् दि चाइनीज् आगमज् एण्ड दि पालि (टोकियो १९५८);
आनेसाकि, जे० आर० ए० एस०, १९०१, पृ० ८९५ प्र०। पालि निकायों
का विस्तृत आलोचन ३०—ओरिजिनल् ऑब् बुद्धिगम, भाग १।

सामग्री का अपेक्षाकृत उत्तरकालीन विवरण प्रस्तुत है। सामान्यतः कृतसुत्त अवश्य बहुत प्राचीन प्रतीत होता है।

मज्झिमनिकाय में सम्बन्ध प्रमाण के एक सौ बावन सूत्रों का संग्रह वर्गों में संग्रह किया गया है। स्पष्ट ही इस प्रकार का वर्गीकरण उत्तरकालीन है। चीनी मध्यम-यम की सुचना में भी सूत्रों के कम और संग्रह की प्रामाणिकता पर संदेह उत्पन्न होता है। अन्तिम पण्णास में अपेक्षाकृत उत्तरकालीन सूत्रों का संग्रह प्रतीत होता है। अपेक्षाकृत प्राचीन सूत्रों में निम्नोक्त सूत्रों का निर्देश किया जा सकता है—

सूत्र संख्या ७, १७, २४, २९, २६, ६१, ६३, ७१, १०८, १४०, १४४, १५२।

संयुक्तनिकाय में, परम्परा के अनुसार, ७७६२ सूत्रों का पाँच वर्गों में संग्रह किया गया है। पहला वर्ग समाधायक, दूसरा निदानयक, तीसरा संधयक, चौथा सञ्जयत-यक एवं पाँचवां महयक है। चीनी भाषा में संयुक्तनिकाय के तीन भेद उपलब्ध होते हैं, जिनमें कम एवं वस्तु के संग्रह में अपेक्षाकृत अधिक वैविध्य प्रकट होता है। संयुक्तनिकाय के कुछ सूत्रों में अत्यन्त प्राचीन संदर्भ संरक्षित हैं, किन्तु अधिकतर में सूचीकरण एवं परिचयन की परवर्ती शैली का प्राधान्य है। अंगुत्तर-निकाय में प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार १५५७ सूत्रों का संग्रह है। वस्तुतः अंगुत्तर में २३४४ सूत्रों से अधिक उपलब्ध नहीं होते। ये सूत्र १६० वर्गों में विभक्त हैं। इन वर्गों का स्याद निपातों में संग्रह किया गया है। इन निपातों में सूत्रों की इस प्रकार से रखा गया है कि उनमें वर्ण वस्तु की संख्या में एकोत्तर वृद्धि का कम अवधि हो। इसी कारण समस्त संग्रह का नाम अंगुत्तरनिकाय अथवा एकोत्तरागम पड़ा। स्यादहो निपात स्पष्टतः अप्रामाणिक है। इस प्रसंग में अभिधर्मकोश-व्याख्या की यह उक्ति स्मरणीय है—

‘तथाहि एकोत्तरिकायम आशताद् धर्म-निर्वेस आसीदिवानी तु आदशकाद् दृश्यत इति ॥’

सुद्धकनिकाय के सम्बन्ध में बुद्धघोष का कहना है कि चार निकायों की छोड़कर दोष दूत-वचन—विनयपिटक और अभिधम्मपिटक तथा सुद्धपाठ आदि फलदायक—सब सुद्धकनिकाय हैं—

किन्तु प्रायः सुद्धकनिकाय शब्द से सुद्धक-पाठ आदि सन्दर्भ ही सूचित होते हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—सुद्धकसूत्र, धम्मपद, उदाम, इतिवृत्तक, मुत्तनिपात, मिमान-वरु, पैतकान्, शेरयाथा, शेरियाथा, ताजक, तिद्वेस, पटिसम्भिया, अपमान, बुद्धवत् एवं परिपापिटक। इनमें से अनेक ग्रन्थ संस्कृत में भी उपलब्ध हैं। चीनी विपिटक में धम्मपद के चार अनुवाद प्राप्त होते हैं। धम्मपद एक विविध और प्रकीर्ण संग्रह प्रतीत

होता है। इस प्रकार के वैराग्यपरक पद्य आन्तिमर्ष तथा सूर्यसंग आदि में भी उल्लेख होते हैं। उदात्त में पद्यमय उदात्तों की अपेक्षा कथार्थ परवर्ती लगती है। इतिवृत्तक में ११२ सूत्र-चारमिपातों में संगृहीत हैं। सुत-निपात का इतिवृत्तक के चीनी अनुवाद में अभाव है। पहले दो निपात एवं तीसरे के पूर्वार्ध में अपेक्षाकृत प्राचीन सुत्तों का संग्रह है। सुत-निपात अरजन्त महात्त्वपूर्व एवं प्राचीन सम्बन्ध है, विशेषतः इसके पारायण और अट्ठकथाम्।

विमानवत्सु और पेतवत्सु स्पष्ट ही परवर्ती ग्रन्थ हैं। विमानवत्सु में देवलोक के प्रासादों की महिमा वर्णित है। इसमें सात जगों में तिरासी (८३) कथार्य दी हुई हैं। पेतवत्सु में चार जगों में ५१ कथार्य हैं जिनमें कि अपुष्पात्मा प्रेतों के दुःख का विवरण है। वैरगाथा एवं वैरीगाथा में भिक्षुओं और भिक्षुणियों की विभिन्न माधुर्य संगृहीत हैं। ये दोनों संग्रह एक प्रकार के प्राचीन काव्यसंग्रह हैं। वैरगाथा में बाह्य प्रकृति के सौन्दर्य की और भी दृष्टि उन्मीलित है। वैरगाथाएँ १२७९ हैं एवं वैरीगाथाएँ ५२२। जातक में भी पद्य संग्रह है जिसमें कि प्रत्येक माया के साथ किसी जातक-कथा का आशेष अभीष्ट है। इन तत्त्वमय कथाओं का इस समय केवल जातकट्ठकण्णना नाम की जातकों की टीका से ही पता चलता है। ये कथार्य बृद्ध के पूर्व-जन्मों से सम्बन्ध रखती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि बहुधा ताना प्रचलित कथार्यों की परिवर्तित कर एवं सद्बन्ध के उपयोगी बनाकर इस संग्रह में रख दिया गया है। भारतीय कथासाहित्य का यह सबसे प्राचीन संग्रह है। निवेस सुतनिपात की टीका है। पटिसंविदामसा में आध्यात्मिक साक्षात्कारात्मक ज्ञान का विवरण प्रस्तुत किया गया है। अपवादत्त में पद्यमय कथाओं का संग्रह है जिनमें विविध बौद्धों के उदारचरितों का वर्णन है। इनकी तुलना संस्कृत बौद्ध साहित्य के अवदानों से करनी चाहिए। बृद्धवंश भी पद्यमय है एवं इसमें २४ पूर्ववर्ती बृद्धों की तथा गौतम बृद्ध की कथा कही गयी है। चरियापिटक २५ पद्यमय जातकों का संग्रह है। इसमें १० पारमिताओं का विवरण प्राप्त होता है।

अट्ठकथार्य—ऊपर कहा जा चुका है कि महावंस के अनुसार महोद आने साथ अट्ठकथार्य भी लाये थे। ये अट्ठकथार्य सिहली भाषा में अनेक अक्षरों में उक्त उपलब्ध थीं, किन्तु अब लुप्त हो चुकी हैं। इनमें त्रिनय की अट्ठकथा का नाम कुरन्दी था। सुतपिटक की अट्ठकथा महाअट्ठकथा कही जाती थी एवं अविधम्म की अट्ठकथा

१२-अट्ठकथानिबो, पृ० २२, "दीध आदि इन चार निपातों को छोड़कर शेष बृद्ध-वचन लुप्त-निकाय है।"

महापञ्चरी के नाम से प्रसिद्ध थी। नुल्लपञ्चरी, अण्डकया, पण्णवार, एवं संखे-पट्ठकया के नाम भी प्राप्त होते हैं। बुद्धघोष ने इन अट्ठकयाओं के आधार पर सालि में अट्ठकयाएँ लिखीं। बुद्धघोष के जीवनचरित का विवरण महावंस से प्राप्त होता है।

अभिधर्म का उद्भव और विकास

बुद्धघोष के द्वारा उल्लिखित परम्परा" के अनुसार तथामत ने सम्बोध के चतुर्थ सप्ताह में अभिधर्म के तत्त्वों का प्रत्यक्षमार्ग किवा तथा 'महाप्रकरण' के चौबीस प्रत्ययों में ही उनकी सर्वज्ञता ने अपने अनुरूप अवकाश का लाभ किया। उस समय उनके शरीर से ६ रंगों की रश्मियाँ निष्क्रान्त हुईं। चित्त से समुद्भूत इस प्रकाश का प्रसार वस्तुतः अभिधर्म के ज्ञान का अनुभव एवं एक प्रकार की मानसिक देशना थी। पीछे अर्वाच्य देवलोक में मातृ प्रमुख देवताओं को उन्होंने तीन महीने में अभिधर्म का उपदेश किया एवं "निमित्त" बुद्ध को अपने स्थान पर छोड़ कर अपने उपदेश का मर्म प्रतिदिन सारिपुत्त को अतवत्पत्त-सर के तीर पर पिण्डदान-गारेभोम के अनन्तर चन्दन-वन में बताया। सारिपुत्त ने अपने ५०० शिष्यों को उपदेश किया।

बुद्धघोष के अनुसार पहली संगीति में अभिधम्म का भी संग्राह्य हुआ। यह उल्लेखनीय है कि एक परम्परा के अनुसार अभिधम्म का सुहक निकाय में संग्रह किया जाता था। पालि अभिधर्म-पिटक का विकास सम्भवतः मातृकाओं से हुआ है जिनका उल्लेख विनयपिटक में प्राप्त होता है। मातृकाएँ 'धर्मों' की सूचियाँ थीं। धम्मसंगणि का प्रारम्भ एक मातृका से होता है और उसी को अभिधम्म-पिटक का मूल कहा गया है। पुग्गलपञ्चासि और धातुकया भी मातृकाओं से प्रारम्भ होती हैं।

यह स्मरणीय है कि अभिधम्मपिटक में प्रायः उन्हीं सिद्धान्तों का विश्लेषण और रीतिबद्ध प्रतिपादन किया गया है जो सुत्तपिटक में बीजरूप से उपलब्ध होते हैं। बुद्धघोष ने अभिधर्म की देशना को परमार्थ देशना अथवा निष्पर्याय देशना कहा है। पिटकान्तर से विनयेपूर्वक यहाँ कथादि वर्जित, शुष्क ताल्पिक निरूपण किया गया है।

(२) धर्म और अभिधर्म—प्रारम्भ से ही बौद्ध धर्म में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण-पूर्वक नैतिक साधन पर जोर दिया गया था। बौद्ध भिक्षु के लिए आवश्यक था कि वह पुण्यभागीय गुणों का संग्रह करे तथा अपुण्यभागीय अवगुणों का त्याग, एवं निरन्तर जागरूकता, सतर्कता और विवेक के द्वारा तृष्णा और असत्कर्म से अपनी रक्षा करे।

साधारण मनुष्य देह और चित्त के व्यापारों को आत्मिक व्यापार समझकर उनके सम्मुख विषय हो जाता है। काम हो, क्रोध हो, आलस्य हो, उत्तेजना हो, इन सब प्रवृत्तियों को अपनी प्रवृत्ति समझकर लोग उनके अनुसार कर्म अथवा अकर्मण्यता में निरत रहते हैं। सद्धर्म के अनुसार मानसिक व्यापार एवं अनुभव की प्रक्रिया एक अस्थिर प्रवाह है जिसमें अनेक तत्त्वों का संयोग और वियोग निरन्तर होता रहता है। कार्य-कारण-भाव से परतन्त्र इस प्रक्रिया में किसी प्रकार की आत्मा अथवा आत्मीयता की वास्तविक सत्ता नहीं है। जैसे कार्य-कारण-भाव से परतन्त्र बीजांकुर न्याय से वनस्पति जगत् का जीवन-चक्र चलता रहता है, ऐसे ही अविद्या, काम, कर्म और दुःख का नियत प्रवाह मानव-जीवन में भी अनादि काल से प्रवृत्त है। फलतः बाह्य प्रकृति एवं आध्यात्मिक अथवा आन्तरिक प्रकृति को नाना तत्त्वों में विभाजित कर उनके परस्पर कार्यकारण-सम्बन्ध के परिज्ञान का प्रयत्न बौद्धों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बन गया। जिन नाना तत्त्वों में अनुभव को विभाजित किया गया वे ही अभिधर्म में धर्म अथवा धम्म कहे गये। धर्म शब्द के पूर्व-इतिहास का ऊपर निर्देश किया जा चुका है। यह स्मरणीय है कि प्राचीन बौद्ध प्रयोग में धर्म-शब्द से प्रायः दो अर्थ सूचित होते हैं—अतर्क्य परमात्म तत्त्व एवं नाना अनित्य संस्कार। संस्कृत और असंस्कृत धर्मों का भेद भी सूत्रान्तों में उपलब्ध होता है, एवं धर्म को कुछ स्थलों पर 'रूप' का प्रतियोगी माना गया है। बुद्धशेष का कहना है 'धम्मसद्दो पनायं परिपत्तिहेतु-गुण-निस्तत्तनिज्जीवतादीनु विस्सति। "अत्तनो पन सभाज्जधारेत्तीति धम्मा। धारियन्ति वा पच्चयेहि, धारयन्तिवा ययासभायतो ति धम्मा।" इससे प्रकट होता है कि अभिधर्म के अनुसार आत्मा के स्थान पर "निस्तत्त्व-निर्जीव" तत्त्वों को प्रतिष्ठित करना चाहिए। ये तत्त्व पृथक्-पृथक् स्वभाव वाली अनेक सत्ताएँ हैं जोकि कार्यकारण भाव के अधीन निरन्तर प्रवाह-शील हैं। यह स्मरणीय है कि संयुक्त में बजिरामिक्सुनी ने "सुद्धसंसारपुञ्जोप" की घोषणा पहले ही कर दी थी। यह विचारणीय है कि धर्म शब्द अनित्य संस्कार एवं नित्यनिर्वाण तथा भौतिक एवं मानसिक तत्त्वों का समान रूप से अभिधान करता है। इस व्यापक प्रयोग से यह सूचित होता है कि अनुभव की धारा में विषय और विषयी के बीच कोई अगाध खाई नहीं है। इस दृष्टिकोण को आधुनिक शब्दों में कभी यथार्थवादी (रीयलिस्ट, पॉजिटिविस्ट) माना गया है एवं कभी प्रतिभासवादी (फेनोमेनलिस्ट)

बताना गया है^{११}। वस्तुतः ये दोनों ही नाम आमक हैं क्योंकि अभिधर्म की दृष्टि न तो बाह्यार्थ-परामर्श है, न केवल प्रतीति-विधान। धर्म-वस्तु-मात्र है जिसके चित्त और भूत दो प्रधान विभाग हैं। दोनों ही अनात्मक हैं एवं उन की इस अनात्मक वस्तुसत्ता—निस्स्वभाव-निर्जीवता—की सूचना से ही स्वविरवादी बौद्ध अभिधर्म सन्तुष्ट था।

(३) अभिधर्म—“मैत्रिक मनोविज्ञान”—अनुभव के व्यापार और प्रक्रिया को माना धर्मों में विभाजित करना एवं उनके संयोग और वियोग में कार्य-कारण-सम्बन्ध का विश्लेषण करना अभिधर्म का प्रधान कार्य है। यह विशेष-कार्य से अवश्य है कि सामाजिक व्यापारों के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए ये ही दो मौलिक सिद्धान्त हैं—अनुभव को तत्त्वतः विभाजित करना, एवं उसको कार्य-कारण-नियम के परतन्त्र मानना। अनुभव को प्रतीत्यसमुत्पन्न धर्मों का संपाद और संतति मानकर बौद्धों ने धर्माद्य में मनोविज्ञान की नींव डाली, किन्तु आधुनिक मनोविज्ञान से इस प्राचीन मनोविज्ञान के भेद विस्मरण्य नहीं हैं। आधुनिक मनोविज्ञान अपने आप को प्रतीति-निरपेक्ष मानता है, जबकि प्राचीन मनोविश्लेषण नैतिक एवं व्यापारिक प्रयोगों से प्रेरित था। इससे अधिक महत्त्व की बात यह है कि बौद्ध लोग ‘कुसल’ और ‘अकुसल’ (अर्थात् ‘सुद’ और ‘दुर्विल’) का भेद विज्ञानवत् आत्म-निरूपणीय मानते थे। इसके अतिरिक्त बौद्ध मनोविज्ञान में सामान्य मनुष्य-लोक के अतिरिक्त अन्य लोकों के अनुभव की एवं लोकोत्तर-अनुभव की भी चर्चा है। अन्ततः, आधुनिक मनोविज्ञान की वैज्ञानिक व्यापारों तथा सामाजिक मानवार्थों एवं व्यवहार के विश्लेषण के साथ विशेष आसक्ति है।

(४) सुष-षिट्ठ और अभिधर्म-षिट्ठ—पूर्वोक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि अभिधर्म में उन्हीं प्रवृत्तियों का विस्तार पाया जाता है जो कि जीव-रूप से प्राचीनतर सद्धर्म में सुष-षिट्ठ में उपलब्ध हैं। एक बड़ा भेद अवश्य आलोचनीय है। प्राचीन सद्धर्म में अप्रवर्णीय एवं अतर्क्य परमार्थ की चर्चा का महत्त्व था। निर्वाण का लक्ष्य निरन्तर सामने रखा जाता था एवं उसकी महिमा का उल्लेख किया जाता था। जहंकार एवं मिथ्या आत्मभाव का निराकरण होते हुए भी आत्म-गवेषणा, अध्यात्मरति एवं अस्तित्व तथा नास्तित्व के परे मध्यमा प्रतिपदा का उपदेश प्रमुख था। अभिधर्म में इन सबका प्रायः अभाव है। चारा ध्याम धर्मों के विभाजन और वर्गीकरण की ओर दिया गया है तथा बौद्ध साधक की हर उत्पन्न होती हुई गान्तिक अवस्था का नाम और कार्य परिचित हो जाय एवं उसकी भावना अपना प्रहाण उसके लिए सम्भव हो।

धर्म का प्राचीनतम विभाजन नाम-रूप में था, यद्यपि सूत्रपिटक में धर्मों का विभाजन प्रायः पाँच स्कन्धों में पाया जाता है—रूपस्कन्ध, विज्ञानस्कन्ध, वेदनास्कन्ध, संज्ञास्कन्ध एवं संस्कारस्कन्ध। इस पाँच-स्कन्धों के संघात से ही मानव जीवन का व्यापार सम्पन्न होता है एवं मोक्ष के लिए इनका ग्रहण आवश्यक है। इनको उत्पादन-स्कन्ध भी कहा गया है क्योंकि इनकी उत्पत्ति कृपा और कर्म से होती है। इसकी उद्गति और परिणति का क्रम द्वादश निदानारम्भक प्रतीत्यसमूत्पाद में निदिष्ट है। इस प्रकार सूत्रपिटक में पंचस्कन्धवाद एवं द्वादश निदानों के द्वारा अनुभव के जगत् का विश्लेषण किया गया है। अनेक स्थलों में स्कन्धों के स्थान पर धातुओं में एवं आपतनों में धर्मविश्लेषण किया गया है। अभिधर्मपिटक में पाँच स्कन्धों का महत्त्व पट गया है और साम ही पुराने प्रतीत्यसमूत्पाद का। पाँच स्कन्धों के स्थान पर चित्त एवं रूप के विभाजन को पुनः प्रथम मान कर दोनों के अनेक अवान्तर विभाग किये गये हैं। इनमें चित्त के कुशल, अकुशल, एवं अव्याकृत, ये तीन विभाग सर्वप्रधान हैं। ऐसे ही प्रतीत्य-समूत्पाद का स्थान पट्टान में माना पञ्चधर्मों ने ले लिया है।

अभिधर्मपिटक में धम्मसंगणि, विभंग, धातुकथा, कथावत्थु, पुम्मलपञ्चसिद्धि, वमक और पट्टानपकरण नाम के सात ग्रन्थ संगृहीत हैं। प्रायः अभिधम्म के ग्रन्थों में पारि-मायिक पद, उनका वर्गीकरण, और उनके अर्थ दिये गये हैं। कथावत्थु में न्यायवाक्यों का परिचय मिलता है एवं वादकथाओं का विस्तार पाया जाता है। धम्मसंगणि में मातृका के अनन्तर धर्मों का अनुपद और व्यवस्थित विवरण दिया गया है। मातृका में पहले २२ विध धर्मों का उल्लेख किया गया है और उसे 'तिक-मातिका' कहा गया है। इस सूची में संगृहीत धर्मों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

- (१) कुशलधर्म, अकुशलधर्म, अव्याकृत धर्म,
- (२) सुखवेदना, संप्रयुक्तधर्म, दुःखवेदना, संप्रयुक्त धर्म, अदुःखसुखवेदना, संप्रयुक्त धर्म।
- (३) विपाकधर्म, विपाकधर्म-धर्म, न विपाक-धर्म न विपाकधर्म-धर्म।
- (५) सविच्छिन्न-सांक्लेशिक धर्म, अविच्छिन्न-सांक्लेशिक धर्म, अविच्छिन्न-असां-क्लेशिक धर्म,
- (६) सचित्तके-सविचार धर्म, अचित्तके-विचारमात्रधर्म, अचित्तके-विचार धर्म।

इस प्रकार अनेक धर्मों का यहाँ पर विचारित संघट्ट है। अनन्तर अभिधम्म-मातिका का नाम दिया गया है और उसमें हेतुगोच्छक, चूलन्तरदुक, आसव-गोच्छक, समीजन-गोच्छक, गन्धगोच्छक, ओष-गोच्छक, योग-गोच्छक, नीवरण-गोच्छक, परा-

मास-गोच्छक, महन्तर-दुक, उपादान-गोच्छक, किलेस-गोच्छक एवं पिट्ठिदुक नाम के चर्चों में कुछ धर्मों को द्विधा विभाजित कर संगृहीत किया है, जैसे हेतुधर्म, अहेतुधर्म; सहेतुक धर्म, अहेतुक धर्म। इसके अनन्तर सुत्तन्तमातिका दी गयी है जिसमें अनेक धर्मद्विक संगृहीत हैं, जैसे, विद्याभागीय-धर्म, अविद्याभागीय-धर्म; विद्योपम धर्म, वद्योपम धर्म, इत्यादि। कुल मिलाकर अभिधम्ममातिका में २२ तिक और १०० दुक हैं एवं सुत्तन्तमातिका में ४२ दुक हैं। इनमें सुत्तन्तमातिका बाद की प्रतीत होती है। सम्पूर्ण ग्रन्थ चार खण्डों में विभक्त है—चित्तोत्पाद काण्ड, रूपाकाण्ड, निक्षेप-काण्ड, और अर्षोद्धार-काण्ड। पहले दो काण्ड मातिका के पहले तिक की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। तीसरे काण्ड में दूसरे बाद के तिकों का विस्तार व्याख्यात है। चारों काण्डों में संक्षिप्त रूप में तिकों का एवं अभिधम्ममातिका के दुकों का व्याख्यान दिया गया है। सुत्तन्त-मातिका की व्याख्या इसमें नहीं है। परम्परा के अनुसार चतुर्थ काण्ड शारिपुत्र की कृति है। अन्तिम दो काण्डों को परवर्ती मानना युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

धम्मसंगणि का अर्थ धर्म-सम्बन्धी प्रश्नोत्तरी करना ठीक होगा। पहले काण्ड का प्रारम्भ इस प्रकार होता है—‘कतमे धम्मा कुसला—इमे धम्मा कुसला’। इसी शैली में सम्पूर्ण ग्रन्थ की रचना हुई है।

(५) धम्मसंगणिचित्त के भेद—धम्मसंगणि के चित्तोत्पाद काण्ड में ८९ प्रकार के चित्त बताये गये हैं जिनमें २१ कुशलचित्त हैं, १२ अकुशलचित्त एवं ५६ अव्याकृत। २१ कुशलचित्तों में ८ कामावचर कुशलचित्त हैं, ५ रूपावचर, ४ अरूपावचर एवं ४ लोकोत्तर। कामावचर कुशलचित्त का विस्तृत विवरण दिया गया है। इनमें ४ सीमनस्य-सहगत हैं, ४ उपेक्षा-सहगत। ये दोनों प्रकार भी ज्ञान-सम्प्रयुक्त तथा ज्ञान-विप्रयुक्त होने के साथ ही ससांस्कारिक अथवा असांस्कारिक होने के कारण पुनः इनका विभाजन किया गया है। रूपावचर-चित्तों का विभाग ५ ध्यानों से सम्बंध रखता है, अरूपावचरचित्तों का विभाग ४ आरूप्यों से एवं लोकोत्तर चित्तों का विभाग ४ भागों से। वस्तुतः कुशल-चित्तों के विवरण में आध्यात्मिक साधन से सम्बद्ध विभिन्न चेतनिक अवस्थाओं का विश्लेषण और निरूपण पाया जाता है। १२ अकुशल चित्तों में ८ लोभमूल हैं, २ द्वेषमूल एवं २ मोहमूल। मोहमूल अकुशलचित्त या भिचिकित्सासम्प्रयुक्त होता है या बौद्धत्वसम्प्रयुक्त। द्वेषमूल अकुशलचित्त या ससांस्कारिक होता है या असांस्कारिक। लोभमूल अकुशलचित्त सीमनस्यसहगत हो सकता है एवं उपेक्षासहगत,

और इतमें से प्रत्येक दृष्टिसम्प्रयुक्त अथवा विप्रयुक्त हो सकता है तथा अन्ततः ये अवान्तर विभाग भी असांस्कारिक हों अथवा सांस्कारिक । अव्याकृतचित्तों में ३६ विपाक रूप हैं, २० क्रियारूप । विपाक-रूप अव्याकृत-चित्त कुशल एवं अकुशल होने के कारण द्विधा विभक्त हैं । क्रिया के अर्थ होते हैं ऐसा व्यापार जिससे भोग्य फल उत्पन्न नहीं होता । क्रिया का तीनों लोकों से सम्बन्ध होने के कारण त्रिधा विभाजन किया गया है ।

(६) चित्त का स्वरूप—इस विश्लेषण के प्रसंग में धम्मसंगणि ने प्रायः शब्दान्तर-सूची प्रस्तुत कर परिभाषा का प्रयत्न किया है । उदाहरण के लिए चित्त की व्याख्या इस प्रकार है—‘चित्त, मन, मानस, हृदय, पांडुर, मन, मनायतन (मन-आयतन), मनिन्द्रिय (मन-इन्द्रिय), विज्ञान-स्कन्ध, तज्जा (तज्जन्य) मनोविज्ञान-धातु’^{१८} । इस विवरण से चित्त के तत्त्व का द्विधा परिचय प्राप्त होता है, अन्तःकरण के रूप में एवं विषयोपलब्धि के रूप में । सूत्र-पिटक में ही यह कहा जा चुका था कि मन इन्द्रियों का प्रतिधारण है अर्थात् इन्द्रियां नाना विषयों की सूचना मन के सम्मुख उपस्थित करती है और मन उनका प्रत्यनुभव अर्थात् समन्वय और व्यवस्थापन करता है । जैसे कोई राजा पाँच धर्मों से आहूत बलि का^{१९} । अभिधर्म में चित्त के व्यापार के लिए भी एक भौतिक आधार की सत्ता स्वीकार की गयी है, किन्तु वह भौतिक आधार देह में कहाँ है, इसका अवधारण नहीं किया गया है । पीछे के विवरण से यह स्पष्ट होता है कि हृदय को ही चित्त का भौतिक आधार स्वीकार किया जाता था^{२०} । यद्यपि नाना चैतनसिक व्यापारों के नाम एवं उनका कोष-शैली से व्याख्यान धम्मसंगणि में उपलब्ध होता है तथापि चित्त के अतिरिक्त अन्य चैतनसिक धर्मों की तत्वात्मेन वर्गीकृत पुष्कल सत्ता का व्याख्यान अभी प्राप्त नहीं होता । परवर्ती व्याख्यान में चैतनसिक धर्म ५२ बताये गये हैं—वेदना, संज्ञा, एवं संस्कार-स्कन्ध के अन्तर्गत ५० धर्म । यह स्मरणीय है कि प्रारम्भ में केवल तीन ही संस्कारों का उल्लेख मिलता है—काय-संस्कार, वाक्-संस्कार, एवं चित्त-संस्कार^{२१} ।

१८—धम्मसंगणि, पृ० २२ ।

१९—मज्झिम, सुत्त ४३; तु०—मिसेज राइजडेविट्स, दि बर्थ ऑव् इण्डियन लाइ-कोलॉजी एण्ड इट्स डिपेलपमेन्ट इन बुद्धिज्म (लण्डन, १९३६), पृ० ३१७-१८ ।

२०—इ०—मिसेज राइज डेविट्स, पूर्व० पृ० ४१० ।

२१—मज्झिम, सुत्त ४४ ।

‘रूप—रूप का विवरण-संयुक्त के अनुसार दिया गया है—४ महामूर्त अथवा ४ महामूर्तों पर आधारित रूप, इसे कहते हैं रूप’^१। अर्थात् भूत और भौतिक पदार्थ रूप कहे जाते थे। रूप न हेतु है, न उसका हेतु है, किन्तु वह सप्रत्यय है, संस्कृत है, नीतिक है, एवं सात्व्य है। उसे संयोजनीय, उपादानीय, सावलेधिक, जम्बाकृत, जनालम्बन, एवं चित्त-विशेष्य, तथा जलैतनिक बताया गया है। रूप केवल कामलोक में ही प्राप्त होता है, रूप एवं अरूप-लोक में नहीं। रूप का ज्ञान छः विज्ञानों से होता है। रूप अनित्य है, किन्तु यहाँ अथवा भावना से ग्रहातम्य नहीं है। रूप के १२ भेद बताये गये हैं—१. इन्द्रियाँ, ५ इन्द्रियों के विषय, एवं वह रूप जो धर्मावतन-पर्याप्त, अप्रतिष तथा अनिवर्धन है। इन्द्रियाँ ४ महामूर्तों से निर्मित हैं, किन्तु वे एक प्रकार का सूक्ष्म रूप हैं जिसे प्रसाद रूप कहा गया है^२। उन्हें ‘आध्यात्मिक आषतन’ कहा जाता है। वे स्वयं अप्रत्यक्ष हैं, किन्तु सप्रतिष हैं अर्थात् वे अन्य पदार्थों के लिए आधारन उपस्थित करती हैं। इसी कारण उनके और उनके विषय का सम्पत्त सम्भव है जिससे कि विज्ञानों की उत्पत्ति होती है। किन्तु इनमें स्पर्शावतन ‘अनुपादाय रूप’ है। आध्यात्मिक एवं बाह्य आषतन ‘बौद्धिक’ अथवा स्थूल रूप माने जाते हैं। स्त्री-लिङ्ग और पुरुष-लिङ्ग, जीवितेन्द्रिय, काम-विज्ञप्ति एवं काम-विज्ञप्ति, तथा आकाश धातु को भी रूप कहा गया है। ‘जीवितेन्द्रिय’ के पर्याय आपु एवं जीवन दिये गये हैं। कार्मिक अथवा कार्मिक व्यापार से अभिप्राय का प्रकाशन विज्ञप्ति कहलाता है। विज्ञप्ति चित्त-समुत्पत्त, चित्त-सहज, एवं चित्तानुपरिवर्ती रूप माना गया है। चारों महामूर्तों से जलसंयुक्त विवर को आकाश-धातु कहते हैं। रूप की लघुता, मृदुता, कर्मण्यता, उपचय, सन्तति, जरता (—जराधीलता), एवं अनित्यता को भी रूप कहा गया है। कबलीकार आहार को रूप का एक पृथक् भेद बताया गया है। लिङ्ग, विज्ञप्ति, आहार आदि रूप को सूक्ष्म एवं ‘दूर’ कहा गया है। पृथ्वी-धातु का लक्षण है कर्कशत्व, जल-धातु का स्नेह, तेजो-धातु का जलमा एवं वायु का कम्पन या गति।

तीसरे निक्षेप काण्ड में सम्पूर्ण मातृका की व्याख्या है, पिछले काण्ड में दी हुई व्याख्याओं से कुछ स्थलों में वे तवीन व्याख्याएँ विपुलतर हैं। चतुर्थे काण्ड में व्याख्या संक्षिप्ततर है और कुछ नये पद प्राप्त होते हैं, यथा पिछले काण्ड की असंज्ञा धातु के लिए निम्नान्न।

^१ २२—वम्मसंगणि, पृ० १६३।

^२ २३—वाही, पृ० १७८ प्र०।

विभंग—अभिधम्मपिटक का मूलभूत ग्रन्थ अवश्य ही धम्मसंगणि है, किन्तु एक प्रकार से विभंग उसका पूरक है। धम्मसंगणि में माना धर्मों का वर्गीकरण एवं परिगणन किया गया है एवं उन्हीं के अन्त्यन्तर स्वयं, आयतन, धातु आदि को रखा गया है। विभंग में यह कम उलट दिया गया है एवं स्वयं, आयतन आदि के वर्गों में उपलब्ध धर्मों का निर्देश और परिगणन किया गया है। यह स्मरणीय है कि मुत्तपिटक में प्रायः स्वयं, आयतन और धातुओं में समस्त अनुभव अथवा जगत् का विवरण दिया गया था। सत्ता का प्राचीनतम विभाजन नामरूप में था जिसके परिष्कार के द्वारा पाँच स्वार्थों का प्रतिपादन किया गया। रूप रूपस्कन्ध बन गया और नाम का चतुर्धा विभाजन हो गया। एक और पाँच इन्द्रियो एवं मन आप्यात्मिक आयतन हैं, दूसरी और उनके अपने-अपने विषय बाह्य आयतन हैं। मन का विषय 'धर्मों' कहा गया है। इन्द्रिय और उनके विषय के सम्बन्ध से विज्ञान की उत्पत्ति होती है। इन छहों प्रकार के विज्ञानों को मिलाकर १२ आयतन, १८ धातुएँ बन जाती हैं।

विभंग के १८ विभाग हैं—स्वयं-विभंग, आयतन-विभंग, धातु-विभंग, स्कन्ध-विभंग, इन्द्रिय-विभंग, पञ्चयाकार-विभंग, सतिपट्ठान-विभंग, सम्मण्यधान-विभंग, इतिराद-विभंग, बीजङ्ग-विभंग, मग्ग-विभंग, ज्ञान-विभंग, अण्णा-विभंग, सिक्खपाप-विभंग, पटिसम्भवा-विभंग, ज्ञान-विभंग, सुदकवत्थु-विभंग, धम्महृदय-विभंग। स्वयं-विभंग में वेदना एवं सञ्ज्ञा का औदारिक एवं सूक्ष्म रूप के वर्गों में विभाजन सूक्ष्म पर्यालोचन दक्षित करता है। उदाहरण के लिए यह कहा गया है कि अकुमल वेदना औदारिक है, कुशल एवं अव्याकुल वेदना सूक्ष्म है। ऐसे ही प्रतिप-संस्पर्शज्ञा सत्ता औदारिक है, अधिवचन-संस्पर्शज्ञा सूक्ष्म। संस्कारस्कन्ध में संस्पर्शजन्य चेतना को ही विवरण दिया गया है। आयतन-विभंग में मन-आयतन के अन्तर्गत चार अक्षरी स्कन्ध रखे गये हैं। धम्मआयतन को वेदना-स्कन्ध, संज्ञास्कन्ध, संस्कारस्कन्ध, अनिद्वय, अप्रतिप, रूप, एवं असंस्कृत धातु बताया गया है। धातु-विभंग में मनोधातु को चतुर्विज्ञान आदि धातुओं के समन्तर उत्पन्न विल अथवा मन कहा गया है। इसका प्रकारान्तर से भी वर्णन किया गया है—स्वयं धर्मों के प्रथम समन्वाहार के समन्तर उत्पन्न विल अथवा मन। मनोधातु के समन्तर उत्पन्न धातु को मनोविज्ञानधातु बताया गया है।

धातुकथा—धातुकथा में इस बात का विचार किया गया है कि स्वयं, आयतन एवं धातुओं के वर्गों में कौन-कौन से धर्म संगृहीत हैं एवं कौन-से असंगृहीत हैं तथा उनके साथ कौन-से धर्म सम्प्रयुक्त हैं, कौन विप्रयुक्त। उदाहरण के लिए, रूपस्कन्ध किसी भी स्कन्ध, आयतन अथवा धातु से सम्प्रयुक्त नहीं है। वेदनास्कन्ध संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान से सम्प्रयुक्त है।

पुनरावस्थापन—पुनरावस्थापन में पुरुषों के विभिन्न प्रकारों का निर्देश किया गया है। दीर्घमिक्षा के संन्यस्तमुत्त एवं अंगुत्तरमिक्षा के कुछ निपातों से इसका बहुत सापेक्ष है। अभिधर्म की दृष्टि से इस ग्रन्थ का महत्त्व बहुत कम है। पुनरावस्थापन का स्वभाव इस प्रकार दिया हुआ है—वह पुरुष जिसके तीन संयोजन ग्रहण नहीं हुए हैं और जो न उसके ग्रहण के लिए प्रतिपन्न है। यह बताया गया है कि सोतापन्न एवं सहस्रगामी काम और भव में अवीतराग है। अनागामी काम में वीतराग, किन्तु भव में अवीतराग है। अनागामी के पाँच औरस्मागीय संयोजन परिक्षीण हो जाते हैं एवं वह औपगतिक होकर उसी लोक में परिनिर्वाण प्राप्त करता है, इस लोक में लीटता नहीं। अर्हत् काम एवं भव दोनों में वीतराग है।

यमक—यमक-प्रकरण में न्यायोपयोगी ग्रंथसंग्रह के प्रश्न एवं उत्तर दिये गये हैं। उदाहरण के लिए—'क्या रूप रूपस्कन्ध है? (नहीं), प्रियरूप, शातरूप रूप है, न कि रूपस्कन्ध। रूपस्कन्ध रूप भी है, रूपस्कन्ध भी। रूपस्कन्ध रूप है? हाँ' 'क्या जो रूप नहीं है वह रूपस्कन्ध नहीं है? क्या जो रूपस्कन्ध नहीं है वह रूप नहीं है? प्रिय-रूप, शातरूप रूपस्कन्ध नहीं है, किन्तु रूप है।'। इस ग्रन्थ से नैयामिक ज्ञेयता तात्त्विक चर्चा का विकास सूचित होता है।

पट्टान और पञ्चम—पट्टानपकरण ज्ञेयता महानपकरण अभिधर्मका विनालतम एवं अतिरहित ग्रन्थ है। धम्मसंगणि में वर्णित धर्मों का इसमें कार्य-कारणभाव की दृष्टि से परस्पर अभिसम्बन्ध आलोचित किया गया है। बीठ धर्म के अनुसार सभी धर्माधे सापेक्ष हैं और यही सापेक्षता पञ्चम (=प्रत्यय) शब्द से सूचित होती है। वह सापेक्षता पहले 'पटिज्झममुप्पाद' ज्ञेयता 'इदण्णच्चयता' के नाम से सुत्तपिटक में अभिहित है। परवर्ती काल में एक ओर 'मध्यमा प्रतिपद' का अनुसरण करते हुए इस सिद्धान्त की धर्म-शून्यता के सिद्धान्त में परिणति हुई। दूसरी ओर 'निदानों' के पर्यालोचन एवं कार्य-कारण-भाव के नाना प्रकारों के विवेचन से पट्टान का पञ्चमवाच्य प्रतिपादित हुआ। यह स्मरणार्थ है कि पञ्चम शब्द से सम्बन्ध-साध की सूचना नहीं होती, किन्तु ऐसे सम्बन्धों की सूचना होती है जिनमें किसी-न-किसी प्रकार से एक-दूसरे के प्रति कार्य प्रत्यय कारण कालित किया जा सकता है। यह सच है कि इस प्रसंग में बहुत-से ऐसे सम्बन्धों का भी उल्लेख किया गया है जिसे अन्य दर्शनों में कार्य-कारण-भाव से सर्वथा सम्बन्ध मानते हैं। उदाहरण के लिए, ज्ञान और ज्ञान के विषय का सम्बन्ध ज्ञेयता

पौर्वायं सम्बन्ध। इन्हीं की पट्टान में कम से आरम्भणपञ्चय एवं समन्तर पञ्चय कहा गया है। २४ प्रसार के पञ्चयों का पट्टान में विवरण दिया गया है। प्रत्येक के निरूपण के लिए एक ओर पञ्चय अथवा कारणभूत धर्म का निर्देश करना होता है दूसरी ओर पञ्चयुपपन्न धर्म का जो उससे अभिसम्बद्ध एवं उसका किसी-न-किसी प्रकार से कार्यभूत धर्म है। ये २४ पञ्चय इस प्रकार हैं^१।

(१) हेतुपञ्चय—यदि एक धर्म की स्थिति या उत्पत्ति दूसरे धर्म का प्रत्याख्यान किये बिना हो तो वह उपकारक धर्म उसका 'प्रत्यय' (पञ्चय) कहलाता है। कुछ आचार्यों के मत में हेतु का अर्थ इस प्रसंग में मूल है एवं हेतुत्वेन अर्थात् मूलत्वेन उपकारक होने पर पञ्चय को हेतुपञ्चय कहते हैं। उदाहरण के लिए, बीज अंकुर का हेतुपञ्चय है। आचार्य बुद्धघोष ने इसे संक्षेपित करते हुए कहा है कि मूलत्व के स्थान पर सुप्रतिष्ठापकत्व का ग्रहण करना चाहिए। इस परिष्कार से तिरु-पट्टान के पञ्चयनिर्देश में दिया हुआ सूत्र संगत होता है—'हेतु हेतुसम्प्रमुक्तान् धम्मान् तत्समुत्थानैरथ रूपान् हेतुपञ्चयेन पञ्चयो।' (अर्थात् हेतु हेतुसम्प्रमुक्त धर्मों का एवं तत्समुत्पत्ति रूपधर्मों का हेतु-प्रत्यय से प्रत्यय है।) लोभ, द्वेष एवं मोह, तथा जलोभ, अद्वेष एवं अमोह छः हेतु हैं। जिस-जिस चित्त में ये निधमान होते हैं अपने-से भिन्न उसके वैतसिक धर्मों के एवं चित्तसमूह रूप-धर्मों के हेतुप्रत्यय से प्रत्यय होते हैं।

(२) आरम्भणपञ्चय—समायतन बहुविज्ञानपातु का एवं तत्सम्प्रमुक्त धर्मों का आलम्बनप्रत्यय (आरम्भण-पञ्चय) से प्रत्यय है। सम्भायतन, मन्थायतन आदि तत्तदिन्द्रिय-विज्ञानों के इसी प्रकार से प्रत्यय हैं। 'यं यं धम्मं आरम्भ मे मे धम्मा उपपज्जन्ति, चित्तचेतसिक धम्मा, ते ते धम्मा तेष तेष धम्मान् आरम्भणपञ्चयेन पञ्चयो।' अर्थात् जिस-जिस धर्म को सहारा बनाकर जो-जो चित्त-चैत धर्म उत्पन्न होते हैं वे-वे उनके आलम्बन-प्रत्यय से प्रत्यय होते हैं। सभी धर्म यथासम्भव चित्त के आलम्बन प्रत्यय होते हैं। 'आलम्बन' को समझाते हुए बुद्धघोष ने कहा है 'जैसे कोई दुर्बल पुरुष दण्ड या रज्जु का आलम्बन कर उठता है और खड़ा होता है, ऐसे ही चित्त-चैतसिक-धर्म रूपादि आलम्बन के सहारे उत्पन्न होते हैं और टहरते हैं। अतएव चित्त-चैतसिकों

२५—संक्षिप्त परिचय के लिए इ०—अभिधम्मत्व विमुद्धिमग्गो, पृ० ३७३ प्र० अभि-
धम्मसंगहो, पृ० १४०। अभिधम्मत्व संगह में २४ प्रत्ययों की ४ में संग्राह्य
माना है "आरम्भणपनिस्सयकम्मसि पञ्चयेतु च सञ्चेपिपञ्चमा समोधानं
गच्छन्ति" पृ० १५१।

के सभी आलम्बनभूत धर्मों को आलम्बन-प्रत्यय समझना चाहिए। उदाहरण के लिए यदि दात देकर उसकी प्रत्यवेक्षा की जाय तो एक कुशल धर्म दूसरे कुशलधर्म का आलम्बन बन जायेगा। दात देकर यदि उसके विषय में सशय उत्पन्न हो तो एक कुशल धर्म दूसरे अकुशल धर्म का आलम्बन हुआ। यदि राग का आस्वादन किया जाय तो अकुशल धर्म अकुशल धर्म का आलम्बन होगा। यदि अर्हत् निर्वाण को प्रत्यवेक्षा करे तो अध्याकृत धर्म का आलम्बन अध्याकृत धर्म होगा।

(३) अधिपत्तिपञ्चमो—चित्त-वैतसिक धर्म जिन धर्मों को बड़ा मान कर (गुरु-करवा) उत्पन्न होते हैं वे उनके अधिपत्ति-प्रत्यय कहलाते हैं। इनके दो भेद हैं—आलम्बनाधिपत्ति और सहजाताधिपत्ति। सम्मानित आलम्बन आलम्बनाधिपत्ति-प्रत्यय होते हैं। छन्द, वीर्य, चित्त एवं भीमसा (वीर्यसा) सहजाताधिपत्ति हैं। आलम्बनाधिपत्ति के प्रत्ययोत्पन्न धर्म कुशल चित्त अथवा लोभसहगत अकुशल भित्त होते हैं। छन्द, वीर्य आदि वस्तुतः ऋद्धिपाद हो हैं; 'वीर्यसा', प्रजा है। इसका अधिपत्तित्व केवल शिष्टेतुक अथवा शिष्टेतुक जवन चित्तों में ही सत्ता लाभ करता है।

(४)–(५) अनन्तरपञ्चम एवं समनन्तरपञ्चम—ये दोनों वस्तुतः एक हैं, केवल नाम-भेद से ही भिन्न हैं। बुद्धशोध के पूर्ववर्ती आपाये इनमें भेद का समर्थन करते थे। उनके अनुसार अपानन्तरतया अनन्तर-प्रत्यय होता है, कालानन्तरतया समनन्तर-प्रत्यय। किन्तु बुद्धशोध ने इस मत का सङ्गठन किया है।

चित्त-वीर्य में इन्द्रियविज्ञान, मनोधानु, एवं मनोविज्ञानधानु का एक निश्चित पीवाप्यंक्रम है। इसमें पूर्ववर्ती धर्म अपने अनन्तरवर्ती का अनन्तर-प्रत्यय कहलाता है।

(६) सहजात-पञ्चम—जो उत्पन्नमान धर्म दूसरे धर्म का सहोत्पादन के द्वारा उपकारक हो वह उसका सहजात-प्रत्यय है। जैसे प्रकाश का प्रदीप। चार अक्षरी स्कन्ध परस्पर सहजात-प्रत्यय हैं। ऐसे ही चार महाभूत दूसरे के सहजात-प्रत्यय हैं। अवकान्ति-क्षण में नाम-रूप परस्पर सहजात प्रत्यय हैं। चित्त-वैतसिक धर्म चित्त-समुत्पन्न रूप-धर्मों के एवं महाभूत उपादान रूप-धर्मों के सहजात-प्रत्यय हैं। हृदय-वस्तु सभी अक्षरी धर्मों का सहजात-प्रत्यय है, कभी नहीं।

(७) अज्जमज्जपञ्चम—परस्पर उत्पादन एवं उपपत्तिमान के द्वारा उपकारक धर्म एक दूसरे के अव्योच्य-प्रत्यय कहे जाते हैं। इस कोटि में चार अक्षरी धर्म, चार महाभूत, एवं अवकान्ति-क्षण में नाम-रूप परिगणित हैं।

(८) निस्सय-पञ्चम—अधिष्ठान एवं आधय के रूप में उपकारक धर्म निश्चय-प्रत्यय होता है जैसे पेड़ के लिए पृथ्वी अथवा चित्र के लिए पट। उसर सहजात-प्रत्यय

में उल्लिखित पहले पाँच प्रत्यय यहाँ भी अवबोध्य हैं। छठ स्थल पर यह अवबोध्य है कि चक्षुरादि आयतन चक्षुर्विज्ञानधातु आदि के निधय हैं।

(९) उपनिश्रय-पञ्चय—यलवत्कारण रूप से उपकारक धर्म उपनिश्रय-प्रत्यय कहलाता है। इसके तीन भेद हैं—ज्ञानम्वनोपनिश्रय, अनन्तरोपनिश्रय, एवं प्रकृतोपनिश्रय। इनमें पहले दो क्रमशः आलम्बनाधिपति एवं अनन्तर-प्रत्यय से अभिन्न हैं। 'पकृतोपनिश्रय' के उदाहरण इस प्रकार हैं—श्रद्धा के उपनिश्रय से ज्ञान दिया जाय, अथवा राग के उपनिश्रय से प्राण-वात किया जाय। पहले उदाहरण में कुशलधर्म कुशलधर्म का उपनिश्रय है, दूसरे में अकुशल धर्म अकुशल धर्म का।

(१०) पुरोज्ञात-पञ्चय—पहले उत्पन्न होकर वर्तमान तथा उपकारक धर्म पूर्व-ज्ञात-प्राप्य कहलाता है। चक्षुरादि एवं रूपादि आयतन चक्षुरादि-विज्ञान धातुओं के 'पुरोज्ञात'-प्रत्यय हैं।

(११) पश्चाज्जात-पञ्चय—'पीछे उत्पन्न चित्त-चैतनिक धर्म पहले उत्पन्न इस शरीर के पश्चाज्जात-प्रत्यय हैं।"

(१२) आसेवन-पञ्चय—जिनके आसेवन से अनन्तरवर्ती धर्म घुट्ट होते हैं वे उनके आसेवन-प्रत्यय हैं। लोकोत्तर-चित्तों की उनकी एकव्यक्तिता के कारण छोड़कर शेष तीन भूमियों में कुशल, अकुशल एवं क्रियाव्याकृत जवन-चित्तों में उसकी उपलब्धि होती है।

(१३) कर्मपञ्चय—कुशल और अकुशल कर्म विपाक-स्कन्धों के कर्म-प्रत्यय हैं एवं चेतना सम्प्रयुक्त धर्मों की तथा तत्समुत्थरूप धर्मों की। यहाँ चेतना से तात्पर्य सर्व-चित्त-साधारणी सहजाता चेतना से है। कर्म नाता क्षणिक चेतना है।

(१४) विपाक-पञ्चय—चार अरूपी विपाक-स्कन्ध एक दूसरे के विपाक-प्रत्यय हैं।

(१५) आहार-पञ्चय—चार आहार हैं—कवलीकार आहार जो कि रूपी है, स्पर्श, मल, तन्मतेतना, एवं विज्ञान। इनमें पहला शरीर का आहार-प्रत्यय है, शेष सम्प्रयुक्त धर्मों के एवं तत्समुत्थ रूप-धर्मों के।

(१६) इन्द्रिय पञ्चय—चक्षु आदि पाँच इन्द्रियाँ पाँच विज्ञानों के इन्द्रिय प्रत्यय हैं, रूपादीभेदेन्द्रिय उपादीय रूपों के तथा अरूपी इन्द्रिय सहजात नामरूप के।

(१७) ध्यान-पञ्चय—'ध्यान के अंग ध्यान-सम्प्रयुक्त धर्मों के एवं तन्मज्ज्य रूप के ध्यान-प्रत्यय हैं। ध्यान के अंग सात हैं—वितर्क, विचार, प्रीति, एकाग्रता, सीमनस्य, दीर्घनस्य एवं उपेक्षा। इनकी उपलब्धि पाँच विज्ञानों में नहीं होती। दीर्घनस्य केवल प्रतिषयुक्त चित्त में ही प्राप्य है।

(१८) **मलयपञ्चय**—मार्ग के अंग मार्गसम्प्रयुक्त धर्मों के एवं तत्समुत्पन्न रूप-धर्मों के मार्ग-प्रत्यय है।

(१९) **सम्प्रयुक्त पञ्चय**—चार अरूपी स्कन्ध परस्पर सम्प्रयुक्त-प्रत्यय है क्योंकि इनके एक ही आशय, आलम्बन, उत्पाद और निरोध हैं।

(२०) **विषययुक्त-पञ्चय**—रूपी और अरूपी धर्म परस्पर विषययुक्त प्रत्यय हैं।

(२१) **अतिपञ्चय** (२४) **अधिगत पञ्चय**—दोनों वस्तुतः एक ही हैं। अपनी सत्ता से दूसरे को सत्ता का उपकारक होना ही इसका अर्थ है। चार अरूपी स्कन्ध, चार महाभूत, नाम-रूप, चित्त-चैतन्यिक धर्म एवं चित्तसम्भूत रूप, महाभूत और उपादाय रूप, आपतन और विज्ञान, इन सबमें आन्तरिक अस्ति-प्रत्यय का सम्बन्ध है।

(२२) **नतिपञ्चय** (२३) **विगत**—ये वस्तुतः एक ही हैं।

'समनन्तर-निर्द्वन्द्व चित्त-चैतन्यिक धर्म प्रत्युत्पन्न चित्त-चैतन्यिक धर्मों के नास्ति-प्रत्यय हैं।'

इनमें हेतु, सहजात, जन्मभञ्ज, निस्सय, पुरेजात, पञ्चाजात, विपाक, आहार, इन्द्रिय, ज्ञान, मग्ग, सम्प्रयुक्त, विषययुक्त, अति, एवं अधिगत, ये १५ पञ्चय प्रत्युत्पन्न धर्म हैं एक अस्ति-प्रत्यय में समबहिर्भूत हो जाते हैं। अनन्तर, समनन्तर, आशेवन, नति, एवं विगत, ये ५ अतीत पञ्चय हैं और अनन्तररूपनिस्सय में समबहिर्भूत होते हैं। कम्म-पञ्चय प्रत्युत्पन्न और अतीत दोनों कालों में निहित है। शेष तीन प्रत्यय-आरम्भण, अधिपति, एवं उपनिस्सय—त्रैकालिक हैं एवं काल-विमुक्त भी कहे जा सकते हैं। इस प्रकार अस्ति, अनन्तर एवं आलम्बन ये तीन प्रत्यय प्रमाण सिद्ध होते हैं जिनके द्वारा अर्तमान, अतीत एवं त्रैकालिक कारणों का संप्रह होता है।

✓ **स्मचिरवादा और अन्य निराकरण**—प्राचीन येरवादी-विभज्यवादी सम्प्रदाय महासाधिक, सर्वास्तिवादी और वात्सीपुत्रीयों का विरोधी था। वह तथामत को महापुण्य, किन्तु मनुष्यधर्मा स्वीकार करता था, और महासाधिकों के प्रच्छन्नदेववाद का निराकरण। सर्वास्तिवादियों का प्रच्छन्न शास्वतवाद एवं वात्सीपुत्रीयों का प्रच्छन्न, आत्मवाद भी उसका अभिष्ट नहीं था। यही दृष्टि कथावत्थु में प्रतिपादित है।

कथावत्थु—कथावत्थु में धम्मसंगणि और विभंग से उद्धरण मिलता है, किन्तु धातुकथा, पुग्गलपञ्चसि एवं यमक से नहीं। ग्रन्थ के उत्तरभाग में पट्ठान में वर्णित अनेक पञ्चयों का परिचय मिलता है। कथावत्थु में प्रतिपादित सिद्धान्त कथानुसार इस प्रकार हैं—(I) (१) पुद्गलवाद का निषेध कथावत्थु में स्पष्टाया किया गया है और यही निषेध येरवादियों के सिद्धान्त में उस समय तथा और पीछे भी मुख्यतः रहा है।

पुद्गलवाद के विरोध में प्रधान युक्ति यह दी जाती थी कि पुद्गल की उपलब्धि नहीं होती, केवल स्कन्धों की ही उपलब्धि होती है। ये उपलब्ध स्कन्धविशेष ही वस्तुतः सत्तावान् हैं। पुद्गल केवल प्रशप्ति है यह वाल्सीपुत्रीयों के प्रधान अभिमत का सङ्केत है। तथा (२) इसके अतिरिक्त शेरवादी महादेव की पांच वस्तुओं की भी प्रत्याख्यात करते हैं और अहंत्व-परिहाणि को सम्भव नहीं मानते ये यह यह महासाधिकों के विरोध में हैं। शेरवादियों के मत में स्रोतजापन्न के लिए भी मिरना सम्भव नहीं है। (३) देवलोक में भी ब्रह्मचर्यावास सम्भव है। (४) क्लेश कमल छूटते हैं। (५) पुण्यजन के लिए काम-राम और व्यापार का छोड़ना सम्भव नहीं है। (६)-(८) अतीत और अनागत धर्मों की सत्ता नहीं होती, न सर्वात्मना और न अंशतः यह सर्वास्तिवादियों के मुख्य सिद्धान्त का प्रतिषेध है। (९) सब धर्म स्मृति-प्रस्थान नहीं है। (१०) यह नहीं कहना चाहिए कि अतीतादिबन्ध और रुपादि स्कन्ध हैं भी और नहीं भी हैं।

न अन्तराभव की सत्ता होती है। अनुशय और पर्यवस्थान भैतसिक, चित्तसम्प्रयुक्त और चित्त के आलम्बन बन सकते हैं। तीन ही असंस्कृत हैं।

(II) (५) एक चित्त दिन भर नहीं ठहर सकता। (६) सब संस्कार मुक्कुलमात्र नहीं है। (७) मार्ग और चार सत्त्वों का अभिसमय आनुपूर्वी से होता है। स्रोतजापत्ति फल के समन्तर सब चर्या लोकोत्तर है। (८) बुद्ध का व्यवहार लोकोत्तर नहीं है। (९) एक ही निरोध है।

(III) (१) तत्पागत का बल श्रावक-साधारण नहीं है। (२) तत्पागत के इस बल 'आय' नहीं है। (३) सराग-चित्त विमुक्त नहीं होता है। (४) विमुक्त विमुच्यमान नहीं होता। (५) अष्टमक-पुद्गल के पर्यवस्थान, दृष्टि और विचिन्तित्वा का प्रहाण नहीं होता। (६) किन्तु वह श्रद्धादि पाँचों इन्द्रियों से संप्रयुक्त होता है। (७), (८) दिव्यचक्षु मांसचक्षु से भिन्न है और (८) दिव्य-श्रोत मांसश्रोत्र से। (१०) देवताओं में संवर नहीं होता। (११) असंज्ञिसत्त्वों में संज्ञा नहीं होती। (१२) नैवसंज्ञानासंज्ञायतन में संज्ञा होती है।

(IV) (१) गृहस्थ अहंत्व नहीं हो सकता। (२) उपपत्त्या अहंत्व नहीं हो सकते। (३) अहंत्व के सब धर्म अनासन्न नहीं है। (४) अहंत्व चारों आमण्य-फलों से समन्वागत नहीं है। (५) अहंत्व यह-उपेक्षासमन्वागत नहीं है। (६) बोधि से ही बुद्ध बनते हैं। (७) महापुरुष-लक्षण युक्त बोधिसत्त्व नहीं भी होते। (८) बोधिसत्त्व कामयपबुद्ध के श्रावक नहीं थे। (९) अहंत्व में पिछले तीन फल समन्वागत नहीं होते। (१०) अहंत्व सर्वसंयोजन-प्रहाण नहीं है।

V (१) विभक्ति-ज्ञान-युक्त सब विभुक्त नहीं होते। (२) शेष का अशेष ज्ञान नहीं होता। (३) पृथ्वी कणिका से विपरीत-ज्ञान उत्पन्न होता है। (४) अनियत को नियाम-गमन का ज्ञान नहीं होता। (५) सब ज्ञान प्रतिसम्बिदा नहीं है। (६) संवृति-ज्ञान का विषय न सत्य है न असत्य। (७)–(८) अनागत का ज्ञान नहीं होता और न प्रत्युत्पन्न का। (९) आवक को अन्यगत फल का ज्ञान नहीं होता।

VI (१)–(२) नियाम और प्रतीत्यसमुत्पाद संस्कृत नहीं है। (३) चार सत्य भी असंस्कृत नहीं है और (४) न अरूप-समापत्तिवा और (५) न निरोध समापत्तिवा और (६) न आकाश ही असंस्कृत है। (७)–(८) आकाश और चारों महाभूत अदृश्य है। (९) चक्षुरिन्द्रिय और कार्यकर्म भी अपुर्य है।

VII (१) धर्म दूसरे धर्मों में संगृहीत होते हैं। (२) धर्म दूसरे धर्मों से सम्प्रयुक्त होते हैं। (३) चैतन्यिक धर्म होते हैं। (४) दात चैतन्यिक धर्म नहीं है। (५) पुण्य परिशोधन्य नहीं है। (६) यहाँ पर दिया हुआ दात परत्र शेष नहीं होता। (७)–(१०) पृथ्वी कर्मविपाक नहीं है, जरा-मरण भी विपाक नहीं है, आर्यधर्म सविपाक है, विपाक में स्वयं विपाकधर्मिता नहीं है।

VIII (१) पाँच ही गतिपाँ है। (२) अन्तराभव नहीं होता। (३) पाँच काम-गुणों से ही काम-धातु नहीं बनती। (४) पाँच आपतन ही काम नहीं है। (५)–(६) लोभी धर्म और अलभी धर्म से ही रूप-धातु और अरूप-धातु है। (७) रूप-धातु में षडायतनिक आरमभाव नहीं होता। (८) अरूप-धातु में रूप नहीं है। (९) कुशल-चित्त-समुत्थित कार्य कर्म कुशल रूप नहीं है। (१०) अविज्ञेन्द्रिय केवल ज्ञान नहीं है। (११) जहंतु की कर्म के कारण जहंतु से परिहाण नहीं होती।

IX (१) आतिशयदर्शी अप्रहीण-संयोजन होता है। (२) संयोजन अभूतालम्बन नहीं होता है। (३) रूप अनालम्बन है। (४) अनुगम आलम्बन है। (५) ज्ञान सालम्बन है। (६)–(७) अतीतालम्बन एवं अनामातालम्बन चित्त सालम्बन है। (८) सब चित्त चित्तकानुपत्तित नहीं है। (९) शब्द चित्तके-विस्फार नहीं है। (१०)–(११) वाणी चित्त के अनुरूप हो सकती है और कार्य-कर्म भी चित्त के अनुरूप हो सकता है। (१२) अतीत और अनागत से समन्वागति नहीं होती।

X (१) पिछले स्कन्धों के निषेध होने पर नयों का जन्म होता है। उनका सम-वधान एवं सम्मुखीभाव नहीं होते। (२) मार्गसमझी का रूप मार्ग नहीं है। (३) पञ्चविज्ञानसमझी की मार्ग-भावना नहीं होती। (४) पाँच विज्ञान न कुशल है न अकुशल, (५) वे अनाभोग हैं। (६) मार्गसमझी लौकिक एवं लोकोत्तर शील से

समन्वागत नहीं है। (७)-(८) शील चैतन्य है और चित्तानुपरिवर्ती है। (९) समाधानहेतु शील बढ़ता नहीं है। (१०) विज्ञप्ति शील-मात्र नहीं है। (११) अविज्ञप्ति दोःशील्य-मात्र नहीं है।

XI (१) अनुशय अकुशल, सहेतुक और चित्तसम्प्रयुक्त है। (२) अज्ञान विगत होने पर एवं ज्ञानविप्रयुक्ततया वर्तमान चित्त की अवस्था में 'ज्ञानी' नहीं कहा जा सकता। (३) ज्ञान चित्तसम्प्रयुक्त है। (४) 'इदं दुःखम्' कहने से अनुरूपज्ञान प्रवृत्त नहीं होता। (५) ऋद्धि बल से कल्प भर नहीं ठहरा जा सकता। (६) समाधि चित्तसंतति नहीं है। (७) धर्मेस्थितता परिनिष्पन्न नहीं है। (८) अनिरुद्धता, जरा और मरण भी परिनिष्पन्न नहीं है।

XII (१) संवर और असंवर कर्म नहीं है। (२) सब कर्म संधिपाक नहीं है। (३)-(४) शब्द विपाक नहीं है और न पञ्चायतन विपाक है। (५) श्रोतआपन्न के लिए आवश्यक नहीं है कि वह सात बार और जन्म ले। (६) कोलकोल एक कुल से दूसरे कुल में जाने के लिये बाध्य नहीं है। (७) दृष्टि सम्पन्न पुद्गल बोधपूर्वक प्राणघात नहीं कर सकता, किन्तु (८) उसकी दुर्गति की सम्भावना प्रहोष नहीं होती। (९) सप्तत्रयिक पुद्गल दुर्गति से ऊपर है।

XIII (१) कल्पस्थ कल्प तक नहीं ठहर सकता। (२) कल्पस्थ कुशल-चित्त-प्रतिलाम कर सकता है। (३) आन्तरिक पुद्गल सम्प्रत्यक्ष-निग्राम में अवक्रमण नहीं कर सकता। (४) नियत पुद्गल निग्राम में अवक्रमण नहीं करता। (५) नीचत नीचरण नहीं छोड़ता। (६) संयोजन-सम्मुखीभूत-संयोजन नहीं छोड़ता। (७) समापन्न आस्वादन नहीं करता, ध्यान की चाह नहीं रखता, न म्यानालम्बन होता है। (८) जमुष का राग नहीं होता है। (९) धर्मे-तृष्णा अकुशल है और (११) दुःख-समुदय है।

XIV (१) कुशलमूल और अ० का अन्धोन्ध-प्रतिसम्बन्ध नहीं होता। (२) षडायतन एक साथ मातृगर्भ में समुत्पन्न नहीं होते। (३) पाँच विज्ञानों की परस्पर समनन्तर उत्पत्ति नहीं होती। (४) आपे-रूप महाभूतों से उत्पन्न नहीं है। (५) अनुशय पर्यवस्थानों से भिन्न नहीं है। (६) पर्यवस्थान चित्तसम्प्रयुक्त है। (७) कण-राग एवं रूप-राग केवल रूप-धातु एवं अ० में अनुशयित और पर्यापन्न नहीं है। (८) दृष्टिगत अकुशल है और (९) वैधानुक में पर्यापन्न है।

XV (१) प्रत्ययता अवस्थित नहीं है। (२) संस्कार अविद्याप्रत्यय है, अविद्या संस्कार-प्रत्यय है। (३) अतीतादि कालभेद परिनिष्पन्न नहीं है। (४) धान, सब और

मूहत् भी परिनिष्पन्न नहीं है। (५) चार आसन्न सालव है। (६) लोकोत्तर धर्मों का जरा-मरण लोकोत्तर नहीं है। (७) संज्ञावेदितनिरोध लोकोत्तर या लौकिक नहीं कहा जा सकता। (८) संज्ञावेदित निरोध में मृत्यु नहीं हो सकती। (९) संज्ञावेदित-निरोध में असंज्ञि-सत्त्वों का प्रवेश नहीं है। (१०) कर्म कर्मोपचय से भिन्न नहीं है।

XVI (१)-(२) दूसरे के चित्त पर वश नहीं होता। (३) दूसरे को सुख का अनुप्रदान नहीं हो सकता। (४) अधिगति के अनन्तर मनसिकार नहीं होता। (५) रूप हेतु नहीं बन सकता, अव्याकृत है, अहेतुक है और विपाक नहीं है।

XVII (१)-(२) अहेतु का पुष्पोपचय नहीं होता और अहेतु की अकाल मृत्यु सम्भव है। (३) सब कुछ कर्म का फल नहीं है। (४) केवल इन्द्रियवृद्ध ही दुःख नहीं है। (५) आर्यमार्ग को छोड़कर अवशेष संस्कारभाव दुःख नहीं है। (६) संप दक्षिणा-प्रतिग्रह करता है। (७) दक्षिणा-विशोधन करता है, और (८) संप के बारे में यह कहा जा सकता है कि वह साता है, पीता है आस्वादन करता है। (९) संप को दान का बहुत फल है, किन्तु (१०) बुद्ध को दान का भी फल बहुत है। (११) दान प्रति-ग्राहक से शुद्ध होता है न कि दाता से।

XVIII (१)-(२) बुद्ध भगवान् ने मनुष्यों में निवास किया था और धर्म का वस्तुतः उपदेश किया था। (३) बुद्ध भगवान् लोकानुकम्पक एवं महाकरुणा-समा-पत्ति से युक्त थे। (४) उनका उच्चार-प्रभाव अन्य मन्थों का अतिशयन नहीं करता था, क्योंकि वे मन्थभोगी न होकर ओदन-कुल्मास-भोगी थे। (५) एक आर्य-मार्ग से चार आरमभ्य-फलों का साक्षात्कार नहीं होता। (६) एक ध्यान से ध्यानान्तर में साक्षात् संक्रमण नहीं होता। (७) ध्यानान्तरिक अवस्थाएँ नहीं होती हैं। (८) समापन्न शब्द नहीं सुनता। (९) चक्षु रूप नहीं देखता।

XIX (१) अतीत, अनागत और प्रत्युत्पन्न तत्त्वों का ग्रहण नहीं होता। आर्य-मार्ग के अनुसरण से उनकी अनुत्पत्ति होती है। (२) शून्यता संस्कार-स्कन्ध-पर्या-पन्न नहीं है। (३) आरमभ्यफल असंस्कृत नहीं है। (४)-(५) प्राप्तिर्वा और तथता असंस्कृत नहीं है। (६) निर्वाण-धातु अव्याकृत है। (७) पुनर्जन्म के लिए अल्पतम नियामता नहीं है। (८) थड्ढादि पाँच इन्द्रियाँ केवल लोकोत्तर नहीं हैं।

XX (१) अबोधपूर्वक किये हुए पाँच ज्ञानन्तर्य दोषावह नहीं हैं। (२) पुनर्जन्म भी ज्ञानसम्पन्न होता है। (३) निरय में निरयपाल होते हैं। (४) देवलोक में तिथि-वर्तमान नहीं होते। (५) मार्ग पञ्चांगिक नहीं होता। (६) लोकोत्तर ज्ञान द्वापद-वस्तुक नहीं होता।

XXI (१) संगीतियों के द्वारा शासन सब-कृत नहीं है। (२) भूयम्जन त्रैधातुक धर्मों से विविक्त हो सकता है। (३) कोई संयोजन अर्हत् के द्वारा अप्रहीन नहीं होता। (४) "अधिप्राय-श्रद्धि" (यथाकाम सिद्धि) न श्रावक की होती है, न बुद्ध की। (५) बुद्धों में ही नातिरेकता होती है। (६) बुद्ध सब दिशाओं में नहीं होते हैं। (७) — (८) सब धर्म अथवा कर्म मिथ्यात्व या सम्प्रकृत्य में नियत नहीं है, क्योंकि कुछ को अनियत-राशि देवित किया गया है।

XXII (१) परिनिर्वाण में सब संयोजनों का प्रहाण हो जाता है। (२) — (३) कुशलचित्त उत्पन्न कर अर्हत् परिनिर्वृत नहीं होते, और न आनेज्जय में स्थित होकर परिनिर्वृत होते हैं। (४) — (५) गर्भावस्था या स्वप्न में धर्म का अभिसमय नहीं होता और न अर्हत्त्व-प्राप्ति। (६) सब स्वप्न-गत चित्त अव्याकृत नहीं होते। (७) आनेवत-प्रत्ययता होती है। (८) सब धर्म एकचित्त-क्षणिक नहीं है।

XXIII (१) एकाभिप्राय से मैथुन-धर्म प्रतिसेवितव्य नहीं है। (२) अर्हत् के रूप में छिप कर अभनृष्य मैथुन नहीं करते। (३) बोधिसत्त्व दुर्गति में जन्म ग्रहण नहीं कर सकते। (४) राम-प्रतिरूपक अराम नहीं होता। (५) पाँच स्कन्ध, बारह आमतन, अठारह धातु एवं बाईस इन्द्रियाँ परिनिष्पन्न हैं। दुःख परिनिष्पन्न नहीं है।

कषायत्पु, विभाषा और विभज्यवाद—नाटलिपुत्र की संगीति में तिस्समोग्गली-पुत्त ने अशोक से अपने को और भगवान् बुद्ध को विभज्यवादी बताया। शास्वतवाय एवं उच्छेदवाद, संज्ञिवाद एवं असंज्ञिवाद आदि का अस्वीकार करते हुए विभागपूर्वक अथवा विवेकपूर्वक अपने आशय का प्रतिपादन करने के कारण तथागत को विभज्यवादी कहा गया था।

विभज्यवादी के अर्थ होते हैं—जो विवाद के विषय को विभक्त करके बोले अर्थात् जो एकदेशी मत को न ग्रहण कर यन्माभूत विवेकपूर्वक सिद्धांतों का प्रतिपादन करे। महासाधकों में प्रज्ञप्तिवादी विभज्यवादी कहलाते थे। विभाषा में विभज्यवादियों के बहुत-से सिद्धांतों का उल्लेख मिलता है। विभज्यवादियों को यहाँ सूक्तवादियों का विरोधी प्रतिपादित किया गया है अर्थात् वैभाषिक सर्वोस्तिवादियों का विरोधी। ऐसा प्रतीत होता है कि कि विभाषा में विभज्यवादियों को तीक्ष्णकवत् माना गया है और इस नाम से वैभाषिक सर्वोस्तिवादियों के अतिरिक्त अनेक अन्य सम्प्रदायों को सूचित किया गया है। अनुसन्धु के अनुसार विभज्यवादी वे हैं जो कि वर्तमान सत्ता एवं कुछ अतीत की सत्ता स्वीकार करते हैं, किन्तु भविष्य की एवं कुछ अतीत की सत्ता स्वीकार

महोत्तरे'। इस परिभाषा से काश्यपीय विभज्यवादी बन जाते हैं। संप्रभु ने भी वसुवन्धु का समर्थन किया है। वसुवन्धु के अनुसार विभज्यवादी सब संस्कृत धर्मों को अभिष्य होने के कारण सर्वथा दुःखात्मक मानते थे। यह मत प्रशस्तिवादियों का भी था। भण्ड ने विभज्यवादियों को और सर्वोस्तिवादियों को अभिष्य बताया है^{२६}।

स्वविरवादी दर्शन

धर्म-स्वरूप और वर्गीकरण—ज्युत्पत्ति के अनुसार धर्म शब्द का अर्थ 'धारण करने वाला' है। अतएव प्रयोग में धर्म शब्द स्वभाववाची बन गया तथा स्वभाव से ही धर्मेक वस्तु के कार्य और व्यापार के नियत होने के कारण नियमवाची भी। उत्तर-वैदिक-काल में ऋतु के स्थान पर 'धर्म' का प्रयोग होने लगा था, एवं वैदिक परम्परा में प्रकृति और समाज के शाश्वत स्वभावगत नियम का धर्म शब्द अभिधायक था। इस प्रकार 'धर्म' मूलतः स्वभाववाची ही है एवं इसी के अनुसार धर्म की प्रचलित बौद्ध परिभाषा है—जो स्वभाव अथवा स्वलक्षण का धारण करे। बौद्ध चिन्तन में 'धर्म' का कुछ बड़ा स्थान है जो सांख्य-दर्शन में 'तत्त्व' का। सांख्य के समान ही बौद्ध दर्शन में गुण और मूर्ची का भेद अणुपरमाण्विक माना जाता है। अतः बौद्ध मत में धर्म, स्वभाव एवं स्वभाव-प्रतिसंयुक्त वस्तु, दोनों को संकेतित करता है एवं दोनों में अभेद ही बौद्धों का विवक्षित है।

धर्म नामा किन्तु परिगणित है। उनके स्वभाव प्रति विभिन्न एवं प्रति नियत हैं तथापि उनके विषय में सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि वे अनित्य-लक्षण, दुःख-लक्षण एवं अनात्म-लक्षण हैं। सैरात्म्य को बौद्धों ने धर्म का मूल लक्षण भी बताया है। स्वविरवादी अभिधर्म में धर्मों की अनात्मकता का अर्थ है उनका पुरुष अथवा पुद्गल

२६—अनियमसंकोश, ५, पृ० ५२; सु०—वही, पृ० २३-२४।

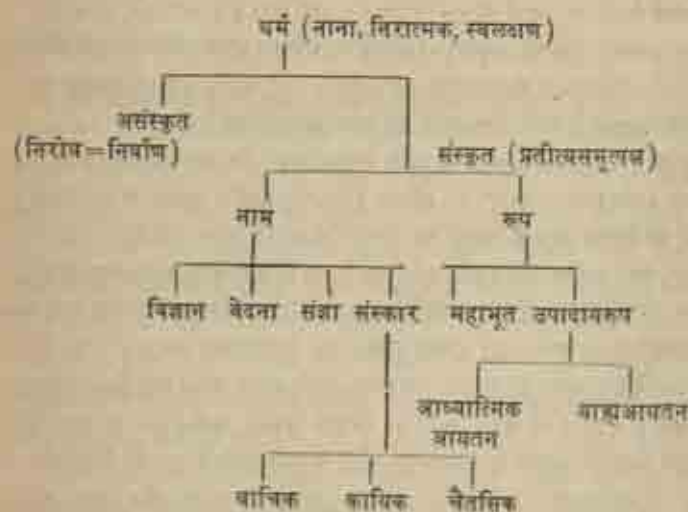
२७—बारो के अनुसार—(१) विभज्यवादी सर्वोस्तिवादी नहीं थे। (२) काश्यपीय विभज्यवादियों के अंग थे। (३) धेरवादी और अतएव मही-शास्त्र भी विभज्यवादियों के अंग थे। (४) महीशास्त्रों से निकले धर्म-गुप्तक भी विभज्यवादियों के अंग थे। (५) ताम्रजाटीय भी इसी वर्ग के थे। (६) विभज्यवादी स्वविरों के उस वर्ग के थे जो कि वाल्मीपुत्रियों से भिन्न और सर्वोस्तिवादियों का विरोधी था। पाटलिपुत्र की संगीति के बाद अवात्सीपुत्रीय स्वविर दो शाखाओं में बँट गये—सर्वोस्तिवादी और विभज्य-वादी। पृ० ०।

से असम्बन्ध, उनकी निरस्त-निर्जीविता। सब धर्मों का र्ण-कारण-भाव से परिणत है। इसलिए उन्हें प्रतीत्यसमुत्पाद अथवा हेतु-प्रभव कहा गया है। कार्यकारण-प्रवाह में पतित होने के कारण धर्मों को 'संस्कार' अथवा संस्कृत-धर्म कहा जाता है। सब संस्कार भंगुर एवं संचलनात्मक हैं, किन्तु यह स्मरणीय है कि संस्कारों का निरोध शान्त है और यही निर्वाण है जो कि अतर्क्य और असंस्कृत-धर्म कहा गया है। अभिधर्म मूलतः एक प्रकार का 'धर्मवाद' है जिसके अनुसार परमार्थ के षट्क केवल अलग-अलग एवं असंकीर्ण-स्वभाव वाले अनित्य और संचलनशील अनेक धर्म माने जाते हैं जो कि प्रतीत्यसमुत्पाद एवं प्रत्ययता के परतन्त्र हैं, किन्तु जिनका निरोध शान्त और अतर्क्य है।

इस दृष्टि के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि धर्म अनित्य है तो क्या उनके स्वभाव अथवा लक्षण भी अनित्य हैं? क्या निर्वाण कुछ धर्मों का अथवा सब धर्मों का निरोध मात्र है, अथवा वह 'निरोध' स्वयं एक पृथक् धर्म है? यदि वह (निर्वाण) स्वयं स्वभाव-प्रतिमप्युक्त पृथक् धर्म है, तो अनित्यत्व एवं प्रतीत्यसमुत्पाद से इसे किस प्रकार विमुक्त माना जा सकता है। इन प्रश्नों के उत्तर एक ओर सर्वास्तिवाद तथा महात्मनिक धर्मतथता एवं शून्यता के सिद्धान्तों में पर्यवसित होते हैं। किन्तु बौद्ध-वादी दक्षे में इस प्रकार की शंकाओं एवं कौतूहल को अधिक प्रश्रय नहीं दिया गया है। प्रत्युत धर्म और धर्मों का जन्म, धर्मों का स्वभाव-पार्थक्य, प्रत्येक धर्म का स्वभाव-प्रतिस्वभाव तथा इस प्रकार से अवधारित धर्मों के प्रतिस्वभावों के रूप में निर्वाणारूप धर्म की पारमार्थिकता, इन सभी सिद्धान्तों का अभ्युपगम दृढ़तापूर्वक किया गया है। धर्म का मूल लक्षण स्वभाव-धारणा है और यही लक्षण निर्वाण में षटता है। निर्वाण का स्वभाव है, किन्तु उसके वस्तुतः अतर्क्य होने के कारण उसका संसार के प्रतिस्वभावों के रूप में निरूपित किया जाता है। इस प्रकार वस्तुतः निर्वाण के निरोध-धर्मादि लक्षण एक प्रकार से 'तटस्थ-लक्षण' ठहरते हैं। अभिधर्मषट्क में निर्वाण को असंस्कृत धातु के रूप में निरूपित किया गया है। मार्ग-वस्तुषट्य-ज्ञान से उसका साक्षात्कार होता है। मार्ग-कलों का वह आलम्बन है, लोकोत्तर है, अप्रमाण्य है, तथा स्वभावतः एकविध होते हुए भी उपाधि-शेष एवं अनुपाधि शेष, इस प्रकार द्विविध उपदिष्ट है। तुष्णा से निष्क्रान्त होने के कारण उसे 'निर्वाण' कहा जाता है।

संस्कृत धर्मों का एक प्राचीन विभाग नाम-रूप अथवा नाम-धातु एवं धर्म-धातु में था। 'रूप' के द्वारा इन्द्रिय-गोचर अथवा भौतिक धर्मों का संकेत होता था। 'नाम' अथवा 'धर्म-धातु' अल्प-सत्ता का चोक्तक या जिसमें चित्त, चैतन्यिक धर्म, एवं मनोभाव-गोचर धर्म संगृहीत थे। 'नाम' को विज्ञान, वेदना, संज्ञा, एवं संस्कार में विभाजित कर

संस्कृत धर्मों की पंच-स्कन्धी निरूपित हुई। रूप-स्कन्ध की इन्द्रियों के अनुसार पाँच व्याप्यात्मिक एवं पाँच बाह्य आयतनों में बाँटा गया। इसके साथ ही रूप का एक दूसरा विभाजन भी विदित था—महाभूतों में, एवं उनके 'उपादान' कर्षों में। मुक्त-पिटक में उल्लेख्य धर्म-विवरण इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है—



शेरपादी अभिधर्म में धर्म के स्वरूप का सामान्य विवेचन कम, किन्तु उनके पुरुष-स्वभावों का निरूपण विस्तार से किया गया है। ऊपर कहा जा चुका है कि धम्मसंघमणि में धर्मों का मुख्य विभाजन उत्तरी द्वैधीपादेयता की दृष्टि से किया गया है। धर्म कुशल, अकुशल-अथवा अब्याहृत हैं। अब्याहृत धर्म स्वयं कोई भोगरूप फल उत्पन्न नहीं करता। निर्वाण, रूप (=भौतिक धर्म), विपाक (=पूर्व कर्म का भोग) एवं विना (असंकल्पपूर्व नैसर्गिक विना) अब्याहृत हैं। कुशल-धर्म कालान्तर में सुख-भोग प्रवास करते हैं एवं अकुशल-धर्म दुःख-भोग। चित्त और चेतसिक धर्म ही कुशल-अथवा अकुशल हो सकते हैं। मोम, द्वेष एवं मोह—ये तीन अकुशलहेतु हैं। इन्हीं के संयोग से चित्त-चेतसिक धर्मों में अकुशलता उत्पन्न होती है। दूसरी ओर अलोभ, अद्वेष एवं अमोह—ये कुशल-हेतु हैं। यह स्पष्ट है कि कुशल, अकुशल एवं अब्याहृत का भेद धर्मों का स्वभावगत भेद नहीं है, किन्तु संसारी पुरुष की दृष्टि से ही धर्मों का उनके पुरुष-कार्यों के अनुसार विभाजन है—कुछ धर्म उन्हें सुख देते हैं, कुछ दुःख देते हैं, कुछ न सुख देते

है, न दुःख देते हैं। आध्यात्मिक साधन की दृष्टि से ही इस प्रकार का वर्गीकरण बहुत महत्त्वपूर्ण है।

धम्मसंगणि में प्रकारान्तर से धर्मों का चित्त, चैतनसिक तथा चित्त-विप्रमुक्त, इन तीन वर्गों में विभाजन उल्लिखित है। चित्त साप्तविध है—चक्षुरादि-विज्ञान, मनोधातु, एवं मनोविज्ञानधातु। चैतनसिक त्रिविध है—वेदनास्कन्ध, संज्ञास्कन्ध, एवं संस्कार-स्कन्ध। चित्त-विप्रमुक्त धर्म दो हैं—रूप, एवं निर्वाण। किन्तु यह विभाजन अभिधम्म-पिटक में अधिक वर्णित नहीं है। उस समय, जैसा कथावाच्य से प्रतीत होता है चैतनसिक धर्मों की पृथक् सत्ता भी विवादास्पद थी। चित्त एवं रूप के दो वर्गों का धम्म-संगणि में विस्तार से वर्णन मिलता है। अभिधम्म के कुछ धर्मों में पुनः प्राचीन स्कन्ध, धातु, एवं आगतन की विस्तृत चर्चा है। संक्षेप में अभिधम्मपिटक में उपलब्ध धर्म-विवरण इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है—(पृष्ठ २५६ देखें)

आचार्य अनिरुद्ध ने चार पारमाधिक तत्त्व स्वीकार किये हैं—चित्त, चैतनसिक, रूप और निर्वाण^{२८}।

चित्त—समस्त लौकिक धर्मों में चित्त दीर्घभूत है जैसे समस्त ओकोत्तर धर्मों में प्रज्ञा। सब कुशल अथवा अकुशल धर्म चित्तपूर्वक हैं धम्मपद की प्रसिद्ध गानाजों के अनुसार । 'मन सब धर्मों में पहले अप्रसर होता है। सब धर्मों में मन श्रेष्ठ है। सब धर्म मनोमय हैं।' सुख और दुःख मनोगत सुम और असुम का इस प्रकार अनुसरण करता है जैसे गानवाही पशु का गानक अथवा पुरुष की छाया^{२९}। तलेश और व्यवधान चित्त का ही सहारा लेकर प्रवृत्त होते हैं। यही कारण है कि चित्त के स्वभाव, प्रवृत्ति एवं उसके कुशल और अकुशल से सम्बन्ध को लेकर अभिधम्म में इतनी चर्चा रही है। जैसे चिध में नाना विचित्र रूप लोक का प्रदर्शन होता है ऐसे ही देव, मनुष्य, तिरय, एवं तिपेक् गतिधर्मों में कर्म, लिंग, संज्ञा, व्यवहार आदि का भेद चित्त-कृत एवं चित्त-मात्र ही है^{३०}। कर्म का मूल चित्त में ही है एवं कर्म से ही समस्त संसार का वृक्ष निरुद्ध हुआ है। इस प्रकार यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है कि संसार का दुःख एवं उससे विमुक्ति दोनों ही चित्त के अधीन हैं।

चित्त और रूप—चित्त और रूप (भौतिक धर्म) का सम्बन्ध पर्यालोचनीय है। चित्त रूप का पञ्चाज्ञात-व्यवयव है। रूप चित्त का पुरोजात-व्यवयव है। चित्त की

२८—अभिधम्मसंगणहो (सारनाथ, १९४१), पृ० १।

२९—सुव्वेदक (मा०), जि० १, पृ० १६।

३०—अट्ठसात्तिनी, पृ० ५४।

प्रवृत्ति के लिए रूप, वस्तु एवं आलम्बन प्रदान करता है। इन्हीं के आधय से सातों विज्ञान-वातु उत्पन्न होती हैं। ऐसे ही रूप, शब्द आदि संबन्धित भौतिक वस्तुओं का आलम्बन कर पाँच प्रकार की विज्ञान-बोधियाँ प्रवृत्त होती हैं। दूसरी ओर चित्त-संभूत कर्म कारिका-रूप की उत्पत्ति में प्रधान कारण है। कर्म और विज्ञप्ति के प्रसंग में चित्त ही देह का संचालन करता है। चित्त की रूप के उद्भवों में से एक स्वीकार किया गया है। रूप का जहाँ अभाव है ऐसे अरूप लोकों में भी चित्त की प्रवृत्ति सम्भव होती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यद्यपि भूतरूप चित्त-निरपेक्ष है एवं चित्त की प्रवृत्ति साधारणतः रूप-सापेक्ष है तथापि कर्म आदि के द्वारा देह का उत्पादक, संचालक एवं उपपट्ट-म्भक होने के कारण चित्त का ही प्राधान्य स्वीकार करना चाहिए। वस्तुतः रूपतत्त्व की पर्याप्त आलोचना वर्तमान पालि साहित्य में उपलब्ध नहीं होती।

सुनपिटक में भी चित्त को रूप से अधिक चंचल बताया गया है। पीछे क्षणभंगवाद के विकसित होने के साथ इस प्रश्न पर विचार किया गया कि यदि रूप-धर्म एवं चित्त दोनों ही क्षणिक हों तो चित्त और रूप का सम्बन्ध पुरुषपाद है। रूपालम्बन के पुरो तरह से अवबुद्ध होने में अनेक चित्त उत्पन्न एवं निरुद्ध होते हैं। यदि चित्त का एक क्षण रूप के एक क्षण के बराबर हो तो रूप का ठीक ज्ञान असम्भव है। अतएव धेर-आदियों ने यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि रूप-क्षण सप्तह (१७) चित्त-क्षणों के बराबर है। इस सिद्धान्त का आधार चित्तबीधि का विवेचन है^{३१}।

बीधिचित्त—बीधि का अर्थ स्फुट-बोध के अभिमुख चित्त-परम्परा है। एक जन्म में उत्पत्ति के समय का प्रथम चित्त जो पिछले जन्म की चित्त-संतति से इस जन्म की चित्तसंगति का सम्बन्ध जोड़ता है, प्रतिसंज्ञान-हेतु होने के कारण प्रतिसंधि-विज्ञान कहलाता है। इसके अनन्तर भवांगचित्त की प्रवृत्ति होती है। भवांग से तात्पर्य उत्पत्ति-भव के अंग अथवा कारण से है जो कि चित्त का एक अर्धचिर्तन अथवा उपचेतन प्रवाह है जैसा सुषुप्ति की अवस्था में उपलब्ध होता है। भवांग का प्रारम्भ प्रतिसंधि-चित्त से होता है एवं अन्त च्युति-चित्त से। भवांग का आलम्बन प्राक्तन जनक-कर्म, कर्मनिमित्त अथवा घटि-निमित्त होता है। १९ प्रकार के भवांग बताये गये हैं^{३२}। इस भवांग-चित्त के खोत को काटकर बीधिचित्त की प्रवृत्ति होती है एवं बीधि के अन्त में

३१-इ०—अभिधम्मसंगहो, पृ० ६४-८५; अट्ठसालिनी, पृ० २१६-३३।

३२-अभिधम्मसंगहो, पृ० ८६।

पुनः भवांग-भात । भवांगचित्त बीड का आत्मविद्यान्त अस्फुट प्रवाह है, बीडचित्त नामा आत्मगतिक एवं बाह्य विषयों के जगत का स्फुट बीड है ।

विषयों का चित्त से सम्बन्ध इन्द्रियों के द्वारों से एवं मन के द्वार से सम्पन्न होता है । इन्द्रिय-द्वार में आलम्बन के प्रकट होने पर वह मनोद्वार में भी प्रकट होता है, जैसे किसी वृक्ष की शाखा पर उतरते हुए पक्षी की छाया पृथ्वी पर भी उतरती है । किन्तु अनेक आलम्बन सीधे मनोद्वार में प्रकट होते हैं । इस प्रकार द्वार-भेद से चित्तबीधि के दो भेद किये जा सकते हैं—पंचद्वार-बीधि एवं मनोद्वार-बीधि । पंचद्वारबीधि में बाह्य विषय का इन्द्रिय-द्वार के साथ सम्पर्क स्थापित होना वस्तुतः बाह्यरूप एवं 'प्रकाशरूप' का संघटन है । इससे विचलित होकर भवांग की आरा का विच्छेद होता है । पहले अण में 'भवांग-बलन' होता है, दूसरे में 'भवांग-उपच्छेद' । तदनन्तर इन्द्रिय-द्वार में प्राप्त आलम्बन की ओर चित्त का आकर्षण अथवा 'आवर्जन' होता है । यह एक असंकल्प-पूर्वक संसांगिक क्रिया है । अनिधर्मपिटक में इसे क्रिया-मनोपातु कहा गया है । और इसे क्रियारूप अर्थात्कृत धर्म बताया गया है । पीछे के दार्शनिक साहित्य में इसका नाम 'मनोद्वारावर्जन' है । आवर्जन के अनन्तर तद्विषयाकार चक्षुरादिबिज्ञान की उत्पत्ति होती है । चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्र-विज्ञान आदि विज्ञान सर्वथा निर्विकल्पक, विशुद्ध ऐन्द्रिय-संवेदन हैं । ये विज्ञान प्राक्तन कुशल अथवा अकुशल धर्मों के विपाक होते हैं और अतएव अर्थात्कृत धर्म हैं । इन विज्ञानों के निरोध के अनन्तर 'सम्पटिच्छन' अथवा 'विपाक-मनो-भातु' की उत्पत्ति होती है । स्थूल रूप से कहा जा सकता है कि यदि पंच-विज्ञान आलम्बनों की ऐन्द्रिय स्फूर्ति है तो 'सम्पटिच्छन' उन आलम्बनों का मन के द्वारा प्रथम ग्रहण । इसके अनन्तर मन के द्वारा आलम्बन के स्वरूप-निर्णय का प्रयत्न होता है जिसे 'मन्तीरण' कहा गया है । अनिधर्म के अनुसार यह अहेतुक विपाक मनोविज्ञान-भातु है । इसके अनन्तर मन के द्वारा आलम्बन का 'व्यवस्थापन' होता है । 'व्यवस्थापन' के अनन्तर 'जवन'—चित्त की उत्पत्ति होती है । जवन के पूर्ववर्ती चित्त विपाक-रूप अथवा क्रिया-रूप होने के कारण अर्थात्कृत धर्म है । 'जवन' चित्त आलम्बन की ओर चेतना-प्रतियोग्यक्त सम्मुखीभाव है । जवन-चित्त की अधिकतया सात बार उत्पत्ति होती है अथवा होती ही नहीं । कामाधर-जवन-चित्तों के २९ भेद बताये गये हैं । ज्ञान का कुशल अथवा अकुशल कर्म से सम्पर्क जवन-चित्त में ही होता है । इसके अनन्तर 'तदालम्बन' चित्त के दो अण होते हैं । तदालम्बन-चित्त जवन-चित्त के आलम्बन का अनुसरण करता है । मानो इसका अवशिष्ट संस्कार हो । इसके अनन्तर पुनः भवांग-भात होता है । भवांग के उपच्छेद से बीधि की प्रवृत्ति होती है,

वीथि के पर्ववसान पर पुनः भवांग का पूर्ववत् प्रवाह । इसी प्रकार जन्म के प्रतिस्म-चित्त से प्रारम्भ कर मृत्यु के स्मृति-चित्त तक भवांग का श्रोत और वीथि का उन्मेष चलता रहता है ।

भवांग-चलन के दो क्षणों से पहले एक क्षण अतीत-भवांग का गिनने पर 'तदालम्बन' के अन्त तक १७ चित्त-क्षणों का कम ऊपर वीथि-चित्त में निदिष्ट है । प्रत्येक क्षण का उत्पाद, स्थिति, और भंग होता है । किन्तु यह पूरी चित्तपरम्परा आलम्बन के 'वृत्ति-सहत्' होने पर ही सम्पन्न होती है । यदि आलम्बन केवल 'महत्' हो तो 'जवन' के अन्त में ही भवांग-पात हो जाता है, 'तदालम्बन' की उत्पत्ति नहीं होती । जब 'व्यवस्थापन' की दो-तीन बार प्रवृत्ति के अनन्तर ही भवांग-पात हो जाता है और 'जवन' का भी उत्पाद नहीं होता, तब आलम्बन 'परित' अथवा कल्प कहलाता है । 'वृत्ति-परित' आलम्बन होने पर भवांग-चलन मान होता है, वीथि-चित्त का उत्पाद नहीं होता ।

मनोद्वार में विभूत आलम्बन के उपस्थित होने पर भवांगचलन, मनोद्वारावर्जन, जवन, एवं 'तदालम्बन' क्रमशः उत्पन्न एवं निरुद्ध होते हैं । आलम्बन अधिभूत होने पर 'तदालम्बन' का उत्पाद नहीं होता ।

ध्यान के प्रसंग में वीथिचित्त को कुछ विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं । ध्यान में निष्पन्न बलघट्ट सभाधि अर्पणा कहलाती है । इसमें आलम्बन सदा अतिविभूत होता है किन्तु अर्पणाजवन के अतिसन्तत होने के कारण तदालम्बन-चित्त का भी उत्पाद नहीं होता । अर्पणा भी भवांग-श्रोत के समान प्रवृत्त होती है । इस अर्पणावीथि में ज्ञानसम्प्रयुक्त आठ कामायचर जवनचित्तों में से कोई एक कुशलचित्त अथवा क्रियाचित्त तीन बार अथवा चार बार उत्पन्न होकर निरुद्ध होता है । ये चित्त क्रमशः परिकर्म, उपचार अनुलोम एवं गौत्रभू नाम से प्रसिद्ध हैं । इनके अनन्तर चतुर्थ एवं पंचम जवनचित्त अर्पणावीथि में अवतीर्ण होता है । यह जवन छव्नीस महद्गत एवं लोकोत्तर जवनों में से एक होता है । इसके अनन्तर अर्पणा के जवनचित्तों का प्रवाह प्रवृत्त होता है । तदन्तर भवांगपात पुनः घटता है । यदि सौमनस्य-सहगत जवनचित्त के अनन्तर अर्पणा का प्रारम्भ हो तो वह भी सौमनस्य-सहगत होती है तथा उपेक्षापूर्वक होने पर वह उपेक्षासहगत होती है । कुशल जवनचित्त के अनन्तर कुशल जवन एवं तिचले तीन फल, तथा क्रियाजवन के अनन्तर क्रियाजवन एवं जह्वा-फल अपित होते हैं ।

वीथिचित्त के अवबोधन के लिए 'आश्लोपमा' उदाहृत की गयी है—मान लीजिए फले हुए आम्रवृक्ष के नीचे सिर टुककर कोई पुरुष सोबा हुआ हो एक अपने पास धिरे

एक आम के छव्व को मुनकर सिर से बस्त्र हटाकर आँख खोलकर उसे देखे, उठाने और परखने तथा उसे पका हुआ जानकर उसका परिभोग करे और फिर मुख में उसके शेष स्वाद का अनुभव करता हुआ पुनः सो जाय। ऐसी स्थिति में पहली निद्रा का समय भवांग का प्रवाह है, फल का गिरना आलम्बन के द्वारा प्रसाद-संधट्टन है, उस शब्द से जागना जाग्रतन है। आँख खोलकर देखना चक्षुर्विज्ञान आदि विज्ञानों की प्रवृत्ति है। उठा लेना सम्पटिच्छन है। परखना संतीरण है। पके होने का निश्चय व्यवस्थापन है, परिभोग ज्ञपन है, पीछे के स्वाद का अनुभव तदालम्बन है। पुनः निद्रा की प्रवृत्ति भवांगपात है^{११}।

चैतसिक—ऊपर कहा जा चुका है कि चित्त के ८९ भेदों का प्रदर्शन धम्मसंगणि में स्पष्ट किया जा चुका था, किन्तु वहाँ चैतसिकों के सामान्यतः उल्लेख में उन्हें केवल तीन ही भागों में बाँटा गया है, यद्यपि नाना चैतसिक धर्मों का विशेषतः उल्लेख उपलब्ध होता है। जैसा कथावस्तु से ज्ञात होता है उस समय कुछ सम्प्रदाय चैतसिकों की सत्ता का ही प्रतिपाद करते थे। चैतसिकों का विकसित विवरण बृद्धघोष के समय तक निश्चित हो चुका था। इस विकास में संस्कारस्कन्ध को अनेक धर्मों में बाँट दिया गया था। चैतसिक चित्त से सम्प्रयुक्त धर्म हैं। वे चित्त के साथ उत्पन्न होते हैं, एवं चित्त के साथ निरुद्ध होते हैं। उनके आलम्बन और वस्तु भी चित्त के आलम्बन और वस्तु से अभिन्न होते हैं। चैतसिक धर्म वाचन बताये गये हैं जिनमें वेदना और संज्ञा के अतिरिक्त पचास धर्मों में विभक्त संस्कारस्कन्ध परिगणित है। सात चैतसिक धर्म सर्वचित्त-साधारण हैं—स्पर्श, वेदना, संज्ञा, चेतना, एकाग्रता, जीवितेन्द्रिय तथा मतसिकार। स्पर्श चित्त एवं आलम्बन को संधटित करता है। वेदना के सुविहित तीन भाग हैं—मुख, दुःख, अदुःखानुख। आलम्बन का संज्ञान ही संज्ञा है। चेतना संकल्पारमक त्रैरस धर्म है। एकाग्रता म्यूनाधिक मात्रा में सभी चित्तों में पायी जाती है। मतसिकार का अर्थ नवीन आलम्बन की ओर मन का अग्रधान है। ७ चैतसिक धर्म प्रकीर्णक कहे जाते हैं। ये बहुत से चित्तों के सहयत होने के कारण इस प्रकार कहे गये हैं—इनकी चित्त के साथ सदा उपस्थिति नहीं होती। चित्तक, विचार, अधिभोग, वीर्य, प्रीति एवं छन्द—ये ही प्रकीर्णक हैं। इन दोनों विभागों के १३ चैतसिक धर्म अल्प-समान कहे जाते हैं क्योंकि ये स्वतः न कुशल हैं न अकुशल। किन्तु कुशल अथवा अकुशल चित्त के सम्प्रयोग से स्वयं भी कुशल अथवा अकुशल हो जाते हैं। चोदह चैतसिक

अकुशल है—मोह, अहं, अनवबुद्धि, अज्ञान, लोभ, द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य, कौकृत्य, स्थान, मूढ़, एवं विचिकित्सा । शोभन चैतन्यिक पञ्चीस है । ये केवल कुशल चित्तों में पाये जाते हैं । इनमें १९ चैतन्यिक शोभन-साधारण कहे जाते हैं—श्रद्धा, स्मृति, ह्री, अवबुद्धि, अलोभ, अद्वेष, तत्रमध्यस्थता, काम-प्रसन्न, चित्तप्रसन्न, कायलघुता, चित्तलघुता, कायमृदुता, चित्तमृदुता, कायकर्मण्यता, चित्तकर्मण्यता, कायप्रागुप्यता, चित्तप्रागुप्यता, काम-अजुता, एवं चित्तअजुता । शोभन चैतन्यिकों में तीन विर-
तियाँ—सम्पक्वाक्, सम्पक्कमान्त एवं सम्पूग-आवीव—दो अप्रमाण—करुणा, एवं
मुदिता—एवं प्रज्ञेन्द्रिय सम्मिलित है ।

अध्याय ६

हीनयान के सम्प्रदाय

सर्वास्तिवादी—सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय, स्वविर शाखा से बालीपुत्रीयों के पश्चात् विभाजित हुआ था। अशोक के समय की संगीति में भोग्गलीपुत्र ने सर्वास्तिवाद का भी लक्षण किया था। परमार्थ के अनुसार कात्यायनीपुत्र की मृत्यु पर स्वविर दो भागों में बंट गये—स्वविर और सर्वास्तिवादी। इस विभेद का कारण उन्होंने यह बताया है कि स्वविर निकाय सूत्रों को ही मानते थे, इसके विरुद्ध सर्वास्तिवादी अभिधर्म की पिटकों में सर्वश्रेष्ठ स्वीकार करते थे। एक दूसरी व्याख्या के अनुसार विभेद का कारण यह था कि कुछ स्वविरों ने महादेव की पाँच 'वस्तुओं' का तिरस्कार किया था। किन्तु ये दोनों ही व्याख्याएँ अशुद्ध हैं। इतना निश्चित है कि अशोक के समय में मध्यान्तिक ने कश्मीर में अपना सम्प्रदाय स्थापित किया। मध्यान्तिक को मथुरा के प्राचीन आवास से आया कहा गया है, किन्तु यह सन्दिग्ध है। पहली-दूसरी सदी ई० में कनिष्क ने इन सर्वास्तिवादीयों का समर्पण किया और उस समय वे गन्धार, कश्मीर, मथुरा और आबस्ती में विद्यमान रूप से पाये जाते थे। परम्परा के अनुसार कनिष्क के समय में सर्वास्तिवादीयों की संगीति हुई थी जिसमें उन्होंने अभिधर्म-महाविभाषा की रचना की^१। इस संगीति में पार्श्व प्रधान बने थे। पार्श्व कनिष्क के द्वारा स्थापित गुरुपुर के आश्रम में महाविहार के वासी थे। इस संगीति में पार्श्व के साथ ५०० अर्हंत और अनुभिज के साथ ५०० बोधिसत्व थे। यह विवरण महायानियों का भी भाग-ग्रहण सूचित करता है, किन्तु अधिक विश्वास्य नहीं प्रतीत होता। संगीति का स्थान कश्मीर का कुण्डलवन बिहार अथवा जालन्धर का कुवन बताया गया है^२। कहा जाता है कि इस संगीति में अष्टादश-निकायों में से सभी में प्रामाणिकता मानी गयी एवं इसके पहले अनिवद्ध आगम भी लिखे गये। त्रिपिटक पर विभावाएँ रखी गयीं

१-वाट्सं, जि० १, पृ० २७०-७८।

२-तारावाम, पृ० ५९-६०।

जिनमें प्रत्येक शास्त्राह्निका थी। इन्हें ताम्र-पट्ट पर उत्कीर्ण कर स्तूप में रखा गया। अभिधर्ममहाविभाषा में अनेक पुराने सर्वास्तिवादी आचार्यों के नाम मिलते हैं। इनमें मुख्य हैं—पादबं, वसुमित्र, धोषक, बुद्धदेव, धर्मजात और एक अन्य आचार्य जो कि केवल भद्रन्त पद से संबोधित किये गये हैं। और भी अनेक आचार्यों के नाम यज्ञ-तज महाविभाषा में प्राप्त होते हैं जैसे कुशवर्मा, धोषवर्मा, इव, धरदत्त, धर्मनन्दी, धार्मिक, सुभूति, पूर्णास, वक्कुल, वामक, अमदत्त, संघवसु और बुद्धरक्षित। इस समय सर्वास्तिवादियों में अनेक अवान्तर सम्प्रदायों की सत्ता भी महाविभाषा से सूचित होती है—जैसे वुस्तवादी, अभिधर्माचार्य, कश्मीराचार्य, गन्धाराचार्य, पादचातरीय, एवं बहिर्येक। विभाषा के अनुयायी वैभाषिक सर्वास्तिवादी कहलाये।

वैभाषिकों के दो भेद प्रधान थे—काश्मीर-वैभाषिक, एवं पादचात्य-वैभाषिक जिनका केन्द्र गन्धार में था। पादचात्यों के अनुसार बोधिसत्त्व पहले संघ अवस्था में निरोध-समापत्ति का लाभ कर अनन्तर बोधि प्राप्त करते हैं। काश्मीरक पहले बोधि की प्राप्ति और उसके साथ निरोध-समापत्ति मानते थे। पादचात्यों का एक अवान्तर भेद भी था—मृदु और मध्य। मृदु पादचात्य ब्राह्मणों का अस्तित्व स्वीकार करते थे एवं पुद्गल को न निर्य-लक्षण, न अनिर्य-लक्षण मानते थे। मध्य पादचात्य ध्यान के विषय में विशिष्ट मत रखते थे।

तारानाथ के अनुसार धर्मजात, धोषक, वसुमित्र एवं बुद्धदेव वैभाषिकों के प्रधानतम चार आचार्य थे। इन सबका महाविभाषा की रचना में हाथ था। तारानाथ के अनुसार धोषक तुषार जाति के आचार्य थे। कहा जाता है कि संगीति के बाद उन्हें अस्मा-परान्तक के राजा ने बुला लिया था। चीनी भाषा में उपलब्ध उनके एकमात्र ग्रन्थ अभिधर्माभूत का हाल में संस्कृत पुनरुद्धार किया गया है। धोषक लक्षणान्वयात्ववादी थे। उन्होंने कुल ६१ धर्मों का परिगणन किया है—चित्त १, रूप १, चित्तसम्प्रयुक्त ४०, चित्त-विप्रयुक्त १६, असंस्कृत ३।

एक स्वविर धर्मजात ने उद्दान-अर्ग का संग्रह किया था। इन्हें या अन्य धर्मजात की भावान्वयात्ववादी कहा गया है। वसुमित्र की प्रकरणपाद का कर्ता बताया गया है और अवस्थान्वयात्ववाद का प्रवर्तक। यह स्मरणीय है कि धर्मजात आदि नाम सम्भवतः एकाधिक आचार्यों के थे।

३-बारो, पृ० १३२-३३।

४-तारानाथ, पृ० ६७।

५-तु०—तारानाथ, पृ० ६८; तु०—वाट्सं, जि० १, पृ० २१४-१५।

धर्मों के अभिधर्मसार ने बहुत प्रचार और ख्याति का लाभ किया। लगभग ३२० ई० में एक धर्मशास्त्र ने इस ग्रन्थ का एक विस्तृत संस्करण प्रस्तुत किया। इस पर वसुबन्धु ने भी एक व्याख्या लिखी थी। अभिधर्मकोश के पहले अभिधर्मसार ही वैभाषिकों का मुख्य ग्रन्थ था।

वसुबन्धु—वसुबन्धु की तिथि के विषय में दो सुविदित मत हैं—तकाकुसु का मत जिसके अनुसार वसुबन्धु चौथी शताब्दी ई० के थे, तथा नोएल पेरी का मत जो उन्हें तीसरी शताब्दी ई० में रखता है। हाल में पेरी का फ्राउडाल्जर ने प्रबल समर्थन किया है।^१ इस मतभेद के निराकरण के लिए कुछ विद्वानों ने यह भी सुझाया है कि वसुबन्धु नाम के दो आचार्य थे जिनमें पूर्ववर्ती ४ वीं शताब्दी के एवं परवर्ती ५वीं शताब्दी के थे। यशोमित्र के साक्ष्य से दो वसुबन्धुओं की सत्ता निश्चित है, किन्तु परमार्थ, व्याख्याएं एवं ताराताय के विवरणों में उनका भेद बिलीन हो गया है।

परमार्थ का जन्म उज्जयिनी में ५०० ई० में हुआ था। वे ५४६ ई० में चीन आये और ५६९ ई० में केन्टन में उनका देहान्त हुआ। उन्होंने एक वसुबन्धु-चरित की रचना की जो चीनी में उपलब्ध है। इस ग्रन्थ की परमार्थ के द्वारा अन्य-रचित ग्रन्थ का चीनी अनुवाद भी बताया गया है, और यह भी कहा गया है कि सम्भवतः वसुबन्धु की यह जीवनी परमार्थकृत नहीं है बल्कि उनके किसी शिष्य ने उनसे सुनी बातों के आधार पर उसकी रचना चीनी में की। इसके अनुसार वसुबन्धु का समय परिनिर्वाण से ११०० वर्ष पश्चात् था। वे पुरुषपुर के निवासी थे और कौटिक नाम अथवा गोत्र के ब्राह्मण के पुत्र थे। असंग उनके बड़े भाई थे और विरिञ्चिवत्स छोटे। वसुबन्धु बृद्धमित्र के शिष्य थे। सांख्य आचार्य विन्ध्यवासी के द्वारा गुरु के बाद में पराजित होने पर वसुबन्धु ने विन्ध्यवासी के सम्पन्न के लिए परमार्थ सप्ततिका नाम का ग्रन्थ रचा। उस समय वसुबन्धु अयोध्यावासी कहे गये हैं। उन्होंने अभिधर्मकोश की रचना की एवं व्याकरण वसुराज को पराजित किया। किन्तु वैभाषिक आचार्य संधभट्ट के साथ अपनी वृद्धता के कारण वाद के लिए वे सहमत नहीं हुए। राजा विक्रमादित्य की उन पर कृपा थी एवं उनके पुत्रराज बालादित्य के वे शिक्षक थे। शासक बनने पर बालादित्य ने उन्हें अयोध्या अपनी राज-मना में बुला लिया। वृद्धावस्था में असंग की प्रेरणा से

१—फ्राउडाल्जर, जॉन डि डेट ऑब् दि बुचिस्ट मास्टर ऑब् दि लॉ वसुबन्धु;
तकाकुसु, जे० आर० ए० एस० १९०५, पृ० ३३ प्र०, वही, १९१४, पृ० १०१३
प्र०, पुनश्च दे०—बीजे।

वे महायानी इन मयें तथा उन्होंने महायान के अनेक ग्रन्थों की रचना की। ८० वर्ष की अवस्था में उन्होंने अयोध्या में देह-त्याग किया।

इवाञ्च्वांग के अनुसार^१ वसुबन्धु असंग के भई थे। असंग गन्धार के निवासी थे और परिनिर्वाण से एक सहस्र वर्ष के भीतर उत्पन्न हुए थे। उन्होंने वसुबन्धु को हीनयान से महायान में परिवर्तित कराया। इवाञ्च्वांग ने असंग और वसुबन्धु से सम्बन्ध रखने वाले कई संधाराम और स्तूप अयोध्या में देखे।

यह स्मरणीय है कि इवाञ्च्वांग के सम्प्रदाय में धर्मपाल आदि ६ठी शताब्दी के आचार्यों को परिनिर्वाण के ११०० वर्ष के अनन्तरभाषी बताया गया है। इसमें यह अनुमान करना स्वाभाविक है कि इवान्च्वांग के 'परिनिर्वाण से १००० वर्षों के भीतर' से संकेत पाँचवीं शताब्दी ई० की ओर मानना चाहिए। पश्चान्तर में छठी शताब्दी ई० के परमार्थ अपने को परिनिर्वाण से १३ वीं शताब्दी में मानते थे अतएव उनके मत से निर्वाणतः १२ वीं शताब्दी के वसुबन्धु पाँचवीं शताब्दी ई० में रखे जाने चाहिए। इस प्रकार पाँचवीं शताब्दी के पक्ष में परमार्थ और इवाञ्च्वांग दोनों का ऐकमत्य है। 'विक्रमादित्य' और 'बालादित्य' की समकालीनता भी वसुबन्धु के पञ्चम-शतकीय होने का समर्थन करती है। विक्रमादित्य कदाचित् स्कन्दगुप्त ही और बालादित्य नरसिंह गुप्त। इवाञ्च्वांग ने सद्धर्म के अनुकूल बालादित्य नाम के एक गुप्त सम्राट् का उल्लेख किया है किन्तु वे मिहिरगुप्त के समकालिक होने के कारण परपक्षीं से। तिब्बती परम्परा वसुबन्धु को दिङ्नाग का गुरु बताती है। वसुबन्धु को पंचम शताब्दी में रखने से यह अनुभूति संगत हो जाती है।

दूसरी ओर एक प्रचलित अनुभूति वसुबन्धु को परिनिर्वाण से ९०० वर्ष पश्चान्तर रखती है। इसका समर्थन इस बात से होता है कि कुमारजीव (ई० ३४४-४१३) ने अपने गुरु (?) सूर्यसोम से वसुबन्धु-रचित 'सद्धर्मपुण्डरीककोपदेश' प्राप्त किया था। वसुबन्धु कृत आर्यदेव के शतशास्त्र की व्याख्या का कुमारजीव ने ४०४ ई० में चीनी अनुवाद प्रस्तुत किया था एवं वसुबन्धु कृत बोधिविस्तीर्णादनशास्त्र का अनुवाद उन्होंने ४०५ ई० में किया। बोधिविस्तीर्ण ने वसुबन्धु के वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिताशास्त्र की वज्रपि-कृत व्याख्या का ५३५ ई० में चीनी अनुवाद करते हुए वसुबन्धु को २०० वर्ष प्राचीन बताया है। इन साक्ष्यों से एक महायान-ग्रन्थों के रचयिता वसुबन्धु का समय चौथी शताब्दी ईसवीय प्रमाणित होता है। ये साक्ष्य निर्विवाद तथी हैं तथा चौथी शताब्दी के इस वसुबन्धु को यथोचित ने स्पष्ट ही कोशकार से भिन्न माना है।

अभिधर्मकोश में आठ कोशस्थान हैं एवं सम्पूर्ण ग्रन्थ ६०० कारिकाओं में निबद्ध है। वसुवन्धु ने स्वयं ही इन कारिकाओं पर भाष्य भी लिखा था। मूल संस्कृत ग्रन्थ की एक पाण्डुलिपि राहुल सांकृत्यायन अपने साथ तिब्बत से लाये थे, किन्तु वह अप्रकाशित है। आठ कोशस्थानों के विषय इस प्रकार हैं—धातु, इन्द्रिय, लोक-धातु, कर्म, अनुसंग, आर्यपुद्गल, ज्ञान एवं ध्यान। इनके अतिरिक्त पुद्गलवाद के खण्डन के लिए एक अतिरिक्त कोशस्थान की भी परिशिष्ट के रूप में रचना की गयी थी।

अभिधर्मकोश बौद्धधर्म का विस्वातन्त्र एवं सर्वाधिक उपयोगी आकर-ग्रन्थ है। यशोमित्र-कृत इसकी स्फुटार्थ नाम की व्याख्या संस्कृत में उपलब्ध है। वसुवन्धु का शुक्राक्ष सौधान्तिक मत की ओर था। उनके खण्डन के लिए संघभद्र नाम के सुप्रसिद्ध वैभाषिक आचार्य ने दो ग्रन्थ रचे—न्यायानुसारशास्त्र एवं अभिधर्म-कोश-शास्त्र-कारिका-विभाष्य। पीछे यशोमित्र के अतिरिक्त गुणमति, पूर्णवर्धन, रामधदेव एवं स्थिरमति ने कोश पर व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं। छठीं शताब्दी के प्रारम्भ में गुणमति ने नालन्दा में लक्षणानुसार-शास्त्र की रचना की। पीछे गुणमति बलभी चले गये जहाँ स्थिरमति उनके शिष्य हुए। स्थिरमति ने पूर्णवर्धन की शिक्षा दी और पूर्णवर्धन ने जितमित्र और शीलेन्द्रबोधि को। यह स्मरणीय है कि वसुवर्मा का चतुस्सत्य शास्त्र पाँचवीं शताब्दी में रचा गया था।

सर्वास्तिवाद-विस्तार और आगम—स्वाध्वांग ने सातवीं शताब्दी में सर्वास्तिवादिओं को अनेक स्थानों में पाया। उन्होंने सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के स्यालकोट के निकट तमसा वन में २०० भिक्षु, मतिपुर में ५००, कनौज के निकट नवदेव कुल में ५००, हृष्यमुख में २००, वाराणसी में २,०००, नालन्दा के निकट २००, हिरण्यपर्वत में १,००० एवं भित्तमल में १०० भिक्षु पाये थे। भारत की सीमा के बाहर भी कराचहर में २,०००, कुचा में ५,०००, बाहलीक में १,०००, बलख और बामियान के बीच ३००, कब्र में ५०० और बु-सा में १,००० और काश्गर में १,००० सर्वास्तिवादी भिक्षु उन्हें मिले थे। स्वाध्वांग ने कस्मीर में १०० बिहारों में ५,००० सर्वास्तिवादी भिक्षुओं को पाया था। और भी अनेक स्थलों पर उनके बताये हुए बिहारों में सर्वास्तिवादी अवश्य रहे होंगे। उद्दिमान और गन्धार में जोकि पहले सर्वास्तिवादिओं के प्रधान प्रदेश थे और अब उजड़े हुए थे, स्वाध्वांग ने २५०० बिहारों के अवशेष देखे जहाँ कि पहले प्रायः लगभग ३०,००० भिक्षु रहते थे। सातवीं शताब्दी के अन्त में इ-चि ने

सर्वास्तिवादियों का भौगोलिक विवरण इस प्रकार दिया है—'उत्तर अथवा कश्मीर और उसके निकटवर्ती प्रदेश विशेष रूप से उन्हीं के हैं। मगध में वे प्रचुर हैं और पूर्ब की ओर अन्य सम्प्रदायों के साथ-साथ उनका भी परिचय प्राप्त होता है। उनके कुछ प्रतिनिधि गुजरात, मालवा और दक्षिण में भी पाये जाते हैं। दक्षिण चीन में उनका महत्व है और चंपा में भी वे मिलते हैं'। तारानाथ के अनुसार पाल साम्राज्य काल में मूलसर्वास्तिवादियों का अस्तित्व था।

कुछ उत्तरकालीन ग्रन्थों के अनुसार सर्वास्तिवादी राहुलमित्र को अपना प्रधान आचार्य मानते थे। उनकी भाषा संस्कृत थी, उनके चिह्न उत्पल, पद्म, मणि और पर्ण थे। उनके नाम प्रायः मति, श्री, प्रभा, कीर्ति और भद्र में समाप्त होते थे। उनकी संघाटी में वैशिष्ट्य का उल्लेख किया गया है। उनके वस्त्र काले अथवा गहरे लाल रंग के होते थे। इ-चि के अनुसार उनकी संघाटी का निचला भाग एक सीधी रेखा में कटा होता था। वे भिक्षा को सीधे हाथ में ले लेते थे।

सर्वास्तिवादियों का विपिटक इस प्रकार है—'विनय-पिटक, जिसमें प्रातिमोक्ष, सप्तधर्म, अष्टधर्म, लुट्टक-परिवर्त, भिक्षुणी-विनय, एकोत्तरधर्म, उपासिपरिपुच्छा, एवं कुशलपरिवर्त संगृहीत हैं; सूत्र-पिटक, प्रचलित परम्परा के अनुसार पहले तीन पादों की रचना शारिपुत्र और मीद्गल्यायन ने बुद्ध के जीवन-काल में की थी। चौथे पाद की रचना परिनिर्वाण से सौ वर्ष बाद हुई थी, पाँचवें और छठे की तथा ज्ञानप्रस्थान की परिनिर्वाण से ३०० वर्ष बाद जिसमें दीर्घगम, मध्यमागम, संयुक्तागम एवं एकोत्तरागम हैं; तथा अभिधर्मपिटक जिसमें ज्ञानप्रस्थान, संगीतिपर्यायवाद, धर्मस्कन्धपाद प्रज्ञप्तिपाद, विज्ञानकायपाद, धानुकायपाद एवं प्रकरणपाद गिने गये हैं।

(१) ज्ञानप्रस्थानसूत्र की रचना आर्यकाल्यायनीपुत्र ने की थी।'। शेष ६ ग्रन्थ इसके 'पाद' माने गये हैं। ज्ञानप्रस्थान आठ खण्डों में और ४४ वर्गों में इस प्रकार विभक्त है—(१) संयुक्तग्रन्थ—लौकिकाग्र वर्ग (लोकोत्तर), ज्ञान०, पुद्गल०,

९-३०—भीषे ।

१०—बुधोन, जि० २, पृ० १०० ।

११—सर्वास्तिवादियों के साहित्य पर ३०—ए० सी० बनर्जी, सर्वास्तिवाद लिटरेचर, तकाकुमु, जे० पी० टी० एल० १९०५, पृ० ६७ प्र० ।

१२—सु०—स्कटार्थ, पृ० ११ ।

अज्ञा०, अहीकणा०, रूप० आदि; (२) संयोजन; (३) ज्ञान-दीप्त और अदीप्त, सम्प्रज्ञ और मिथ्यादृष्टि, अभिज्ञा, आर्यसत्य, आर्यपुद्गल; (४) कर्म-अकुशल, हिंसा, विजगति एवं अविजगति आदि; (५) चतुर्मेहामृत०; (६) इन्द्रिय—२२ इन्द्रियाँ, वैधातुक, आदि; (७) समाधि; (८) दृष्टि-समूहस्वप्न, काम, संज्ञा आदि। कारायायनीपुत्र परिनिर्वाण के ३०० वर्ष बाद बताये गये हैं।

(२) कहा जाता है कि सर्वातिपयोगपाद की रचना महाकोण्डिल ने द्वितीय संगीति के अन्तर की थी। इसकी तुलना दीध-निकाय की संगीति एवं इसुत्तर सुत्तान्त से की गयी है। इसके विषय इस प्रकार है—(१) निदान—ग्रन्थ का उपोद्घात, (२) एक धर्म, (३) द्विधर्म—(११) दशधर्म, (१२) उपसंहार—ग्रन्थ-स्तुति।

(३) धर्मस्कन्ध को सर्वास्तिवादी अभिधर्म का प्रधानतम ग्रन्थ कहा गया है। इसके २१ विभागों में मुख्यतया आध्यात्मिक प्रगति के मार्ग और उससे सम्बन्ध रखनेवाले धर्मों का विवरण है। इसकी विमुद्दिमन् से तुलना मंजारी गयी है।

(४) प्रज्ञप्तिशास्त्र महामौद्गल्यामन की रचना बतायी जाती है। इसके तिप्पती अनुवाद के तीन भाग हैं—लोकप्रज्ञप्ति, कारण-प्रज्ञप्ति और कर्म-प्रज्ञप्ति।

(५) विज्ञानकामपाद के विषय में कहा गया है कि उसकी रचना परिनिर्वाण के १०० वर्ष बाद आवस्ती के निकट अर्हत् देवशर्मा ने की थी। ग्रन्थ ६ भागों में विभक्त है। पहले भाग में जतीत और अनागत धर्मों की सत्ता के विषय में मौद्गल्यामन के मत का स्पष्टन किया गया है। यह मौद्गल्यामन कदाचित् मौद्गलीपुत्र रहे हों। ऐसी स्थिति में इस ग्रन्थ का समय अशोक के अनति दूर मानना चाहिए। दूसरे में पुद्गल और शून्यता का आलोचन है, तीसरे में हेतुप्रत्यय का, चौथे में आलम्बन प्रत्यय का, पाँचवें में विविध विषय हैं, छठे में अर्हत् के चित्त के विषय में चर्चा है।

(६) धातुकाम की रचना परिनिर्वाण के ३०० वर्ष बाद वसुमित्र के द्वारा बतायी गयी है। यथोक्ति और बुद्धो ने पूर्ण की ही इसका रचयिता कहा है। वस्तुतः यह ग्रन्थ वसुमित्र के प्रकरणपाद के चतुर्थ भाग का विस्तार है। पालि की धातुकपा से भी इसकी तुलना की गयी है। इसके दो खण्डों में मुख्यतया चैतसिक धर्मों का विवेचन है।

(७) प्रकरणपाद की वसुमित्र ने पुष्करावती में रचना की थी। वसुमित्र कनिष्क के समकालीन थे। कदाचित् इस ग्रन्थ का मूल नाम अभिधर्म-प्रकरण था। इसके आठ भाग हैं। पहले में रूप, चित्त, चित्तधर्म, चित्तविप्रयुक्त संस्कार, एवं असंस्कृतधर्म का विवरण है, दूसरे में दस ज्ञानों का, तीसरे में आद्यतनों का, चौथे में धातु, आद्यतन, स्कन्ध, एवं चैतसिकों का पाँचवें में अनुशयों का, छठे में विज्ञेय, अनुमेय आदि धर्मों का, सातवें

मे शिक्षापद, आमप्यफल आदि पर अनेक ग्रन्थों का, तथा आठवें में उपसंहृत संक्षेप है। प्रकरणपाद की तुलना घेरवादी अभिधर्म के विभाग से की गयी है।

पालि के सुद्ध-निकाय में संगृहीत अनेक ग्रन्थों को सर्वोस्तिवादियों ने त्रिपिटक के अन्दर नहीं रखा है। जातक, अवधान, धर्मपद्य एवं उद्दानधर्म सर्वोस्तिवादियों के निकट भी विदित थे यद्यपि उन्हें त्रिपिटक के बाहर रखा गया है। व्याख्या-साहित्य भी इस सम्प्रदाय में प्रभूत मात्रा में रचा गया, इनकी विनय की व्याख्या संक्षिप्त है, पर अभिधर्मपिटक की दो विभागाएँ उपलब्ध हैं। इनमें से विपुलतर आकार की विभागा वस्तुतः ज्ञान-प्रस्थानशास्त्र का भाष्य है जो कि सर्वोस्तिवादियों के विभिन्न सम्प्रदायों और सिद्धान्तों का एक विशाल कोष है। इनके अतिरिक्त सर्वोस्तिवादियों के साहित्य में अनेक प्रकरण ग्रन्थ भी सम्मिलित हैं। इनमें प्राचीनतम पंचवस्तु अथवा पंचधर्म नाम के तीन संदर्भ हैं जिनकी रचना धर्मजात और दो अन्य आचार्यों के द्वारा मानी गयी है। इनमें से प्राचीनतम दूसरी शताब्दी की रचना है। इस ग्रन्थ में समस्त धर्मों को पंचधा विभाजित किया गया है—चित्त, चैत, चित्तविप्रसूत सप्त, एवं असंस्कृत। एक दूसरा ग्रन्थ-समूह धर्मश्री, उपशान्त एवं धर्मजात के द्वारा रचित अभिधर्मसार अथवा अभिधर्महृदय से बनता है। इनमें से प्रत्येक में इस अभ्यास है जिनमें कि धातु, संस्कार, कर्म, अनुशय, आचरित, ज्ञान, समाधि, सुख, संयुक्त एवं शास्त्र की चर्चा है। इन दो ग्रन्थ-समूहों के अतिरिक्त तीन अन्य विशिष्ट ग्रन्थ हैं—वसुमिथ की अभिधर्म सम्बन्धी कृति, घोष का अभिधर्मामृतसत्, एवं संघभद्र के आचार्य स्कन्धिल का अभिधर्मवितारप्रकरण। इनके अतिरिक्त एक अन्य प्राचीन ग्रन्थ लोकप्रज्ञप्ति है जिसमें बौद्ध-दृष्टि से विश्व-वर्णन किया गया है और अनेक जनपद, नगर, आदि का उल्लेख है। वसुधन्व एवं संघभद्र की रचनाओं का ऊपर उल्लेख किया गया है।

सर्वोस्तिवाद का मूलसिद्धान्त—वैभाषिक और सौर्वाधिक व्याख्या—‘वैभाषिकों का अभ्युपगम है कि अतीत और अनागत धर्म इव्यसत् हैं। किन्तु संस्कृत-लक्षणों के योग के कारण संस्कृत-धर्मों का शाश्वतत्व प्रसक्त नहीं होता’। संस्कृत-शब्द चार हैं।—उत्पाद, स्थिति, व्यय, एवं निरोध अथवा अनित्यता। आपाततः विरुद्ध-कारी होने पर भी ये वस्तुतः सहयोगपूर्वक एक साथ व्यापार करते हैं। अविध्य से भूत की ओर जाता हुआ समय का मार्ग जिस वर्तमान के मोड़ पर प्रकट होता है वहीं से चार लक्षण बटमारों के समान नित्य-संबद्ध रहते हैं। उत्पाद-लक्षण कालाव्या

के सभी धर्म को अनागत से जीव कर वर्तमान में लाता है, स्थिति-लक्षण उसे पकड़े रहता है, व्यय-लक्षण उसे मारता है एवं निरोध-लक्षण उसे अतीत में डाल देता है।

धर्मों की वैयधिक सत्ता की प्रमाणित करने के लिए बसुवन्धु ने चार युक्तियों की प्रार्थना की है—(१) जागम में अतीत और अनागत धर्मों की उक्ति है। संयुक्तागम में कहा गया है—‘रूपमनित्यमतीतमनागतम् । कः पुनर्वाचः प्रत्युत्पन्नस्य । एवं दशौ व्युत्पन्नं कार्यवाचकोऽतीते रूपेऽनपेक्षको भवति । अनागतं रूपं नाभिमन्यति । प्रत्युत्पन्नस्य रूपस्य निर्विदे विरागाम निरोधाय प्रतिपन्नोभवति । अतीतं वेदुभिन्नको रूपं नाम-विध्यस्य व्युत्पन्नार्थभाषको—’ । यह तो अतीतानागत धर्मों के अस्तित्व की कण्ठतः उक्ति है । अर्थात् भी इसका अभिधान किया गया है—‘द्वयं प्रतीत्य विज्ञानम् उत्पद्यते । कतम् इदम् ? चक्षुरिन्द्रियं च प्रतीत्य रूपं च —मनस्य धर्माश्च’ । मनोविज्ञान के विषय अतीत और अनागत धर्म होते हैं । यदि उनकी सत्ता न होती तो वे मनोविज्ञान के आलम्बन-प्रत्यय किस प्रकार हो सकते थे; (२) यह अनुमानतः भी सिद्ध है कि अतीतानागत-विषयक विज्ञान के आलम्बन होने के कारण अतीतानागत धर्मों का अस्तित्व स्वीकार्य है । (४) अतीत धर्मों की सत्ता उनके विपाक से भी प्रकट होती है । कर्म-अतीत होने पर भी अपना फल प्रदान करते हैं । अतएव उनका अस्तित्व मानना होगा ।

सर्वास्तित्वादी समस्त अतीत और अनागत धर्मों का द्रव्यतः अस्तित्व मानते थे । कुछ अन्य सम्प्रदायों में यह सिद्धान्त अर्थात् अम्युपगत था—वे अतीत धर्म अस्तित्वयुक्त हैं जिनका विपाक शेष है । इन्हें विभज्यवादी कहा गया है । काश्यपीय सम्प्रदाय का भी यही मत था ।

यद्यपि धर्मों की द्रव्यतः सत्ता वैयधिक है तथापि तीनों अथवा निर्विकृत है, एवं धर्मस्वभाव के वैकालिक होते हुए भी अथ-भेद के अनुसार धर्मों का अस्तित्व-भेद अवश्य स्वीकार्य है । इस प्रश्न पर जौलिक कालत्व का समोद्घाटन चाहता है, कालिककालीन संवीति के विभिन्न मतों का इस प्रकार सग्रह किया गया है—‘चतुर्विधाः ॥ एते भाव-लक्षणवाचस्यान्यथा-न्यथिका ल्ल्याः ॥ तृतीयः सोमनोऽध्वानः कारिण्येण व्यवस्थिताः ॥’ । भावान्वयात्त्व भदन्त धर्मवाद का मत था । इसके अनुसार भूत-भविष्य-वर्तमान का भेद द्रव्य-भेद न होकर भाव-भेद है । उदाहरण के लिए स्वर्णपात्र का भंग अथवा दुग्ध

१४-कोश, ५, पृ० ५१ ।

१५-वही ।

१६-कोश, ५, पृ० ५२ ।

का दधिभाव लिये जा सकते हैं। पहले में संस्थानभेद हो जाता है, धर्म-भेद नहीं, दूसरे में गुण-भेद हो जाता है, धर्म-भेद नहीं। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार उन उदाहरणों में द्रव्य-भेद न होते हुए भी बाहुति, गुण आदि के भेद से भाव-भेद हो जाता है, ऐसे ही धर्मों का अर्ध-संक्रमण में अनागत-भाव, प्रत्युत्पन्न-भाव एवं अतीत-भाव बदल जाते हैं, किन्तु द्रव्यतः अस्तित्व नहीं बदलता।

भदन्त षोडश ने लक्षणान्वयात्वा का समर्थन किया है। इसके अनुसार प्रत्युत्पन्न होने में धर्म प्रत्युत्पन्नलक्षण से युक्त होता है, किन्तु अनागत-लक्षण अथवा अतीत-लक्षण से अविद्युक्त नहीं होता। ऐसे ही अनागत अथवा अतीत होने में लक्षणान्तर से अविद्योता स्वीकार्य है। उदाहरण के लिए यदि एक स्त्री में पुरुष अनुरक्त हो तो वह अन्य स्त्रियों में विरक्त नहीं माना जाता। जो धर्म अनागत है वही प्रत्युत्पन्न एवं अतीत होता है। अर्ध-भेद में केवल विभिन्न लक्षण वृत्तिलान्न करते हैं यद्यपि लक्षणान्तर अविद्यमान नहीं होते।

भदन्त वसुमित्र अवस्थान्वयात्वा के प्रतिपादक थे। जैसे इकाई, वृद्धाई आदि के स्थानों पर रखी हुई 'गुलिका' एक, दस आदि हो जाती है, ऐसे ही धर्म अवस्थान्तर प्राप्त कर अर्धभेद सम्पादित करते हैं। भदन्त बुद्धदेव ने अन्यथान्वयात्वा अथवा अपेक्षान्वयात्वा का समर्थन किया। अतीत, अनागत आदि भेद ऐसे ही आपेक्षिक हैं जैसे एक ही स्त्री परापेक्षया दुहिता अथवा माता होती है। अतीत आदि का भेद किसी अपेक्षा रखता है, इस पर दो व्याख्याएँ इस मत की प्रस्तुत की गयी हैं। एक के अनुसार अतीत आदि प्रत्युत्पन्न एवं अनागत आदि की अपेक्षा रखते हैं, दूसरी के अनुसार पूर्ववर्ती की अपेक्षा अनागत की प्रसिद्धि होती है, परवर्ती की अपेक्षा अतीत की। पहली व्याख्या संघमित्र के अनुसार है। दूसरी विभाषा में उल्लिखित है।

सर्वास्तिवाद के इन चार मुख्य आचार्यों के मत विभाषा में वर्णित हैं। वसुबन्धु भावान्वयात्वावाद को एक प्रकार का प्रच्छन्न सांख्य परिणामवाद बताते हैं। लक्षणान्वयात्वा और अपेक्षान्वयात्वा मानने में अर्ध-संकर अनिवार्य है। अतः वसुमित्र का मत ही श्रेष्ठ है। अर्धभेद का आधार अवस्था अथवा कारित्र है। जो धर्म अभी कार्यशील नहीं है वह अनागत है। जो कार्यशील है वह प्रत्युत्पन्न है। जो कार्यशाली होकर कार्य-विरत है वह अतीत है।

वैभाषिकों के द्वारा सर्वास्तिवाद की इस प्रकार व्याख्या सौत्थान्तिकों की अभिमत नहीं थी। धर्मों के स्वभाव को नित्य तथा उनके भाव को अनित्य नहीं माना जा सकता। कारित्र का आविर्भाव और तिरोभाव दुर्बोध है। कि विष्णुं तदपि कथं नाग्यदत्तवा न

सुच्यते । तथा सन् किमनो नष्टो गम्भीरा जातु धर्मता ॥” । वैभाषिकों को कहना पड़ता है कि धर्मता गम्भीर है । वस्तुतः सौवाण्टिकों के अनुसार सर्वास्तिवाद की दूसरी व्याख्या करनी चाहिए । ‘सर्वे’ शब्द से तात्पर्य द्वादश आयतनों से है । ‘सर्वं सुच्यति द्वादशायतनानि ।’ इन आयतनों की ही सत्ता स्वीकार्य है, किन्तु यह सत्ता अनित्य है । धर्म न होकर उत्पन्न होते हैं एवं निवृद्ध होकर पुनः अभावकोटि में गिरते हैं ।

सर्वास्तिवाद की इस प्रकार दो प्रमुख व्याख्याएँ थी—वैभाषिक और सौवाण्टिक । वैभाषिक निकाल-भेद मानते हुए और धर्मों का अनित्यत्व स्वीकार करते हुए भी धर्म-स्वभाव को नित्य एवं वैकालिक मानते थे । द्रव्यतः धर्मों का अस्तित्व सदा बना रहता है । किन्तु इनके भाव, लक्षण अथवा अवस्था या कारित्र में भेद हो जाता है । सौवाण्टिक इसे शाश्वतवाद बताते हुए बाह्य और आध्यात्मिक आयतनों की सत्ता के स्वीकार को ही वास्तविक सर्वास्तिवाद कहते थे । वैभाषिक मत प्राचीनतर प्रतीत होता है । यह सम्भवतः सांख्य के परिणामवाद से प्रभावित था । सौवाण्टिक मत अधिक सूक्ष्म और विकसित लगता है । ब्राह्मण ग्रन्थों में सर्वास्तिवाद की सौवाण्टिक व्याख्या ही विदित होती है ।

ब्राह्मण ग्रन्थों में सर्वास्तिवादियों को योगाचार एवं शून्यवाद से ‘बाह्यार्थवादी’ होने के कारण भिन्न माना गया है । सर्वदर्शनसंग्रह में कहा गया है—‘ते च बाध्यमिकयो-माचारसौवाण्टिक वैभाषिकसंज्ञाभिः प्रसिद्धा बौद्धाः यथाकर्म सर्वशून्यत्वबाह्यार्थशून्यत्व बाह्यार्थानुमेयत्वबाह्यार्थप्रत्यक्षत्ववादाभातिष्ठन्ते’ । अर्थात् जहाँ वैभाषिक बाह्यार्थों की प्रत्यक्षगम्य सत्ता मानते थे, सौवाण्टिक उन्हें केवल अनुमानगम्य मानते थे । शंकराचार्य का कहना है—‘तत्रैते त्रयो वादिनो भवन्ति । केचित् सर्वास्तिवादिनः केचिद् विज्ञानास्तित्वमात्रवादिनः अन्ये पुनः सर्वशून्यत्ववादिन इति । तत्र ते सर्वास्तिवाद-दिनो बाह्यमात्रं च वस्तुभ्युपगच्छन्ति भूतं भौतिकं च चित्तं चैतं च’ । यहाँ स्पष्ट ही ‘सर्वमस्ति’ में ‘सर्व’ के अर्थ किये गये हैं—बाह्य और आन्तर दोनों प्रकार के पदार्थों । इस व्याख्या के अनुसार सर्वास्तिवादियों का मुख्य तात्पर्य विज्ञानवाद एवं शून्यवाद के

१७—कोश, ५ पृ० ५६-५७ ।

१८—वही, पृ० ६४, विशेषतः, पादटिप्पणी, २ ।

१९—सर्वदर्शनसंग्रह (पूजा, १९२८), पृ० ७ ।

२०—बह्यसूत्रभाष्यकृतभाष्य (धम्मई, १९२७), पृ० २३९ ।

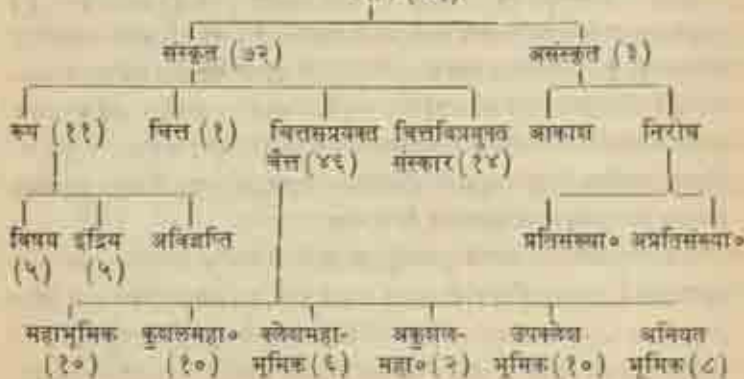
२१—मु० भामती—“यद्यपि वैभाषिक सौवाण्टिकयोरन्तरांतरभेदोऽस्ति तथापि सर्वास्तित्वा यामस्ति सम्प्रतिपत्तिरित्ये की कृत्योपगमातः ।”

विरुद्ध सर्वास्तित्व का प्रतिपादन करना था। किन्तु यह स्मरणयोग्य है कि जिस समय सर्वास्तिवाद का प्रथम अभ्युदय हुआ उस समय बौद्धों में बाह्याभिमोक्षक 'विज्ञानमार्ग' का किसी निकार में गिरा नहीं चलता। अतएव सर्वास्तिवाद को भी बाह्याभिमोक्षक की घोषणा नहीं माना जा सकता। इसके विपरीत कुछ विद्वानों की यह व्याख्या भी स्मरणयोग्य है कि बौद्धों में अनुभव-निरपेक्ष 'बाह्य' वस्तु की सत्ता किसी भी सम्प्रदाय में स्वीकार्य नहीं है। सर्वत्र अनुभव-प्रवाह के अन्तर्भूत धर्मों का ही विस्लेषण अभिप्रेत है। इस दृष्टि से सद्वर्तमान एक प्रकार से 'प्रतिभासवाद' (फेनोमेनलिज्म) सिद्ध हो जाता है^{११}।

वैभाषिक अभिधर्म—ऊपर कहा गया है कि सर्वास्तिवाद का मूल अभिप्राय अतीत और अनागत धर्मों के अस्तित्व-स्वीकार में था। इस मत का उद्गम इस प्रकार विभाजनीय है—धर्मों की पारमाधिक्यता स्वीकार करने पर उनके क्षणिकत्व के साथ उसके विरोध-परिहार के लिए यह कल्पना सुलभावकाश है कि धर्मों का स्वभाव त्रिकालवर्ती है, यद्यपि अल्पभेद अवश्य सम्पन्न होता है। प्रत्येक वस्तु के चार संस्कृत-गुण हैं—उत्पाद, स्थिति, व्यय और अनित्यता। ये एक साथ ही वस्तु को ग्रहण करते हैं और वह इनके कारण अल्प-संक्रमण करती है—अनागत से प्रत्युत्पन्न, प्रत्युत्पन्न से अतीत। किन्तु तीनों अर्थों में उसका प्रतिविशिष्ट स्वभाव अपनावा रहता है। वैभाषिकों के स्थिर-स्वभाव धर्म सांख्य के तत्त्वों के समान प्रतीत होते हैं।

सर्वास्तिवादो अभिधर्म में ७५ धर्मों की सत्ता स्वीकार की गयी है। उनका प्रवर्णन अधोलिखित प्रकार से हो सकता है—

धर्मः (७५)



२२—इसका विस्तृत प्रतिपादन, रोजेनबर्ग, दो प्रोब्लेम डेर बुद्धिस्तियोन फिलोसोफी।

रूप, चित्त, चैत, चित्तविप्रयुक्त, एवं असंस्कृत, इन्हें पंच धर्म कहा जाता था। इनका संकल्प, धातु और आयतनों से सम्बन्ध इस प्रकार दिखाया जा सकता है—

पंचधर्म	५ स्कन्ध	१२ आयतन	१८ धातु	
(१) रूप = रूप-स्कन्ध =	}	५ इन्द्रिया	}	
		५ विषय		
(२) चित्त = विज्ञानस्कन्ध = मन-आयतन =	}		}	
(३) चैत	} (वेदनास्कन्ध) (संज्ञास्कन्ध) (संस्कारस्कन्ध) } = धर्मायतन		= धर्म-धातु	
(४) चित्त-विप्रयुक्त	}		}	
(५) असंस्कृत				

प्रकारान्तर से धर्मों को सांख्य एवं जनासख बताया गया है। मार्ग-संज्ञित संस्कृत-धर्म सांख्य कहलाते हैं। जनासख-धर्मों में मार्ग-सत्य और विविध असंस्कृत धर्मों का संग्रह किया गया है। ऊपर निर्दिष्ट तीन असंस्कृतों का अभ्युपगम सर्वास्तिवाद का प्रतिष्ठित वैशिष्ट्य है। अभिधर्मकोश के प्रारम्भ में ही वसुवन्ध ने अभिधर्म की परिभाषा की है—‘प्रज्ञामला सातुचराभिधर्मः’ अर्थात् सातुचर अमला प्रज्ञा ही अभिधर्म है। अमला प्रज्ञा के अर्थ हैं अनासखप्रज्ञा। प्रज्ञा का अर्थ है धर्म-अविचय। पुण्यों के समान व्यवकीर्ण धर्मों को चुन-चुन कर विभजित और संगृहीत करना ही धर्म-अविचय है। प्रज्ञा के अनुचर से तात्पर्य प्रज्ञा के सहभू अनासखधर्मों से है। यह परिभाषा पारमार्थिक अभिधर्म की है। इस विमल प्रज्ञा की प्राप्ति के लिए जो लौकिक प्रज्ञा एवं शास्त्र आवश्यक हैं वे भी सांकेतिक एवं सांख्यव्यवहारिक रूप से अभिधर्म कहलाते हैं। धर्म का लक्षण स्वलक्षण-धारण बताया गया है। यह स्मरणीय है कि बौद्ध दृष्टि से गुण और गुणी का भेद अपारमार्थिक है एवं वस्तुओं के प्रतिबिम्बित लक्षणों को ध्यान में रखते हुए उनके साक्षात् और पृथक्त्व का प्रतिपादन किया गया है।

आकाश-अनावरण स्वभाव है अर्थात् आकाश किसी के रोध अथवा बाधा का कारण नहीं बनता। आकाश में रूप का अवाध संचार होता है। आकाश रूप से न आवृत्त होता है, न अपगत। सौख्यविकों का मत भिन्न था। वे आकाश की स्वाभाव-मान कहते थे और उसे अवस्तु मानते थे। दो निरोध—प्रतिसंज्ञा-निरोध एवं अवतिसंज्ञा-निरोध हैं। ‘पूज्य-पूज्य’ विसंज्ञा की प्रतिसंज्ञा-निरोध कहा गया है। यहाँ पर

साक्षात् धर्म से विमर्शित अभिप्रेत है। यह वितर्कात्मक वास्तविक धर्म है एवं मित्य है। प्रतिसंख्या अथवा सत्य के साक्षात्कार से इसकी 'प्राप्ति' होती है। यही निर्वन्निरोध निर्वाण कहा जाता है। इस प्रकार प्रतिसंख्या-निरोध वस्तुतः ज्ञान के द्वारा साक्षात्कृत निर्वाण का ही दूसरा नाम है। अप्रतिसंख्या-निरोध से तात्पर्य उस निरोध से है जो कि उत्पाद का अत्यन्त विघ्नभूत है। इसकी प्राप्ति सत्य के साक्षात्कार से न होकर प्रत्यय-वैकल्य से होती है। उदाहरण के लिए जब अग्नि और मन किसी एक रूप में आसन्न होते हैं उस समय अन्य रूप, शब्द, गन्ध आदि का ग्रहण नहीं होता अर्थात् वे वर्तमान काल का अतिग्रमण कर अतीत हो जाते हैं। उनकी उत्पत्ति हो सकती थी, किन्तु प्रत्यय-वैकल्य के कारण नहीं हो सकी। यही अप्रतिसंख्या-निरोध है।

जिन संस्कृत धर्मों का ऊपर उल्लेख किया गया है, उनमें रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान—ये पाँच स्कन्ध संगृहीत हैं। इनके अन्य नाम हैं आध्व, कथावस्तु, सनिस्तार एवं सबस्तुक। आध्व शब्द से त्रिविध काल का संकेत होता है। कथावस्तु से तात्पर्य वाक्य-विषय तो है। सनिस्तार के अर्थ हैं जिनसे निस्तारण होता है। सबस्तुक के तात्पर्य हैं सहेतुक। इन आख्याओं से संस्कृत-धर्मों की कालिकता, वाक्य-विषयता, हेतुता एवं कारणनिष्ठता सुचित होते हैं। इन उपादान-नकल्यों को सरण, तुल्यसमुदय, लोक, दृष्टिस्थान और भय भी कहा जाता है। पाँच स्कन्धों में पहला रूप है। रूप के द्वारा पाँच इन्द्रियाँ, उनके पाँच विषय एवं अविज्ञप्ति का ग्रहण होता है। पाँच इन्द्रियाँ एवं उनके विषय सुविदित हैं। इन विषयों के विज्ञानों के आलय, चक्षु आदि पाँच इन्द्रियाँ रूपप्रसाद करती हैं। रूपप्रसाद से तात्पर्य सूदन एवं अतीन्द्रिय रूप अथवा भौतिक धातु से है। इसको मणि-प्रभा के सदृश कहा गया है, अलङ्घ्य, अवाह्य, गुरुत्व-हीन। 'जिस पुद्गल का चित्त विशिष्ट है अथवा जो अचित्तक है उसका महाभूत-हेतुक कुशल और अकुशल अथाह अविज्ञप्ति कहलाता है'। अचित्तक से तात्पर्य उनसे है जो असंज्ञि-समापत्ति एवं निरोध-समापत्ति में समापन्न हैं। अविज्ञप्ति कायिक और वाकिक कर्म के समुल्लाप-स्वभाव और श्रिया-स्वभाव है, किन्तु उससे कुछ विज्ञापित एवं सूचित नहीं होता। समापत्तः विज्ञप्ति और समापि से संभूत कुशल और अकुशल रूप अविज्ञप्ति है। इसकी तुलना 'अदृष्ट' से करनी चाहिए। सौधान्तिक अविज्ञप्ति को स्वीकार नहीं करते और न धेरेवादी उसे मानते हैं। सम्प्रदाय के अनुसार समुत्पत्ति ने अविज्ञप्ति के वैभाषिक लक्षण का ठीक निरूपण नहीं किया है।

रूप-स्कन्ध से संगृहीत इन्द्रियाँ, उनके विषय, एवं अविज्ञप्ति, सब चार महाभूतों पर आश्रित भौतिक धर्म हैं। इनमें पाँच विषय प्रत्यक्ष बाह्य हैं, योग-अनुमेय हैं। महा-

भूत ही मूल रूपधर्म हैं, शेष उनसे उद्भूत 'उपाशय रूप' हैं। इस प्रकार रूप भूत और भौतिक धर्मों की ओर संकेत करता है। 'रूप' का अर्थ है जो रूपित अर्थात् मिश्र बाधित या पीड़ित हो। निरुक्ति की दृष्टि से यह सान्दरभ है क्योंकि 'रूप' मिश्र है 'रूप' अथवा 'रूप' मिश्र। 'रूपयते इति रूपं' नतु रूप्यते इति लुप्यते इति वा। पाणिनि ने अवश्य यह 'रूप'—भेद 'लुप्त' हो गया है। रूप का बाधन विपरिणाम अथवा विक्रिया से बताया गया है। मतान्तर से रूप का लक्षण सप्रतिघत्व अथवा प्रतिघात है। प्रतिघात का अर्थ है स्थान चरता ('यद्देशमावृणोति'), अपने स्थान पर दूसरे की उत्पत्ति का प्रतिबन्धक होना 'स्वदेशे परस्सोत्पत्तिप्रतिबन्धः' तीनों प्रकार के प्रतिघात बताये गये हैं—आवरण-प्रतिघात, विषय-प्रतिघात, आलम्बन-प्रतिघात। इनमें पहला पूर्वोक्त वैशेषिक प्रतिबन्ध है। दूसरा इन्द्रियों पर उनके विषयों का 'निषात' है जिससे इन्द्रियां व्यापारित होती हैं। तीसरा चित्त-वैत पर उनके आलम्बन का आघात है। सप्रतिघत्व की विलक्षण परिभाषा दी है—जिन वस्तुओं से एकाधिक की समान देश में स्थिति अकल्पनीय हो वे सप्रतिघ हैं। 'यत्रोत्पत्तिसौमनसः प्रतिघातः शक्यते (परैः) कर्तुम्। तदेकं स प्रतिघ तद्विषयवादप्रतिघमिष्टम्।' एक अन्य निबन्धन के अनुसार 'तत्रेदमिहामुच्येति निरुपणादुक्तम्।' सधम्म के अनुसार पूर्व-कर्म के निरूपण के कारण 'रूप' यह संज्ञा होती है।

अविज्ञप्ति में रूप के बाधन अथवा प्रतिघात (=देशावरण)—रूप लक्षण साक्षात् व्याप्त नहीं होते, किन्तु अविज्ञप्ति महाभूतों पर आधित है और अतएव रूप है।

भूत और भौतिक परमाणु-निमित्त हैं। चार महाभूतों के पृथक्-पृथक् परमाणु हैं, रूप-प्रसाद के पृथक् जिन्हें पंचविध कहा गया है, एवं पाँच विषयों के पृथक्। परमाणु विभेद-हीन एवं निरवयव होते हैं। वे एक दूसरे का स्पर्श नहीं कर सकते अथवा उनका परस्पर लय अथवा साव्यमत्व मानना होगा। उन्हें सान्तर भी नहीं माना जा सकता, अन्यथा आन्तरालिक आकाश में उनकी गति एवं परस्पर उपसर्पण दुर्विचार होगा। दूसरी ओर उनका निरन्तरत्व साध्रिष्यभाव का द्योतक है। इन स्थिति में उनकी पृथक् अवस्थिति उनके सप्रतिघात से नियत रहती है। किन्तु ये परमाणु एकैकदा उपलब्ध नहीं होते। चार महाभूतों के परमाणु शब्दवर्जित चार बाह्य आघतनों के परमाणुओं के साथ एक संघातानु का निर्माण करते हैं और कामघातु में वही आठ परमाणुओं का समूह उपलब्ध अणुओं में न्यूनतम है। इस संघातानु को अष्टद्रव्यक परमाणु भी कहा गया है। यह सूक्ष्मतम वस्तु न होकर सूक्ष्मतम रूप-संघात है। कायेन्द्रिय का परमाणु जुड़ने से शब्द-द्रव्य कायेन्द्रिय द्रव्य सम्पन्न होता है। अन्य

इन्द्रियाँ दश-द्रव्यक होती हैं क्योंकि वे कामेन्द्रिय प्रतिबद्ध हैं। शब्द की उत्पत्ति के लिए एकादश द्रव्यक संघातानु आवश्यक है। रूप-धातु में गन्ध और इसके अभाव के कारण वहाँ के परमाणु पटु-सप्त-अष्टद्रव्यक हैं।

पृथ्वी, जल, तेज और वायु के लक्षण कमलः कठिनत्व, द्रवत्व, उष्णत्व, एवं ईरणा अथवा गति हैं। इनका अविनिर्भाग होता है अर्थात् इनके परमाणु सदा साथ विद्यमान रहते हैं। औरों के साथ रहते हुए भी जो पटुतम होता है उसकी उपलब्धि होती है। अनूपलब्ध भूतों की सत्ता अनुमेय है। सौवातिकों के अनुसार अनूपलब्ध महामृत केवल बीजतः होते हैं, कार्मणः नहीं।

वेदना-स्कन्ध से तात्पर्य मुख, दुःख एवं अदुःखानुस अनुभवों से है। संज्ञा निमित्तोद्ग्रहणारमिका है। निमित्त से वस्तु की विभिन्न अवस्थाएँ सूचित की जाती हैं। उद्ग्रहण का अर्थ परिच्छेद है। रूप, विज्ञान, वेदना और संज्ञा के अतिरिक्त सब संस्कार संस्कारस्कन्ध में संगृहीत हैं। प्रत्येक विषय की विजृप्ति विज्ञान कहलाती है। इसके स्पष्ट ही छः भेद हैं जोकि पाँच इन्द्रियों से और मन से सम्बन्ध रखते हैं। इन छः विज्ञानों के अतिरिक्त किसी मन की सत्ता नहीं है, किन्तु जो-जो विज्ञान समनन्तर-निरुद्ध होता है वही मनोधातु की आस्था प्राप्त करता है। जैसे, पुत्र ही पिता बन जाता है। पाँच विज्ञानों के आश्रय पाँच रूपी इन्द्रियाँ हैं। मनोविज्ञान का आश्रय हृदय-वस्तु-सदृश कोई रूपी इन्द्रिय नहीं है। अनन्तरातीत विज्ञान ही उसका आश्रय है एवं इस आश्रय की प्रसिद्धि के लिए ही उसका पृथक् नाम मनोधातु दिया जाता है।

संस्कार-स्कन्ध के दो भाग हैं—चित्त-सम्प्रयुक्तसंस्कार, एवं चित्त-विप्रयुक्त-संस्कार। वेदना-स्कन्ध और संज्ञा-स्कन्ध चित्त-सम्प्रयुक्त संस्कारों में संगृहीत हैं। चित्त-विप्रयुक्त अथवा चैत धर्म ४६ हैं—(१) १० चित्त-महामूढिक-धर्म, (२) १० कुशल-महामूढिक-धर्म, (३) ६ क्लेश-महामूढिक-धर्म, (४) २ अकुशल-महामूढिक-धर्म, (५) १० उपक्लेश-भूमिक-धर्म, (६) ८ अनिप्रल-भूमिक-धर्म। इनका विवरण निम्नोक्त है—

- (१) चित्तमहामूढिक-धर्म—वेदना, संज्ञा, चेतना, स्पर्श, छन्द, प्रज्ञा, स्मृति, मनसिकार, अधिमोक्ष एवं समाधि।
- (२) कुशल-महामूढिक-धर्म—अज्ञा, वीर्य, उपेक्षा, ह्री, अपत्रपा, अलोच, अद्वेष, अहिंसा, प्रशब्धि, एवं अप्रमाद।
- (३) क्लेश-महामूढिक-धर्म—मोह, प्रमाद, कौसीध, अभ्रद्धा, स्थान, जोद्धत्व।
- (४) अकुशलमहामूढिक-धर्म—अह्री, अनपत्रपा।

- (५) उपकलेश-भूमिक-धर्म—ओष, अन्न, मात्सर्ग, ईर्ष्या, प्रवास, विद्विषा, उपनाह, माया, शोक्य एवं मद ।
- (६) अनियत-भूमिक-धर्म—कौकृत्य, मूत्र, वितर्क, विचार, राग, द्वेष, मान, एवं विचिकित्सा । वितर्क और विचार मनोज्ञ-रूप हैं । वैभाषिक सब चित्तों में वितर्क मानते थे और उसे स्वभाव-विकल्प कहते थे । वसुवन्धु सर्वत्र निविकल्प विज्ञान स्वीकार करते हैं ।

चित्त-विप्रयुक्त-संस्कार १४ हैं—प्राप्ति, अप्राप्ति (ये दोनों स्वसन्तान-गत धर्मों की तथा दो निरोधों की होती हैं), निकायसभागता (जो 'जाति' अथवा 'सामान्य' से तुलनीय है) आसंज्ञिक (आसंज्ञि सत्त्वों में उपपत्त्या चित्त-चैत का निरोध), असंज्ञि-समापत्ति, निरोध-समापत्ति, जीवित, जाति, स्थिति, जरा, अनित्यता (ये चार 'संस्कृत-लक्षण' कहलाते हैं) नाम-काय, पद-काय, एवं व्यञ्जन-काय ।

सर्वास्तिवादी कार्य-कारण-भाव के विश्लेषण के द्वारा ४ प्रत्यय, ६ हेतु, एवं ५ फलों का अस्तित्व निर्धारित करते हैं । हेतु-प्रत्यय, समनन्तर-प्रत्यय, आलम्बन-प्रत्यय, एवं अधिपति-प्रत्यय—ये चार प्रत्यय हैं । हेतु-प्रत्यय पंचविध हैं—सहभू-हेतु, सम्प्रयुक्त-हेतु, सभाग-हेतु, सर्वत्रग-हेतु, एवं विपाक-हेतु । चार महामूत साथ ही रहते हैं, अतः ये सहभू-हेतु हैं । सहभू-हेतु परस्पर फलोत्पादक होते हैं । चित्त और चैत, लक्षण और लक्ष्य का भी यही सम्बन्ध है । चित्त और चैत, धर्मों का विशेष घनिष्ठ सम्बन्ध 'सम्प्रयुक्त-हेतु' से संज्ञित होता है । सद्भा-धर्म सभाग-हेतु होते हैं । सर्वत्रग-हेतु क्लेश-गत होता है, विपाक-हेतु कर्म-गत । अथवा हित-पूर्ववर्ती चित्त समनन्तर-प्रत्यय कहलाता है । विज्ञान के विषय आलम्बन-प्रत्यय बनते हैं । अधिपति-प्रत्यय नियतपूर्ववर्ती होता है । पूर्वोक्त पाँच हेतुओं के अतिरिक्त कारण-हेतु को सम्मिलित कर छः हेतुओं का परिगणन होता है । पाँच फल हैं—पुरुषकार-फल, निष्पन्द-फल, विपाक-फल, अधिपति-फल, एवं निराश्रय-फल ।

यह स्मरणीय है कि कारण-हेतु में कारणों का सामान्यतः निर्देश है । सभी संस्कृत और असंस्कृत धर्म किसी-न-किसी प्रकार से कारण-हेतु होते हैं । कारण-हेतु में समनन्तर, आलम्बन, एवं अधिपति प्रत्यय संगृहीत हैं । कारण-हेतु का फल अधिपति-फल कहलाता है । सहभू और सम्प्रयुक्त हेतुओं के फल पुरुषकार-फल कहे जाते हैं । सभाग-हेतु का फल निष्पन्द-फल होता है । ऐसे ही सर्वत्रग-हेतु का फल भी निष्पन्द-

फल कहा जाता है। विपाक-फल विपाक-हेतु से उत्पन्न होता है। विसंयोग-फल सारत्व में निर्वाण ही है। यह उत्पन्न नहीं होता। इसकी केवल प्राप्ति होती है।

इन प्रत्ययों, हेतुओं और फलों का इस प्रकार प्रदर्शन किया जा सकता है—

	()	—
	(सहन-हेतु)	
	(सम्प्रवृत्त-हेतु)	— पुरुषकार-फल
हेतु-प्रत्यय —	()	
	(सभाग-हेतु)	
	()	— निष्पन्द-फल
	(सर्ववग-हेतु)	
	()	
	(विपाक-हेतु)	— विपाक-फल
आलम्बन-प्रत्यय)	
समनन्तर-प्रत्यय)	— कारण-हेतु — अधिपति-फल
अधिपति-प्रत्यय)	विसंयोग-फल

सर्वास्तिवादी अभ्युपगम (वैभाषिक)

‘सर्वम् अस्ति’ अर्थात् अतीत और अनागत धर्मों की भी वस्तुतः सत्ता है, सर्वास्ति-वादियों का यह मूल सिद्धान्त है^{२३}। वस्तुमित्र एवं भव्य के द्वारा उनका मत-निस्तर इस प्रकार निर्दिष्ट है^{२४}—

नाम और रूप में सब कुछ संगृहीत है। रूप का लक्षण है स्थूलता। नाम में चार स्वान्ध और असंस्कृत गिने जाते हैं। ये सूक्ष्म और दुर्बोध हैं।^{२५}

समस्त धर्मागतन ज्ञेय, विज्ञेय एवं अभिज्ञेय है।

संस्कारस्कन्ध में जाति, व्यय, स्थिति और अनित्यता के लक्षण तथा चित्तविप्रमुक्त धर्म संगृहीत हैं। संस्कृत पदार्थ त्रिविध है, अतीत अनागत एवं प्रत्युत्पन्न। असंस्कृत भी त्रिविध है—प्रतिसंख्या-निरोध, अप्रतिसंख्या-निरोध, एवं आकाश। संस्कृत-लक्षण

२३-तु०—मिलिन्द, पृ० ५५-५६।

२४-इ०—मनुषा, पूर्व०; बालेजेर, पृ० ३८-४३, ८४-८५; बारो, पृ० १३७-४५।

२५-तु०—मिलिन्द, पृ० ५१।

विभिन्न हैं एवं रातु है। संस्कृत-लक्षण चार हैं—उत्पाद, स्थिति, व्यव, अनित्यता अथवा निरोध। निरोध-नाथ असंस्कृत है, शेष तीन संस्कृत।

आर्य-सत्त्वों का अभिसमय आनुपूर्वी से होता है। शून्यता, एवं अप्रतिष्ठित के सहारे सम्पत्त्व-नियाम में प्रवेश किया जा सकता है। काम का ध्यान करते हुए सम्पत्त्व-नियाम में प्रवेश हो सकता है। सम्पत्त्व-नियाम में प्रवेश करते समय पहले पन्द्रह चित्तोत्पादों में प्रतिपन्न आस्था होती है, सोलहवें चित्तोत्पाद में स्थिति-फल का नाम दिया जाता है। लौकिकाग्र-धर्म एकक्षणिक-चित्त है। वे निमित्त एवं परिह्राणि-वर्जित हैं। स्रोतआपन्न के लिए गिरना संभव नहीं है, किन्तु अहंत् गिर सकता है। सब अहंत्तों को अनुत्पाद-ज्ञान प्राप्त नहीं होता है। पृथग्भवन काम और व्यापाद छोड़ सकते हैं।

तीषिक पाँच अभिज्ञाएँ प्राप्त कर सकते हैं।

देवलोक में ब्रह्मचर्य संभव है।

सात समारणितियों में बोध्यंग प्राप्त हो सकते हैं, शेष में नहीं। सब ध्यान स्मृत्युप-स्थानों में पूर्णतः संगृहीत हैं। ध्यान का सहारा लिये बिना सम्पत्त्व-नियाम में प्रवेश एवं अहंत्व-फल की प्राप्ति हो सकती है।

यदि रूप धातु अथवा आकृष्य-धातु की काय का आश्रय ग्रहण किया गया हो तो अहंत्व फल के साक्षात्कार होते हुए भी सम्पत्त्व-नियाम में प्रवेश नहीं हो सकता। दूसरी ओर यदि काम-धातु की देह स्वीकार की गयी हो तो न केवल सम्पत्त्व-नियाम में प्रवेश सम्भव है, प्रत्युत अहंत्व फल का साक्षात्कार भी।

उत्तर-कुल में विराम सम्भव नहीं है और न आर्य वहाँ उत्पन्न होते हैं।

चार श्रामण्य-फल नियम से अनुपूर्व प्राप्त नहीं होते। सम्पत्त्व-नियाम में यदि प्रतिष्ठा है तो लौकिक मार्ग से सकृदागामी एवं अनागामी के फलों का साक्षात्कार हो सकता है। चार स्मृत्युपस्थान सब धर्मों का संघट्ट कर सकते हैं।

सब अनुशय, चैत, चित्त संप्रयुक्त एवं सालंबन हैं। सब अनुशय पर्यवस्थानों में संगृहीत हैं, किन्तु सब पर्यव-स्थान अनुशयों में संगृहीत नहीं हैं।

प्रतीत्यसमुत्पाद के अंगों का भाव नियत रूप से संस्कृत है। प्रतीत्यसमुत्पाद के अंग अहंत् में भी सम्भाषार रहते हैं।

पुण्यधर्मों की अहंत्तों में भी वृद्धि होती है।

अन्तरात्मक केवल काम-धातु, और रूप-धातु में होता है।

पाँच विज्ञान सराग और अराग होते हैं। पाँच विज्ञान केवल स्वलक्षण का ग्रहण करते हैं, किन्तु निरूपण-विकल्प अथवा अनुस्मरण-विकल्प नहीं कर सकते।

चित्त और तैत्त धर्म वस्तुमत् है, सालम्बन है, उनका स्वभाव स्वभाव-विप्रयुक्त है। चित्त चित्त-विप्रयुक्त है।

लौकिक सम्पर्क-दृष्टि की भी सत्ता होती है।

अथा आदि पाँच इन्द्रिय लौकिक एवं लोकोत्तर दोनों हैं।

अव्याकृत धर्मों की भी सत्ता है।

अर्हत्ता के नव-बीज-नारद-धर्म भी हैं। ये सात्वत धर्म हैं। अर्हत् अपने पूर्व-कर्मों का विपाक प्राप्त करता है। कुछ पुण्यजन कुशलचित्त के साथ मरते हैं। समाहित अवस्था में मृत्यु नहीं हो सकती।

बुद्ध और उनके शिष्यों की विमुक्ति अभिन्न है, किन्तु तीनों यातों के अपने पुण्य-लक्षण हैं।

बुद्ध की मैत्री, करुणा आदि के आलम्बन सत्त्व नहीं है।

भव-राम के होते हुए विमुक्ति नहीं मिल सकती। बोधिसत्त्व पुण्यजन है, किन्तु उनके संयोजन प्रहीण नहीं हुए हैं। सम्बन्ध-नियाम में जब तक वे प्रवेश नहीं करते, उनके द्वारा पुण्यजन-भूमि का समतिक्रमण नहीं माना जा सकता।

सत्त्व केवल भव-संतति पर आश्रित प्रवृत्ति-मात्र है।

सब संस्कार क्षणिक-निरुद्ध हैं।

इस लोक से परलोक की कोई संक्रमण नहीं करता। पुद्गल के संक्रमण की कथा केवल वाग्-व्यवहार है।

प्राण रहते हुए, संस्कार जुड़े रहते हैं। अशेष-निरोध होने पर स्कन्धों का परिणाम निरुद्ध हो जाता है।

लोकोत्तर ध्यान की सत्ता होती है।

वितर्क अनात्म हो सकता है।

कुशलकर्म भवहेतु होते हैं।

समाधि में शब्दोच्चारण नहीं होता।

अष्टांगिक आर्य-मार्ग ही धर्मचक्र है।

बुद्ध एक स्वर (=शब्द) से सब धर्मों की शिक्षा नहीं दे सकते। समस्त बुद्धवचन यथार्थ नहीं है। समस्त बुद्धदेशित सूत्र नीतार्थ नहीं हैं। बुद्ध ने नेपार्थ सूत्र भी कहे हैं।

सौत्रास्तिक अभ्युपगम—गौतमिक और संक्रांतिवादिनों को सभी प्राचीन आकर सर्वास्तिवादिनों से निकले मानते हैं। उनकी उत्पत्ति चतुर्षु बुद्धाब्द-शती में रखी

गयी है। शारि-पुत्र-परिपुच्छा-सूत्र एवं दीपवंस में सौत्रांतिक और संक्रांतिकादियों का भेद किया गया है, किन्तु अग्य उनको अभिन्न माना गया है। परमार्थ के अनुसार वे स्कन्धों का एक जन्म से दूसरे जन्म में संक्रमण मानते थे जिससे उनका नाम संक्रांतिक पड़ा। केवल मार्ग-भाषना से ही यह संक्रमण निरुद्ध हो सकता है। दूसरी ओर केवल सूत्रपिटक का प्रामाण्य स्वीकार करने से उनको सौत्रांतिक कहा जाता है। यशोभित्र का कहना है—'क.सौत्रान्तिकार्थः। ये सूत्रप्रामाणिका न तु शास्त्रप्रामाणिकास्ते सौत्रान्तिकाः' (स्फुटार्थ, पृ० ११)। श्वाञ्चांग द्वारा वसुमित्र के अनुवाद के अनुसार ये आनन्द को अपना आचार्य मानते थे। भव्य के अनुसार उनके मूल आचार्य का नाम उत्तर या (वालेजेर, पृ० ८७)। तिब्बती परम्परा के अनुसार इसी कारण उनका नाम उत्तरीय बताया गया है। भव्य भी इसका समर्थन करते हैं। श्वाञ्चांग ने कुमारलब्ध (=कुमार-लभ, कुमरलात) को सौत्रांतिक सम्प्रदाय का प्रवर्तक बताया है (इ०—वाट्स, जि० १, पृ० २४५; जि० २, पृ० २८६-८९)। कुमारलब्ध लक्षशिलावासी थे, तथा अश्वघोष, आश्वमेध एवं नागार्जुन के समकालीन होने के नाते 'चार भास्वर सूत्रों में से एक थे।' तारानाथ ने भी सौत्रांतिक आचार्य कुमारलब्ध का उल्लेख किया है (पृ० ७८)।

तारानाथ संक्रांतिकाद, उत्तरीय, और ताक्षशाटीय को एक ही सम्प्रदाय बताते हैं। यह भी प्रतिपादित किया गया है कि विभाषा में संक्षिप्त दार्ष्टान्तिक कदाचित् सौत्रांतिक ही थे। श्वाञ्चांग ने इस सम्प्रदाय को मुघ्न में पाया था। उनका साहित्य उपलब्ध नहीं होता। वसुमित्र और भव्य सौत्रांतिकों के सिद्धान्तों को सर्वास्तिवादियों के समीकृत बताते हैं, किन्तु उनका संक्षिप्त विवरण देते हैं^{२६}। इनके सिद्धान्तों का विशेष परिचय वसुवन्धु के श्लोश से प्राप्त होता है^{२७}।

यह कहा जा चुका है कि इस सम्प्रदाय में पंच स्कन्धों की संक्रांति स्वीकार की जाती है और मार्ग के अतिरिक्त स्कन्ध-निरोध नहीं माना जाता। पुद्गल को परमार्थसत् नहीं स्वीकार किया जाता^{२८}। स्कन्धों का मूल और अन्त माना जाता है और उनको एकरस भी कहा गया है। एक सूक्ष्म मनोविज्ञान निरन्तर बना रहता है। इसी से स्कन्ध-सन्तति सम्भव होती है। यही उसका मूल और अन्त है, एवं उसे एकरसता प्रदान करता है।

२६-इ०—वालेजेर, पृ० ४८, ८७।

२७-बारो में सूचीकृत संग्रह इष्टव्य—पृ० १५६-५८।

२८-वसुमित्र ने विप्ररीत बताया है—इ०—वालेजेर, पृ० ४८।

उनके अनुसार पृथग्जनों में भी कार्य-धर्म सम्भव है।

सार स्वान्ध अपने स्वभाव में निपट है।

स्वान्ध मूल-आपत्ति संग्रमुक्त है।

सब अमिष्य है।

असंस्कृत वस्तुसत् नहीं है।—वे केवल अभाव में हैं, आकाश स्पष्टव्य का, प्रतिसंख्या निरोध प्रज्ञा के द्वारा प्राप्त अनुसय और भव का, अप्रतिसंख्या निरोध प्रत्यय-वैकल्य से अनागत धर्मों की उत्पत्ति का।

अतीत और अनागत धर्म वस्तुसत् नहीं हैं।

प्राप्ति वस्तुसत् नहीं है।

कर्मफल बीज के सिद्धान्त के द्वारा अवबोध्य है।

अविभक्ति वस्तुसत् नहीं है।

जीवितेन्द्रिय भी वस्तुसत् नहीं है, और न कायकर्म।

पक्षु रूपों को नहीं देखती।

चित्त और इन्द्रिय-संग्रमुक्त काय परस्पर बीज है।

सहनू-हेतु नहीं होते।

असंस्कृत हेतु नहीं बनते।

बुद्ध का सर्वज्ञान सब धर्मों का साक्षात्कार है, उसमें अतीत और अनागत का बीज सम्मिलित है। वह अनुमान अथवा सम्भावना से उत्पन्न नहीं है।

अरुणी सत्त्वों के चित्त और चैत संतान का आश्रय स्व-बाह्य नहीं होता है।

संस्थान केवल प्रजप्ति है, द्रव्यान्तर नहीं है।

चेतना मानसकर्म नहीं है।

परमाणु में दिग्भेद और दिग्विभाग होता है तथा परमाणु प्रसृत है। परमाणु परस्पर स्पर्श करते हैं और उनमें प्रतिघात प्राप्त होता है। आलम्बन-प्रत्यय संगति-परमाणु हैं।

चार लक्षण क्षण और संतत अवस्था अथवा प्रवाह के लिए मानने चाहिए।

प्रवृत्ति-विज्ञान बीज है। सूक्ष्म मनोविज्ञान निरोध-समापत्ति में शेष रहता है।

पाँच विज्ञानों का सहनू-आश्रय नहीं होता।

असंज्ञि-देवताओं में आत्मबाह्य नहीं होता, किन्तु उसका बीज रहता है।

समाधि एकात्मन चित्त-संतति है।

सीधान्तिकों के चिन्तन में, अपने नाम के विरुद्ध, आद्यमानुसारिता के स्वान पर प्रबल ग्यामानुसारिता दृष्टिगोचर होती है और यह सुनिश्चित है कि इन्हीं की सर्वांग पर पिछले बौद्ध ग्याय का विकास हुआ। दूसरी ओर सीधान्तिकों की स्थापनाएँ महा-यानिक विज्ञानवाद की अवतारणा में भी सहायक मानी जा सकती हैं। वैभाषिक दर्शन पर सांख्य और ग्याय-वैशेषिक की स्थापा संलक्ष्य है। सीधान्तिकों ने अपनी तात्त्विक आलोचना से बौद्धदर्शन को पुनः अपनी मूल प्रवृत्ति की ओर खींचा।

हीनयान के सम्प्रदाय : महासांघिक और वात्सीपुत्रीय

महासांघिक और उनके प्रवेद

महासांघिक—महासांघिकों में बुद्ध की अलौकिकता के सिद्धान्त का विशेष प्रतिपादन हुआ। सम्भवतः यही धारा पीछे महायान में परिणत हो गयी। तथागत को अलौकिक मानने पर उनके लौकिक जीवन की प्रतीति को सामिक प्रतीति मानना अनिवार्य हो जाता है। ऐसी ही एक प्रवृत्ति ईसाई धर्म के प्रारम्भिक विकास में भी देखी गयी थी जिसे 'डोसेटिज्म' कहा गया है। बौद्ध 'डोसेटिज्म' अथवा लोकोत्तरवाद के आविर्भाव में अनेक कारणाँ ने सहयोग दिया^१। प्रारम्भ में तथागत की मानव के रूप में समझा जाता था, किन्तु अज्ञानविषय तथा उनके प्रत्यक्ष-दृष्ट अपूर्व गुणों के दर्शन करके उनके व्यक्तित्व का अलौकिक समझा जाना आवश्यक बनक न था। माना कथाएँ और अनुभूतियाँ उनके जीवन के सम्बन्ध में प्रचलित हो गयीं। लौकिकता को उनके लिए एक दीर्घ समझा जाने लगा। तथागत सब प्रकार से निर्दोष थे, अत्यन्त साधारण जीवन की सीमाएँ उनको बन्धुतः छू नहीं सकी थी। इसीलिए उनके जन्म के सम्बन्ध में विशेष रूप से कल्पनाएँ की गयीं हैं और उन्हें अलौकिक रूप से संसार में अवतीर्ण माना गया। जहाँ भगवान् बुद्ध की सर्वथा विमृष्ट-सत्त्वता के लिए उनके जन्म के सम्बन्ध में अपूर्वत्व की कल्पना आवश्यक थी, वही मृत्यु के पश्चात् तथागत रहते हैं अथवा नहीं रहते, यह भी प्रारम्भ से ही एक रहस्य माना गया था। यदि साधारण मनुष्य की तरह से मृत्यु के पश्चात् उनके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता, तो क्या जीवन-काल में ही उनके विषय में निश्चित रूप से कुछ कहा जा सकता है? इस विषय में स्वामाधिक या कि चिन्तन मध्यम-मार्ग के अनुकूल हो।

महायान्तु से ज्ञात होता है कि महासांघिक लोकोत्तरवादी बोधिसत्त्व की उपपावुक अर्थात् स्वतः, न कि माता-पिता से, उत्पन्न मानते थे^२। बोधिसत्त्व की गर्भावस्थिति

१-बु०—आनेसाकि, ई० आर० ई०, बौद्ध डोसेटिज्म पर।

२-इ०—महावस्तु, जि० १, पृ० १६७-७०; महासांघिकों और उनकी शाखाओं के सिद्धान्तों पर इ०—अमुश, पृ० १८ प्र०, वॉलेजेर, पृ० २४ प्र०, बारी, पृ० ५ प्र०; कथावस्तु—१०.१-२, ४, ६-१०; ११.१-२, ५; १२.१-४; १४.१; १५.१-२, ६.१६-१।

'निमित्त' चेत-मात्र के रूप में होती है और उसकी देह का विकास गर्भ की साधारण अवस्थाओं से नहीं होता। गर्भ में भी बोधिसत्व पथकबद्ध आसन में बैठे हुए सारा देवताओं की उपदेश देते हैं। गर्भ में होते हुए भी वे उनके मत से असंपृक्त रहते हैं, और गर्भ से बाहर वे उसकी दारों और से बिना भेद किये हुए निकलते हैं। बोधिसत्व सर्वथा निष्काम हैं, अतएव यदि उनकी सन्तान होती है तो उसे भी उपपातुक मानना चाहिए। इस प्रकार राजसूय को भी उपपातुक कहा गया। सम्मत्-संबुद्ध का कोई भी धर्म लौकिक धर्मों के समुदाय नहीं है। उनका स्वभाव लोकोत्तर है^३। न केवल उनका आध्यात्मिक साधन अथवा पुण्य और गुण अलौकिक है, उनकी शारीरिक क्रियाएँ, भाषना-फिरना, बैठना, देवता, कपड़े पहिनना, सभी कुछ अलौकिक मानना चाहिए। लोकानुवर्तन के लिए वे ईर्ष्यापथ प्रदर्शित करते हैं। शरीर वस्तुतः निरन्तर विमल होते हुए भी वे लोक-प्रदर्शन के लिए उसका प्रकाशन करते हैं। प्रत्यादि की देह-रक्षा के लिए आवश्यकता न रहते हुए भी उनका धारण करते हैं, रोग न होते हुए भी वे औषध का प्रयोग करते हैं। यह कहा गया है कि महासाधियों के अनुसार बुद्ध एक साथ ही अनेक लोगों में प्रकट होते हैं^४। समुचित के विवरण में बुद्ध की लोकोत्तरता तथा अनेक अन्य महासाधिक सिद्धान्त निरूपित हैं। बुद्ध सब धर्मों को एक साथ में ही जलाते हुए सर्वज्ञ होते हैं^५। तथागत साक्षर धर्मों से असंपृक्त है। जिन १८ बातों में उनकी देह का निर्माण होता है वे सब जगद्विषयों से विमुक्त हैं एवं उनका आसनों से न सम्प्रयोग है न सम्बन्ध। तथागत अपने सब वचन से धर्मचक्र का प्रवर्तन करते हैं। एक शब्द से वे समस्त धर्म का आख्यान करते हैं। उनके वचन में अवधारण भी नहीं होता। तथागत की रूप-काय वस्तुतः अनन्त है, उनका प्रभाव भी अनन्त है एवं उनकी आयु भी अनन्त है। बुद्ध न मीते हैं, न स्वप्न देखते हैं, वे प्रवर्तों का बिना वितर्क-विचार के उत्तर देते हैं। बुद्ध कभी एक शब्द भी नहीं कहते हैं क्योंकि वे शास्त्रवत् समाधि में स्थित होते हैं

३—"नहि किञ्चित् सम्मत् सम्बुद्धानां लोकेन सयम् । अथ जलं सर्वमेव महर्षीणां लोकोत्तरम् ।" (वही १.१५९); ४०—समुत्ति (जन्० समुदा) पृ० १८-१९।

४—अतिवर्तकोश, जि० ३, पृ० २९८-२०१, यह मत स्पष्ट ही सुप्रविष्ट है, (वही, पृ० २९८) किन्तु महासाधियों का कहना था कि नाग लोकधामजनों में सत्त्वानुग्रह के लिए अनेक बुद्धों का एक साथ आविर्भाव मानना चाहिए।
 ५—कथायास, २१.६।

५—कोश, सि० ५, पृ० २५४; समुत्ति (जन्० समुदा), पृ० २१।

किन्तु त्रीषण सोचते हैं कि उन्होंने सब कहे। परिनिर्वाण में प्रवेश करने तक बुद्ध भगवान् का ज्ञान-ज्ञान एवं अनुत्पाद-ज्ञान अविश्राम प्रवृत्त रहता है। बुद्ध सब विधाओं में स्थित होते हैं।

सत्त्वों के परिधावनार्थ बोधिसत्त्व दुर्गति में पुनर्जन्म-धारण का प्रणिधान करते हैं और उनका जन्म उनकी इच्छा पर निर्भर करता है। बुद्ध अनेक रूप से सत्त्वों का बोधन और श्रद्धापन करते हैं।

महासाधिकों को स्वीकार्य महादेव की पाँच वस्तुओं से यह स्पष्ट है कि मूल महासाधिक अहंत्व को भक्ति की अवस्था नहीं मानते थे, किन्तु कुछ बाद के महासाधिक और सैल-शास्त्रार्थ भिन्न मत की थी।

महासाधिक अनुशर्षों को अनालम्बन और निश्चिन्तप्रयुक्त मानते थे। सत्य का अभिसमय उनके मत से एक बार में ही होता है न कि क्रमिक रूप से। महासाधिक लोकोत्तर धर्मों का जरा-भरण भी असौकिक मानते थे।

पञ्च विज्ञानकाय सराग और विराग होते हैं। पदविज्ञानकाय रूप और अरूप वातुओं में भी सकल पाये जाते हैं; चित्त में भी रूप होता है। पाँचों इन्द्रिय केवल मांसपिण्ड हैं, प्रत्यक्ष उनसे नहीं, विज्ञान से होता है।

समाहित पुरुष भी शब्दोच्चारण कर सकता है।

कृतकृत्य होने पर किसी धर्म का आदाय नहीं होता। स्रोतआपन्न के चित्त और चैतन्यिक धर्म अपने स्वभाव के परिज्ञान में समर्थ है। दुःख मार्ग की ओर ले जाया है, एवं दुःख बचन इसमें सहायक होते हैं। प्रज्ञा से दुःख का नाश और सुख की प्राप्ति होती है। दुःख एक प्रकार का जाहार है। अष्टमक भूमि में चिर-काल तक रहा जा सकता है। मोक्षभूमि में धर्म परिहाण की सम्भावना रहती है। स्रोतआपन्न के लिए विनिर्बर्तन सम्भव है, अहंत्व के लिए नहीं। सम्यग् दृष्टि एवं श्रद्धेन्द्रिय अलौकिक है। कोई धर्म अव्याकृत नहीं है अर्थात् सब कुशल अवस्था अकुशल में संगृहीत है। सम्यक्त्वनिर्वाण की प्राप्ति से सब संयोजन क्षीण हो जाते हैं। पाँच आगन्तव्यों को स्रोतआपन्न नहीं कर सकता है।

सब सूक्ष्म भीतार्य हैं।

असंस्कृत धर्म नौ है—प्रतिमत्त्वानिरोध, अ०, आकाश, आकाशानन्त्ययान, विज्ञानानन्त्ययान, आकिञ्चन्यायान, मैवमज्ञायान, प्रतीत्यसमुत्पादाङ्गस्वभाव एवं कार्यमाणाङ्ग-स्वभाव। तन्मूढि के तिस्रहो अनुवाद के अनुसार अष्टम असंस्कृत है प्रतीत्यसमुत्पाद, यद्यपि प्रकृतिभास्वर कित् (३०—पाल्लेवर, पृ० २३)।

चित्त स्वभावतः भास्वर है एवं उपलब्धेशी तथा 'आगन्तुक-रज' से मलिन होता है । अनुशय न चित्त है, न चैतसिक और न चित्त का आलम्बन करते हैं । वे अग्राकृत और अग्रेतुक है । अनुशय और पर्यवस्थान मिश्र है—अनुशय चित्तविप्रयुक्त होते हैं, जब कि पर्यवस्थान चित्त-सम्प्रयुक्त ।

न अतीत धर्मों की सत्ता होती है, न अनागत ।

स्रोत-आपन्न ज्ञान-प्राप्त होते हैं ।

अन्तराभाव नहीं होता ।

महासांघिकों के उपर्युक्त अम्पूगम अनुमिष से ज्ञात होते हैं, कथावस्तु से उनके कुछ अन्य सिद्धान्तों का पता चलता है—

मार्ग-समज्झी का रूप भी मार्ग है । यहाँ सम्मसाक्, सम्मस्कमान्त एवं सम्मसा-जोव को ओर संकेत है जो कि मार्ग के अन्तर्गत है और 'रूप' अथवा भौतिक भी है । पञ्चविज्ञानसमज्झी होते हुए मार्ग-भावना की जाती है । मार्गसमज्झी दो धीलों से समन्वागत होता है—लौकिक और लोकोत्तर । धील अर्चैतसिक और अ-चिन्तानु-परिवर्ती है । समादानहेतुक धील की वृत्ती होती है । चिन्तणि धील है, अविज्ञप्ति बोधगीत्य अज्ञान के विगत होने पर एवं चित्त के ज्ञानविप्रयुक्त रहने पर उसे ज्ञानो नहीं कहना चाहिए ।

कृद्धि-बल में समन्वागत होने पर एक कल्प तक रखा जा सकता है ।

इन्द्रियों का संवर और असंवर कर्म है । सब कर्म सविपाक है । शब्द विपाक है । पञ्चापतन विपाक है । अकुशल-मूल और कुशल मूल का अन्याय्य-प्रतिसन्धान होता है ।

प्रत्ययता व्यवस्थित है । संस्कार अविद्या-प्रत्यय है, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि अविद्या संस्कार-प्रत्यय है ।

एक दूसरे का चित्त-मिश्रण कर सकता है ।

अहंत्व की प्राप्ति होने पर भी अविद्या और विचिकित्सा रूप कुछ संयोजन रोष रह जाते हैं ।

पाँच विज्ञान सामोय हैं । यह उल्लेख्य है कि श्वांतध्वांग की विज्ञप्तिमात्रा-सिद्धि (पूर्व, पृ० १७८-७९) के अनुसार महासांघिक यह मानते थे कि—

पञ्चविज्ञान आदि का आश्रयभूत एक मूल-विज्ञान है जैसे कि वृक्ष-मूल पत्रादि का आश्रय होता है । यह सूचान्तिकों के मन से एवं परवर्ती 'आलम्बविज्ञान' से सुलनीय है ।

यमुनिव के अनुसार कुछ बातों पर उत्तरकाश में महासांघिक, एकव्यावहारिक, लोकोत्तरवादी एवं गोकुलिकों ने भिन्न मत प्रकट किये—आर्यसत्ता ने आचार-वेद के अनुसार अभिमनय में चर होता है।

कुछ धर्म स्वरूपक है, कुछ परकृत, कुछ उभयकृत, एवं कुछ प्रतीत्यसमूहक।

सोचित एक साथ उत्पन्न हो सकते हैं।

मार्ग और क्लेश एक साथ रह सकते हैं।

धर्म और विपाक साथ-साथ होते हैं।

बीज का ही अंकुर में परिणाम नहीं होता है अर्थात् रूप-धर्म के सिद्ध शान-अवस्था अस्वीकार्य है।

कोटिद्वय-नाम महामूर्तों का परिणाम होता है, चित्त एवं ज्ञान धर्मों का नहीं।

चित्त समस्त कार्य को व्याप्त करता है एवं अपने साधन और विषय के अनुसार संकुचित तथा प्रसारित होता है।

यह स्मरणीय है कि महासांघिकों के सिद्धिपत्र का शृङ्गाराम कालान्तर में संकुचित-पिटक नाम से चतुर्थ पिटक हो गया। द्वाव्याम के अनुसार उनका एक चौथवां धारणीपिटक भी था।^१

महासांघिक

लोकोत्तरवाद—यमुनिव के अनुसार बुद्धाज के दूसरे शतक में एकव्यावहारिकों एवं गोकुलिकों के साथ लोकोत्तरवादियों का भी महासांघिकों के मध्य से आविर्भाव हुआ।^२ वेरवादी और सम्मतीय परम्पराओं में केवल एकव्यावहारिकों एवं गोकुलिकों का उल्लेख है। विनीतदेव में केवल लोकोत्तरवादियों का उल्लेख है। मध्य की महासांघिकों सूची में केवल महासांघिकों और गोकुलिकों का उल्लेख है। तारानाम के अनुसार लोकोत्तरवादी गोकुलिकों से पुनश्च नहीं थे, और एकव्यावहारिक महासांघिकों से। वारो के मुताबिक अनुसार लोकोत्तरवादी एकव्यावहारिकों से पुनश्च नहीं थे। लोकोत्तरवादियों का अनेक-वैयक्तिकों से भी स्थापित किया गया है (इस, जि० २, पृ० ५१)।

६-घाटर्स, जि० २, पृ० १६०-६१।

७-यमुना, पृ० १५।

८-तारानाम, पृ० २७३।

९-वारो, पृ० ७५-७६।

बसुमित्र की व्याख्या में परमार्थ ने महासाधकों के अन्तर्गत भेद की उत्पत्ति 'महापानसूत्रों' के प्रामाण्य पर विवाद के कारण बताया है।" इवान्-ज्वांग ने लोकोत्तरवादियों के बिहार बामियान में पाये गये।" तारासाय ने उनकी पाल-भुग में सत्ता की सूचना दी है।" महावस्तु नाम से उनके विनयपिटक का पहला भाग प्राकृतमिश्र संस्कृत में उपलब्ध है।

लोकोत्तरवादियों के नाम से ही सूचित होता है कि बुद्ध और बोधिसत्त्व की लोकोत्तरता का सिद्धान्त उन्हें विषय कर्म से मान्य था। महावस्तु से इसका समर्थन होता है। निदानकथा के समान महावस्तु में बुद्ध-चरित का तीन विभागों में विवरण दिया गया है। पहले में दीपकर बुद्ध के समय की बोधिसत्त्वचर्या का वर्णन है, दूसरे में लुपित स्वर्ग और बोधिसत्त्व की गर्भावस्थान्ति से लेकर सम्बोधि तक वर्णन है, तीसरे में धर्म-व्याप-प्रवर्तन एवं संघ के अभ्युदय का महावग्ग से तुलनीय वर्णन है। नाना जातकों अथवानों, सूत्रों और गाथाओं के समावेश ने इस ग्रन्थ को विपुलाकार बना दिया है। बोधिसत्त्व की लोकोत्तरता एवं उनके आध्यात्मिक विकास की भूमियों का इसमें वर्णन किया गया है। दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व से लेकर चतुर्थ शताब्दी के बीच में इस ग्रन्थ की रचना पूरी हुई होगी।

परमार्थ के अनुसार लोकोत्तरवादी लौकिक धर्मों को वास्तविक नहीं मानते थे क्योंकि वे कर्म से उत्पन्न होते हैं और कर्म स्वयं विपर्यय से उत्पन्न होता है। लोकोत्तरधर्म पारमार्थिक है। मार्ग और मार्ग-फल पारमार्थिक है। मार्ग-फल में दो शून्यताएं संगृहीत हैं। दो शून्यताओं के अनिसमय तक पहुँचाने वाली प्रज्ञा ही मार्ग है। शून्यता ही परमार्थ है और उसका बोध भी।"

बसुमित्र, भय्य और विनीतदेव में लोकोत्तरवादियों के अन्य सिद्धान्त महामाधिकों के सदृश ही है।

एकव्यावहारिक—परमार्थ के अनुसार एकव्यावहारिक संप्रदान में सब धर्म-संसार और निर्वाण, लोकधर्म और लोकोत्तरधर्म—अज्ञप्ति मात्र एवं अवस्तु मात्र माने जाते थे। इस समानवाचक पद का सब धर्मों में अभेद व्यवहार मानने के कारण

१०—इहीं।

११—बाटर्स, जि० १, पृ० ११६।

१२—तारासाय, पृ० २७४।

१३—बारी, पृ० ७६।

वे एकव्यावहारिक कहे जाते थे। भव्य के अनुसार, तथागत एक चित्त से एक क्षण में सब धर्म जानते हैं—इस मत को स्वीकार करने के कारण इस सम्प्रदाय को 'एकव्यावहारिक' कहते थे।^{१४}

कौक्कुटिक—इस सम्प्रदाय का नाम कौक्कुटिक, कौक्कुलिक अथवा गोकुलिक था। कुक्कुल के अर्थ 'रास' होते हैं एवं 'कुक्कुल-कथा' के कारण उन्हें 'कौक्कुलिक' कहा गया है। यह सम्भव है कि कुक्कुटराम से सम्बन्ध होने के कारण वे कौक्कुटिक कहे गये हों। कौक्कुटिक यह मानते थे कि पिटकों में केवल अभिधर्म ही तथागत की वास्तविक देशना है। सूत्र और विनय केवल उपाय मात्र है। अतएव इस निकाय के अनुयायी अपने को विनय के अनुशासन से मुक्त समझते थे। सूत्रपरिशीलन को भी वे अनावश्यक मानते थे और कहते थे कि इस प्रकार का अध्ययन मुक्ति के मार्ग में बाधक होता है। धर्म-देशना की ओर भी वे उदासीन थे और केवल ध्यान की महत्त्व देते थे।^{१५}

बुद्धशोध के अनुसार (कथा, २.६ पर) वे समस्त संस्कारों को कुक्कुल-मात्र मानते थे और इस मत के समर्थन में आदीपतपर्याय का उद्धरण करते थे।

बहुभूतीय—अभिलेखों से गन्धार और अन्ध में बहुभूतीयों की स्थिति ज्ञात होती है।^{१६} परमार्थ के अनुसार अर्हत् प्राप्त करने वाले उनके प्रवर्तक थे और उन्होंने सूत्रों में नीतिार्थ और नेयार्थ का भेद माना। हरिवर्मन् का सत्य-सिद्धि-शास्त्र भी इसी सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखता था। इस शास्त्र में पाँच पिटकों का उल्लेख मिलता है—सूत्र०, विनय०, अभिधर्म०, संयुक्त० एवं अभिधर्म०। जमुमित्र के अनुसार बहुभूतीय सम्प्रदाय में बुद्ध के 'पाँच स्वर' देशना की पाँच वस्तुएँ शान्त या लोकोत्तर माने जाते थे—अनित्यता, दुःख, शून्यता, अनात्म्य और निर्वाण। ये वस्तुएँ नैर्गोणिक हैं और विमुक्ति-मार्ग में पहुँचाती हैं। देशना की शेष बातें लौकिक हैं। महादेव की अर्हत्-विषयक पाँच वस्तुएँ इस सम्प्रदाय में स्वीकृत थीं।^{१७} भव्य के अनुसार^{१८} नैर्गोणिक मार्ग इनके मत में निर्विचार है। दुःखसत्य, संयुतिसत्य, एवं आर्यसत्य सत्य है। समाप्ति का लाभ संस्कार-दुःखता के बोध से होता है, दुःख-दुःखता और परिणाम-दुःखता के बोध से नहीं। संघ लोकोत्तर है।

१४—वालेजेर, पृ० ७९।

१५—सु०—बारो, पृ० ७९-८०।

१६—इ०—सामोन, इस्वार टु कुडीम्म आंवा, पृ० ५८०।

१७—वालेजेर, पृ० ३०; बारो, पृ० ८२।

१८—भव्य के विवरण के लिए इ०—वालेजेर, पृ० ८३।

प्रज्ञापितवाद—परमायें के अनुसार प्रज्ञापितवाद का जन्म बहुभुतीयों के अन्तर्गत सुधार से हुआ है। इसी कारण उन्हें बहुभुतीय-विभक्तियों भी कहा जाता था। महाकाव्यात्मक इस सम्प्रदाय के अवर्तक कहे गये हैं। अथ के अनुसार प्रज्ञापितवादियों के विवरण में १८ का दुःख स्वरूप नहीं है। बाराह आयतन परिनिष्पन्न अथ नहीं है (कथाश्रव २३.५ तुलनीय है)। संस्कार आन्वीन्द्र-परतन्त्र हैं (और वसुभिज के अनुसार प्रज्ञापित मान एवं दुःख हैं)। १८ वर दुःख परमायेंतः सत्य हैं (तु०—कथा, २३.५)। वैतनिक प्रज्ञापितवादी नहीं हैं। अकाल मरण नहीं होता। पुनश्च कर्ता नहीं है। सप्त दुःख का कारण पूर्व-जर्म है।

वसुभिज के अनुसार, वृष्य से आर्यमात्र की प्राप्ति होती है, मार्ग प्राप्तमित्यत्र नहीं है, और न भगवोम्य है।^{११}

महासाधिका : 'चैत्यक', 'शैल', एवं 'आग्नेयक' शाखाएँ—

चैत्यशैल, अपरशैल और पारशैल सम्प्रदायों का जन्म महासाधिकों के अन्तर्गत से द्वितीय महादेव के कारण बताया गया है।^{१२}

वसुभिज के चीनी अनुवाद के अनुसार चैत्य-निकायों में बोधिसत्त्व के लिए स्वेच्छया पूर्णप्रज्ञापित सम्भव है, स्तूप की पूजा से महाफल नहीं होता, तथा पहले महादेव की पवित्र वस्तुएँ स्वीकार की जाती हैं।^{१३}

बुद्धशैल के विवरण में पूर्वशैल, अपरशैल, राजमिरिक और सिद्धाधिक निकायों को अथक अथवा अग्नेयक कहा गया है (तु०—बारी, पृ० ८८)। कथाश्रव में उनके अनेक मतों का निर्देश है—तत्र धर्म स्मृति-प्रस्थान के विषय हैं (कथा०, १.९)।

अर्थात् अतागत, प्रत्युत्पन्न, कर्म, अन्व स्वरूप, सब धर्म सबमूच में हैं और नहीं हैं। वे स्वकथतः हैं, पर-कथतः नहीं हैं (कथा, १.१०)।

१८—बारी, पृ० ८४।

१८क—बालेखर, पृ० ८३।

१८ख—वही, पृ० ३०।

१९—बारी, पृ० ८७; बालेखर, पृ० ३२, पा० टि० ४३; वही, पृ० ८; अम-रावती, नागार्जुनिकोश आदि के अमिलेखों में 'चैतिकीय', 'चैत्यक', 'चैत्य', 'शैलीय', 'अपर महावनशैलीय', 'महावनशैलीय', 'पूर्वशैली' और 'अपरशैल', निकायों के नाम मिलते हैं;—नामांश, इस्त्वार बु बुद्धीश्च आंजा, पृ० ५८०—८१।

२०—बालेखर, पृ० ३१।

चित्त एक दिन का अधिक रहता है (कथा, २.७) ।

अभिसमय अनुपूर्व होता है (कथा, २.८) ।

बुद्ध जगत्मान का व्यवहार लोकोत्तर है (कथा, २.१०) ।

दो निरोध हैं जोकि असंस्कृत हैं (कथा, २.११) ।

तथागत का बल आवक-साधारण है (कथा, ३.१) ।

तथागत का बल, जो कि स्वातास्थान का समाभूत ज्ञान है, आर्य है अर्थात् तथागत के दस बल समाभूत प्रज्ञात्मक और आर्य हैं (कथा, ३.२) ।

संसार चित्त ही विमुक्त होता है (कथा, ३.३) ।

अष्टमक पुद्गल के दृष्टिपर्यवस्थान और विचिकित्ता-पर्यवस्थान ग्रहीण है । अष्टमक पुद्गल के न धर्मेन्द्रिय है, न वीर्येन्द्रिय न स्मृतीन्द्रिय, न समाधौन्द्रिय, न ज्ञेय-न्द्रिय, किन्तु उसके पास धृष्टा है, शीघ्र है, स्मृति है, समाधि है, और प्रज्ञा है (कथा, ३.५-६) ।

दिव्य-वस्तु धर्म से उपादृश्य मांसवस्तु है (कथा, ३.७) ।

असंज्ञि-संस्कारों में भी संज्ञा होती है । यह तही कहा जा सकता कि नैवप्रज्ञानासंज्ञा-मत्तन में संज्ञा होती है (कथा, ३.११-१२) ।

बोधिसत्त्व साध्व्यमणि का ब्रह्मचर्य, एवं नियाम में अवस्थानि, कारणपुद्गल के प्रवचन के अनुभाव से सम्पन्न हुई (कथा, ४.८) ।

अहंत्व-प्रतिपक्ष पुद्गल पिछले तीन कर्मों से समावृत्त होता है । अहंत्व सब संयोजनों का ग्रहीण है (कथा, ४.९-१०) ।

जिते विमुक्ति-ज्ञान है वह विमुक्त है (कथा, ५.१) ।

पृथ्वी-कुल्लन (कमिण) पर आधारित नमामांस विपरीत ज्ञान देता करती है (कथा, ५.३) ।

सब ज्ञान प्रतिनिधिदा है (कथा, ५.५) ।

यह तही कहा जा सकता कि संपूर्ण-ज्ञान का अतर्पित मत्तन है, अमना असत्य (कथा, ५.७) ।

पर-चित्त के साक्षात् ज्ञान का आत्मवत्त चित्त है न कि उसका विषय । ज्ञानागत का ज्ञान होता है, प्राप्तागत का भी ज्ञान होता है (कथा, ५.७-९) ।

आवकों में कल-ज्ञान होता है (कथा, ५.१०) ।

नियाम असंस्कृत है, निरोध समाधिति भी असंस्कृत है (कथा, ५.११-१२) ।

आकाश सनिदर्शन है, पृथ्वी-धातु, जल धातु, तेजो-धातु और वायु-धातु सब सनिदर्शन अथवा दृश्य हैं (कथा, ९.७-८) ।

पृथ्वी कर्मविपाक है, जरा मरण भी विपाक है । आर्मे धर्म का विपाक नहीं है । विपाक विपाक-धर्म-धर्म है (कथा, ७. ७-१०) ।

गतिर्मा छः है (कथा, ८.१) ।

रूप धातु रूपी-बनौ से निर्मित है । रूप-धातु में आत्मभाव बढायतनिक है । अरूप में भी रूप है । क्योंकि अरूप-भव में विज्ञान-प्रत्यय नामरूप होते हैं और अतएव औदारिक रूप में अनिशित एक सूक्ष्म रूप की सत्ता माननी होगी (कथा, ८.५, ७-८) ।

आनिशंस-दधी संयोजन छोड़ देता है (कथा, ९.१) ।

अनुशय अनालंबन है, (अहंत् का) ज्ञान अनालंबन है (कथा, ९.४-५) ।

अतीत और अनागत से जैसे ही समन्वागति होती है जैसे प्रत्युत्पन्न से (कथा, ९.१२) उपपत्तिमवेधी पञ्चस्कन्धी के अनिरुद्ध रहते हुए ही पाँच क्रियास्कन्ध उत्पन्न होते हैं (कथा, ९.१३) ।

'इदं दुःखम्' यह कहते हुए 'इदं दुःखम्' यह ज्ञान उत्पन्न होता है (कथा, ११.४) ।

धर्मेस्थिता परिनिष्पन्न है । अनित्यता, जरा एवं मरण परिनिष्पन्न है (कथा, ११.७-८) ।

समापन्न (पुरुष) आस्वादन का अनुभव करता है, ध्यान-काम होता है और ध्यानालंबन होता है (कथा, १३.७) ।

अनुशय अन्य है, पर्यवस्थान अन्य पर्यवस्थान चित्तविप्रमुक्त है (कथा, १४.५-६) ।

रूप-राम रूपधातु में अनुशयित है और रूप-धातु-पर्यापन्न है । ऐसे ही अरूप-राम, अरूप-धातु से सम्बद्ध है । (कथा, १४.७) ।

दुष्टिगत अव्याकृत है (कथा, १४.८) ।

कर्म पृथक् है, कर्म का उपचय पृथक् (कथा, १५.११) ।

रूप कर्मविपाक है । रूपावचर में रूप होता है और ऐसे ही अरूपावचर में भी । अहंतों का पुण्योपचय होता है (कथा, १९. ८-९, १७.१) ।

तथागत के उच्चार और प्रत्याव अन्य गन्धों का अतिशायन करते हैं (कथा, १८.४) ।

एक ही मार्ग में चारों धामध्य-फलों का साक्षात्कार होता है । कुछ के मत से एक ध्यान से दूसरे ध्यान में साक्षात् (बिना उपचार-प्रवृत्ति के) संक्रमण होता है । अन्य के मत से ध्यानातिरिक्त अवस्थाएँ होती हैं (कथा, १८. ५-७) ।

शुन्यता संस्कार-स्कन्ध-पर्यापन्न है (कथा, १९.२) ।

निर्वाण धातु कुशल है (कथा, १९.६) ।

निरय में निरयपाल नहीं है, देवलोक में पशु होते हैं जैसे ऐरावत (कथा, २०.३-४) ।

बुद्ध में अथवा श्रावकों में 'अधिष्ठाप इन्द्रि' होती है । बुद्धों में हीनातिरेकता होती है (कथा, २१.४-५) ।

सब धर्म नियत हैं, सब कर्म नियत हैं । अर्हत् के परिनिर्वाण में भी कुछ संयोजन अप्रहीण होते हैं क्योंकि वे बुद्ध के समान सर्वज्ञ नहीं होते (कथा, २१.७-८; २२.१) ।

एकाधिप्राय से मैथुन धर्म प्रतिशेवितव्य है । अर्थात् कारुण्यपूर्वक अथवा स्त्री के साथ बुद्ध-पूजा के अनन्तर संसार में साहचर्य की प्रणिधिपूर्वक मैथुन किया जा सकता है (कथा, २३.१) ।

ऐश्वर्य कामता के कारण बोधिसत्त्व का विनिपात होता है (कथा, २३.३) ।

अराग में राग-सादृश्य होता है, जैसे मैत्री, करुणा, एवं मुदिता में (कथा, २३.४) ।

पूर्वशीलीय—पूर्वशील सम्प्रदाय को बुद्धशोध ने (अन्यकों की) परवर्ती साक्षा माना है" । कदाचित् बगुमित्र एवं परमार्थ के विवरण में उत्तरशील के नाम से यही सम्प्रदाय विवक्षित है" । लगभग अशोक के समय में इसका उद्भव हुआ । अन्ध-देश में इसका विकास हुआ, किन्तु द्वाब्बांग के समय तक यह सम्प्रदाय उत्तमप्राय था" ।

बगुमित्र से ज्ञान होता कि, पूर्वशीलीयों के अनुसार बोधिसत्त्व को दुर्गति से विमुक्त नहीं माना जा सकता है ।

स्तूप-पूजा अथवा चैत्य-पूजा को महाफल नहीं स्वीकार किया जा सकता है ।

अर्हत्ता में शूक-विमृष्टि, अज्ञान, विचिकित्सा, परवितारणा, एवं 'वाक्भेद' के द्वारा समापत्ति, स्वीकार करनी चाहिए ।

कथारथ से पूर्वशीलों के अन्य सिद्धान्त प्रकट होते हैं—

दुःसाहार मार्ग का अंग है और मार्गपर्यापन्न है (कथा, २.६) ।

प्रतीत्यसमुत्पाद असंस्कृत है । चार सत्य भी असंस्कृत हैं (कथा, ६.२-३) ।

२१-सों. (अनु०), बिबेदस कमेन्टरी, पृ० ५ ।

२२-बाटी, पृ० १९; इसके विरुद्ध पूर्वशीलों को परवर्ती शैल सम्प्रदायों से भिन्न किन्तु 'चैत्यकों' से अभिन्न कहा गया है । इत्त, मौनेस्टिक बौद्धिज्म, जि०

२, पृ० १०५ ।

२३-वाटर्स, जि० २, पृ० २१७ ।

अन्तरात्मक की सत्ता स्वीकार्य है (कथा, ८-२) ।

पंच कामगुण सामधानु-सम्बन्धी हैं । पाँचों अवयवों को काम बताया गया है (कथा, ८-३-४) ।

बीभर्तिन्द्रिय को मन नहीं माना गया है (कथा, ८-१०) ।

अर्हत् अपने धर्म के कारण अर्हत्त्व से गिर सकता है (कथा, ८-११) ।

अमृतास्वप्न भी समीपन हो सकता है (कथा, ९-२) ।

धित्व और विचार करते हुए वित्तों का विस्कार शब्द है (कथा, ९-९) ।

बाणी बयानित नहीं होती है । वाक्यमें बयानित नहीं होता है (कथा, ९-१०-११)

ज्ञान वित्तविशेष्यका है (कथा, ११-६) ।

दुष्टिसम्पन्न पुद्गल भी जान-बूझकर बरत कर सकता है (कथा, १२-७) ।

जो नियत है वह नियाम में अवतरण करता है (१३-४) ।

परमवृष्णा अध्याकृत है । परमवृष्णा दुःख-समुत्पन्न नहीं है (१३-९-१०) ।

पञ्चावतन मातृ-सर्प से एक साथ ही उत्पन्न होते हैं (१४-२) ।

दुष्टिताम्य लोक में पर्यापन्न नहीं है (कथा, १४-९) ।

सम्पन्न अधिगत करने पर मनसिकार होता है (कथा, १६-४) ।

समापन्न शब्द मुनता है (१८-८) ।

धामपञ्चकल असंस्कृत है । प्राप्ति भी असंस्कृत है (कथा, १९-३-४) ।

पञ्चावतन ज्ञान उदयसम्पन्न है (कथा, २०-६) ।

सर्व धर्म एक वित्त लक्षिक है (कथा, २०-८) ।

अपरश्रौत—अपरश्रौत सम्प्रदाय भी अण्वकी (अण्व्रकी) की एक शाखा थी । सात्त्विकविकोप के अभिलेखों में उनके दीव्यनिरास, मज्झिम, संयुक्त, एवं 'पंचमातृक, का उल्लेख प्राप्त होता है ।" अनुचित के अनुसार अपरश्रौतीय सम्प्रदाय में बोधिसत्त्व का पुण्डित से अमृत कहा गया है, स्तुति और चैत्यों की गुजा महानल नहीं माली नहीं है और अर्हत्ता में भूत-विमर्ग, अज्ञान, विभक्तिता, परिकल्पना, या 'वर्षाभेद' स्वीकार किया गया है" । कथावर्णन में अन्य मत सूचित किये गये हैं—नियत का नियाम में अवतरण स्वीकार किया गया है और यह भी माला गया है कि पञ्चावतन का एक साथ उत्पन्न होना सम्भव नहीं है ।

संघ में जन्म होता है। लोकोत्तर ज्ञान की प्राप्तावस्थानता एवं संघ धर्मों की एक-चित्त-सामिकाता भी अपरार्थियों को स्वीकार्य है।

राजगिरिक—अन्धकों की एक और भाषा राजगिरिक सम्प्रदाय में^{११} संघ धर्मों की परस्पर असंगतता अथवा विजातीय स्वीकार किया गया है। कोई भी धर्म दूसरे से सम्प्रयुक्त नहीं है।

वैतसिक धर्मों की सत्ता का प्राधारण्य किया गया है क्योंकि वे चित्त से भिन्न, किन्तु चित्त-सम्प्रयुक्त होते।

दान की वैतसिक धर्म बताया गया है। धर्मभोगमय दान से पुण्य बढ़ता है।

ये तीनों सिद्धान्त परस्पर विरोध प्रतीत होते हैं—वैतसिक धर्म है ही नहीं तो दान की वैतसिक धर्म होगा? और यदि दान वैतसिक धर्म है तो धर्मभोगमय दान का वैशिष्ट्य निर्मूल है।

दान के द्वारा इह और परम काम चलता है।

जिसे एक क्षण तक ठहरना है वह एकक्षण तक ठहर सकता है।

जो संज्ञावैधित्त-निरोध को समाप्त है वह मर सकता है। अकाल मृत्यु अर्हत्तों में नहीं होती।

सब कुछ कर्म के द्वारा प्रवर्तित है।

राजगिरिकों से सिद्धांतिकों का घनिष्ठ सम्बन्ध था। दोनों के विश्वास अभिन्न बताये गये हैं।

वैतुल्यक—वैतुल्यकों के अनुसार^{१२} यह नहीं कहा जा सकता कि संघ दक्षिणा का प्रतीक करता है। वास्तविक संघ मार्ग और फलों से ही निष्पन्न होता है। इनके अतिरिक्त और कोई संघ परमार्थभूत नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि संघ दक्षिणा का विमोक्षण करता है और न यह कि संघ क्षाता है, पीता है या जलाता या आस्वादन करता है।

२६-तु०—सूत्र, १२२५, १२५०, उनके सिद्धान्तों के लिए इ०—कथा, ७.१-६; १३.१; १३.२-३।

२७-तु०—सूत्र, १२८१; बायो, पृ० १०९।

२८-इ०—कथा, १.३.६-१०; १.८.१-२; २.३.१; वैतुल्यकों का सम्बन्ध कथावित्

“वैतुल्य” एवं “वज्र” से था और अतएव महायान एवं वज्रयान से—तु०—बायो,

संघ के विषय में वैतुल्यकों के ये तीन सिद्धान्त संघ का एक नया आध्यात्मिक रूप प्रतिपादित करते हैं। वे यह भी मानते थे कि संघ को दान देने का कोई महान् फल नहीं होता है और यह भी कि बुद्ध को दान देने का ही बड़ा फल होता है।

उनके अनुसार यह नहीं कहना चाहिए कि बुद्ध भगवान् मनुष्यलोक में सचमुच रहते थे। वस्तुतः केवल उनका एक निमित्त रूप ही लोक में आकर देशना करके तुषित लोक लौट गया था। यह भी नहीं कहना चाहिए कि बुद्ध भगवान् ने धर्म को देशना की थी। वे स्वयं तुषित लोक में ही स्थित थे और वहाँ से उन्होंने धर्मदेशना के लिए एक अभिनिर्माण प्रेषित किया था। इस द्वार से धर्मदेशना प्राप्त कर आनन्द ने धर्म की देशना की थी।

एकाधिप्राय से मीथुन धर्म प्रतिसेवितव्य है। बुद्धधोष के अनुसार एकाधिप्राय से तात्पर्य कारुण्य से था। जैसे कि स्त्री के साथ बुद्ध-पूजा करने के बाद यह प्रणिधान किया जाय कि 'हम संसार में एक साथ रहें।

वात्सीपुत्रीय और उनके प्रभेद

वात्सीपुत्रीय—वात्सीपुत्रीयों का उद्भव निर्वाण से २०० वर्ष पश्चात् हुआ। उनके अभिधर्म के नौ भाग थे और उसका नाम शारिपुत्राभिधर्म या धर्मलक्षणाभिधर्म था। वसुमित्र, भण्ड्य एवं कणावत्यु से ज्ञात होता है कि इस सम्प्रदाय के अनुसार^१ पुद्गल की साक्षात्कृत-नरमायं रूप से उपलब्धि होती है। न तो पुद्गल एकस्कन्धात्मक है, न स्कन्धों से मिश्र, न वह स्कन्धों में अवस्थित है, न उनसे अलग। जो कुछ उपादानोप अथवा स्कन्ध, वायु और आमतन पर निर्भर है, वह प्रजप्ति है। पुद्गल के अतिरिक्त और कोई अन्य धर्म इस लोक से परलोक को संक्रमण नहीं करता।

सब संस्कृत वस्तुएँ एकअणिका हैं।

पाँच विज्ञान न सराग है, न विराग।

पाँच अभिज्ञा प्राप्त हुए तीथिक लोग भी हैं।

काम-धानु के संयोजनों का ग्रहाण जो कि भावना से प्राप्य है उसी को विराग कहा जाता है। यह दर्शन-ग्रहातव्य संयोजनों के ग्रहाण से मिश्र है।

२९-इ०—कथा, १.१-०; कोश, ९; स्फुटार्वा, पृ० ६९७ प्र०; बालेसेर, पृ० ६० प्र०, मनुवा, पृ० १६-५६ आदि; वारो, पृ० ११४ प्र०; दत्त—गीतेन्द्रिक मुद्रिग, जि० २, पृ० १७६ प्र०।

शान्ति, नाम, आकार और लौकिकाग्रधर्म सम्यक्त-नियाम तक पहुँचाने वाली चार अवस्थाएँ हैं। दर्शन-मार्ग में ऐसे चारह चित्तक्षण हैं जहाँ प्रतिपन्न की अवस्था होती है। तेरहवें क्षण में स्थिति फल का अभिधान होता है।

यह नहीं कहा जा सकता कि निर्वाण धर्मों से भिन्न अथवा अभिन्न है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि निर्वाण वस्तुतः सत्तावान् है अथवा सत्ताहीन।

अहंत्वं से अहंत्वं गिर सकता है (कथा, १.२)।

वात्सीपुत्रीयों से सम्मतीयों का एक पुष्क सम्प्रदाय के रूप में उद्भव कदाचित् ईसापूर्व अथवा ईसवीय पहली शताब्दी में हुआ हो। कमशः वे ही वात्सीपुत्रीयों में प्रचलन हो गये। इनसे आबन्तक एवं कुरुकुल्लक सम्प्रदायों का उद्भव हुआ था। सम्राट् हर्षवर्धन की बहिन राज्यश्री सम्मतीय निकाय में अद्वालु थी"। एवं श्वांज्वांग के विवरण से उनका महत्त्व सूचित होता है। उनके साहित्यमें से इस समय केवल सम्मतीय निकायशास्त्र एवं एक विनय पर ग्रन्थ, चीनी अनुवादों में अवशेष हैं। वसुभिन्न के अनुसार वात्सीपुत्रीयों का अवान्तर-भेद एक गाथा की व्याख्या से हुआ जिसका आशय था—'विमुक्त होने पर पुनः परिह्राणि होती है, लोभ से गिरता है, पुनरागमन होता है, सुख-पद प्राप्त कर भोग करता है, अभीष्ट उत्तम पद प्राप्त करता है। सम्मतीय इसमें चार फलों से अभिसम्बद्ध छ पुद्गलों का संकेत मानते थे—स्रोतआपन्न, कुलंकुल, सकुदागामी, एकवीचिक, अनागामी और अहंत्वं। धर्मोत्तरीय इसमें तीन प्रकार के अहंत्वों का संकेत पाते थे। भद्रयाणीय आवक, प्रत्येकबुद्ध और बुद्ध का। भव्य के अनुसार उनका मूल सिद्धान्त था कि भवनीय और भव, निरोद्धव्य और निरुद्ध, अनित्यव्य और जात, मरणीय और मृत, कृत्य और कृत, मोक्षव्य और भूक्त, गन्तव्य और गामी, विज्ञेय और विज्ञान—इनकी सत्ता है"। कथावस्तु उनके अन्य सिद्धान्त बताती है—पुद्गल की उपलब्धि साक्षात् परमार्थतः होती है और पुद्गल स्वन्धों से न भिन्न है न अभिन्न (कथा०, १.१)।

अहंत्वं से अहंत्वं के लिए गिरता सम्भव है (१.२)।

देवलोक में ब्रह्मचर्यवास असंभव है (१.३)।

क्लेशों का क्रम से प्रहाण होता है (१.४)।

पुण्यगूजन काम, राग और व्यापाद छोड़ सकते हैं (१.५)।

अभिसमय अनुपूर्वं अथवा कमिक होता है (२.७)।

आष्टमक पुद्गल दृष्टि-पर्यवसान ने प्रतीत होता है (१५) ।

द्विष्य-लक्ष्य-परमोपेक्षाव-मात्रमय है (३७) ।

परिभाषामय पुण्य वज्रा है (७५) ।

अन्तराभव-होता है (८२) ।

सप्त-धातु में पञ्चकालिक आरम्भभाव होता है (८७) ।

कुशल-चित्त में समुत्थित वायकर्म कुशल रूप है । रूप-कर्म है (८९) ।

जीवितेन्द्रिय स्वयम नही है (८९०) ।

कर्म के कारण अहेतु-अहेतव से मिरता है (८९१) ।

सार्ग-नमरी का रूप सार्ग है । विमर्षित बोल है (९०-१९) ।

अनुसम अज्झाकत है, अहेतुक है और चित्तविग्रमुक्त है । रूप-धातु में अनुसमित रूपराग रूप-धातु-सर्वापन्न है । ऐसे ही अरूप-राग अरूप-धातु सर्वापन्न है (११-१) १४७) ।

कर्म कर्मापन्न से अन्य है (१५-२२) ।

रूप कुशल अथवा अकुशल है । रूप विपाक है (१६-७८) ।

ध्यान में आन्तरात्मिक अवस्थानें होती हैं (१८७) ।

धर्मोत्तरीय, भद्रचाप्रीय, धम्ममरिक्—सभी परम्पराओं में धर्मोत्तरीयों की बातों-पुर्वीकों से निकली पहली शाखा माना गया है । अन्य के अनुसार वे कहते थे कि 'जाति में अविद्या और जाति है, निरोध में अविद्या और निरोध'^१ । पूर्वोक्त शाखा में अहेतु की परिह्राप्ति, निवृत्ति और समापत्ति का संकेत पाते थे । भद्रचाप्रीयों के द्वारा इस शाखा की व्याख्या का ऊपर उल्लेख किया गया है । कथाकारधु में इसका एक सिद्धान्त उल्लिखित है—चार सार्यों का और चारों का अभिग्रमन अनुपूर्व होता है^२ । धम्ममरिक् सम्प्रदाय में अहेतु के छः भेद माने जाते थे, जिनके लक्षण हैं—परिह्राप्ति, वेतना, अनुरागमा, निवृत्ति, प्रतिषेधना और अक्रोश ।

३२-बारी, पृ० १२७; तु०—सूत्र, १०१४-१५, ११५२ जिनसे इनकी अपरान्त से स्थिति सूचित होती है ।

३३-कथा, २९, तु०—सूत्र, ९८७, १०१८, ११२३-२४ ।

महायान का उद्गम और साहित्य

(१) महायान—हीनयान से सम्बन्ध, उद्गम और विकास-क्रम

महायान और हीनयान—आध्यात्मिक प्रगति का साधन होने के कारण 'मार्ग' एवं 'यान' के रूप में धर्म की कल्पना प्राचीन है। कठोपनिषद् में (१.३.३-५) रथ का रूपक प्रस्तुत किया गया है तथा उपनिषदों में अन्वय 'पितृयान' एवं 'देवयान' तथा 'देवयान' और 'ब्रह्मयान' का उल्लेख प्राप्त होता है। प्राचीन बौद्ध साहित्य में भी रथ का रूपक मिलता है। चीनी-संयुक्तग्रन्थ में आध्यात्मिक मार्ग के लिए 'सद्धर्म-चिन्तन-यान', 'देवयान', एवं 'ब्रह्मयान', इन शब्दों का प्रयोग उपलब्ध होता है। पालि-संयुक्त-निर्वाण में भी आध्यात्मिक मार्ग के लिए 'ब्रह्मयान' एवं 'पितृयान' की कल्पना मिलती है। सुत्तनिपात में मार्ग को 'देवयान' कहा गया है। प्रज्ञापारमिता, सद्धर्मपुण्डरीक आदि 'महायान' सूत्रों में सर्वप्रथम यान के रूप में कल्पित धर्म का द्विविध भेद, हीन और

१-देवयान ब्रह्मलोक से जाता है—छा० ५.१०। देवयान ब्रह्मलोक से जाता है, फिर पुनरावृत्ति नहीं होती, "य एतौ पञ्चाती न विवृत्ते कोटाः पतंगा परिधं वन्द्यशूणम्"—सू० ६.२.१५-१६। सु०—गीता ८.२३-२७, जहाँ इन्हें काल्प को शाश्वत "शुक्ल और कृष्ण गतिर्षी" कहा गया है। इस प्रसंग में अग्नि और धूम का उल्लेख हेतुर्वाचस्तस के दो मार्गों का स्मरण दिखाता है। छा० ४.१५.६—("स एनात्कलु मनयत्येव देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मातृवमावर्ते मावर्तते"।)

२-यथा, संयुत (रो०), जित् ५, पृ० ६।

३-ब्र०—किमु, ऑरिजिन् ऑव् महायान, पृ० १२१ (ब्र० बी० एल्०, जि० १२)।

४-संयुत, (रो०) जि० ५, पृ० ६।

५-सुवृक् (ना०) जि० १, पृ० २८९।

महान्, प्रकट होता है तथा नाशानुन, असंग आदि के रचित शास्त्रों में इसका विस्तरणः प्रतिपादन मिलता है। इन ग्रन्थों के अनुसार भगवान् बुद्ध ने अपने श्रोताओं के प्रवृत्ति-भेद एवं विकास-भेद को देखते हुए मुख्यतः दो प्रकार के धर्म का उपदेश किया—हीन-यान एवं महायान। हीनयान को श्रावकयान भी कहा गया है।^१ महायान के अन्य नाम हैं—एकयान, अग्रयान, बोधिसत्त्वयान तथा बुद्धयान।^२ समस्त अठारह सम्प्रदायों में विभक्त बौद्ध धर्म हीनयान के अन्तर्गत है। इसके सहारे श्रावक-गण देह और चित्त में आलस-बुद्धि छोड़ कर राग, द्वेष एवं मोह के परे अहंत्व के मार्ग पर अग्रसर होते हैं। आसक्तोपयोगी होने के कारण यह श्रावकयान कहलाता है तथा श्रावकों के 'हीनाधि-मुक्त' होने के कारण इसकी आख्या हीनयान है।^३ तथामत ने इसका उपदेश अपने उपाय-कीर्तन के कारण किया था। उनका वास्तविक तात्पर्य दूसरा था। वे चाहते थे कि अधिकार-सम्पन्न होने पर सब बुद्धत्व के मार्ग पर प्रतिष्ठित हों। इस मार्ग के पथिक बोधिसत्त्व कहलाते हैं। हीनयान के उपायमात्र होने के कारण यह बुद्धयान अथवा बोधिसत्त्वयान ही एकमात्र वास्तविक ज्ञान अथवा एकयान है।^४ इस यान

६-श्रावकयान और प्रत्येकबुद्धयान, दोनों हीनयान में संगृहीत हैं—३०—ई०
आर० ई० जि० ८, पृ० ३३१।

७-३०—किमुद, पूर्वोद्धृत, पृ० १२३-२५, १४६-४७। वसुबन्धु के 'सद्धर्म-पुण्डरीकसूत्रोपदेश' में महायान के १७ विभिन्न नाम दिये गये हैं। ये ३०—
वही, पृ० ६२।

८-३०—सूत्रालंकार, १.१८, सद्धर्मपुण्डरीक, अधिमुक्तिपरिवर्त।

९-उदाहरणार्थ, सद्धर्मपुण्डरीक, पृ० ३२—"अहमपि शारिपुत्र... सत्त्वानां नानाधात्वादायामानाशयं विदित्वा धर्मं देशयामि। अहमपि शारिपुत्र-कमेव यानमारभ्य सत्त्वानां कर्म देशयामि यद्विदं बुद्धयानं... अपिपु ललु पुनः शारि-पुत्रः यथा... सम्यक्सम्बुद्धाः कल्पकथायै बोत्पद्यन्ते सत्त्वकथायै वा क्लेशकथायै वा बुद्धिकथायै वापुष्पकथायै बोत्पद्यन्ते। एवं कमेयु कल्पसंशोभकथायै बहुलत्वेयु सुखेध्वन्यकुशलमूलेयु तवा... सम्यक्सम्बुद्धा उपायकोज्ञान्येन तदैवंकं बुद्धयानं त्रिपाननिर्देशन निदिशन्ति।" यहाँ वैयक्तिक प्रकृतिभेद के अतिरिक्त पुनः-भेद का उल्लेख विचारणीय है। अधिकार के एक सहज क्रम के निर्देश के लिए सूत्रालंकार का यह उद्धरण भी स्मरणीय है—"उक्तं भगवता श्रीमालामुने। श्रावको भूत्वा प्रत्येकबुद्धो भवति पुनश्च बुद्ध इति।" (पृ० ७०)

में आकाश के समान अनन्त सत्त्वों के लिए अवकाश है, अतएव इसे महायान कहते हैं^{१०} । हीनयान और महायान दोनों ही बुद्ध शासन हैं एवं निर्वाण की ओर ले जाते हैं ।^{११} किन्तु हीनयान अपेक्षाकृत निम्नकोटिक अधिकारियों के लिए तात्कालिक उपायमात्र था, महायान शास्ता का स्वानुभव एवं वास्तविक अभीष्ट ।

महायानसूत्रों के अनुसार तथामत ने हीनयान का उपदेश पाँच परिक्रमकों के समस्त सारनाथ के प्रसिद्ध धर्म-चक्रप्रवर्तन के द्वारा किया था, किन्तु महायान का उपदेश उन्होंने राजगृह के गृध्रकूट-पर्वत पर बोधिसत्त्वों की त्रिपुल और विलक्षण सभा में किया ।^{१२} अभिताथसूत्र के अनुसार सम्बोधि के ४० वर्ष अनन्तर तथामत ने अभिताथसूत्र का प्रकाशन किया ।^{१३} महायान-सूत्रों और परम्परा के आधार पर चीन के प्राचीन बौद्ध विद्वानों ने तथामत की धर्म-देशना के काल की तीन विभागों में बाँटा है । पहले काल-विभाग में, जो कि सम्बोधि के तीन सप्ताह अनन्तर प्रारम्भ होता है, तथामत ने अवतंसक सूत्रों का उपदेश किया, किन्तु उन्होंने जनता को इन सूत्रों के अवबोध में अक्षम पाया । दूसरे काल-विभाग में उन्होंने 'चार आगमों' की देशना की । यह वस्तुतः उनका 'उपायोपदेश' था । अन्ततः देशना के तीसरे काल में तथामत ने सद्धर्मपुण्डरीक, प्रज्ञा-पारमिता, महायान-महापरिनिर्वाण-सूत्र, एवं महार्घपुस्त्य-सूत्रों का प्रकाश किया^{१४} । तिब्बती परम्परा के अनुसार गृध्रकूट का द्वितीय धर्मचक्रप्रवर्तन सम्बोधि के १६ वर्ष पश्चात् हुआ था ।^{१५}

१०—अष्टसाहस्रिका, पृ० २४—"अथाकाशो अग्रयमाणामसंख्येयानां सत्त्वानामवकाशः एवमेव भगवन्नस्मिन् याने...", मुनरच ३०—सुबालंकार, प्रथमाधिकार ।

११—तत्ताकुनु, इ-चिंग, पृ० १५ ।

१२—यथा, सद्धर्मपुण्डरीक, पृ० ४४-४५, ५२-५३,

"धर्मचक्र प्रवर्तसि लोके अप्रतिपुन्यगत ।

वाराणस्यां महावीर स्कन्धानामुदयं व्यपम् ॥

प्रथमं प्रवर्तितं तत्र द्वितीयमिह नापक ।"

१३—किमुद, पुष्योदृत, पृ० ५७-५८ ।

१४—वहो, पृ० ६३-६४ ।

१५—तुं—बुद्धोन, जि० २, पृ० ४६-५२; तुं—इतिपट, हिन्दुधर्म एण्ड बुद्धिज्ञान, जि० ३, पृ० ३७४ ।

महान्याय सूत्रों के अनुसार परिनिर्वाण के अन्ततः बार प्रत्याधिपत्य जीतने पर समार्वृत के द्वारा महायान का प्रकाश मानना चाहिए ।^{११} नागार्जुन के अनुसार बुद्ध वेष्टना द्विविध है—गुरु, एवं व्यक्त । गह्वरी बोधिसत्त्वों के लिए दो गयो भी, दूसरी अर्धद्विविधका भी ।^{१२} यही भेद महायान और हीनयान के रूप में प्रकट होता है । हीनयान के सूत्रों में जिस धर्मेष्टमता का संकेतमात्र है, अज्ञापरिमिता में उसका विस्तृत विवरण है ।^{१३} आशकयान में केवल गुरुमलमुच्यता का उपदेश है, बुद्धयान में धर्मेष्टमुच्यता का भी । बुद्धयान वर्णार्थ है, आशकयान केवल स्वार्थ । महायान महाकल्याण से प्रेरित है एवं सत्य के निर्वाण को अपना लक्ष्य मानता है । हीनयान में दुःख, अनिरम्य एवं अमात्म के लक्षणों का महत्त्व है, महायान में शून्यता का ।

असंग ने महायान और हीनयान के पाँच पारस्परिक भेद बताये हैं—आशय, उपदेश, प्रयोग, उपस्तम्भ, एवं काल । 'आशयस्त्वोपदेशस्य प्रयोगस्य विरोधतः । उपस्तम्भस्य कालस्य च । हीनं हीनमेवतत् । 'आशकयानेद्यात्मपरिनिर्वाणार्थवाशयस्तदर्थमेवबोध-
देशस्तदर्थमेव प्रयोगः परितन्वपुष्पगतानसंभारसंगृहीत उपस्तम्भः कालेन चाश्वेन तदर्थं वाचविधिरपि जन्मभिः । महामाने तु क्व विपर्ययेन । तस्मादश्वोन्वविरोधाद्यमानं हीनं हीनमेव तत् । न तन्महायानं भवितुमर्हति ।'^{१४} हीनयान में पुद्गलनैरास्त्य के बोध के द्वारा बोधोद्यम का अन्त होता है एवं अहंत्व की प्राप्ति होती है । प्रत्येक अपने लिए पुण्य प्रयास करता है । आशक स्वयं दूसरों से उपदेश प्राप्त करते हैं एवं दूसरों को स्वयं उपदेश करते हैं । प्रत्येक बुद्ध न किसी के शिष्य होते हैं, न गुरु । इस मुख्य भेद

१६—ई० आर० ई०, जि० ८, पृ० ३३५; अंकावतार, पृ० २८६—

"यजितापयवेदन्त्यां भिक्षुः श्रीमान्महाययाः ।

नायाल्लभः स नाम्नातुल्यवस्तुपञ्चवारकः ॥

प्रकाशमालीके मध्याने महायानमनुसरम् ॥"

पृ०—नामाग, लखेत, मुम्बिका, पृ० ११ ।

१७—हिमुर, पूर्वोद्धत, पृ० ५७ ।

१८—नागार्जुन के अनुसार प्रत्यापरिमिता में 'सिद्ध इम्युतन् इयहं' (पारमाधिष्ठ सिद्धात्त लक्षण) का उपदेश है—इ०—ता वि तु नून (महाप्रत्यापरिमिता-
व्याख्य), चीनी त्रिपिटक, ताप्यो संस्करण, जि० २५, पृ० ५९, उत्तम २,
पंक्ति १८) ।

१९—गुप्तलंकार, पृ० ४ ।

के अतिरिक्त आश्वक और प्रत्येकबुद्ध, दोनों ही हीनयान के अन्तर्गत हैं। महायान में यम-नैराश्रय अथवा शून्यता के बोध से जयावरण का क्षय होने पर बुद्धपदवी अथवा सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है।" इस यान पर आकड़ बोधिसत्त्व सब सर्वों को निर्वाण में प्रतिष्ठित करने का इत स्वीकार करते हैं। पारमिताओं के साधन के द्वारा माना भूमिमां पार करते हुए बोधिसत्त्वयान की यात्रा सम्पन्न होती है। महायान में अनेक बुद्ध और बोधिसत्त्व माने जाते हैं तथा उनके स्वरूप एवं महात्म्य की कल्पना बहुधा नितान्त देवोपम है।" इन बुद्धों और बोधिसत्त्वों की पूजा और भक्ति का महायान में बहुत बड़ा स्थान है।" इ-चिऊ का कहना है कि "जो बोधिसत्त्वों को पूजते हैं एवं महा-

२०—उदाहरणार्थ ३०—बोधिसत्त्वविवर्तार, १.५५—

"क्लेशक्षोपावृत्तितमःप्रतिपक्षो हि शून्यता ।
शोभसर्वज्ञताकामो न भावयति तां कथम ॥"

२१—३०—अर्थः ।

२२—उदा० ३०—शिक्षासमुच्चय, परिच्छेद १७; "आर्यमहाकथनापुष्परीकम् के अनुसार बुद्ध के लिए आकाश में भी एक फूल खड़ाने का फल अनन्त और निर्वाणपर्यवसायी है (वही, पृ० ३०९)। "आर्यबद्धा-बलाधानावतार-मृदामुत्र" के अनुसार चित्रलिखित बुद्ध के देवने का पुष्प भी प्रत्येक बुद्धों को दिये हुए असंख्य दान से अधिक है, "काः पुनर्धात्री योऽञ्जलिप्रपहं वा कुर्यात् पुष्पं वा दद्यात् धूपं वा मन्त्रं वा दीपं वा दद्यात्..." (वही, पृ० ३११)। बोधिसत्त्व बनने के लिए वस्तुतः मानसपूजा ही अपेक्षित है (बोधिसत्त्वविवर्तार, द्वितीय परिच्छेद)। सब कुछ शून्य मानने वाले माध्यमिक-गण भी व्यवहार के स्तर पर बुद्धपूजा का फल मानते थे—

"चिन्तामणिः कल्पतरुर्ध्वं प्रकाशपरिपूरया ।
चिन्तेयप्रणिधानान्ध्यां जिनचिन्तं तथेव्यते ॥
यथा गार्हिकः स्तम्भं साधयित्वा जिनव्यति ।
त तस्मिन्निचरनष्टेऽपि विषादीनुपशामयेत् ॥
बोधिसत्त्वानुसूतेन जिनस्तम्भोऽपि साधितः ।
करोति सर्वकार्याणि बोधिसत्त्वेऽपि निर्वृते ॥"

(बोधिसत्त्व २.३६-३८)

मान सूत्रों को पढ़ते हैं वे महायानी कहलाते हैं, ऐसा न करने वाले हीनयानी ।” उन्होंने यह भी कहा है कि महायानियों का अपना पृथक् विनय नहीं था तथा उनके दर्शन की दो मुख्य शाखाएँ थी—विज्ञानवाद, एवं क्षुण्यवाद ।” परवर्ती ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी महायान के इन्हीं दो प्रमुख दार्शनिक प्रणयनों का उल्लेख मिलता है ।”

ऊपर के विवरण से स्पष्ट होगा कि—(१) महायान और हीनयान का भेद महायान सूत्रों से आविर्भूत एवं महायान शास्त्रों में सविस्तर प्रतिपादित हुआ, (२) महायानियों के अनुसार महायान तथागत की वास्तविक देहना है जो कि गुरु उपदेश के रूप में उन्होंने अपने जीवनकाल में विशिष्ट अधिकारियों को दी थी तथा जिसका अनुकूल समय आने पर प्रचार और व्याख्यान हुआ, (३) हीनयान और महायान का भेद मूलतः अधिकार भेद एवं लक्ष्य-भेद पर आश्रित है (४) महायान के सिद्धान्त-मार्ग में बुद्धत्व, क्षुण्यता, एवं चित्तमात्रता का स्थान मुख्य है, (५) महायान का साधनपक्ष बोधिसत्त्व-मार्ग है जिसमें पारमिताएँ एवं भूमियाँ सर्वाधिक महत्त्व रखती हैं एवं नील और ज्ञान के साथ ‘भक्ति’ का स्थान सुरक्षित है ।

महायान का उद्भव—महायान के उद्भव के विषय में महायान-सूत्रों में प्रकाशित मत ऐतिहासिक दृष्टि से स्वभावतः सन्देह उत्पन्न करता है । महायान सूत्र अपने को बुद्ध श्रोक्त बताते हैं, किन्तु उनकी भाषा एवं शैली उनकी परवर्तिता सूचित करती है । कदाचित् आष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता ही महायान-सूत्रों में प्राचीनतम है । इसका लोकरोक्त ने चीनो में १४८ ई० में अनुवाद किया था ।” कनिष्क के समकालीन साम्राज्य में पञ्चविंशति-साहस्रिका प्रज्ञापारमिता पर व्याख्या लिखी थी ।” इससे प्रज्ञापारमिता-साहित्य की परिलक्षि इसबीच दूसरी शताब्दी से प्राचीनतर अवश्य सिद्ध होती है, किन्तु इस प्रकार के अनुमान से उसका मूल अधिकाधिक ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से प्राचीन नहीं माना जा सकता । जब स्वयं ने ‘महायान’ सूत्र ही बुद्ध के युग से पर्याप्त

२३-तत्काकुलु, इ-विंग, पृ० १४-१५ ।

२४-वही ।

२५-यथा, सर्वदर्शनसङ्ग्रह, पृ० ७ इत्यादि ।

२६-इ०—वत्त, महायान, पृ० ३२३, पावटिप्पणी, १, तु०—विन्तरनित्त, जि० २, पृ० ३१४ इत्यादि ।

२७-इ०—सामोत, सजेते, भूमिका, पृ० १०, तु०—विन्तरनित्त, जि० २, पृ० ३४२, ३४८ ।

परवर्ती, एवं सन्दिग्ध-ग्रामाण्य (एरोकिफल) है तो इनमें प्रतिपादित महायान की मूल-संज्ञा प्राचीनता सुतराम् अस्मिन् ही जाती है। इस कारण ऐतिहासिक दृष्टि से महायान को सद्धर्म का विपरिवर्तित अथवा विकृत रूप मानने की सम्भावना प्रस्तुत होती है।^{१८} इस विपरिवर्तन का प्रधान कारण सद्धर्म का प्रसार और उसके साथ सम्बद्ध ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक प्रभाव प्रतीत होते हैं।^{१९} यह स्वाभाविक है कि सद्धर्म के प्रसार की गति अशोक के समान श्रद्धालु और प्रतापी सम्राट् के संरक्षण एवं साहाय्य से तथा तत्कालीन संघ के प्रयत्नों से विशेष तीव्र हुई हो।^{२०} यह निस्सन्देह है कि इसी समय से सद्धर्म भारतीय प्रास्तारिक वास्तुकला तथा मूर्तिकला की एक प्रधान प्रेरणा के रूप में प्रकट होता है एवं जातकी का महत्त्व विशेष वृद्धि प्राप्त करता है।^{२१} ईसापूर्व दूसरी शताब्दी से ईसवीय दूसरी शताब्दी तक भारतीय संस्कृति का एक संक्रमण काल है जब

२८-रीज डेविड्स, हिस्टरी ऑफ लिटरेचर ऑफ बुद्धिज्म (प्र० सुप्रोफेसर)

पृ० १३७ प्रभृति, तु० इतिषट्, हिन्दुइज्म, एण्ड बुद्धिज्म, वि० २, पृ०

६६-६८।

२९-टाइनबी ने अपनी 'एस्टडी ऑफ हिस्टरी' में यह मत प्रस्तुत किया है कि महायान की उत्पत्ति ग्रीक सन्ध्या और भारतीय सन्ध्या के गन्धार में सम्पर्क से हुई। स्पष्ट हो इस मत का मूलधार बी० ए० स्मिथ आदि के द्वारा समर्पित 'गन्धार-कला'—विषयक प्रसिद्ध मत है। गन्धारकला पर इ०—ऊपर। राष्ट्रल सांस्कृत्यायन ने भी ग्रीक-दर्शन का बौद्धदर्शन पर प्रभाव कल्पित किया है (दर्शन-विश्वदर्शन)।

३०-सद्धर्म के लिए अशोक के प्रयत्नों पर इ०—सम्भारकर, अशोक पृ० १३९ प्रभृति, अशोक के प्रयत्नों के परिणाम पर इ०—सम्भारकर, पूर्व, पृ० १५९ प्रभृति, रायचौधरी, पी० एच० ए० आइ० पृ० ६१४-१७, तु०—राइ डेविड्स, बुध्तिस्ट इण्डिया, पृ० २९८-९९, इस प्रसंग में कन्धार के अशोक की नवोपलब्ध ग्रीक प्रशस्ति उल्लेखनीय है, इ०—ईस्ट एण्ड वेस्ट, सेप्टेम्बर, पृ० १८५-९१, अशोक के धार्मिक प्रयत्नों के मूल्यांकन में एक मौलिक कठिनाई बनी हो रहती है—अशोक ने जिस "धर्म" का समर्थन किया क्या वह 'सद्धर्म' या अथवा 'साधारण धर्म' नाव ? तत्कालीन संघ के प्रयत्नों पर इ०—ऊपर।

३१-दे० ऊपर।

जब अनेक विदेशी जातिवासी भारत में उत्तरपश्चिम से आगएँ और उनपर भारतीय संस्कृति ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया और उत्तरपश्चिमी भागों से मध्य एशिया तथा चीन तक अपने प्रभाव का विस्तार किया। कुषाण-साम्राज्य में यह सांस्कृतिक आत्म-सात्करण तथा प्रसार की प्रक्रिया विशेष रूप से लक्षित होती है।^{११} बौद्ध धर्म ने इस प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भाग उठाया किया।^{१२} इसके परिणामतः बौद्ध धर्म जहाँ एक ओर एशियाव्यापी प्रभाव बन गया, दूसरी ओर उसका आवश्यक रूपान्तर सम्पन्न हुआ। हीनयान में विभिन्न प्रादेशिक आवासों की स्थापना ने निकाय-भेद के कम को अग्रसर होने में सहायता दी थी।^{१३} इनमें महासांघिक सम्प्रदाय ने बुद्ध और बोधिसत्वों को देवोपम लोकोत्तर रूप में चित्रित किया एवं गन्धार तथा मथुरा में धीक और भारतीय कला के सम्पर्क तथा भक्ति के आप्रह से बुद्ध प्रतिमा का आविर्भाव हुआ।^{१४} लोकोत्तर बुद्ध और बोधिसत्व, उनको भक्ति और प्रतिमाएँ, इन नवीन तत्त्वों ने सद्धर्म को एक जन-मुलभ, सुखोप और सुन्दर रूप प्रदान किया। प्रारम्भिक बौद्ध धर्म एवं हीनयान में सामना अपेक्षाकृत दुष्कर है। प्रत्येक व्यक्ति को सर्वथा अपने प्रयत्न के और पुण्य-कार के द्वारा सांसारिक सुखों को छोड़ कर ही दुःख से छुटकारा प्राप्त करना होता है। बुद्ध केवल मार्ग का उपदेश करते हैं, धर्म प्रत्यात्मवेदनीय है।^{१५} साधारण मनुष्य के लिए अपने सहारे अपने बन्धनों को काटना कठिन होता है। महायान में बुद्ध और बोधिसत्व नाना प्रकार से मार्ग में सहायक बन जाते हैं। अवलोकितेश्वर के नाम लेने से ही मनुष्य नाना कठिनाइयों से मुक्ति पा सकता है।^{१६} मूर्तियों के सहारे बुद्ध और बोधिसत्व बौद्धों के समक्ष प्रापक्षवत् समुपस्थित हो उठते हैं। वे सर्वज्ञ, शक्तिसम्पन्न तथा परम कारुणिक हैं। उनके जर्चन और अनुग्रह के द्वारा मुक्ति का मार्ग केवल अपने पुण्यकार की अपेक्षा अधिक प्रशस्त प्रतीत होता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जसोक के समय से सद्धर्म के प्रचार के लिए विशेषतः प्रत्यन्तिम जन्मदों में, उसे एक सरल और

३२—उदा० ३० कार्मप्रहेन्सिव हिस्टरी, जि० २, पृ० ४५८, ६५५ आदि।

३३—तु०—सी० आइ० आइ०—जि० २, बौद्ध सांस्कृतिक प्रसार पर देखें—ऊपर।

३४—काकवाल्लर, अल्टिमस्ट वितन, पृ० ६, प्रभृति, तु०—बारी, ले सेकलन, पृ० ४९,

प० इल, अली मोनेस्टिक ब्राथ्रम, जि० २, पृ० १२ प्रभृति।

३५—दे०—नीचे।

३६—दे०—ऊपर।

३७—इ०—सद्धर्मपुण्डरीक, समन्तभद्रपरिवर्त।

मूर्त रूप देने का जो प्रयास जारी था उसने क्रमशः महायान को जन्म दिया। इस परिणाम-क्रम में नाना सम्प्रदायों, धर्मों और जातियों के प्रभाव से महायान में विभिन्न तरकों का समावेश हुआ।^{१४} हीनयान ही मूल और प्रारम्भिक बुद्ध-आसन था जिसके बाद क्रमशः की प्राचीनता नित्यसन्देह है।^{१५} हीनयान मुख्यतया भिक्षुओं का धर्म है एवं उपासकों को गौण स्थान देता है। हीनयानी भिक्षुओं का जीवन और साधन कठोर अनुशासन से परिणत एवं निवृत्ति-परक है। महायान परवर्ती और विपरिवर्तित बौद्ध धर्म है जिसने प्राचीन साहित्य के अभाव में नवीन 'प्रशिक्षित' सूत्रों की रचना की। यदि हीनयान कुच्छसाध्य है तो महायान सर्व-जनमुलभ है। हीनयान प्राचीन और विशेषतया भिक्षु-धर्म है। महायान विपरिवर्तित और 'प्रचलित' सद्धर्म है।

महायान के आचार्यों ने स्वयं महायान की अप्रामाणिकता के निरास का बहुधा प्रयत्न किया है। इस प्रसंग में महायानसूत्रालंकार एवं बोधिसत्त्वोक्तार में अनेक मुस्तिष्मा प्रस्तुत की गयी हैं जिनमें अनेक स्पष्ट ही प्राचीनतर सूत्रों पर जाति है। महायान को बुद्धचरन सिद्ध करने के लिए अरुण ने महायानसूत्रालंकार में कहा है—
'आदातन्याकरणात्समप्रभुतेरयोवरालिङ्गैः । भावनाभावेनावात्मनिषत्वाद्भुतान्य-
त्वात् ॥ (१.७) यदि सद्धर्म के जन्मराय के रूप में किसी ने महानाग को पीछे उद्-
घातित किया होता तो इस आशंका का तत्प्रागत् ने जनागतधर्मों के सद्गुण पहले ही
व्याकरण किया होता। वस्तुतः आचरमान और महायान की समकालिक प्रवृत्ति
उपलब्ध होती है। न महायान के सद्गुण उदार और सम्भीर धर्म जातिकों का मोचन है,
जो कि तीव्रिक शास्त्रों में महायान के अनुपलम्भ से विदित होता है। न औरों के द्वारा
महायान का व्याख्यान युक्त है। अन्य भाषित होने पर उसमें विश्वास उत्पन्न नहीं हो
सकेगा। यदि यह कहा जाय कि किसी अन्य ने सिद्धिपूर्वक अर्थात् अतिसम्बोधिपूर्वक
महायान का प्रतिपादन किया है तो महायान का बुद्धचरनत्व सिद्ध ही हो गया। जो
बोधिपूर्वक उपदेश करता है वही बुद्ध है। बिना महायान के बुद्धों की उत्पत्ति ही न

३८—औपनिषद अद्वैतवाद का साहायानिक अद्वैतवाद से निकट सम्बन्ध है, दे०—

नोवे । महायान सूत्रों की भविष्य और बुद्ध विषयक धारणाएँ यदि गीता से
सर्वथा अप्रभाविता थी तो आश्चर्यजनक होगा। महायान और ईसाईधर्म के
सम्बन्ध पर, दे०—ऊपर। ईरानी प्रभाव की सम्भावना भी तिरस्कार्य नहीं है।

३९—भीमारी राइच डेविड्स प्रभृति कुछ विद्वानों ने हीनयान के बाद क्रमशः की प्राची-
नता एवं मौलिकता पर सन्देह प्रकट किया है।

होगी, अतएव आवश्यकमान भी न होगा। सब निर्विकल्प ज्ञान का आश्रय होने के कारण महायान क्लेशों का प्रतिपक्ष है, अतः बुद्धवचन है।”

कही आवश्यकमान ही महायान न हो, इस शंका के निराकरण में, असंग का कहना है, ‘वैकल्पतो विरोधादनुपायत्वात्तथाप्यनुपदेशात्। न आवश्यकमानमिदं भवति महायानधर्माकम् ॥’ (वही १.१.) आवश्यकमान में केवल अपने वैराग्य और मुक्ति का उपदेश है, उसमें परार्थ का उपदेश है ही नहीं। अतः आवश्यकमान से बुद्धत्व कभी प्राप्त नहीं हो सकता। वस्तुतः जैसा ऊपर कहा जा चुका है महायान और आवश्यकमान में पौष्ट प्रकार के विरोध है।

महायान के बुद्धवचन होने में एक शंका यह प्रकट की गयी है—‘बुद्धवचनस्येदं लक्षणं यत्सुवेऽवतरति विनये सन्दुष्यते धर्मतां च न विलीमयति। न चैवं महायानं...’ (वही। पृ० ४-५) इसके निवारण के लिए असंग की उक्ति है—‘स्वकेऽवतारात्स्वस्यैव विनये दर्शनादपि। औदार्यादपि गाम्भीर्यादिविरुद्धैव धर्मता।’ (वही, १.११.)

महायान के अपने सूत्र हैं तथा धर्मता की वास्तविक अनुकूलता उसी में है। हीनयान में भी अनेक सम्प्रदाय हैं, तथा उनमें धन्य ग्रामाण्य पर ऐकमत्य नहीं है।” स्वयं हीनयान के द्वारा स्वीकृत आगमों से यह ज्ञात होता है कि भगवान् बुद्ध ने सम्बोधि के अनन्तर विनये जनता में अधिकार भेद देना तथा ‘आशयानुशय’ के अनुसार धर्म की देना भी। उन्होंने स्वीकृत धर्म को अत्यन्त गम्भीर एवं दुर्बोध बताया और यह शंका प्रकट की कि साधारण जनता उसे न समझ पायेगी।” इससे महायान का यह मत समर्थित होता है कि तथागत ने सबको एक ही धर्म की शिक्षा नहीं दी।” गम्भीरतम

४०—सुवातंकार, पृ० ३।

४१—सु०—बोधिविचित्तारपञ्चिका, पृ० ४३४-३५।

४२—इ०—ऊपर, विनय ना०, महावाग्य, पृ० ६, मज्झिम (गा०), जि० २, पृ० ३३३, संयुक्त, १.६ आयाचन सुत।

४३—सु०—बोधिविचित्तविवरण—“देशना लोकनाथातां सत्त्वाशयवशानुयाः।

विद्यन्ते बहूधा लोका उपायेष्वेवमुनिः पुनः ॥

गम्भीरोत्तानभेदेन धर्माधर्मोभयलक्षणाः।

नित्रा हि देशनाग्नित्रा शून्यताद्वयलक्षणाः॥”

(उद्धृत, सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० १८, मामती, बह्वसुत्र, २.२.१८ पर) सु०—

श्री शंकराचार्य, शारीरकभाष्य (निर्णयसार) पृ० ४५०।

धर्म की देशना उन्होंने विविध अधिकारियों को ही दी। यही महायान का वास्तविक उद्गम है।

कुछ आधुनिक विद्वानों ने भी इस प्रकार के मत का समर्थन किया है। जापानी विद्वान् श्री किमुरा के अनुसार भगवान् बुद्ध की देशना द्विविध थी—(१) प्रत्यक्ष-सात्मक (introspective) अथवा तात्त्विक (ontological), (२) प्रतिमास-विषयक (phenomenological) अथवा सांभव्यहारिक महायान पहले प्रकार की देशना का विकसित रूप है।^{४४}

वस्तुतः महायान को केवल मूल बुद्धशासन अथवा उसका विपुल विकास या विकृत रूप मात्र मानना युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। न तो हीनयान के सब शास्त्रों और सिद्धान्तों को मूल बुद्ध-शासन समझा जा सकता है, न महायान के। मूल बुद्धोपदेश अवश्य ही शिष्यों के अधिकार-भेद से विविध था और उसमें हीनयान तथा महायान दोनों के बीच विद्यमान होते हुए भी इनका स्पष्ट भेद नहीं किया गया था। काल-क्रम से मूल देशना परवर्ती व्याख्या-कान्तर तथा प्रक्षिप्त-सन्दर्भ-राशि में अधिकाधिक दुर्लभ हो गयीं। हीनयान के १८ सम्प्रदायों में बुद्धोपदेश को भिक्षुओं के समान विहार-वासी बता दिया गया। विशाल विश्व के जीवन और ज्ञान-विज्ञान का त्याग कर भिक्षु को अपने विहार के सीमित संसार में आत्म-कल्याण साधना चाहिए। इसके लिए कौम-से 'धर्म' हेय है, कौम-से उपादेय, इसकी चर्चा विपुलाकार अभिधर्म पिटकों में की गयी। ये पिटक और इनकी व्याख्याएँ बुद्धवचन न होते हुए भी कल्पना-प्राचुर्य तथा आग्रह के द्वारा इनका भगवान् बुद्ध से सम्बन्ध जोड़ा गया।^{४५} यह स्पष्ट है कि 'हीनयान' को मूल बुद्ध-शासन न मानकर उसका एक साध ही विपरिवर्तित अथवा विकसित रूप मानना चाहिए। यही दशा महायान की है। महायान भी वस्तुतः 'संकीर्ण' अथवा 'मिथित' है। उसके कुछ अंश हीनयान से विकसित हुए हैं, कुछ मूल शासन के पुनर्या-ख्यान के द्वारा प्रतिष्ठित हुए हैं, तथा कुछ अनेक भौगोलिक, सांस्कृतिक एवं मतान्तर्रीय प्रभाव से उत्पन्न हैं। यह सत्य है कि महायान सूत्र हीनयान के आगमों से परवर्ती हैं और यह भी सत्य है कि हीनयान में स्वीकृत सूत्रों से ही मूल-शासन का पता चल सकता है, किन्तु तो भी यह मानना होगा कि अंशतः महायान मूल-शासन का पुनरु-

^{४४}—किमुरा, पूर्वोद्धृत, पृ० ५४ प्रभृति।

^{४५}—तु०—अद्वैतालंकार, पृ० १२-१३, अभिधर्मकोशव्याख्या, (सं० एन० एन० सां०) पृ० १२-१३।

द्वारा है। साथ ही, महागान का बहुत-सा भाग प्रचार-सीविध्य एवं गाना 'बाह्य' प्रभावों का परिणाम है।

शाक्य मुनि ने सम्बोधि अथवा प्रज्ञा के द्वारा ही बुद्ध-पद का लाभ किया, एवं करणा से प्रेरित होकर सम्बोधि में अधिगत 'धर्म' का विनये भेद के अनुसार जनता में विविध उपदेश किया जिसका बौद्ध आगमों में केवल एकदेशी और प्रक्षेपभूयिष्ठ संप्रह प्राप्त होता है^१। इन संगृहीत उपदेशों में अधिकांश भिक्षुओं के जीवन और संगठन से संबंध रखते हैं। भिक्षुओं के लिए आवश्यक था कि वे संसार के दुःख, अनित्यता, एवं अनात्मता का बार-बार स्मरण कर वैराग्य का साधन एवं शान्ति की उपलब्धि करें। इसी दृष्टि से प्रथम संगीति में स्वविरों ने बुद्धवचन का संग्रह तथा उत्तर काल में 'समुपबृंहण' किया है। बुद्ध-देशना के इस पक्ष का दार्शनिक धर्म अवलंबित ने शारिपुत्र से प्रकट किया था। एक ओर हेतु-प्रसव धर्म है, दूसरी ओर उनका निरोध है। बुद्धोपदिष्ट मार्ग एक से दूसरे तक ले जाता है। नाम-रूप स्कन्ध, धातु, आघतन, आदि विभाजनपूर्वक धर्मों के लक्षण एवं उनके हेतुफल-सम्बन्ध के विश्लेषण की अवतारणा 'सूत्रों' में तथा परवर्ती विधान्ति अधिधर्म में हुई, जो कि हीनयान का धर्म उत्कर्ष है। किन्तु, यह भी निस्सन्देह है कि तथागत ने सम्बोधि में अधिगत धर्म को अतर्क्य, दुर्बोध एवं गंभीर कहा। इस धर्म को निर्वाण एवं प्रतीत्यसमुत्पाद, अथवा केवल प्रतीत्यसमुत्पाद या मध्यम धर्म की उन्होंने आख्या दी। निर्वाण को औपनिषद ब्रह्म के समान ज्योतिर्मय चित्त की अनिर्बंधमीमा, अद्वैत एवं नित्य और अनन्त स्थिति संकेतित किया।^२ प्रतीत्यसमुत्पाद में सब धर्मों के पारतन्त्र्य का संकेत है। व्यावहारिक स्तर पर यह कार्य-कारण नियम का द्योतक होते हुए भी वस्तुतः उनकी स्वतन्त्र सत्ता के अनाश का इंगित है। यदि निर्वाण ब्रह्मावस्था से तुलनीय है तो प्रतीत्यसमुत्पाद माया से। न संसार का स्वरूप और न निर्वाण का स्वरूप अस्ति-नास्ति आदि कोटियों में संश्लेष्य है। यही मध्यम धर्म अथवा मध्यमा प्रतिपत्त है। परमाधे की अतर्क्यता एवं अनिर्बंधनीयता को तथागत ने मोम के द्वारा भी सूचित किया। शिखपापणों की उपमा^३ तथा धर्मोपदेश के प्रति बुद्ध का प्रारम्भिक संकोच भी इसी दिशा में संकेत करते हैं। यह स्पष्ट है कि बुद्ध के निजी अनुभव एवं अभिमत में चित्तकी एक विलक्षण अद्वैत अवस्था का, परमाधे उत्प

४९-३०—आरिजिन्स ओब् बुद्धिस्म, जहाँ इसका विस्तृत प्रतिपादन है।

४७-३०—वही, पृ० ४९४, पा० टि० २४४।

४८—संपुत्त, सत्त्व०, सुत्त, ३१।

की चतुष्कोटिबिनिर्मुक्तता का, तथा सब पदार्थों की स्वातन्त्र्य-भूयता का समर्थन उपलब्ध होता है। अतएव यह मानना होगा कि हीनमान के अतिरिक्त भी महायान का दार्शनिक मूल पदार्थतः बुद्ध देशना में ही है। व्यावहारिक दृष्टि से वासनाक्षय के लिए धर्म-प्रविचय का उपदेश देते हुए^{४१} तथागत ने स्वानुभूत अनिवंचनीय और अद्वय परमार्थ दर्शन की भी सूचना दी। उनकी देशना के ये ही दोनों पक्ष हीनयान और महायान के रूप में क्रमशः विकसित हुए।

बुद्ध के जीवनकाल में मगध, कोशल आदि जनपदों में निकल्पबालग्रस्त ब्राह्मण और धम्म एक ओर स्वर्ग के लिए यज्ञादि कर्मकाण्ड का तथा दूसरी ओर संसार से मुक्ति के लिए वैराग्य और तप का उपदेश करते थे। कुछ ब्रह्मणादियों को स्वल्पबोध की अनिवंचनीय एवं अद्वैत स्थिति का ज्ञान था, किन्तु वे अत्यन्त विरल थे। मधुरा एवं पश्चिम की ओर 'मगधान्', 'अवतार', एवं 'भक्ति' की धारणाएँ उदित हो रही थीं, किन्तु इनका स्पष्ट आविर्भाव देशतः और कालतः तथागत के जासन्न नहीं है। ऐसी स्थिति में तथागत ने गृहस्थों के लिए यज्ञादि के स्थान पर उनका सदाचार रूप आध्यात्मिक संस्करण प्रस्तुत किया।^{४२} किन्तु गृहस्थों के लिए दिये गये तथागत के उपदेशों का भिक्षुओं के द्वारा संगृहीत 'बाणी' में अधिक स्थान नहीं है।

मह स्मरणीय है कि बुद्ध ने स्वयं गृहस्थ जीवन व्यतीत किया था और जैसा पहले प्रतिपादित किया जा चुका है, यह नहीं माना जा सकता कि उनके जीवन का यह भाग उनकी आध्यात्मिक साधना के अहिर्भूत है^{४३}। शीघ्र से ही वे ध्यान के अभ्यास से परिचित थे एवं अभिनिष्कमण के पहले उन्होंने विविध आध्यात्मिक सम्पदा का अधिक

४१-तु०—विश्वसेत्तर भट्टाचार्य, वैदिक कल्पशास्त्र आन् बुद्धिस्म; तु०—बौद्ध धर्मावतारपाञ्चिका, पृ० ४४०-४१ जिसके अनुसार हीममान से वास्तविक वासनाक्षय सम्भव नहीं है। तु०—गोपीनाथ कविराज, 'बौद्धधर्म दर्शन' की भूमिका, पृ० १४-१५।

५०-उपासक-धर्म पर तु०—इत, अलौ मोनेस्टिक बुद्धिस्म, जि० २, पृ० २०७ प्रभृति, भंडारकर, अशोक, पृ० १२२ प्रभृति, राइच डेविस्, बुद्धिस्म, पृ० १३७, प्रभृति।

५१-दे०—ऊवर।

अर्जन किया होगा^१। इस दृष्टि से सद्धर्म में गार्हस्थ्य का स्थान हीनयान का अपरिचित नहीं है, किन्तु महायान में ही इस तत्त्व को उचित स्थान दिया गया है। संग्यास के प्रति नातिस्मृह्यालु जनता में धर्म-प्रचार के प्रसंग में भगवान् बुद्ध के जीवन पर मनन से महायान का यह पक्ष विकसित हुआ मानना तर्कानुकूल प्रतीत होता है।

बुद्ध स्वयं संग्यासी थे एवं संग्यास की दीक्षा देते थे, किन्तु प्रचलित 'श्रामण्य' के विरोध में उन्होंने भिक्षुओं के लिए आवासिक जीवन एवं नाना सुविधाओं की अनुमति दी। चार्तुदश संघ के रूप में उन्होंने एक विगुह आध्यात्मिक समाज की कल्पना की। अपने दृष्टान्त और उपदेश से उन्होंने धर्म को 'सर्व-सत्त्व-हित' प्रतिपाद्य बताया। फलतः तप्यागत की संग्यास-दीक्षा का वास्तविक अभिप्राय केवल अपना आध्यात्मिक 'स्वार्थ' साधन नहीं माना जा सकता। आध्यात्मिक 'पदार्थ' के इस तत्त्व का समुचित बोध ही महायान की प्रधान प्रेरणा है। सम्बोधि के अनन्तर ब्रह्मापाचन के वृत्तान्त की समुचित व्याख्या इसी दिशा में संकेत करती है। सम्बोधि अपना प्रज्ञा के शिखर पर आरुढ़ होकर लोक की ओर दृष्टिपात करने से भगवान् बुद्ध ने कष्टा की प्रेरणा का अनुभव किया तथा विम्व-कल्याण के लिए देशना का कार्य-भार स्वीकार किया। प्रज्ञा और कष्टा ही महायान की अविच्छाद्यी शक्तियाँ हैं।

इस विवरण से यह प्रकट होगा कि तप्यागत की देशना का पारमार्थिक अंश आगमों अथवा निकायों के कतिपय स्थलों में संकेतित है। हीनयान में ये स्थल और उनका अभिप्राय उपेक्षित रहे, किन्तु इसके पुनरुद्धार के द्वारा ही महायान ने प्रतिष्ठापना किया। बुद्धिजगत् में विचारों की एक स्वार्थिक विकासोन्मुख गति होती है^२। लक्षण और प्रमाण की लोज और परिष्कार, तथा शंकाओं की उद्भावना एवं परिहार

५२-इस दृष्टि की विस्तृत अभिव्यक्ति महावस्तु तथा निदानकथा में दृष्टव्य है—जातकट्ठकथा, जि० १, पृ० १५ प्र०, तु०—जोन्त (अनु०) महावस्तु, जि० १, भूमिका, पृ० १४।

५३-इसका हेगेल् कृत प्रतिपादन सुविदित है। यह सही है कि हेगेलीय इन्द्रात्मकता विगुह न्याय-भूमि में कथंचित् मान्य होते हुए भी यथार्थता की भूमि में विचारों की उत्पत्ति का कालिक-रूप निरूपण रूप से द्योतित नहीं करती। हेगेल् के 'वर्शन के इतिहास' में 'वैचारिक इन्द्रात्मकता' की इस ऐतिहासिक सीमा की अवहेलना से अनेकप्र भांति हो गयी है। तु०—कोबे, बट इज सिविंग एण्ड बट इज डेड इन हेगेल्स फिलॉसोफी; मेकटेंगर्ट, स्टडीज इन हेगेलियन डायलेक्टिक।

के द्वारा दार्शनिक सिद्धान्तों का नैसर्गिक विकास होता है। इसी प्रवृत्ति में प्राचीन बुद्ध-शासन के अन्तराल से एक ओर आनिर्धमिक दर्शन को जन्म दिया, दूसरी ओर माध्यमिक दर्शन को।^{१४} एक ओर धर्म-प्रविषय की प्रवृत्ति सर्वास्तित्व के सिद्धान्त में पर्यवसित हुई, दूसरी ओर मध्यमा प्रतिपद् एवं नैरात्म्य के सिद्धान्त व्यापक रूप से गृहीत होकर सर्वशून्यत्व के सिद्धान्त में लीन हो गये। वैभाषिकों का अत्यन्त 'व्याप्य-वाद' तथा माध्यमिकों का शून्यवाद, ये ही हीनयान एवं महायान के दार्शनिक धर्म-बिन्दु हैं। यह उल्लेखनीय है कि हीनयान की दृष्टि में ही महायान का बीज सन्निहित है। सूक्ष्म तार्किक आलोचन से यह मानना अनिवार्य है कि हीनयान के द्वारा स्वीकृत 'प्रतीत्यसमुत्पाद' एवं 'नैरात्म्य' सर्वथा संगत नहीं हैं प्रत्युत उनका विचार-विशारद कलेवर अगत्या माहायानिक रूपान्तर धारण करता है। हीनयान में प्रतीत्यसमुत्पाद पुण्य-पुण्य सत्तावान् धर्मों का कार्यकारण भाव के द्वारा पारतन्त्र्य चोतित करता है। किन्तु यदि धर्म पुण्य अस्तित्ववादी हैं तो उनके पारतन्त्र्य की कमा अपारम्भक है, और यदि परतन्त्र होकर ही उनका नाश सिद्ध होता है तो उन्हें परमाधर्मतः स्वभाव-शून्य मानना चाहिए। इसी प्रकार हीनयान में नैरात्म्य केवल पुद्गल-नैरात्म्य सूचित करता है। किन्तु यदि देह और चित्त में आत्मा की प्रतीति भ्रान्त है, तो देह और चित्त के घटकभूत धर्मों में पुण्य-पुण्य स्वभाव या सत्त्व देखना भी भ्रान्त है। इस प्रकार तर्क की अनिवार्य प्रेरणा को ही महायान का एक उद्गावक-हेतु मानना चाहिए।

बौद्धिक और वैचारिक जगत् में परिणति की ओर गतिस्वारस्य के अतिरिक्त आध्यात्मिक अनुभूति के क्षेत्र में भी परम्परा के क्रम से अभिवृद्धि की सम्भावना अस्वीकार नहीं की जा सकती। यह सच है कि मानव-परम्पराओं में विकास अथवा ह्रास

५४-तु०—मूर्ति, सेन्दुत फिलोसोफी ऑफ बुद्धिज्म, पृ० ४०-४१, ५६-५७।

५५-तु०—सङ्गमपुष्परीक, पृ० ३२, ५३ प्र०। 'धर्म' अथवा आध्यात्मिक सत्य के विषय में प्रायः तीन मत उपलब्ध होते हैं—(१) एकांशवादी, जिसके अनुसार एक विशिष्ट धार्मिक मतवाद सत्य है, शेष मिथ्या, (२) समन्वयवादी जिसके अनुसार सब धर्म बराबर सत्य हैं और उनमें केवल नाम तथा आकार का भेद ही प्रधान है, (३) वैकालिक जिसके अनुसार नाना धर्मों तथा मतों में एक सत्य का तारतम्य है। तु०—प्रत्यभिज्ञादर्शन, जहाँ विभिन्न दार्शनिक प्रस्थानों की विभिन्न तत्त्वों के अनुभव के साथ सम्बद्ध किया गया है।

म० म० गोपीनाथ कविराज का भारतीय दर्शन के 'सम्बन्धवाचक तारतम्य' का मत उल्लेखनीय है।

स्वभाव-निवृत्त नहीं है, किन्तु वे सम्भाव्य सदैव रहते हैं। आर्य-भार्य पर प्रतिष्ठित साधक पहले जिन भूमियों में पहुँच कर सन्तुष्ट हो जाते थे, कालान्तर में उनसे सन्तोष न होकर उत्कृष्ट भूमियों के लिए प्रसन्न स्वाभाविक था। आर्यक गण अर्हत्त्व में सन्तुष्ट होते हैं, प्रत्येक बुद्ध केवल अपने बुद्धत्व में, बोधिसत्त्व सबको बुद्धत्व में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं, अर्हत्त्व में क्लेश-दोष-गुणक वृत्त तब अवश्य ही जाता है, किन्तु सब अज्ञान नहीं हटता। विषय-कल्याण के लिए सब अज्ञान हटना आवश्यक है। तथागत ने स्वयं सर्वज्ञता प्राप्त की थी। उनका अज्ञात आपण ही अनुकरणीय है। अतः महासाम्प्रदायिक बोधिसत्त्व का लक्ष्य उत्कृष्टतर है एवं हीनमान तथा महापान में आध्यात्मिक अनुभव की दृष्टि से एक तारतम्य स्वीकार करना होगा जो कि परम्पराक्रमेण विकास सूचित करता है।

महापान का विकास-क्रम—महापान की प्रधान प्रेरणा बुद्ध की जीवनी थी। बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए बोधिसत्त्व के द्वारा आश्रित 'पान' ही वास्तविक महापान है। महासाम्प्रदायिक साधक ठीक उसी मार्ग और लक्ष्य का अधिक है जिसके आवयमुनि स्वयं थे। पहले कहा जा चुका है कि मूल विनय के सम्पादन में तथागत की एक प्राचीन जीवनी भी समूहित थी जो सम्भवतः उनके बोधिसत्त्व-काल का विवरण भी प्रस्तुत करती थी^१। महासाधियों से विरोध होने पर स्वविरों ने इस जीवनी के कुछ अंग को विशेषतः उसके पूर्वभाग को, स्थानान्तरित एवं संक्षिप्त कर दिया प्रतीत होता है^२। दूसरी ओर महासाधियों में इस परम्परा ने और पुष्टि पायी। स्वविर, बोधिसत्त्व एवं बुद्ध को महापुरुष, किन्तु मनुष्यमात्र मानते थे, जिनके उपदेशों का अनुसरण उपयोगी है, जीवन का अनुकरण अथवा भक्ति की भावना कम। महासाधियों में बुद्ध को लोकोत्तर अवधारित किया गया तथा बोधिसत्त्व की भी अलौकिकता स्थापित की गयी। बुद्ध के सर्वज्ञत्व, कल्याण आदि गुण अर्हत्ता में नहीं पाये जाते प्रायः उनमें अनेक दोष सम्भाव्य रहते हैं। अतएव बुद्ध और अर्हत् के पूर्व-जीवन और साधन में भी भेद होना चाहिए। बुद्धत्व पर जितना ही सन्न किया गया उतनी ही बुद्ध और बोधिसत्त्व की अलौकिकता अधिकाधिक प्रकट हुई। बुद्ध की रूपकाम अथवा भौतिक देह को अनाद्यतन अथवा विषुद्ध मानना होगा। अतः उनका जन्म भी साधारण जन्म से भिन्न और अलौकिक होना चाहिए। अन्ततोगत्वा महासाधियों में बुद्ध के लौकिक जीवन को उनकी मायिक

लोकमान्य माना ।^{१०} बुद्ध अस्तुतः सुषितलोक में ही मृत्यु-प्रतिष्ठित हैं ।^{११} केवल उनके निर्माण काय में ही लोक में प्रकट होकर लोकानुग्रह किया ।

महासांघिकों का बुद्ध और बोधिसत्व की अलौकिकता का यह सिद्धान्त उनकी खोर भक्ति-भाव से अविनाशित है तथा महायान से साक्षात् सम्बन्ध रखता है । महा-यानिक त्रिकायवाद एवं भक्ति का मूल महासांघिक सिद्धान्तों में ही खोजना चाहिए । प्रकारान्तर से भी महासांघिकों में महायान की अवतारणा देखी जा सकती है । अनाश्व-रूप-काय की कल्पना को ही बुद्ध-प्रतिमा के आविर्भाव में प्रथम कारण मानना चाहिए । प्रचलित जंग-विद्या में चक्रवर्ती महानुरागों के लक्षण संगृहीत किये गये थे । इस जंग-विद्या का उद्गम और प्रारम्भिक विकास सम्भवतः ईसापूर्व पाँचवीं से तीसरी शताब्दी के अन्तराल में सम्पन्न हुआ जब शास्त्रात्मनी साम्राज्यके प्रसार काल में 'जावेरू' से भारत का सम्पर्क बढ़ा तथा बाह्य-साहित्यमें आभासित 'चक्रवर्ती सम्राट्' का आदर्श समकालीन राजनीतिक घटनाओं, अर्थशास्त्र, एवं महाभारत के प्रभाव से जन-चेतना में बिस्फुट हुआ ।^{१२} चक्रवर्ती के ३२ लक्षण और ८० अनुलक्षण परिणित किये गये ।^{१३} इसी काल में बुद्ध की धार्मिक चक्रवर्ती के रूप में कल्पित किया गया । महापरिनिर्वाण सूत्र के सम्पादन और समुपबृंहण में इस धारणा का प्रभाव देखा जा सकता है ।^{१४} अशोक की धर्म-विजय के पीछे भी 'चक्रवर्तिसिंहनाद-सूत्र' आदि आगमिक सन्दर्भों का प्रभाव संलक्ष्य है ।^{१५} फलतः चक्रवर्ती के लक्षणों के अनुसार भगवान् बुद्ध की रूप-काय अथवा भौतिक

५८-उद्भा० ३०-—बापे, ले संस्कृत, पृ० ५७ प्र० ।

५९-विजेट्स कमेन्टरी, पृ० २११ ।

६०-जंगविद्या का प्राचीन बौद्ध और जैन साहित्य में अनेकानि तरिकारपूर्वक उल्लेख मिलता है, उ०-—जंगविज्या, भूमिका, पृ० ३६, जैन जंगविज्या में इस शास्त्र का मूल 'हिडिम्बाम' में कहा गया है (यही, पृ० १) जो अश्वेय यही प्रतीत होता । पु०-—मुसनिपात, नाटक मुस, जहाँ 'असित अग्नि' को 'स वक्ष्यमन्त-पारणू' कहा गया है ।

६१-चक्रवर्ती पर वे०-—दीपविकाराय के चक्रवर्तिसिंहनाद तथा समानाश्रय, जिनके अनु-सार अतीत लक्षण सम्पन्न महानुराग या चक्रवर्ती धर्मराज होता है, या सम्पन्न सम्बुद्ध (बोध (मा०), वि० ३, पृ० ११०), पु०-—भंडारकर अशोक, पृ० २३३।

६२-पु०-—प्रसुप्ति, अं० १० १११८, जि० ११, पृ० ५०८ आदि ।

६३-भंडारकर, अशोक, पृ० २३३ अ० ।

देह की भी कल्पना की गयी। हीनयान के स्थविर-सम्प्रदायों के लिए भी 'बुद्धानुस्मृति' एक महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक साधन था।^{१३} जातक-कथाओं के प्रचार, पूर्व-बुद्ध एवं बोधिसत्त्वों की कल्पना तथा लोकोत्तरवाद ने बुद्ध-विषयक अनुस्मृति एवं भक्ति को बढ़ावा दिया। दौर्धनिकाय में छः बुद्धों का उल्लेख प्राप्त होता है, जिसमें बुद्ध की जीवनी एक अनिवार्य धर्मता का अंग बन गयी, तथा भावी बुद्ध 'मैत्रेय' का भी उल्लेख उपलब्ध होता है।^{१४} अशोक ने कोणारामत नाम के बुद्ध का उल्लेख किया है।^{१५} यह स्पष्ट है कि अशोक के पूर्व ही बौद्धों में एक प्रकार की तीर्थ-यात्रा का महत्त्व प्रचलित हो गया था। जातक-कथाएँ चार आगमों अथवा निकायों में भी पायी जाती-हैं तथा कुछ सम्प्रदायों के विनय में भी इनका विशेष महत्त्व था।^{१६} संघागत की तीन विद्याओं में 'पूर्व निवर्तमानुस्मृति' अत्यन्त प्राचीन काल से परिगणित थी।^{१७} यही जातक-कथाओं का वास्तविक मूल है। अवश्य ही इस प्रसंग में प्रचलित लोक कथाओं का सहारा लिया गया और अनेक जातक-कथाओं का परिनिर्वाण के दो सौ वर्षों के अन्दर विनय और चार आगमों में समावेश हुआ। जातकों का विकास बोधिसत्त्व की महिमा की वृद्धि प्रदर्शित करता है। बोधिसत्त्व के द्वारा नाना पारमिताओं के साधन की कथाएँ भी बाहुल्यप्राप्त हुई जैसा चर्मपिटक एवं महावस्तु से उदाहृत होता है। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में जातक और बुद्ध जीवनी को प्रस्तर कला ने मूर्त रूप देना आरम्भ किया। किन्तु इस कला में बुद्ध की रूप-काम का प्रदर्शन न कर उसे केवल सांकेतिक रूप से ही आलिसित किया जाता था। इसका कारण कदाचित् यह धारणा थी कि बुद्ध की रूप-काय सात्त्विक एवं मार्त्य है जबकि उनका बुद्धत्व अमूर्त तथा बुद्धिमात्रगम्य है। किन्तु पश्चान्तर में अंगविद्या के अनुसार बुद्ध का कायिक रूप निर्धारित हो चुकने पर श्रद्धाभक्ति पूर्वक अनुस्मृति के प्रसंग में उनकी मानसिक प्रतिमा का निर्माण और पूजन मिट ही था। महासांघिकों ने रूप की अनासन्नता की सम्भावना दिखलाकर इस

६४—बुद्धानुस्मृति पर ३०—बुद्धघोस, विमुद्धिमन्जो, पृ० १३३ प्र०।

६५—दीघ (मा०), जि० २, पृ० ४ प्र०, वही, जि० ३, पृ० ६०।

६६—इ०—मिगाली सागर स्तम्भ अभिलेख।

६७—जातकों पर इ०—राइज डेविड्स, बुधिसट्ट इण्डिया, प्र० १८९ प्र०, विन्टरनित्स, जि० २, पृ० ११५ प्र०, राइयेर, पालि लिटरेचर एण्ड लेक्चर, पृ० २१-२२।

६८—उदा० मत्तिसम (मा०), जि० १, पृ० ३०, जातकट्ठकथा, जि० १, पृ० ६६,

बुद्धचरित, १४, २-६।

मानसिक प्रतिमा की भौतिक अभिव्यक्ति का मार्ग निष्कण्टक कर दिया। वस्तुतः निर्माण-काय एवं निर्माण-चित्त के अनेक के कारण यह कहा जा सकता है कि जो बुद्ध की वेह लोक-लोचन-समक्ष भौतिक प्रतीत होती है वह वास्तव में निर्माण-चित्त और प्रभास्वर विमल सत्त्व ही है। इसके अतिरिक्त बुद्ध की लोकोत्तरता एवं दिव्यता स्वयं देवान्तरवत् उनके प्रतिभा-निर्माण की मांग करती है। मयूरा में यक्ष-प्रतिमाएँ तथा गन्धार में 'अपोलो' की प्रतिमाएँ इस मूर्त-रूप-विधान में सहायक दृष्टान्त के रूप में पहले से ही विद्यमान थीं।^{६९}

चित्त की स्वाभाविक प्रभास्वरता एवं विमलता प्राचीन सूत्रों में संकेतित है। महासाधिकों में इस तत्त्व को स्वीकार कर उद्धोषित किया तथा यही माहायानिक विज्ञानवाद का बीज है। दूसरी ओर कुछ महासाधिक सम्प्रदायों ने सब लौकिक धर्मों को प्रज्वालिमान् अताकर माहायानिक मार्गावाद एवं शून्यवाद की भूमिका प्रस्तुत की। महासाधिकों की वेतुल्यक शाला को तो बुद्धयोग ने महाशून्यवादी बताया है।^{७०} कुछ अन्य हीनयानी सम्प्रदायों ने भी महायान के विकास में योगदान किया। इस प्रसंग में सर्वास्तिवादी और धर्मगुप्त सम्प्रदाय विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।^{७१}

हरिवर्मा के सत्यसिद्धि सम्प्रदाय की अर्ध-महायानिक तथा हीनयान और महायान के बीच का संक्रम कहा गया है।^{७२} सत्यसिद्धि शास्त्र स्वयं महायान-सूत्रों से परवर्ती है, यह सम्भव है कि सम्प्रदाय के मूल-भूत ग्रन्थ प्राचीनतर रहे हों।^{७३}

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि महायान के विकास में निम्नोक्त कारणों को उत्तरदायी ठहराना चाहिए—बुद्ध देशना के पारमाधिक अंश एवं बुद्ध-जीवनो पर मनन और ध्यान; दार्शनिक विचार एवं आध्यात्मिक अनुभव की सहज वैकासिक गति, अनेक हीनयानी सम्प्रदायों के सिद्धान्त और साहित्य, विशेषतः महासाधिकों के, प्रचार

६९—बुद्ध-प्रतिमा पर ३०—कुमारस्वामी, ए. क्लियर ऑब् स्प्रीज और क्लियर ऑब् ब्रांड; पश्चान्तर में ३०—कूपर, सार प्रेकोबुडोको दु गन्धार, पूनवेरेल, बुचिस्ट आर्ट इन इण्डिया।

७०—३०—डिबेट्स कमेन्टरी, पृ० २०६ प्र०।

७१—तु०—वत्त, महायान, पृ० २६ प्र०, बारो, ले सेक, पृ० २९६ प्र०।

७२—बारो, पूर्वाद्धृत, १०८१ प्र०, सीगेन, सिस्टम्स ऑब् बुचिस्ट ब्रांड, पृ० १७२ प्र०।

७३—तु०—वत्त, पूर्वाद्धृत, पृ० ६५। सत्यसिद्धि सम्प्रदाय पर ३०—सीगेन, वही।

एक प्रसार के प्रसंग में धर्म की जनाकर्षक और मूर्त रूप देने का प्रयत्न विशेषतः प्रार्थनात्मक स्वरूपों में। यह संभव है कि महायान के इस उद्गम में ब्राह्मण-धर्म का प्रभाव भी लक्षित करना चाहिए। जिस प्रकार आभिषमिक चिन्तन में साध्य और सम्भवतः वैरोचिक स्थानों का प्रभाव प्रतीत होता है, वैसे ही महायान पर जीवनिषय जनिर्वचनोप ब्रह्मवाद एवं भावावाद का तथा भागवत धर्म के अवतारवाद एवं भक्ति के तत्त्वों का प्रभाव कदाचित् स्वीकार करना चाहिए। कुछ विद्वानों ने वैदेशिक धर्मों का प्रभाव भी सुझाया है। किन्तु यह सम्भाव्य होते हुए भी प्रमाणित नहीं माना जा सकता।^{१४}

महायान की उत्पत्ति के देशकाल की निर्धारित करने के लिए पहले यह अवश्य है कि दूसरी संसीति के समय हम वैशाली के 'प्राचीनक' निष्ठाओं की प्राची को प्रशंसा में सह कहते पाते हैं कि इसी भूभाग में तथागत जन्म ग्रहण करते हैं।^{१५} चित्त में सिद्धि और जहाँ के आलोचक से निष्ठा महासाधिका नाम से प्रसिद्धि पाकर पहले वैशाली और पाटलिपुत्र में केन्द्रित थे, पीछे अनेक शाखाओं में विभक्त होकर मुख्य रूप से अग्नि-पथ में तथा गौण रूप से सुदूर उत्तर पश्चिम में प्रसारित हुए। कथाकथु के सर्वाधिक पीछे के भाग में महासाधिका की परिणततम वैतुल्यक शाखा के मत का उल्लेख है किन्तु महायान का उल्लेख नहीं है। महासूक्तवादी वैतुल्यक महायान के जन्मप्रसंग है। कथाकथु का समय शेष पालि त्रिपिटक के साथ प्रथम शताब्दी ईसापूर्व से पहले का मानना चाहिए तथा मोक्षलिपुत्र के द्वारा प्रारम्भ में रचित होने के कारण अशोक के बाद। फलतः वैतुल्यकों को ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में मानना उचित होगा। अनेक महासाधिका की एक शाखा पूर्वशीलीम थे। कहा जाता है कि इनके पास प्राकृत-निबद्ध प्रज्ञापरिमिता-सूत्र थे।^{१६} इस प्राकृतसमी प्रज्ञापरिमिता का इस समय कोई पता नहीं चलता, किन्तु प्लेटिफियन उल्लेख सहज ही नहीं है, विशेषतः यदि हम अष्टसाहसिका प्रज्ञापरिमिता की यह उक्ति स्मरण करें कि प्रज्ञापरिमिता का उद्भव दक्षिणापथ में होगा, जहाँ ने वह पूर्वदिशा को प्राप्त होगी और अन्ततः उत्तर में समृद्धि प्राप्त करेगी।^{१७} अष्टसाहसिका का लोकार्क ने चीनी में १४८ ई० में अनुवाद कर दिया था।^{१८} इन सब

१४-वे०—उत्तर।

१५-चित्त (ना०) कुल्लवग, पृ० ४२५।

१६-ई० आर० ई० जि० ८, पृ० ३३५।

१७-अष्टसाहसिका, पृ० २०५-२६।

१८-वे०—उत्तर।

तथ्यों का निर्गलितार्थ यह प्रतीत होता है कि अन्धदेशीय महासाधियों की पूर्ववर्तीय एवं वैतुल्यक शाखाओं में ईसा पूर्व पहली शताब्दी में महायान का जन्म हुआ। भागव-तोक्त भक्ति के जन्म के तदन महायान के दाक्षिणात्य जन्म के समर्थन में यह स्मरणीय है कि महायान के अभिकोश प्रधान आचार्य दाक्षिणात्य ही थे।^{११} एक बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार 'सद्धर्म' के लोपाभिमुख होने पर शातवाहन नाम का दाक्षिणात्य नरेश महायान के वैपुल्य सूत्रों का प्रचार तथा धर्म-रक्षा करेगा।^{१२} अन्ध्रापव से महायान ने मगध की यात्रा की। मगध महासाधियों का प्राचीन केन्द्र था। पुनश्च अन्ध्र और मगध दोनों ही उस समय बौद्ध तीर्थयात्रा के विशेष प्रदेश थे एवं अन्ध्र से उत्तरगामी मार्ग-पद्धति मगधानिमुख थी।^{१३} मगध से महायान की यात्रा परिचित व्यापार-पद्धति से उत्तरापथ की ओर सम्पन्न हुई। यह स्मरणीय है कि उत्तरापथ से मगध का मार्ग बौद्ध यात्रियों से सुतेजित था क्योंकि सभी समुदायों के भिक्षु एवं श्रद्धालु उपासक मगधान् बुद्ध की लीला-भूमि के दर्शनार्थी रहते थे। उत्तरापथ में उड्डियान एवं बाभिवान तथा लोकोत्तरवादिषों के आवास पाये जाते थे। पहली शताब्दी ईसवीय के समाप्त होते-होते महायान सुदूर उत्तर-पश्चिम में भारत की सीमा का अतिक्रमण कर चुका था तथा दूसरी शताब्दी से मुगध, पर्यव और खोतनी भिक्षुओं के सहारे महायान मध्य एशिया तथा चीन में प्रसारित हुआ।

यह कहा गया है कि कनिष्ककालीन संगीति में अनुमित्र के साथ ५०० बौद्ध-सत्त्वों का उल्लेख महायानियों की उपस्थिति सूचित करता है।^{१४} दूसरी ओर यह भी कहा गया है कि अभिषर्गमहाविभाषा में महायान के सिद्धान्तों का अनुल्लेख यदि मज्ज-निमीलिका नहीं तो अवश्य ही महायान का गन्धार और कश्मीर में तत्कालीन अवधार

७९-इ०—बारो, सेतेपत, पृ० २९७-९८।

८०—मार्मार्जुन और शातवाहन पर इ०—लेबि, जे० ए० १९३६ (अन०-वार्धे) पृ० ६१-१२१ तु०—कॉम्प्रिहेन्सिव हिस्टरी, जि० २, पृ० ३७७।

८१—श्वान-श्वार्द कालिग से दक्षिण-कोशल और वहाँ से अन्ध्र पहुँचा था, बौल, हेबेल्स, जि० ४, पृ० ४१४, ४२०, तु०—रघुवंश, सर्ग ४ में रघु का मार्ग, प्रयाण-प्रवृत्ति में समुद्रगुप्त का मार्ग।

८२-इ०—कॉम्प्रिहेन्सिव हिस्टरी, पृ० ३७३, इसके विरोध में तु०—तत्कालीन अन्ध्र-बार० ए० एस० १९०५।

अथवा अल्प-प्रचार सूचित करता है।^{८३} इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि महायान का प्रारम्भ न किसी स्वतन्त्र दिनप को लेकर हुआ था, न उसके अपने पृथक् आवास थे। इसी परिस्थिति का बहुत पीछे इन्-चिंग ने उल्लेख किया है।^{८४} महायानसूत्रों में किसी दर्शन अथवा सिद्धान्त का एक स्वतन्त्र शास्त्रीय प्रस्थान के रूप में प्रतिपादन नहीं है, प्रत्युत बुद्ध, बोधिसत्त्व और प्रज्ञा का प्रचलित ढंग से अर्चन-साधन-प्रधान विवरण है। अतएव यह सम्भव है कि कनिष्क के समय में इन सूत्रों के अभिमत का प्रसिद्ध महासांघिक लोकोत्तरवादी अभिमत से वैशिष्ट्य प्राचीन वैभाषिकों ने ठीक-ठीक हृदयंगम न किया हो। पृथक् शास्त्र के रूप में महायान की स्थापना, नागार्जुन, असंग आदि आचार्यों के कार्य से ही सम्पन्न हुई। हीनयानी अनुबन्ध, संधभद्र आदि के ग्रन्थों में महायान के अनुल्लेख के विषय में यह स्मरणीय है कि कोषाकार ने अपने को सम्भवतः विभाषा के ही विचार-अग्रत् में सीमित रखा है और उनके शब्दन-मण्डन-परायण परवर्ती व्याख्याकारों ने कोष की प्रशस्त चहारखीचारी के भीतर ही अपने बौद्धिक अभियान तथा प्रत्यभिमान किये हैं।

महायान के इतिहास के इस प्रकार तीन युग निर्धारित किये जा सकते हैं—(१) बीज-काल : उद्भागत की सम्बोधि से वैतुल्यको तक (२) सूत्र-काल : ई० पू० १ वी शताब्दी से ई० ३ री शताब्दी तक, (३) शास्त्र-काल : नागार्जुन से परवर्ती।

(२) महायान-सूत्र—पूर्वरूप

'अतिरिक्त' पिटक—ऊपर कहा जा चुका है कि महायानियों का यह अभ्युपगम कि उनके सूत्र बुद्धोपनिषद् हैं, स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस प्रसंग में असंग, शान्तिदेव, मञ्जुशोध-हास-वज्र आदि की मुक्तियों से^{८५} केवल इतना प्रमाणित होता है कि महायान में विस्तारित सिद्धान्तों का सूक्ष्म मूल सम्भवतः प्राचीन सूत्रों में उपलब्ध है तथा हीनयानी सम्प्रदायों के साहित्य के कतिपय अंश महायान साहित्य के पूर्व रूप समझे जा सकते हैं। बुद्धान्त की पहली शती में सूत्र और विनय ही बुद्धचरित के नाम से प्रसिद्ध थे। इसके अनन्तर परिनिर्वाण से दूसरी और तीसरी शताब्दियों में नाना हीनयानी सम्प्रदायों के विकास के साथ सूत्रपिटक और विनयपिटक के अतिरिक्त

८३-बारी, पूर्व० पृ० २९९-३००।

८४-सक्रान्तु, इन्-चिंग, पृ० ७, १४-१५।

८५-दे०—ऊपर, पृ०—६० बार० ई० वि० ८, पृ० ३२५।

अभिधर्मपिटक, 'संयुक्तपिटक', 'बोधिसत्त्वपिटक', एवं 'धारणीपिटक' का अन्वुदय हुआ।^{११} अभिधर्मपिटक वस्तुतः 'अपोकलिफ' (apocryphal, अप्रामाणिक) होते हुए भी प्रामाणिक माना गया। कुछ सम्प्रदायों में केवल अभिधर्म ही प्रामाणिक समझा गया। कौस्तुभिकों के अनुसार सूत्र और विनय की देशना उपायमात्र है।^{१२} सर्वोक्तिवादी वैभाषिकों ने स्पष्टतः यह न कहकर व्यवहार में अभिधर्म पर ही अपने विशिष्ट अभिमत आधारित किये, यहाँ तक कि उनके विरोध में सौत्रान्तिकों को पुनः सूत्रों को कुहाई देनी पड़ी। अभिधर्म की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए स्वबिरों को भी तथ्यागत के एक प्रकार से 'गुह्योपदेश' और उसकी अपनी विलक्षण परम्परा की कल्पना करनी पड़ी जैसी कि महायानियों ने अपने साहित्य के विषय में की है।^{१३}

महासांघिकों की बहुभूतीय शाखा के साहित्य में अभिधर्मपिटक के अतिरिक्त 'बोधिसत्त्वपिटक' एवं 'संयुक्तपिटक' भी संगृहीत थे।^{१४} धर्मगुप्तक सम्प्रदाय में त्रिपिटक के अतिरिक्त 'बोधिसत्त्वपिटक' तथा 'धारणीपिटक' अथवा 'मन्त्रपिटक' भी विदित था।^{१५} यह स्मरणीय है कि महायुत्पत्ति में भी 'बोधिसत्त्वपिटक' का उल्लेख प्राप्त होता है। यह सम्भवतः तन्नामक उस ग्रन्थ का निर्देश करता है जो चीनी त्रिपिटक में उपलब्ध है एवं महायान की महारत्नकूट कोटि का है।^{१६} किन्तु महासांघिकों का बोधिसत्त्वपिटक सम्भवतः वह एकमात्र ग्रन्थ न होकर एक सन्दर्भराशि थी। वैतुल्यको 'वैतुल्य' का ही रूपान्तर मानने पर महायान के 'वैपुल्य-सूत्रों' का महासांघिक वैतुल्यकों से साक्षात् सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।^{१७ १८}

८६-बारो, से० सेक्क, पृ० २९६।

८७-वही, पृ० ७९।

८८-इ०—अट्ठसासिनी, पृ० १२-१५।

८९-बारो, से० सेक्क, पृ० ८१, तु० श्वानच्चांग, ऊपर उद्धृत।

९०-बारो, पूर्ण, पृ० १९०, वाट्स, श्वानच्चांग, ऊपर उद्धृत।

९१-तु०—मन्थो, केटेलोग, स्तम्भ १३, संख्या १२।

९२-तु०—लॉ, डिबेन्स कमेन्टरी, भूमिका, पृ० ६; जे० आर० ए० एस० १९०७।

९३-तु०—शान्ति मिश्र, महायान, पृ० १०। 'निकायसंग्रह' से पता चलता है कि वैपुल्यवादिनों ने वैपुल्यपिटक, अन्यकों ने रत्नकूट, सिद्धार्थकों ने गुह्य वेस्तनर राजगिरिकों ने अंगुलिमालपिटक (? अंगुलिमाल सूत्र, मन्थो ४३४), पूर्व-शैलियों ने राष्ट्रपालगजित (? राष्ट्रपालपरिपुष्पा मन्थो ८७३), की रचना की।^{१९}

पूर्वशीलीय तथा अपरशीलीय सम्प्रदायों की प्राकृत प्रज्ञापारमिता का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। आरम्भ में पारमिताओं की सामान्यतः प्रशंसा और उनके साधन की ओर प्रेरणा एक प्रकार के कथा-साहित्य में प्रकाशित हुई। इसी युग में प्रज्ञारूप पारमिता के दार्शनिक प्रतिपादन की आवश्यकता का भी अनुभव हुआ होगा।

द्वादश अंग—पारमिताओं की महिमा सर्वप्रथम 'जातकों' में प्रकट होती थी। जातक पहले सूत्रान्तों से अभिन्न थे। पीछे उनका पृथक् संग्रह और सख्यावृद्धि सम्पन्न हुई।" सर्वास्तिवादियों और महासांघिकों ने सूत्र, गेय, व्याकरण, गाथा, उदान, इतिवृत्तक, अद्भुतगर्भ, जातक और वैपुल्य नाम के नवाङ्गों के अतिरिक्त अन्य तीन अंगों का आविष्कार किया—निदान, अवदान, और उपदेश।" कुछ विद्वानों को 'वैदम्ब' का 'वैपुल्य' से तादात्म्य अभीष्ट है।" निदान साहित्य में पारमिताओं की भावना के द्वारा बोधिसत्त्व की चर्या का उल्लेख विवक्षित होना चाहिए जैसा जातक ठवग्गना की निदानकथा में उदाहृत है, किन्तु वस्तुतः 'निदान' का औपोद्धातिक विवरण के अर्थ में व्यापक प्रयोग उपलब्ध होता है। अवदान (पालि, 'अपदान') से बोधिसत्त्व अथवा विशिष्ट बौद्ध गण के चरित से सम्बन्ध रखनेवाली कथाएँ विवक्षित हैं। इनका एक विशाल साहित्य आविर्भूत हुआ जिसका एक अंग हीनयान में है तो दूसरा महायान में। इस प्रसंग में अवदानशतक और दिव्यावदान उल्लेखनीय है। अवदानशतक की रचना सम्भवतः दूसरी शताब्दी ईसवीय में हुई थी।" दिव्यावदान वर्तमान रूप में और भी उत्तरकालीन प्रतीत होता है, किन्तु इसके कुछ अंश विशेष प्राचीन हैं। दिव्यावदान

१४-इ०—राइज डेविड्स, बुध्तिस्ट इण्डिया, पृ० १८९ प्र०, विन्टरमिस्स, जि० २, पृ० ११५ प्र०, तु०—वत्त, महायान, पृ० ७ प्र०।

१५-द्वादशांग—"सूत्रं गेयं व्याकरणं गाथोदानावदानकम्।

इतिवृत्तकं निदानं वैपुल्यं च सजातकम्।

उपदेशाद्भुतो धर्मो द्वादशाङ्गमिव वचः॥"

(हरिभद्र, आलोक पृ० ३५), तु०—पुले, कोश, ५-६, पृ० १९४, वत्त, महायान, पृ० ९।

१६-केन, मंग्यएल ऑब् बुध्दिम ।

१७-तीसरी शताब्दी ई० में अवदानशतक का चीनी अनुबाध हो गया था—
नन्विचो, केटलॉग, ३२४।१, दूसरी ओर बीनार का उल्लेख (बैद्ध (सं०) अवदानशतक, पृ० २०७) पहली शताब्दी से अर्वाचीनता धोतित करता है।
तु०—विन्टरमिस्स, जि० २, पृ० २७९।

का मूल सर्वास्तिवादियों का विनयपिटक है, पर इसमें अनेक स्थलों पर महायान का संकेत है।^{१८}

पहले कहा जा चुका है कि मूल-विनय में बुद्ध की जीवनी के अंश संगृहीत थे। महासाधिकों में बुद्ध-जीवनी का महत्त्व विशेष रूप से माना गया। लोकोत्तरवादियों के विनयपिटक का एक अंश महावस्तु के नाम से सेव है।^{१९} इसमें बुद्ध की जीवनी का प्राधान्य है तथा इसे 'अर्धमाहायानिक' अथवा हीनयान और महायान के बीच की साहित्यिक कड़ी माना जा सकता है। सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय में एक बुद्ध की जीवनी जो 'विज्ञानों' में परिगणित थी पीछे विस्तृत और परिवर्तित होकर महायान का प्रसिद्ध वैपुल्य सूत्र 'ललितविस्तर' बन गया।^{२०} धर्मगुप्तक सम्प्रदाय में बुद्ध की एक जीवनी 'अभिनिष्क्रमण-सूत्र' के नाम से प्रसिद्ध थी। इसका तीसरी शताब्दी ईसवीय में चीनी में अनुवाद सम्पन्न हुआ।^{२१} स्थविरवादियों की आतकट्ठकपावण्णना की 'निघान कथा' भी इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। इसका मूल सम्भवतः उस अट्ठकथा की परम्परा में था जो पालि त्रिपिटक के साथ भारत से तिहल पहुँची।^{२२}

महावस्तु—महावस्तु अपने को मध्यदेशीय महासाधिक लोकोत्तरवादियों का विनयपिटक घोषित करता है।^{२३} इस विद्यालय का ग्रन्थ के तीन भाग हैं। पहले में बीपंकर आदि नाना अतीत बुद्धों के समय में बोधिसत्त्व की कथा का वर्णन है। दूसरे में तुषित लोक में बोधिसत्त्व के जन्म-ग्रहण से प्रारम्भ कर सम्बोधि-ज्ञान तक का विवरण

१८—एक ओर शार्ङ्गलकर्णवदान का चीनी अनुवाद ई० २६५ में सम्पन्न हो गया था, दूसरी ओर विद्यावदान में कुमारलता की 'कल्पनामण्डितिका' का प्रचुर उपयोग है—तु०—विन्दरनित्त, जि० २, पृ० २८४, प्र०, वेंच, (सं०), विद्यावदान, भूमिका, पृ० ९-१२।

१९—वे०—नोवे।

२०—तु०—संक्षिप्तः १-१३—“तस्मिन्काले मे श्रुतेह सर्वे वैपुल्यसूत्रं हि महानिदानम्।” तु०—विन्दरनित्त, जि० २, पृ० २४८, चीनी अनुवादों पर नम्बियो, केटेलान, संख्या १५९, १६०, तु०—वेंच, संक्षिप्त०, भूमिका, पृ० ११।

२१—विन्दरनित्त, पूर्व० स्वतः।

२२—तु०—काव्यालर, पूर्व पृ० १५५ प्र०।

२३—सेनार (Senart) ने महावस्तु का ३ हिस्सों में सम्पादन किया था (पेरिस, १८८२-९७)। अंग्रेजी अनुवाद, जे० वे० ब्लान्क, जि० १, लण्डन, १९४९, जि० २, वही, १९५२, जि० ३।

किया गया है। तीसरे भाग में 'महावग्ग' के सद्यः संघ के प्रारम्भिक उदय का वर्णन है। किन्तु इस मूल विवरण सूत्र में विविध और बहु-संस्पृक्त जातक, अवदान आदि प्रतिबिम्ब एवं प्रक्षिप्त मिलते हैं नहीं तक कि बहुधा मूल सूत्र खोजना दुष्कर ही रहता है। महावस्तु 'बौद्ध संस्कृत' अर्थात् प्राकृत-प्रभाव से अष्ट संस्कृत में लिखा हुआ है।^{१०४} इसकी रचना समुपमं ह्य एवं प्रशेष के द्वारा अनेक क्षताब्दियों में सम्पन्न हुई। 'होरा-पाटकों' तथा हूण और चीनी लिपियों के उल्लेख से ग्रन्थ की वर्तमान रूप में समाप्ति गुप्तकालीन सूचित होती है। किन्तु इसका प्रारम्भ कम-से-कम अर्धसहस्राब्दी पहले रहना होगा।^{१०५} अनेक स्थलों में महावस्तु के सन्दर्भ पालि त्रिपिटक के अत्यन्त सन्निकट हैं, और मूल परम्परा से अपना सम्पर्क प्रकट करते हैं।^{१०६} यह उल्लेखनीय है कि महावस्तु में दो शैलियों का भेद आविष्कृत किया गया है।^{१०७} जिससे भी महावस्तु का अंशतः प्राचीनत्व समर्थित होता है।

महावस्तु को 'हीनयान और महायान के मध्य में पुल' बताया गया है।^{१०८} बोधिसत्त्व और बुद्ध की लोकोत्तरता का सिद्धान्त इसमें स्पष्ट प्रतिपादित है।^{१०९} अतीत और प्रत्युत्पन्न बुद्धों की कल्पनातीत संख्या बुद्धि में असंकोच भी 'माहायानिकता' का प्रदर्शन करता है, यद्यपि अनेक अतीत बुद्धों की सत्ता स्वविरादियों ने भी स्वीकार की है, तथा सर्वास्तिवादियों ने अनेक बुद्धों की विभिन्न क्षेत्रों में समकालिक सत्ता सिद्धान्तित की है।^{११०} बुद्धत्व-प्राप्ति के लिए बोधिसत्त्वों की दस भूमियों का उल्लेख महायान के अत्यन्त निकट

१०४-बौद्ध संस्कृत पर एमर्टन का कार्य उल्लेख्य है।

१०५-मु०—विन्दरनिस्त, जि० २, पृ० २४६-४७, हृप्रस्ताव शास्त्री, आ० एच० क्यू० १९२५, सेगार, (सं०) महावस्तु।

१०६-विन्विश, बी कम्पोजिटिस्तियॉन वेस महावस्तु, पुते, ई० आर० ई० जि० ८, पृ० ३२९, जोना (अनु०) महावस्तु में पालि-अभिस्सम्बन्ध बहुधा प्ररक्षित है।

१०७-मु०—जिमसा बरन सां, ए स्टडी ऑफ़ दि महावस्तु, कोयका 'ए नोट' इत्यादि, पृ० ७ प्र० अहाँ ओल्वेनबर्ग और विन्विश के विवेचन पर संक्षिप्त टिप्पणी है।

१०८-पुते, ई० आर० ई० पुबं० स्पल।

१०९-विशेषतः इ०—जोना (अनु०) महावस्तु जि० १, पृ० ११२-५१, सेगार (सं०) महावस्तु, जि० १, पृ० १४२-१३।

११०-ई० आर० ई० जि० ८, पृ० ३२९।

है।^{१११} इस प्रसंग में यह कहा गया है कि बुद्धत्व के प्राप्ति के लिए ही इस 'वसभूमिक' का उपदेश करना चाहिए।^{११२} दूसरी ओर महावस्तु में अवलोकितेश्वर, अमिताभ, आदि का परिचय नहीं है तथा उसका 'कथासाहित्य' एवं प्रमुख सिद्धान्त हीनयान के मण्डल के अन्तर्गत है।^{११३}

ललितविस्तर—ऊपर कहा जा चुका है कि अपने को 'वैपुल्य-मूल' स्थापित करते हुए भी 'ललितविस्तर' मूलतः सर्वास्तिवादियों की बुद्ध-जीवनी थी।^{११४} यह सम्भव है कि कभी इसका आधार भी प्राकृत-निबद्ध परम्परा थी। प्राकृत का प्रभाव 'ललित-विस्तर' की पद्य-गाथाओं में स्पष्ट संलक्षित किया जा सकता है। यह के प्राचीनतर अंशों में भी इस प्रकार का प्रभाव अलक्ष्य नहीं है। ये अंश बहुधा पालि लिपिबद्ध के प्राचीन अंशों से आपत्तयजनक सामञ्जस्य प्रदर्शित करते हैं।^{११५} ऐसा अनुमान युक्त प्रतीत होता है कि पालि और ललितविस्तर की परम्पराएँ किसी एक समान मूल की श्रेणी हैं।

ललितविस्तर का प्रारम्भ और उपसंहार स्पष्ट रूप से महायानिक है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ललितविस्तर नाम के वैपुल्य-मूल के उपदेश के लिए बुद्ध से सहस्रों भिक्षुओं और बोधिसत्त्वों की परिषद् में नाना देवताओं की अभ्यर्चना तथा मीन के द्वारा उसका बुद्ध से स्वीकार वर्णित है। अन्त में 'ललितविस्तर' का माहात्म्य गान किया गया है। बीच में तुषित लोक से बोधिसत्त्व के बहुत विमर्श के अनन्तर मातृ-गर्भ में अवतार से प्रारम्भ कर सम्बोधि के अनन्तर धर्मचक्र प्रवर्तन तक का वृत्तान्त निरूपित किया गया है। प्राचीन विवरण से अधिकांश स्थलों में विशेषतः अभिनिष्क्रमण के अनन्तर मेल

१११—महावस्तु, जि० १, पृ० ६५ प्र०, महावस्तु (अनु० जोन्स) जि० १, पृ० ५३ प्र०, तु०—वत्, महायान, पृ० २८६ प्र०, वहाँ इन वत् भूमियों की अन्य सूचियों से तुलना प्रदर्शित करने का यत्न किया गया है।

११२—महावस्तु, जि० १, पृ० १९३, वही, (अनु० जोन्स), जि० १, पृ० १५१।

११३—वही, पृ० ३३०, तु०—जोन्स, पूर्व, जि० १, भूमिका, पृ० १३ प्र०।

११४—ललितविस्तर, सम्पादित, राजेन्द्र लाल मिश्र द्वारा, १८७७, (अष्टादशसंस्करण), लेखमान द्वारा, १९०२, १९०८, प० वीर द्वारा, १९५८।

११५—ज्या० तु०—ललित०, पृ० १८१-१८५, और मज्झिम (ना०), जि० १, पृ० २९९-३०२।

जाते हुए भी अनेक नवीन उद्भावनाएँ की गयी हैं। ^{१११} वर्धन शैली में एक व्यापक माहायानिक 'वैपुल्य' अथवा विस्तार की प्रवृत्ति देखी जा सकती है।

महायानसूत्र—विस्तार और परिचय

जैसा ऊपर देखा गया है, हीनयान का आगम अपेक्षाकृत सीमित और परिगणित है तथा उसका स्वमिरवादी संस्करण अपने मूल रूप में प्रायः सम्पूर्णतया रक्षित है। महायान के सूत्रों और शास्त्रों का विपुल विस्तार इस समय काल-महिम्ना संस्कृत में अधिकांशतः उपलब्ध न होते हुए भी उसके अनेक संकेत प्राप्त होते हैं। अपने मूल रूप में अवशिष्ट महत्वपूर्ण माहायानिक सूत्रों और शास्त्रों की संख्या दो दर्जन से विशेष अधिक नहीं है। ^{११२} कुछ ग्रन्थों का इपर चोनी अथवा तिब्बती अनु-

११६-सु०—सहित, भूमिका (बंध), पृ० १०, चिन्तरगित्स, जि० १, पृ० २५१-५२।

११७-मूलग्रन्थ में उपलब्ध मुख्य महायान सूत्र—प्रज्ञापारमिताएँ : शतसाहस्रिका (अपूर्ण, सं० जिब०, इन्द्र० १९०२-१४), पञ्चविंशतिसाहस्रिका (अपूर्ण, सं० न० इत्, लन्दन, १९३४), अष्टसहस्रिका (जिब० इन्द्र० १८८८ बोगि-हारा का "अभिसमयालङ्कारालोक" का संस्करण, टोकियो, १९३२-३५), प्रज्ञापारमिताहृदय (सं० मैक्समूलर और नन्जियो, १८८४), सप्तशतिका (सं० बुचि०, रोम, १९२३; सं० ममुदा, जे० टी० पृ०, १९३०), वसताहस्रिका (अपूर्ण, सं० कौमो, आस्लो, १९४१); अर्धशतिका (सं० सोइमात, स्त्रासबर्ग, १९१२; कियोटो, १९१७), सुविक्रान्तविक्रमिपरिपुच्छा प्रज्ञा० (सं०, नानुमोटो; सं० हिकाटा, १९५८); समाधिराज (गिलगित मेंनस्किट्स), आप्तमेत्रेयनाकरण (वही, जि० ४), वज्रच्छेदिका (सं०, मैक्समूलर, १८८८; गिलगित मेंनस्किट्स, जि० ४, कलकत्ता, १९५९); तटमेयुष्यरीक (पीटर्सबर्ग, १९०८ प्र०); कलत्रापुष्परीक (कलकत्ता, १८९८); कारञ्ज्युह (कलकत्ता, १८७३); सुभाषतीर्थुह (जोन्सहोर्ड, १८८३); सुधर्मप्रभास (कलकत्ता, १८९८; कियोटो, १९३१); राघुपालपरिपुच्छा (पीटर्सबर्ग, १९०१); काश्यपपरिवर्त (शॉडित, शंघाई, १९२९); लंकावतार (कियोटो, १९२३); दशभूमिकसूत्र (युट्रेख्ट, १९२६); गण्डव्यूह (सं० इजुमि, ओटागि विश्वविद्यालय, कियोटो)। मूल में उपलब्ध मुख्य महायान शास्त्र—नागार्जुन, मध्यमककारिका (प्रसन्नपदा के साथ सं०, पीटर्सबर्ग, १९०३ प्र०); मेत्रेयनाथ, अभिसमया-

वादों से "उद्धार" भी किया गया है।^{११८} दूसरी ओर 'शिक्षासमुच्चय' में प्रायः १०० सूत्र-ग्रन्थों से उद्धरण उपलब्ध होते हैं।^{११९} महाव्युत्पत्ति में १०५ सूत्रों के नाम संकीर्तित

संसार (लेनिनघाट, १९२९, टोकियो, १९३२-३५), इस पर हरिभद्र का आलोचक, बड़ौदा, १९३२; अंतंग, महायानसूत्रांशकार (पेरिस, १९७७); योगाचारभूमिशाला (अंशतः प्रकाशित, कलकत्ता, १९५७); वसुजन्धु, विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि (पेरिस, १९२५); विहनाय, न्यायप्रवेश (बड़ौदा, १९३०), धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्तिक (इलाहाबाद, १९४४); पटना, १९५३; रोम, १९६०), न्यायविन्दु (जौहम्बा सं० लो०; पटना, १९५५); शान्ति-देव, बोधिवर्षावतार (बिब० इन्द्र, १९०१-१४; इरभंगा, १९६०), शिक्षा-समुच्चय (पीटर्सबर्ग, १९०२), शान्तिरक्षित, तत्त्वसंग्रह (कमलदीन की पंजिका के साथ, बड़ौदा, १९२६)।

११८—यथा आर्यदेव, चतुःशतक (अपूर्व, विश्वभारती, १९३१; मूल के कुछ अंश, मेम० एशियाटिक सो० सं०, कलकत्ता, १९१४), चित्तविशुद्धिप्रकरण (पटेल, विश्वभारती)।

११९—शिक्षासमुच्चय में उद्धृत महायानसूत्रों की सूची—

- | | |
|-----------------------------------|----------------------------------|
| (१) अक्षयमार्तिसूत्र | (१५) कर्मोत्तरनविशुद्धिसूत्र |
| (२) अक्षुत्तिमात्रिक | (१६) कामापवादक सूत्र |
| (३) अभ्यासावसंशोधनसूत्र | (१७) काश्चपपरिवर्त |
| (४) अनन्तनुत्तनिर्हारधारणी | (१८) क्षितिगर्भसूत्र |
| (५) अपूर्वसमुद्गतपरिवर्त | (१९) गगनगोचसूत्र |
| (सूत्र ?) | |
| (६) अपरराजाववादकसूत्र | (२०) गण्डगुह |
| (७) अवलोकनासूत्र | (२१) गोचरपरिपुच्छिसूत्र |
| (८) अवलोकितेश्वरविमोक्ष | (२२) चतुर्धर्मकसूत्र |
| (९) आकाशगर्भसूत्र | (२३) चन्द्रप्रदीपसूत्र |
| (१०) आर्यसत्यरूपपरिवर्त (सूत्र ?) | (२४) अन्त्रोत्तरावारिकापरिपुच्छा |
| (११) उग्रपरिपुच्छा या उग्रवत्त० | (२५) सुन्दाधारणी |
| (१२) उदयनवत्सराजपरिपुच्छा | (२६) जम्भलस्तोत्र |
| (१३) उपायकौशल्यसूत्र | (२७) ज्ञानवतीपरिवर्त |
| (१४) उपाधिपरिपुच्छा | (२८) ज्ञानवैपुल्यसूत्र |

- | | |
|--|----------------------------------|
| (२९) तत्वागतकोशसूत्र | (५८) मञ्जुश्रीविहीनितसूत्र |
| (३०) तत्वागतगुह्यसूत्र | (५९) महाकरुणायुष्मरीकसूत्र |
| (३१) तत्वागतबिम्बपरिवर्त | (६०) महामेघ |
| (३२) त्रिसमयराज | (६१) मवावस्तु |
| (३३) त्रिस्कन्धक | (६२) भारीची |
| (३४) वशधर्मसूत्र | (६३) मालातिहनाथ |
| (३५) वशभूमिकसूत्र | (६४) मंत्रेयीविमोक्ष |
| (३६) विद्यावदान | (६५) रत्नकरण्डसूत्र |
| (३७) धर्मसंगीतिसूत्र | (६६) रत्नकूट |
| (३८) नारायणपरिपुच्छा | (६७) रत्नचुडसूत्र |
| (३९) निपतानियतासतारमुद्रासूत्र | (६८) रत्नमेघ |
| (४०) निर्वाण (?—सूत्र?) | (६९) रत्नराशिसूत्र |
| (४१) पितृपुत्रसमागम | (७०) रत्नोत्काचारणी |
| (४२) पुष्पकूटधारणी | (७१) राजावधारकसूत्र |
| (४३) प्रज्ञापारमिता—“महती”,
अष्टसाहस्रिका, | (७२) राष्ट्रपातपरिपुच्छा |
| (४४) प्रज्ञानान्तरायसूत्र | (७३) लङ्कावतारसूत्र |
| (४५) प्रज्ञान्तविनिश्चयप्रातिहार्यसूत्र | (७४) ललितविस्तर |
| (४६) प्रातिमोक्ष | (७५) लोकनाथव्याकरण |
| (४७) बृहत्सागरनागराजपरिपुच्छा | (७६) लोकोत्तरपरिवर्त |
| (४८) बोधिसत्त्वसतार | (७७) वज्रच्छेदिका |
| (४९) बोधिसत्त्वषट्क | (७८) वज्रध्वजपरिणामना |
| (५०) बोधिसत्त्व प्रातिमोक्ष | (७९) वाचनोपासिकाविमोक्ष |
| (५१) बुद्धपरिपुच्छा | (८०) मित्रावरस्तिक |
| (५२) भगवती | (८१) विमलकीर्तिनिर्देश |
| (५३) भद्रकल्पिकसूत्र | (८२) वीरवत्परिपुच्छा |
| (५४) भद्रचरोप्रणिधानराज | (८३) दानिस्तम्बसूत्र |
| (५५) भिल्लप्रकीर्णक | (८४) शूरङ्गनसूत्र |
| (५६) भैरवगुह्यवर्धनप्रभसूत्र | (८५) अद्वायकामानावतारमुद्रासूत्र |
| (५७) मञ्जुश्रीबुद्धभोग्यसूत्र-
संस्कारसूत्र | (८६) बाधकविनय |

है जिसमें अधिकांश महायान के हैं।" पर महायान-साहित्य की वास्तविक विपुलता चीनी और तिब्बती त्रिपिटकों तथा चीनी और तिब्बती भाषियों एवं इतिहासकारों की कृतियों को देखने से ही विदित होती है।

(८७) श्रीमहासातिहनादसूत्र	(९३) सर्वधर्माप्रवृत्तिनिर्देश
(८८) सद्धर्मपुण्डरीक	(९४) सर्वधर्माधरमन्त्र
(८९) सद्धर्मसमुत्पत्त्यन	(९५) सामरमतिपरिपुच्छा
(९०) सप्तमैपुनसंगुप्तसूत्र	(९६) सिंहपरिपुच्छा
(९१) समाधिराज (चन्द्रप्रदीप)	(९७) सुवर्णप्रभासोत्तमसूत्र
(९२) सर्वधर्मवैपुल्यसंग्रहसूत्र	(९८) हस्तिकथसूत्र

१२०—महायानुत्पत्ति की सुधी में त्रिपिटक, सूत्र, अभिधर्म, विनय आदि नाम हीनयान के साहित्य का संकेत करते हैं। स्पष्टतः हीनयानो ग्रन्थों को छोड़कर इस सुधी में निम्नोक्त ध्वजराशि का परिचय दिया गया है—
 अतसाहसिका प्रज्ञापारमिता, पञ्चविंशतित्ताहसिका प्रज्ञापारमिता, अष्ट-
 साहसिका, सप्तशतिका प्रज्ञापारमिता, पञ्चशतिका प्रज्ञापारमिता, विंशतिका
 प्रज्ञापारमिता, अकतंतक, बोधिसत्वपिटक, सलित्विस्तार, समाधिराज,
 पिता-पुत्र समामम, लोकोत्तरपरिचयन, सद्धर्मपुण्डरीक, गगनचक्र, रत्नमेघ,
 संकाशतार, सुवर्णप्रभास, धिमलकोति निर्देश, वंद्यव्यूह, वनव्यूह, आकाश-
 गर्भ, अक्षमितिनिर्देश, उपायकोशलय, धर्मसंगीति, सुविधातविक्रमो,
 महाकवचापुण्डरीक, रत्नकेतु, वशानुमिक, तथागतमहाकवचानिर्देश, हुम-
 किलरराजपरिपुच्छा, सूर्यधर्म, बुद्धनूमि, तथागतचरित्रगुह्यनिर्देश,
 सूर्यगमसमाधिनिर्देश, सागरनागराजपरिपुच्छा, सज्जातशत्रु-कौटुम्ब-विमोहन,
 संधिनिर्माण, बुद्धसंगीति, राघुपास-परिपुच्छा, सर्वधर्माप्रवृत्तिनिर्देश,
 रत्नचूडपरिपुच्छा, रत्नकूट, महायान-असाद-प्रभावन, महायानोपदेश, अर्ध-
 महाविशेष-विन्तापरिपुच्छा, परमार्थ-संबुत्ति-साय-निर्देश, भंजुभो-विहार,
 महापरिनिर्वाण, अवैशत-चक्र, धर्म-विभंग, रत्नोष्का, मोघर-परिलुब्ध,
 प्रज्ञातविनिश्चय-प्रातिहार्य-निर्देश, तथागतोत्पत्ति-संभव-निर्देश, भवसंश्रुति,
 परमार्थधर्म-विजय, भंजुभो-बुद्धशेख-गुणव्यूह, बोधिल-निर्देश, कर्मावरक-
 प्रतिप्रलम्बि, त्रिस्कन्धक, सर्वधर्मसंग्रह, संघाटसूत्र, तथागत-ज्ञान-गुहा-
 समाधि, वज्रमेघ-सितारकुटागारवारणी, जनवत्त-नागराज-परिपुच्छा,
 सर्वबुद्धविषयावतारज्ञानाकोकाभंकार, आसपरिपुच्छा, सुबाहुपरिपुच्छा,

नन्जियो के द्वारा संगृहीत चीनी विपिटक की सूची^{११} में सूत्र-पिटक अथवा सूत्र-काण्ड के अन्तर्गत ५४१ महायान-सूत्रों का उल्लेख है। ये सूत्र सात वर्गों में विभक्त हैं—(१) पन्-ओ अथवा प्रज्ञापारमिता, (२) पाओ-चि, अथवा रत्नकूट, (३) ता-चि, अथवा महासन्निपात, (४) ह्या-येन, अथवा अवतंसक, (५) ग्ये-यन्, अथवा परिनिर्वाण, (६) बु-ता-पु-बाइ-चु-ई-चि, अथवा इन पाँच वर्गों के बाहर विविध अनूदित सूत्र, (७) उन्-इ-चि, अथवा अन्य सकृद अनूदित सूत्र। पहले वर्ग में एकाधिक प्रज्ञापारमिता सूत्र संगृहीत हैं, दूसरे में ४९ सूत्र हैं जिनमें बहुत सुखावती गूह भी सम्मिलित है, तीसरे में चन्द्रगर्भ, क्षितिगर्भ, आकाशगर्भ आदि सूत्र संकलित हैं, चौथे में अवतंसक सूत्र के दो अनुवाद तथा उसके अनेक खण्ड पृथक् रूप से उपलब्ध होते हैं, पाँचवें में परिनिर्वाण सम्बन्धी अनेक सूत्र हैं, छठे में सद्धर्मपुष्परीक, सुवर्णप्रभास, ललितविस्तर, लङ्कावतार आदि सूत्र हैं, तथा सातवें में गुरुज्ज्ञान, महावैरोचन आदि सूत्रों का संग्रह है।

नन्जियों की सूची के विनयपिटक में उल्लिखित महायान ग्रंथों में सर्वाधिक महत्व-प्राप्ती एक 'बद्धजालसूत्र' है जिसका दोषनिकाय के बद्धजाल से कोई सम्बन्ध नहीं है। चीनी बद्धजालसूत्र एक प्रकार से महायान का विनय है। 'नन्जियों की सूची में 'विनय-पिटक' के अन्तर्गत महायान-ग्रन्थों में नागार्जुन, अश्वजि आदि के विरचित शास्त्र संगृहीत हैं। कंजूर और तंजूर नाम के तिब्बती संग्रहों में^{१२} चीनी संग्रह से अनेक अंशों

तिह-परिपुच्छा, महासाहस्रप्रमर्दन, उपपरिपुच्छा, अष्टावलाघान, अंगुलि-मालोय, हस्तिकन्द्य, अक्षयमति-परिपुच्छा, महास्मृत्युपस्थान, शालिस्तम्भ, मैत्री-व्याकरण, भयञ्ज-गुरुवैद्युतप्रभ, अर्धविनिश्चय, महासलसूत्र, धीरवत्-गृहपति-परिपुच्छा, रत्नकरंदक, विष्णुवाचराजपरिपुच्छा एवं ध्वजावकेयूर।

इनमें ९ ग्रन्थ विशेष रूप से पूजनार्थ माने जाते हैं। ये सब "केयुल्य सूत्र" कहे जाते हैं एवं इनके नाम इस प्रकार हैं—अष्ट-साधुशिक्षा, प्रज्ञापारमिता, सद्धर्मपुष्परीक, ललितविस्तर, लंकावतार, सुवर्णप्रभास मंडपगूह, तथागतगुह्यक, समाधिराज एवं वज्रनृसीधर।

१२१-बी० नन्जियो, ए कंटेलांग ओंग वि चादनीश ट्रेन्सलेशन ओंग वि बुधिसट विपिटक (ओक्सफोर्ड, १८८३)।

१२२-कंजूर में ११०८ तथा तंजूर में ३४५८ ग्रन्थ संगृहीत हैं। इनके "खादलो-ग्रेफ" (Xylograph) पहले तिब्बत में अनेक, तथा पीकिय में तैयार होते थे। कंजूर तथा तंजूर के पीकिय संस्करण का सम्पूर्ण संग्रह पेरिस और ओटानो विश्वविद्यालय, जापान, में उपलब्ध है। ओटानो विश्वविद्यालय ने इस संस्करण को विशाल पुस्तकालय के रूप में मुद्रित कर दिया है।

में सादृश्य है। प्रज्ञापारमिता, रत्नकूट अवतंसक, परिनिर्वाण आदि दोनों में उपलब्ध है, किन्तु तिब्बती संग्रह में चीनी की अपेक्षा प्राचीन सूत्र कम है, तथा व्याख्या-साहित्य अधिक।

ऊपर के विवेचन से तथा चीनी अनुवादों की तिथियों से प्रतीत होता है कि महायानसूत्रों का रचनाकाल सामान्यतः पहली शताब्दी ईसा-पूर्व से चौथी शताब्दी तक मानना चाहिए।^{११} यद्यपि ये सूत्र कहे जाते हैं तथापि सैली में पुराणों के निकट है। विस्तार से प्रतिपादन एवं एक ही बात को बारबार दुहराना इनकी विशेषता है। सब प्रकार की अतिशयोक्ति भी इन ग्रन्थों में प्रचुरमात्रा में उपलब्ध होती है। बहुधा दीर्घ समासों का प्रयोग भी प्राप्त होता है। पिछले हीनयान के पिटक का ज्ञान भी इनमें पुरस्कृत है। प्रायः हीनयानसम्मत ताना बमों की अपारम्पारिकता का द्योतन ही इन ग्रन्थों का लक्ष्य है जिसके साथ शून्यता का प्रतिपादन एवं बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों की अलौकिक महिमा का स्थापन अनेक रूप से जुड़े हुए हैं।

प्रज्ञापारमिता सूत्र

प्रज्ञापारमिता सूत्रों के अनेक छोटे-बड़े संस्करण प्राप्त होते हैं और ये महायान सूत्रों में कदाचित् सबसे प्राचीन है। इनमें शून्यता का अनेकधा प्रतिपादन किया गया है। बुद्ध एवं उसके किसी शिष्य विशेषतः सुभूति के परस्पर संवाद के आधार पर इन सूत्रों की रचना हुई है। इन सूत्रों की प्राचीनता का संकेत इससे उपलब्ध होता है कि नन्जियों के अनुसार १४८ ई० के लगभग ही लोकरज ने 'दशसाहसिका' प्रज्ञापारमिता का चीनी में अनुवाद कर दिया था।^{१२} नागार्जुन के द्वारा प्रज्ञापारमिताशास्त्र की व्याख्या से भी इन सूत्रों की प्राचीनता सिद्ध होती है। नागार्जुन की व्याख्या पञ्च-विंशति० की बतायी गयी है, किन्तु कदाचित् अष्टसाहसिका की रही हो।^{१३} अष्ट-साहसिका प्रज्ञापारमिता में कहा गया है कि पारमिताओं का उपदेश करनेवाले ने सूत्रांत तथागत के निर्वाण के अनन्तर दक्षिण में तथा वहीं से पूर्व की ओर प्रचारित होंगे

१२३-चीनी, अनुवादों पर ३०-—नन्जियो, पूर्व०; बागची, ल कानों मुडोकआंशीन, जि० (पेरिस, १९२७, १९३८), मिन्दरनित्त, पूर्व०, बहुत।

१२४-अष्टसाहसिका, ३०-—बल, महायान, पृ० २२३-२५; सु०-—एडवर्ड कौन्ड, वि प्रज्ञापारमिता लिटरेचर (१९६०), पृ० २६, ५०-५१।

१२५-तामोत, लजेते, भूमिका; बल, वही।

एवं पूर्व से उत्तर की ओर उनका प्रचार होगा।^{११६} तारानाथ के अनुसार प्रज्ञापारमिता का महापद्य के अनन्तर उड़ीसा (ओडिशा) में आविर्भाव हुआ।^{११७} पूर्वसैलीयों की प्राकृत प्रज्ञा का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है।^{११८} स्वाध्याय ने बारह विभिन्न प्रज्ञापारमिताओं का अनुवाद किया था जिसमें शतसाहस्रिका से लेकर सार्धशतिका तक संगृहीत है। ऊपर कहा जा चुका है कि चीनी विपिटक के पहले वर्ग में विभिन्न प्रज्ञापारमिताएँ सन्निविष्ट हैं। कंजूर में भी शतसाहस्रिका, पंचविंशति साहस्रिका, अष्टादशसाहस्रिका, दशसाहस्रिका, अष्टसाहस्रिका, अष्टशतिका, सप्तशतिका, पंचशतिका, त्र्यम्बोदिका, अस्पाशरा एवं एकाशरी प्रज्ञापारमिता का संग्रह है। संस्कृत में शतसाहस्रिका, पंचविंशति, अष्टसाहस्रिका, सार्धद्विसाहस्रिका, सप्तशतिका, त्र्यम्बोदिका, अस्पाशरा, एवं प्रज्ञापारमिताहृदय-सूत्र उपलब्ध होते हैं।^{११९} यह प्रायः स्वीकृत किया जाता है कि इन सब में अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता प्राचीनतम है। तारानाथ के अनुसार इसका पहले मंजुश्री ने प्रचार किया।^{१२०} इसी के विस्तार एवं संश्लेष के द्वारा विपुलतर एवं अल्पतर प्रज्ञापारमितासूत्रों की उत्पत्ति माननी चाहिए।^{१२१} सम्भोगकाय एवं भूमियों

१२६-अष्टसाहस्रिका, पृ० २२५—"इमे क्षन् पुनः प्रारिपुत्र वदपारमिताप्रति-संयुक्ताः सुवान्तास्तथागतस्यात्ययेन वक्षिष्याम्ये प्रचरिष्यन्ति वक्षिष्याम्यन्त पुनरेव वर्तम्या प्रचरिष्यन्ति वर्तम्याः पुनस्तथाप्ये प्रचरिष्यन्ति—"^{१२२} इसके विपरीत नागार्जुन के महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र के अनुसार बुद्ध ने प्रज्ञापारमिता का पूर्व में अर्थात् मगध में उपदेश किया, उनके निर्वाण के अनन्तर प्रज्ञा० ने वक्षिष्याम्य का अवलम्बन किया, वहाँ से उत्तरी पश्चिम वाला सम्प्रदाय हुई, तथा अन्ततः बुद्धाध्य को पञ्चव्रतों होने पर प्रज्ञा० उत्तरापथ पहुँची—इ०—सामात लम्बे, जि० १, पृ० २४-२५।

१२७-तारानाथ, पृ० ५८ सौमान्तिकों के अनुसार यह अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता थी (वहाँ)।

१२८-इ०—कौण्ड, पूर्व, पृ० ९।

१२९-प्रज्ञापारमिता सम्बन्धी साहित्य का विस्तृत निवेदन—कौण्ड, पूर्व० पृ० ३७-११७।

१३०-तारानाथ, वहाँ।

१३१-अन्य मत (क) मूल प्रज्ञापारमिता के संश्लेष के द्वारा अल्पतर प्रज्ञाओं की धर्मिक उत्पत्ति, यथा नेपाली परम्परा जो मूल प्रज्ञापारमिता को सदा सदा

के विषय में मौन भी अष्टसाहस्रिका को शत० और पंचविंशति० से प्राचीन सिद्ध करता है।^{११}

अष्टसाहस्रिका में ३२ परिवर्त जयवा विवर्त हैं। गृध्रकूट पर्वत पर विहार करते हुए भगवान् बुद्ध के अनुभाव से स्वविर मुमुक्षु को महाप्रज्ञापारमिता का प्रतिमान हुआ और उन्होंने शारिपुत्र को एक अद्भुत सर्वसंहारी भाग्यवाद एवं अद्वयवाद का उपदेश किया जिसमें समस्त सूत्र का सार संगृहीत है। परमार्थतः सभी कुछ शून्य है। 'प्रज्ञापारमिता' एवं 'बोधिसत्त्व' इन शब्दों का भी कोई वास्तविक अर्थ नहीं है। भावना करने वाला चित्त स्वयं अचित्त एवं भास्वर है। निर्विकारता एवं निर्विकल्पता ही अचित्तता है^{१२}। कोई भी 'धर्म'—प्रज्ञापारमिता तक—स्वभाव-संयुक्त नहीं है। स्वभाव भी निःस्वभाव है। अविद्यमान धर्मों की विद्यमानतया प्रतीति ही अविद्या है। न महाभारत और न बुद्ध वास्तविक है। सब धर्मों का अनुत्पाद और अद्वैत ही सत्य है। अतएव सभी धर्मों में अनिवार्य ही प्रज्ञापारमिता का धर्म है।

अष्टसाहस्रिका में ७२ परिवर्त हैं। इसका भी गृध्रकूट में तपायत की सभा से प्रारम्भ होता है। किन्तु अष्टसाहस्रिका की अपेक्षा इसमें अतिसयोक्ति और वर्णाद्वयता कल्पविक है। अधिकांश में अष्टसाहस्रिका का विस्तार होते हुए भी इसमें कुछ नवीन विकास द्रष्टव्य है। पंचविंशतिसाहस्रिका अपने मूल रूप में लुप्त हो चुकी है, किन्तु मैत्रेयनाथ ने इसका सार 'अभिसत्त्वमालंकार' में संगृहीत किया था एवं पीछे 'अभिसत्त्वमालंकार' के अनुसार संशोधित एक संस्करण पंचविंशति० का प्रस्तुत हुआ था^{१३}। यह 'संशोधित' संस्करण मूल रूप में उपलब्ध है। अष्टादशसाहस्रिका एवं दश० भी मूल रूप में लुप्त है। अष्टादशिका उपलब्ध है और स्वल्पाकार है। इसमें कहा गया है—
'योऽप्यतथागतैर्न धर्मोऽभिसत्त्वमुद्धो देशितः जग्राह्यः सोऽनमिताप्यः न स धर्मोनाधर्मः'^{१४}।

श्लोकों का अंशोक्ति है (इ०—विन्दरनिस्त, जि० २, पृ० ३१४) (स)
अथवा संक्षेप मूल प्रज्ञापारमिता के संयुक्तमूल से विपुलतर प्रज्ञाओं का आविर्भाव तथा तुषि, सप्तशतिका, भूमिका। तु०—मत्स्यकोटो, दो प्रज्ञा-
पारमिता लिखेरातुर, कौन्ध, पूर्व०, पृ० १७-१८, वस्तु, महाभारत, ३२८-३२।

१३२-समुचित विवेचन इ०—वस्तु, पूर्व० पृ०, ३२५—८।

१३३-अष्ट०, पृ० ४-६; सु०—शत०, पृ० ४९५।

१३४-हरिभद्र अथवा सिंहभद्र के द्वारा धर्मपाल के समय में—इ०—सारानाथ,
पृ० २१९; तु०—कुबेर, जि० २, पृ० १५९-६०।

१३५-गिरांगत जंगलिकट्स, जि० ४, पृ० १४६।

अवतंसकसूत्र के नाम से चीनी त्रिपिटक और 'कंबूर' में विपुलाकार सूत्र उपलब्ध होते हैं। चीनी त्रिपिटक में अवतंसकसूत्र तीन शाखाओं में मिलता है जो कि क्रमशः ८०,६० और ४० चीनी त्रिपिटकों में सम्मिलित हैं। पहली दो शाखाओं के संस्कृत मूल अप्राप्य हैं। तीसरी को 'मण्डव्यूह-महायानसूत्र' का अनुवाद बताया गया है। बुद्धों के अनुसार अवतंसक में मूलतः १००,००० अध्याय थे जिनमें से केवल ४० शेष रहे^{११}। मण्डव्यूह-महायानसूत्र में सुधन नाम के कुमार का बोधिसत्व मञ्जुश्री की प्रेरणासे सम्बोधि की लोच में परिचरमण वर्णित किया गया है^{१२}। अन्त में समन्तभद्र अथवा अभिताम बुद्ध की कृपा से उसकी लक्ष्यपूति होती है।

यह स्मरणीय है कि इन सूत्रों के आधार पर ही चीन में 'अवतंसक' एवं जापान में 'के-नान' सम्प्रदाय प्रवृत्त हुए जिनमें मञ्जुश्री का विशेष महत्त्व है। तथागत की सागरमुद्रा से अवतंसक-सिद्धान्त का जन्म माना जाता है। अनुभूत्या इस सिद्धान्त का उपदेश भगवान् बुद्ध ने सम्बोधि के समन्तर ही दिया था, किन्तु उस समय लोग उसे समझ नहीं पाये। धर्मकाय, धर्मतपता अथवा बुद्धस्वभाव को ही परमार्थ माना गया है। सब धर्मों में व्यावहारिक मानात्व, किन्तु सम्भेद होते हुए भी पारमाधिक समता है। इस सिद्धान्त को योसाचार का एक विकास मानना चाहिए।

इक्षुभूमिक-सूत्र अथवा इक्षुभूमिदिव्य-सूत्र भी कभी-कभी अवतंसक का अंग माना जाता है। इसमें बोधिसत्व वज्रगर्भ के द्वारा बुद्धत्वप्राप्ति की भूमियों अथवा अवस्थाओं का उपदेश किया गया है। यह स्मरणीय है कि महावस्तु एवं ज्ञतमाह्विषा में भी भूमि-निबरण मिलता है, किन्तु यहाँ अधिक विकसित और परिष्कृत है। इस सूत्र का प्राचीनतम चीनी अनुवाद धर्मरक्ष के द्वारा २९७ ई० में हुआ था।

चीनी और तिब्बती त्रिपिटकों में 'रत्नकूट' नाम से ४९ सूत्रों का संग्रह उपलब्ध होता है। तारानाथ के अनुसार 'रत्नकूट-धर्म-पर्याय' का कनिष्क के पुत्र के समय में आविर्भाव हुआ एवं उसमें १००० काण्ड थे^{१३}। असंग तथा शान्तिदेव के द्वारा 'रत्नकूट'

१३६-बुद्धो, जि० २, पृ० १६९।

१३७-सुजुकि और इजुमि (सं०), मण्डव्यूहसूत्र (मधीन संशोधित संस्करण), उवा०

प्रारम्भिक भाषाएं, ६-७; सु०—विष्णुचरान—सुधन कुमारचरान।

१३८-तारानाथ, पृ० ६३।

के उद्धारण प्राप्त होते हैं^{११५}। बुद्धों के अनुसार 'रत्नकूट' के मूलतः १००,००० अष्टादश में जिनमें से केवल ४९ शेष हैं^{११६}। (बृहत्) सुखावतीव्यूह, अधोम्य-व्यूह, मंजुश्री-बुद्ध-क्षेत्र-गुण-व्यूह। बोधिसत्त्व-पिटक, पिता-पुत्र-समागम, काश्यप-परिवर्त, तथा "राष्ट्रपाल-परिपुच्छा, उषपरिपुच्छा, अक्षयमतिपरिपुच्छा" आदि अनेक 'पुच्छाएँ' 'रत्नकूट' में संगृहीत हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मूलतः रत्नकूट नाम का एक धर्म-पर्याय-विशेष था, कालान्तर में वही नाम एक सूत्र-संग्रह पर संकलित कर दिया गया। कदाचित् काश्यपपरिवर्त ही मूल रत्नकूट था^{११७}। चीनी में एक कलाकार रत्नकूट-सूत्र भी है जिसमें रत्नकूटसंभामि का विवरण है।

संस्कृत में सुखावती-व्यूह के नाम से दो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, एक बृहत् और एक संक्षिप्त^{११८}। दोनों में अमिताभ बुद्ध का मूलाग्र है, किन्तु बृहत्-सुखावती में कर्म का महत्त्व अभ्युपगम्य है जब कि संक्षिप्त सुखावती में मृत्यु के समय अमिताभ का नाम-चिन्तन-मात्र बुद्ध-क्षेत्र में उपरति के लिए पर्याप्त समझा गया है^{११९}। बृहत्-सुखावती का प्राचीनतम चीनी अनुवाद ई० १४७-८६ के बीच सम्पन्न हुआ था। संक्षिप्त-सुखावती का प्राचीनतम अनुवाद कुमारजीव ने ४०२ ई० में किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि सुखावती-व्यूह को 'अमिताभसूत्र' अथवा 'अमिताभव्यूह-सूत्र' भी कहा जाता था। ये सूत्र आपान के 'जोड़ो' अथवा चीनी 'जि' एवं 'शिन' सम्प्रदाय के प्रधान ग्रन्थ हैं। इस सम्प्रदाय के विश्वास के अनुसार तथागत ने सुखावती व्यूह का लोक में प्रकाश अपने परिनिर्वाण के कुछ ही पहले किया था। काश्यप-परिवर्त अंशतः अनुसर-निकाय की याद दिलाता है। अन्यत्र बोधिसत्त्वों के गुणों का निरूपण है तथा शून्यता की गाना उपमाओं से समझाया गया है। उषपरिपुच्छा का १८१ ई० में चीनी अनुवाद हो गया था। राष्ट्रपालपरिपुच्छा का अनुवाद ई० ५८९ तथा ई० ६१२ के बीच हुआ।

१३९-सुखालंकार, पु० १६५, शिखा, पु० ५२, ५३ इत्यादि।

१४०-बुद्धों, वही।

१४१-कोल-स्टेल होल्स्टाइन के द्वारा मूल किन्तु संक्षिप्त रूप में संपादित, शंघाई, १९२६।

१४२-दोनों संस्कारमूलर द्वारा संपादित (एनेक्डोटा जापानोनिजानिया, जापान सीरिय, जि० १, भा० २, १८८३)।

१४३-सुखावतीव्यूह, पु० १४-२१।

इसमें अनेक जातिक-कथाओं के उल्लेख के अतिरिक्त तत्कालीन धार्मिक ज्ञान का सजीव चित्रण किया गया है।

सुखावती-स्यूह और अमितायुध्यान-सूत्र में^{१४४} कुछ बौद्ध अमिताभ के साथ बोधि-सत्त्व अवलोकितेश्वर का गुण-कीर्तन किया गया है। अनुवाद-मात्र-रहित अशोम्य-स्यूह में अशोम्य बौद्ध के क्षेत्र का विवरण है। कारण्डव्यूह में^{१४५} अवलोकितेश्वर की महिमा का विस्तार है। कारण्डव्यूह अथवा अवलोकितेश्वर-गुण-कारण्ड-व्यूह का एक प्राचीनतर गद्यमय रूप है तथा दूसरा अपेक्षाकृत उत्तरकालीन पद्यमय रूप है। पद्यात्मक कारण्डव्यूह में एक प्रकार का ईश्वरवाद वर्णित है क्योंकि उसमें 'आदिबुद्ध' को ही ध्याम के द्वारा अभ्यस्त कहा गया है^{१४६}। आदिबुद्ध से ही अवलोकितेश्वर का आविर्भाव हुआ तथा अवलोकितेश्वर की देह से देवताओं का। गद्यात्मक कारण्डव्यूह में आदिबुद्ध का उल्लेख नहीं है। यहाँ अवलोकितेश्वर की कथा का प्रभूत विस्तार है। उनकी कृपा से अवीचि नरक का दिव्य कगान्तर हो जाता है तथा प्रेत भूख-प्यास से मुक्त हो जाते हैं। अवलोकितेश्वर पंचाक्षरी विद्या—ॐ मणिपद्मे हुं—को धारण करते हैं।

कल्याणवृक्षीय नाम का^{१४७} सूत्र भी यहाँ उल्लेख है जिसमें पद्मोत्तर बौद्ध के पद्म-नामक लोक का वर्णन है। अवलोकितेश्वर की महिमा शूर्यगन्धर्व (नंजियो, सन्ध्या ३१५) में भी देखी जा सकती है। योगाचार की दृष्टि से यह बहुत महत्वपूर्ण है। इसका निदान जंगतः शार्दूलकर्णावदान के सदृश है। प्रथम अध्याय में मुकराती देव के गालान्तर के द्वारा प्रभासवर और विमल चित्त की पारमायिकता का प्रतिपादन है। यही उपायतन्त्र अथवा आत्मविज्ञान है जिससे परिकल्पित आवरण के द्वारा संसार की प्रवृत्ति होती है। कहा जाता है कि सुवर्णप्रभाससूत्र^{१४८} का चीन में काश्यप भाष्य से मिल-ति (ई० ५८-७५) के शासन-काल में व्याख्यात किया था। धर्मरत्न से इसका चीनी अनुवाद ४१२-२६ ई० में प्रस्तुत किया जो संस्कृत मूल के सदृश है। ई० ७०३ में ह्वेनसांग ने भारत से आनीत मूल का ३१ परिधत्तों में अनुवाद किया जब कि धर्मरत्न के अनुवाद में १८ परिधत्त हैं। इस सूत्र के चीननी और उद्गुर अनुवादों का पता

१४४-३०—एत० बी० ई० जि० ४९, भाग २।

१४५-सं० सारध्वज सागधर्मो, कलकत्ता, १८७३।

१४६-बु०—मुत्रालंकार, ९, ७७।

१४७-जकाराशा, कलकत्ता, १८९८।

१४८-सं० इजुनि, कियोतो, १९३१।

चलता है। सद्धर्मपुण्डरीक तथा प्रज्ञापारमिता का सुवर्णप्रभास के वर्तमान रूप पर प्रभाव स्पष्ट है। निदानपरिवर्त को छोड़कर पहले छः परिवर्त ही कदाचित् मौलिक हैं। सर्वप्रमाण भी बुद्ध धानु असम्भव कही गयी है क्योंकि तथान्त की धर्मकाय अमर है और लोक में केवल उनकी निमित्तकाय का परिनिर्वाण देखा जाता है^{१११}।

योगाचार के लिए संकाशतारसूत्र अत्यन्त महत्वपूर्ण है। गुप्तों के उल्लेख के कारण अपने वर्तमान रूप में यह सूत्र चतुर्थ शताब्दी के पूर्व का नहीं हो सकता। ४४३ ई० में इसका पहला चीनी अनुवाद हुआ था जिसमें प्रथम, नवम और दशम परिवर्त उपलब्ध नहीं होते। नवम धारणीपरिवर्त है, दशम समाधक, जिसमें ८०० से अधिक श्लोक हैं। स्पष्ट ही ये अंग मूल सूत्र के अन्त्यन्तर नहीं थे। सूत्र का दार्शनिक कलेवर दूसरे से सातवें परिवर्त तक विशेष रूप से विस्तृत है। पाँचवाँ और सातवाँ परिवर्त अल्पाकार हैं, चौथे में बोधिसत्त्वभूमियों की चर्चा है। फलतः दूसरा, तीसरा और छठा परिवर्त ही ग्रन्थ के मुख्य भाग हैं। इस मूल्यांश को असंग और वसुचन्द्र के पूर्व का मानना चाहिए। इस प्रकार संकाशतार की रचना को दूसरों से पाँचवीं शताब्दियों के अन्तराल में रखना चाहिए। यह उल्लेख है कि इस सूत्र में तथान्तगर्भ के सिद्धान्त को भी एक प्रकार का उपायकीशल ही कहा है। सब कुछ प्रतिभासात्मक अथवा विकल्पात्मक भ्रान्तिमात्र है, केवल निराभास एवं निविकल्प चित्त ही सत्य है, यही संकाशतार का मुख्य प्रतिपाद्य है।

समाधिराज अथवा चन्द्रप्रदीपसूत्र का आशय सद्गुण है। इसमें सर्वधर्मसमता का सर्वप्रथम अनुवाद कदाचित् जन-शिकाबोने ई० १४८ में किया था। इसमें तीन संगीतियों का उल्लेख भी मिलता है।

महायानसूत्रों में एक ओर शून्यता के प्रतिपादन के द्वारा विशुद्ध निविकल्पज्ञान का उपदेश किया गया है; दूसरी ओर, बुद्ध की महिमा और कल्याण के प्रतिपादन के द्वारा भक्ति उपदिष्ट है। दूसरी कोटि में सुखावतीगृह कारण्डव्यूह आदि सूत्र अन्तर्गत हैं। इनमें सर्वाधिक महत्त्व सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र का है। इसमें गद्य और गाथाएँ मिले-जुले रूप में उपलब्ध हैं। प्रायः गाथाओं की भाषा प्राचीनतर प्रतीत होती है और सम्भवतः पद्मानुत्त अथवा पद्मचन्द्रानुत्त के समान मूल सद्धर्मपुण्डरीक गाथायाम रहा हो जिसमें व्याख्या के रूप में गद्य का समावेश और वृद्धि कल्पनीय है। २१ वें से २६ वें परिवर्त तक अपेक्षाकृत परवर्ती भाग प्रतीत होता है जिसमें गाथाएँ बहुत कम मिलती हैं।

नागार्जुन ने इस सूत्र का उल्लेख किया है तथा २२३ ई० में इसका चीनी अनुवाद हुआ था। इसका रचनाकाल सम्भवतः ईसवी सन् के आरम्भ के निकट मानना चाहिए। पाण्डुलिपियों और चीनी अनुवादों की देखने से सूझता है कि कदाचित् इस सूत्र की दो शाखाएँ थीं जिनमें एक अपेक्षाकृत स्वल्पाकार थी।

निदानपरिचर्य में सद्धर्म० को वैपुल्यसूत्रराज कहा गया है। 'उपायकौशल' में कहा है कि आपाततः तीन यात हैं अर्थात् अन्ततः एक पुद्गल ही मानना चाहिए। श्रावक और ब्रह्मके बुद्ध तथागत का आशय ठीक समझने के अधिकारी नहीं हैं, अतएव उनके लिए निर्माण का मार्ग प्रदर्शित किया गया। अनेक परिचर्यों में इसका विस्तार एक उदाहरण दिखे गये हैं। मार्गभेद वास्तविक नहीं, उपायनाम है, हीनयान का लक्ष्य है एक विश्रामस्थान।

अध्याय ९

बुद्ध और बोधिसत्त्व का रूपान्तर

बुद्ध की विभूति—विकायवाद का वास्तविक मूल

भगवान् बुद्ध के समसामयिक उन्हें मरणधर्मा मनुष्य ही मानते थे। उनके शिष्य उन्हें सिद्ध, बुद्ध, महापुरुष समझते हुए भी उनके जन्म, शैशव, दार-परिग्रह, सन्तानोत्पत्ति, रोग, जरा एवं मरण को अन्य मनुष्यों के सदृश और वास्तविक मानते थे। जन्म से मरण तक ये सब धर्म भौतिक देह के नियत अनुबन्धी हैं। भौतिक देह कर्म-जन्म है, कर्ममय है—यह उपनिषदों में, प्राचीन बौद्धों में तथा अन्य परिष्कारकों में अभ्युपगत था। शाक्यमुनि के अन्तिम जन्म के पहले अनादि संसार-प्रवाह में उनके अतंस्य पूर्व-जन्म स्वीकार करने होंगे। इन पूर्वजन्मों के कर्म ने ही उन्हें अन्तिम जन्म की साधना के योग्य देह प्रदान की जो महापुरुषों के लक्षणों से समन्वित थी। सम्बोधि में अशेष कर्मबीजों के दग्ध हो जाने से 'परिनिर्वाण' के साथ ही देह से उनकी अत्यन्त-निवृत्ति सम्पन्न हो गयी।

तथागत के मूल शिष्यों में एवं स्वबिरवादियों में यही धारणा प्रचलित रही है। किन्तु इसमें अनेक कारणों से सन्देह का उत्पन्न होना स्वाभाविक था। संसारवादियों में प्रायः भौतिक देह के अतिरिक्त एक अभौतिक जीव अथवा आत्मा स्वीकार किया जाता था। इस जीव अथवा आत्मा के ही देह से संयोग अथवा वियोग होने पर जन्म, मृत्यु अथवा मोक्ष निष्पन्न होते हैं। बुद्ध-वचन में जात-सत्ता मौन-कवचित है। अतः देह का प्रतिबोधी तत्त्व चित्त ही माना जाता था। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक था कि निर्वाण में देह और चित्त-संगति का अत्यन्त निरोध होने पर क्या शेष रहता है? कुछ शेष रहता है, यह निश्चित है क्योंकि तथागत ने उच्छेदवाद का स्पष्ट निषेध किया था। परिनिर्वाण के अन्तर यदि तथागत की सत्ता अवर्णनीय है तो परमार्गतः जीवन-काल में भी वैसी ही मानना युक्त होगा। देहात्मक उपाधि से निर्दिष्ट सत्ता प्रवृत्तिमान, संप्रतिमान है। तथागत की प्रातिभासिक सत्ता लोकवत् काम-चित्त-प्रतिसंयुक्त है, उनकी पारमाधिक सत्ता अवर्णनीय है। पहले यह कहा जा चुका है कि इस पारमाधिक सत्ता के स्वरूप का मूल बुद्धवाणी में कुछ-कुछ वैसा ही संकेत है वैसा

उपनिषदों के अद्वैतपरक विचारों में आत्मा अथवा ब्रह्म का। सम्बोधि अथवा निर्वाण में ईताभित तर्क अथवा वाणी अवगाहन नहीं करती। इसी कारण सम्बुद्ध को 'ब्रह्मभूत' 'धर्मभूत', तथा 'धर्मकाम' कहा गया है। सम्बोधि में 'धर्म' की ही अविमर्श होती है। 'धर्म' ही बुद्ध का वास्तविक स्वरूप, वास्तविक बुद्ध है। प्रकारान्तर से इसे ईतातीत चित्त अथवा विज्ञान कहा जा सकता है—'अप्रतिष्ठित', 'विसंस्कारगत', 'अनन्त', 'सर्वतः-प्रभ'। इसे सम्बोधि अथवा प्रज्ञा से भिन्न नहीं किया जा सकता। बुद्ध के सम्बोधिसार पारमार्थिक स्वरूप को दृष्टि में रखते हुए उन्हें मनुष्य अथवा देवता, मार अथवा ब्रह्मा सबसे विलक्षण मानना चाहिए। ये सब धिलोकी के अन्तःपतित हैं, बुद्ध तदुत्तीर्ण। यही धारणा महायान में बुद्ध की 'स्यामाधिक-काय' अथवा 'धर्म-काय' का प्राचीन आधार है। वेदान्त के निर्विशेष सद्रूप निर्गुण ब्रह्म अथवा निर्विशेष चिद्रूप आत्म-तत्त्वं से इसका दृष्टिभेद एवं साधन-भेद के कारण प्रतिपत्तिभेद होते हुए भी पारमार्थिक अभेद है।

प्राचीन काल से ही योगियों में यह परम्परा प्रचलित रही है कि योगाभ्यास से नाना सिद्धियों का लाभ होता है जिनमें भौतिक देह का रूपान्तर एक विशेष स्थान रखता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है 'न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः—आप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।' इस प्रकार की 'योगाग्निमय' अथवा 'सिद्ध' देह को साधारण पार्थिव देह कैसे माना जाय? जो योगी श्वेष्ट रूप धारण कर सकता है, श्वेष्ट अन्न-ग्रहण कर सकता है, जरा-मरण का वर्जन कर सकता है, यहाँ तक कि देहान्तर का श्वेष्ट निर्माण कर सकता है, उसकी अपनी अजर, अमर, इच्छानुरूप देह को ऐश्वर्य-सम्पत्ति अथवा शक्तिभाव के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है? यही ऐश्वर्य-विग्रह महायान में सम्भोग-काय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस रूप में बुद्ध ईश्वर-मुक्त प्रतीत होते हैं।

साधकों और सिद्धों के जीवनचरित के पर्यालोचन से यह निस्सन्देह प्रतीत होता है कि उनमें वैराग्य, शान्ति, अथवा शुद्धि समान रूप से होते हुए भी ज्ञान और ऐश्वर्य में भेद बना रहता है। इस कारण जहाँ जहाँ और बुद्ध का भेद करना स्वाभाविक था, वहीं यह प्रश्न भी अनिवार्य था कि क्या बुद्ध-समूह ऐश्वर्यशाली महापुरुष को कभी भी वस्तुतः अज्ञानी अथवा असमर्थ माना जा सकता है? क्या यह मानना ठीक नहीं होगा कि उनका लोक-जीवन केवल अनुग्रह के लिए प्रकाशित एक प्रकार की लीलाभाव

है? यदि कोई मनुष्य साधना के द्वारा ईश्वरत्व प्राप्त करता देखा जाता है तथा अनेक अन्य मनुष्य आपाततः उसी साधना से समान फल नहीं प्राप्त करते, तो यह मानना उचित होगा कि वह मनुष्य वस्तुतः 'ईश्वर' का ही 'अवतार' है। 'ईश्वर' ही अपनी 'माया' अथवा अचिन्त्य-शक्ति से लोक में अवतीर्ण होते हैं तथा लोकमंथन के लिए 'कर्म' करते हैं। श्रौतिक बूढ़ को भी ऐश्वर्यशाली अलौकिक बूढ़ का 'अवतार' अथवा 'निर्माण' मानना चाहिए। बौद्धों के निर्माण-काय को ही योगदर्शन में निर्माण-चित्त कहा गया है। बाहर से कायवत् प्रतीत होते हुए भी यह वस्तुतः चित्त ही है। कर्मजन्य न होने के कारण बुद्ध और अध्वान्त उपदेश का माध्यम यही हो सकता है। कपिल ने इसी के सहारे पञ्चविंशति को उपदेश किया था। एक प्राचीन बौद्ध सन्दर्भ में भी 'मनोमय काय' के द्वारा साक्षात् उपदेश का उल्लेख है।

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि त्यागत का अद्वय-ज्ञान और अलौकिक योग-बल ही महापान के 'त्रिकाय'—धर्मकाय, सम्भोगकाय, तथा निर्माणकाय—का वास्तविक मूल है। इन तीन कायों की तुलना क्रमशः 'ब्रह्म', 'ईश्वर' तथा 'अवतार' से की जा सकती है।

रूपकाय और धर्मकाय—हीनयानों सम्प्रदायों में तथा प्रारम्भिक महापान सूत्रों में केवल दो कायों की ही चर्चा है—रूपकाय तथा धर्मकाय। अलग-अलग सन्दर्भों में इन दोनों शब्दों का भी नाना विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया गया है। पीछे, विशेषतः विज्ञानवादी ग्रन्थों में, त्रिकायवाद का स्पष्ट और उपर्युक्त शब्दों में विवरण उपलब्ध होता है।

अपने दर्शनार्थों वक्कलि से त्यागत को उक्ति—'अलं वक्कलि किं ते पूतिकायेन दिट्ठेन। यो लो वक्कलि धम्मं पस्सति सो मं पस्सति। यो मं पस्सति सो धम्मं पस्सति।'—में उनकी भौतिक देह को 'पूतिकान' कहा गया है तथा धर्म को ही उनकी वास्तविक देह बताया गया है। जहाँ धर्म से तात्पर्य सम्भवतः देशना अथवा शासन से है। अन्यत्र धर्म-शासन को ही बुद्धस्वामीय मानकर उनके अनन्तर शास्तृपद पर प्रतिष्ठित किया गया है। परवर्ती स्थिरवादी आचार्यों ने बुद्ध की रूप-काय एवं धर्मकाय के भेद का उल्लेख

२-योगसूत्र, ४.४; ३०—म० म० गोपीनाथ कविराज, निर्माणकाय, सरस्वती भवन स्टडीज, जि० १।

३-संयुत (ना०) जि० २, पृ० ३४१।

जिन्या है।^४ रूप-काय भौतिक देह है, महापुरुष-लक्षण, व्यञ्जनानुव्यञ्जन-प्रतिमणित। धर्म-काय उनका उपदिष्ट धर्म है अथवा उनकी विमुक्त पुण्य-गुण-राशि है जिसमें शील, समाधि, प्रज्ञा, विमुक्ति, एवं विमुक्तिज्ञानदर्शन नाम के पाँच स्कन्ध संगृहीत हैं। यह विचारणीय है कि यहाँ धर्म-काय का दो भिन्न प्रकार से निरूपण किया गया है। अदृष्टसाक्षिणी में 'निर्मित' बुद्धों का उल्लेख है तथा अभिधर्म का परामर्श करते हुए बुद्ध की देह से छः वर्षों की रश्मियों के निर्गमन का भी उल्लेख है।^५ ये दोनों बातें सम्भवतः महायान-सूत्रों का प्रभाव द्योतित करती हैं।

सर्वास्तिवाद में बुद्ध—सर्वास्तिवादियों के आगमों में देशित-धर्म-राशि के रूप में बुद्ध की धर्म-काय का विवरण मिलता है। विम्वयवान में भी रूप-काय और धर्म-काय का भेद उल्लिखित है। श्रौण कोटिकर्म्म की उक्ति है—'दृष्टो मयोपाध्यायानुभावेन स भगवान् धर्मकायेन, नोतु रूपकायेन'।^६ स्पष्टिर उपयुक्त की भी ऐसी ही उक्ति दी गयी है—'यदहं बर्धसतपरिनिवृत्ते भगवति प्रव्रजितः, तद्वर्मकायो मया तस्य दृष्टः। त्रैलोक्यमाधस्य काञ्चनाद्रिनिभस्तस्य न दृष्टो रूपकायो मे'।^७ रूप-काय अनित्य है, किन्तु मृग्ययी देव-प्रतिमा के समान उसकी आकृति भी पूजनीय है। यह दृष्टिकोण ऊपर उल्लिखित 'किं ते पूतिकायेन दिट्ठेन' से बहुत भिन्न है। पहले केवल धर्मकाय अथवा धर्म-शासन पर आग्रह था, यहाँ रूप-काय अनित्य होते हुए भी दर्शनीय तथा अर्चनीय मानी गयी है। यह दृष्टि-भेद एवं भक्ति का उदय ही बुद्धप्रतिमा के आविर्भाव का प्रधान कारण था।

अभिधर्मकोश में बुद्ध-सम्बन्धी सर्वास्तिवादी विचारों का चरमोत्कर्ष उपलब्ध होता है। कोष के प्रारम्भ में ही कहा गया है कि केवल बुद्ध ही सर्वज्ञ हैं। प्रत्येक बुद्ध और श्रावक क्लिष्ट-सम्मोह से मुक्त होते हुए भी अक्लिष्ट-सम्मोह से अत्यन्त-विनिर्गत नहीं होते। वे आवेगिक आदि बुद्ध-धर्मों की नहीं जानते, देशतः और कालतः अति-विप्रकृष्ट अर्थों का ज्ञान नहीं रखते, तथा कृपादि धर्मों के भी अनन्त-अभेदों के ज्ञान से रहित हैं। इसके समर्थन में यशोमित्र एक सूत्र से उद्धृत करते हैं—'जानीयेत्त्वं शारिपुत्र तथागतस्य शीलस्कन्धं समाधिस्कन्धं प्रज्ञास्कन्धं विमुक्तिस्कन्धं विमुक्तिज्ञानदर्शन-

४-इ०—विमुद्धिसम्भो, सङ्खम्मसंगहो; तु०—वत्, महायान, पृ० १०१-२।

५-इ०—ऊपर।

६-विम्वयवान (ना०), पृ० ११।

७-वही, पृ० २२५।

स्कन्धमिति भगवता पृष्टेन स्थविरसारद्धतीपुत्रेणोक्तं नोहीदं भगवन्निति ।” अपनी ज्ञानमहिमा के कारण केवल बुद्ध ही सब जीवों में कुशल-मूल पहिचान सकते हैं एवं जगत् का दुःख-वंक से उद्धार कर सकते हैं ।

आवेणिक धर्म—बुद्ध के अपने आवेणिक (असामूहिक, पृथक्, विशिष्ट) धर्म १८ हैं—दश बल, चार वैशारद्य, तीन स्मृत्युपस्थान, एवं महाकरुणा । यत्तोमित्र इसे वैभाषिकों का मत बताते हैं । अन्य आचार्यों के अनुसार आवेणिक धर्म इस प्रकार है—‘नास्ति तथागतस्य स्थलितं नास्ति रचितं (=सहसा किया), नास्ति द्रवता (=कीटाभि-प्रायता), नास्ति नानात्वसंज्ञा (=सुखदुःखादुःखानुत्पेय विषयेषु रागद्वेषमोहतो नानात्व-संज्ञा), नास्त्यव्याकृतमनः, नास्त्यप्रतिसंख्यायोपेक्षा, नास्त्यतीतेषु प्रतिहृतं ज्ञानदर्शनम्, नास्त्यनागतेषु प्रतिहृतं ज्ञानदर्शनं, नास्ति प्रत्युत्पन्नेषु प्रतिहृतं ज्ञानदर्शनम्, सर्वे कामकर्म ज्ञानानुपरिवर्ति, सर्वे याक्कर्म ज्ञानानुपरिवर्ति, सर्वे मनस्कर्म ज्ञानानुपरिवर्ति, नास्ति छन्दहानिः, नास्ति बीर्यहानिः, नास्ति स्मृतिहानिः, नास्ति समाधिहानिः, नास्ति प्रज्ञा-हानिः, नास्ति विमुक्तिज्ञानदर्शनहानिः” । महाव्युत्पत्ति में भी इनका जल-भेद के साथ उल्लेख है । निर्देश का क्रम भिन्न है, एवं ‘नास्ति द्रवता’ के स्थान पर ‘नास्ति मृदित-स्मृतिता’ है, तथा ‘नास्त्यव्याकृतमनः’ के स्थान पर ‘नास्त्यसमाहितचित्तम्’ है । महावस्तु, तथा पालि अभिधानपञ्चोपिका एवं जिनालंकार में भी सदृश आवेणिकसूचियाँ दी गयी हैं । माहायानिक बोधिसत्त्वभूमि में आवेणिक १४० कहे गये हैं—३२ लक्षण, ८० अनुलक्षण, ४ सर्वाकारविमुक्ति, १० बल, ३ वैशारद्य, ३ स्मृत्युपस्थान, ३ आरक्षण, महाकरुणा, असम्प्रमोष धर्मता, वासना-समृद्धात्, तथा सर्वाकार-वर-ज्ञान । यह विचार-णीय है कि इस सूची में ‘स्य-काय’ के लक्षण भी आवेणिक-धर्मों में संगृहीत है । शेष सूचियों में केवल ‘धर्म-काय’ के ही लक्षण परिगणित हैं ।

दस बल—तथागत के दस बलों के पटिसम्मिदासम्य और विभङ्ग में, तथा महा-वस्तु में प्राचीन उल्लेख मिलते हैं । महाव्युत्पत्ति में इनकी सूची इस प्रकार दी हुई है—स्थानास्थानज्ञानबल, कर्मविपाकज्ञानबल, नानाधिमुक्तिज्ञानबल, नानाधातुज्ञानबल, इन्द्रियपरामरज्ञानबल, सर्वव्यापिनी-प्रतिपज्ज्ञानबल, सर्वे-ध्यान-विमोक्ष-समाधि-समापत्ति-संकेलेष-व्यवधान-व्युत्थान-ज्ञान-बल, पूर्वनिवासानुस्मृतिज्ञानबल, व्युत्पुप-

८—स्कटार्था, पृ० ४-५ ।

९—स्कटार्था, वही ।

१०—वही, पृ० ६४०-४१ ।

प्रातिज्ञानबल, आश्रयवशयज्ञानबल । कुछ जन्म-भेद से यही कोश में कहा गया है—
 यशोभिष ने इस प्रसंग में एक प्राचीन सूत्र का विस्तृत उद्धरण दिया है^१ । यह स्मरणीय है कि महावग्ग में बुद्ध को 'दशबल' कहा है । संयुत्तनिकाय में एक संयुक्त ही 'दसबल संयुक्त' कहा गया है । स्थानास्थानज्ञानबल का अर्थ है—सम्भव और असम्भव का ज्ञान । यह विषयभेद से दशविध है । इसके दस विषय इस प्रकार हैं—चित्तसम्प्रयुक्त-कामधातुक-संस्कृत-धर्म, चित्त-सम्प्रयुक्त-रूप-धातुक—, —अरूप—, —अनाश्रय—; चित्त-विप्रयुक्त-कामधातुक—, चित्तविप्रयुक्त-रूपधातुक—, —प्ररूप—, —अनाश्रय—, कुसालासंस्कृत, अव्याकृतासंस्कृत । कर्म और कर्म-फल का ज्ञान अष्टविध है । नानाधिमुक्तिज्ञान से तात्पर्य विभिन्न सत्त्वों की विविध रुचि एवं अभीप्सा के ज्ञान से है । इस प्रसंग में 'धातु' का अर्थ है—'पूर्वाभ्यासवासनासमुदागतः आशयः' अर्थात् पूर्व अभ्यास से उत्पन्न स्वभाव । बुद्ध सत्त्वों के विविध वासनात्मक स्वभाव को जानते हैं । इन्द्रियपरापरज्ञान का अर्थ है नाना सत्त्वों की श्रद्धा, वीर्य और इन्द्रियों की समर्थता अथवा असमर्थता का बोध । सर्वत्रयामिनो प्रतिपदाएँ निर्यादिगामिनो हैं । ध्यान चार हैं, विमोक्ष आठ, समाधि तीन, समापत्ति असंज्ञि० और तिरोध तथा नौ अनुपूर्व विहारसमापत्तिर्वा हैं । पूर्वनिवास तथा श्रुत्युपपाद का ज्ञान संवृत्तिज्ञान है ।

ये दसबल चैतन्यिक हैं । इनके अनुरूप बुद्ध का शरीर-बल भी विपुल अथवा अप्रमाण है, यह कायिक बल स्पष्टव्य आमजन के अन्तर्गत है । इसका प्रमाण विविध रूप से निर्धारित किया गया है । एक मत से बुद्ध का कायिक बल एक 'नारायण' के समान है । एक प्राकृतहस्ती से दस गुना बल गन्धहस्ती में होता है, उससे दसगुना महानग्न में, महानग्न से दस गुना प्रस्कन्दी में, प्रस्कन्दी से बराह में, बराह से चाणूर और चाणूर से नारायण में । एक अन्य मत से दस चाणूर केवल अर्धनारायण के बराबर होते हैं । मतान्तर से बुद्ध-काय की १८ सन्धियों में से प्रत्येक में इतना बल है । बुद्ध के शरीर की अस्थि सन्धियाँ 'नागसन्धि' अथवा 'नागपाश' कही जाती हैं । प्रत्येक बुद्ध की देह में शङ्खला-सन्धियाँ होती हैं, चक्रवर्ती की शङ्खकुसन्धियाँ होती हैं । दार्ष्टान्तिक आचार्य के मत से बुद्ध का कायबल भी उनके मानस बल के समान अनन्त है । इस काय-बल को महाभूत-विशेष अथवा भौतिक कहा गया है । किन्तु यह भौतिक

(अथवा उपादान रूप) प्रसिद्ध सप्तविध भौतिकों से अपने इलहणत्व आदि के कारण विलक्षण है।

चार वैशारद्य—उपागत के चार वैशारद्य इस प्रकार हैं—(१) सर्वधर्माभिसम्बोधिबैशारद्य, (२) सर्वास्रवक्षयज्ञानवैशारद्य, (३) अन्तरायिकधर्मव्याकरणवैशारद्य, (४) नैर्माणिक प्रतिपद्व्याकरण वैशारद्य। इनमें पहला वैशारद्य स्थानास्थानज्ञानबल से सम्बन्ध रखता है, दूसरा आस्रवक्षयज्ञानबल से, तीसरा कर्मविपाकज्ञानबल से, तथा चौथा सर्वव्यामिनीप्रतिपद्व्याज्ञानबल से।

वैशारद्य के अर्थ हैं 'निर्मेयता' अथवा भरोसा। 'निर्मेयता हि वैशारद्यम्'। वैभाषिकों के मत से 'इन ज्ञानों से निर्मेय होते हैं', अतएव ज्ञान ही वैशारद्य है। वसुबन्धु के मत से 'ज्ञानकृतं तु वैशारद्यं न ज्ञानमेवेति।' ज्ञानरूप चैतनिक-धर्म भयरूप चैतनिक-धर्म का प्रतिपक्षभूत है। ज्ञान हेतु है, निर्मेयता फल। अतः दोनों भिन्न हैं।

स्मृत्युपस्थान स्मृतिसम्प्रज्ञानात्मक हैं। सूत्र के अनुसार स्मृत्युपस्थान तीन हैं—शुश्रूपमाण शिष्यों को उपदेश देते हुए बुद्ध की नन्दि, सोमनस्य अथवा चित्त का उत्कलन नहीं होता; अशुश्रूपमाण शिष्यों को उपदेश देने में उन्हें अज्ञान्ति, अप्रत्यय अथवा चित्त की अनभिज्ञादि नहीं होती, शुश्रूषु और अशुश्रूषु शिष्यों की भिन्न-परिपक्ष में भी वे उपेक्षक और स्मृतिमान् रहते हैं। इस प्रकार की उपेक्षा अंशतः बुद्ध के श्रावकों में भी होते हुए भी मानना होगा कि शुश्रूषा के विषय में नन्दि-श्रेय का सवासन-ग्रहण बुद्ध के लिए ही सम्भव है।

महाकरुणा—बुद्ध की महाकरुणा साधारण श्रावक की करुणा से विभिन्न है। महाकरुणा संवृत्ति की प्रज्ञा है, करुणा अद्वेय है। पुण्य और ज्ञान के महान् सम्भार से महाकरुणा का समुदायन होता है। तीन दुःखताओं को महाकरुणा लक्षित करती है, करुणा केवल दुःखदुःखता को ही आकारित करती है। तीनों पातुओं के सत्त्व महाकरुणा के आलम्बन हैं। यह स्मरणार्थ है कि वसुमित्र के अनुसार सर्वास्तिवादियों के मत से बुद्ध की करुणा का आलम्बन 'सत्त्व' नहीं होते क्योंकि वे स्कन्ध-सन्ततियों पर आरोप-मात्र हैं। महाकरुणा सब सत्त्वों के हित-मुख में समत्व-पूर्वक व्यापृत है एवं समस्त अन्य करुणा से अधिमात्र है। प्रज्ञास्वभाव होने के कारण ही महाकरुणा संस्कार-दुःखताकार एवं तीक्ष्णतर है।

करुणा अद्वेय है, महाकरुणा अमोह। करुणा दुःख का एक आकार ग्रहण करती

है, महाकरुणा तीन। करुणा कुछ लोगों को आलम्बन बनाती है, महाकरुणा सब को। करुणा की भूमि ध्यानचतुष्टय है, महाकरुणा की चतुर्दश्या। करुणा पुण्यजन, आवक एवं प्रत्येक बुद्धों में आश्रय पाती है, महाकरुणा बुद्ध में। करुणा कामधातु विषयक वैराग्य से उत्पन्न होती है, महाकरुणा भवाग्रविषयक वैराग्य से। करुणा परित्राण नहीं करती, महाकरुणा परित्राण करती है। 'करुणया श्रावकादयः करुणामन्त एव केवलम् अनुभूत्यायन्त्येवेत्यर्थः। न संसारमयात् परित्रामन्ते।' करुणा केवल दुःखितों की ओर अभि-मुख है, महाकरुणा सब की ओर।

बुद्ध केवल जम्बूद्वीप में ही हो सकते हैं। अनेक बुद्धों की सत्ता हीनयान-सम्मत थी। सर्वास्तिवादी विभिन्न बुद्धों की नाना क्षेत्रों में समकालिक सत्ता भी स्वीकार करते थे। विभाषा के अनुसार समस्त बुद्धों की संख्या गंगा-तीर के सैकड़-क्यों से भी अधिक है। सब बुद्धों की सम्भार, धर्मकाय, जाति और शरीर के प्रमाण आदि में समता नहीं है। स्वस्तिवादी भी शरीर, आयु एवं प्रभा में बुद्धों की वैमायता अथवा भेद स्वीकार करते थे।

यसोमित्र के अनुसार 'अनाखवधर्मसम्भार-सन्तानो धर्मकायः आश्रयपरिवृत्तिर्वा।' आश्रय-परिवृत्ति का अर्थ है नाम-रूप का परिवर्तन जयान्ति विशुद्ध नव-निर्माण। बोधि-कारक अष्टौध धर्म ही बुद्ध का धर्मकाय है। इन धर्मों में सत्यज्ञान, अनुत्पाद-ज्ञान, सम्मसृष्टि तथा उनके परिवारभूत पाँच अनाखव स्कन्ध समूहीत हैं। बुद्ध की धर्मकाय ही शरीर्य है। बुद्ध की रूप-काय अन्ततः शोधिसरव की रूप-काय से अभिन्न है। महत्त्वपूर्ण और अनुपमजनों से युक्त, नारायण-बल से समन्वित, आम्भन्तर अवलोकन में वज्रसारास्थिशरीरतासम्पद् से सम्पन्न, तथा बहिर्भा अवलोकन में रश्मि-प्रभास्वर है।

यह स्पष्ट है कि सर्वास्तिवादी मत में बुद्ध को अद्भुत शक्तिशाली विलक्षण पुरुष स्वीकार किया गया है जिसकी देह भौतिक है, चित्त सर्वज्ञ। बुद्ध महाकारुणिक हैं और उनके प्रति भक्ति स्वाभाविक है।

महासाधिक मत—महासाधिकों में बुद्ध की रूप-काय को अनन्त और अनाखव माना जाता था। अनेक कल्पों में पुण्य के प्रभाव से उन्हें यह शरीर प्राप्त हुआ था। परमाण्वे के अनुसार यह अनन्तता त्रिविध है—आकार-कृत, संख्या-कृत, एवं हेतु-कृत।^{१४} बुद्ध बड़े-छोटे नाना आकारों में, एवं दृश्येष्ट संख्या के शरीरों में प्रकट होते हैं तथा असंख्य कुशल-मूलों से उत्पादित धर्मों से उनकी काय घटित है। लोक में दृश्य

१४-तु०—कोश, ३.९६।

१५-भारी, पूर्व, पृ० ५९।

उनकी काम वास्तविक न होकर केवल निर्माण-काम है। उनकी वास्तविक रूप-काम बमर है और उनकी आयु अनन्त। अनन्त कल्याण को चरितार्थ करने के लिए अनन्त आयु चाहिए ही। जन्म, बोधि, निर्वाण आदि की विभिन्न लीलाओं को बुद्ध निर्माण अथवा मायिक कृति की तरह प्रदर्शित करते हैं। वस्तुतः वे अपनी पूर्व-जन्माजित 'सम्भोग-काम' में स्थित रहते हैं। यह स्मरणीय है कि 'सम्भोग-काम' का उल्लेख समुत्थित में न होकर उसकी परवर्ती व्याख्या में उपलब्ध होता है। बुद्ध नित्य समाधिस्थ हैं। एक ही क्षण में उनका चित्त सब कुछ जान सकता है। उनके क्षण-ज्ञान और अनुत्पाद-ज्ञान के प्रवाह में कोई विच्छेद नहीं होता। बुद्ध सब दिशाओं में स्थित और सब द्रव्यों में विद्यमान हैं। बिना कुछ कहे ही वे धर्म-देशना करते हैं।

महासायिक मत में बुद्ध लोकोत्तर घोषित किये गये हैं, क्योंकि वे अनात्म और बमर हैं। उनकी एक मायिक निर्माणकाम है, एक वास्तविक रूप-काम जो माहायानिक सम्भोग-काम से तुलनीय है। रूप-काम का अर्थ यहाँ सर्वथा विलक्षण है। बुद्ध की सिद्धि तथा विमूर्छि उन्हें महादेवोपम बना देती है। बुद्ध की रूपकाम विपाकजन्य थी अथवा नहीं, इस पर हीनमानी सम्प्रदायों में मत-भेद था। सर्वोत्ति-वादियों में उते विपाकज माना जाता था जैसा कि विभाषा, कोश और व्याख्या से स्पष्ट है^{१६}। देवदत्त-कृत सप्तभेद तथा बुद्ध-लोहितोत्पाद को शाक्य-मुनि के पूर्व-कर्म का विपाक बताया गया है। मिलिन्दपञ्च में एक विलक्षण मत की उद्भावना की गयी है। पूर्व-कर्म के अतिरिक्त अनेक अन्य कारणों से भी, तात्कालिक भोग का बहुधा प्रादुर्भाव होता है। इन्हीं बाह्य एवं आगन्तुक कारणों से बुद्ध के रोग, श्रुत आदि उत्पन्न हुए थे। यह स्मरणीय है कि इस मत का बीज प्राचीन है एवं आस्यों में उपलब्ध होता है^{१७}।

महासायिक बुद्ध एवं बोधिसत्त्व को 'उपपादुक' मानते थे, सर्वोत्तिवादी जरायुज। 'उपपादुक', 'जोपादुक', 'ओपातिक', अथवा 'उपपत्तिक' सत्त्वों की बौद्ध साहित्य में अनेकज भर्त्ता उपलब्ध होती है। जो सत्त्व सङ्गत् उत्पन्न होते हैं, जिनकी इन्द्रिया अविकल और अहीन हैं और जो सब अंग-प्रत्यंग से उपेत हैं, इन्हें उपपादुक कहते हैं क्योंकि वह उत्पादन-कर्म में प्रवीण हैं, क्योंकि वह सङ्गत् (कलिलादि अनुक्रम से नहीं, शुक्ल-घोषित उपादान के बिना) उत्पन्न होते हैं। देव, मारक, अन्तरात्मक ऐसे सत्त्व हैं^{१८}।

१६-३० दत्त, महायान, पृ० १०९।

१७-मिलिन्द, पृ० १३७-४०।

१८-कोश, ३, पृ० २७-२८।

सर्वास्तिवादियों के अनुसार चरमभक्तिक बौधिसत्त्व को उत्पत्तिवशित्व प्राप्त होता है, किन्तु तब भी वह जरायुजोपपत्ति पसन्द करते हैं। इसके दो कारणों का निर्देश किया गया है। यह देखकर कि मनुष्य होकर भी बौधिसत्त्व ने सिद्धि प्राप्त की है, मनुष्यों का उत्साह बढ़ता है। यदि बौधिसत्त्वों की जरायुजोपपत्ति न होती तो लोगों को उनके कुल का ज्ञान न होता और वे कहते 'यह मायावी कौन है, देव या पिशाच?' जैसे भी अन्य तीर्थिक तथागत को मायावी बताते हैं। दूसरे, बौधिसत्त्व जरायुजयोनि से इसलिए उत्पन्न होते हैं कि निर्वाण के अनन्तर उनकी शरीर-धातु का अवस्थापन हो सके। इन शरीर-धातुओं की पूजा से हजारों मनुष्य तथा अन्य सात्व स्वर्गापवर्ग का लाभ करते हैं। यह स्मरणीय है कि औपपादुक सत्त्वों का शरीर बाह्य बीज के अभाव से मृत्यु के पश्चात् निरवशेष लुप्त हो जाता है।

संक्षेपतः यह कहा जा सकता है कि सभी हीनयानी यह मानते थे कि साधकों को तीन कोटियाँ हैं—श्रावक, प्रत्येक-बुद्ध, तथा बौधिसत्त्व। श्रावक पुष्पारामा मुख्य हैं जो बुद्ध का उपदेश प्राप्त कर अर्हत्त्व तक प्रगति करते हैं। प्रत्येक बुद्ध बोधि प्राप्त करते हैं, किन्तु वे न शिष्य होते हैं, न गुरु। बौधिसत्त्व अनेक जन्मों में अर्जित पुण्य और ज्ञान के सहारे अपनी परमभक्तिक विशिष्ट रूप-काय प्राप्त करते हैं तथा सम्बुद्ध सम्बुद्ध हो कर अपने विलक्षण ज्ञान, बल, महाकरुणा आदि के द्वारा अहंत् और प्रत्येक-बुद्ध से विशिष्ट होते हैं। स्थविरवादी और सर्वास्तिवादी बुद्ध की एक मनुष्योचित, जरायुज और विपाकज 'रूप-काय' अथवा भौतिक देह मानते थे तथा उसके अतिरिक्त एक 'धर्म-काय' जो कि तथागत की उपदेश-शक्ति अथवा उनके विशुद्ध गुणों का नाम था। महासांघिक बुद्ध और बौधिसत्त्व को सर्वथा लोकोत्तर उपपादुक एवं अधिष्ठानच्छिद्र सम्पन्न मानते थे और उनकी लोक-दृष्टि देह को मायिक अथवा 'निमित्त' तथा उनकी वास्तविक 'रूप-काय' को माहायानिक 'सम्भोग-काय' के सदृश अनन्त और अमर मानते थे।

महासांघिक 'रूप-काय' पूर्व-गुणों का परिणाम, अत्यन्त विशुद्ध, अनन्त प्रनामय, तथा अधिष्ठानिक च्छिद्र के द्वारा मयेष्ट स्थान पर मयेष्ट रूप-धारण में समर्थ है। यही माहायानिक 'सम्भोग-काय' का पूर्व-रूप है। ललितविस्तर, सद्धर्मपुण्डरीक आदि सूत्रों में इसका नामतः उल्लेख नहीं है, किन्तु बुद्ध-काय की समस्त लोक-धातुओंको आलोकित करनेवाली प्रभास्वरता का इनमें बहुधा वर्णन किया गया है। महासांघिक 'निर्माणकाय' का महायान में सर्वथा स्वीकार कर लिया गया है। 'धर्म-काय' का 'धर्म' के साथ महायान में पुनर्व्याख्यान हुआ। 'धर्मता' या परमात्मा को ही अन्ततः 'स्वाभाविक-काय' अथवा धर्म-काय कहा गया।

महायान-सूत्र और शास्त्र

सङ्गमपुण्डरीक के 'तथागतपुष्पमाण' नाम के पन्द्रहवें परिवर्त में तथागत बोधिसत्त्वों से कहते हैं—“तेन हि कुलपुत्राः क्षुण्णमिदमेवरूपं ममाधिष्ठानबलाधानं यदयं कुलपुत्राः सदेवमानुषासुरो लोक एवं संजानीते । साम्प्रतं प्रगवता शाक्यमुनिना तथागतेन शाक्यकुलादभिनिष्कम्य गयाक्षुपे महानगरे बोधिमण्डवराधनेनानुत्तरा सम्यक्सम्बोधिरभिसम्बुद्धेति । नैवं द्रष्टव्यम् । अपि तु क्षलुधुनः कुलपुत्रावहूनि मम कल्पकोटिनयुतशतसहस्राण्यनुत्तरां सम्यक्सम्बोधिमभिसम्बुद्धस्य—यतः प्रभूत्यहं कुलपुत्रा अस्या सहायां लोकघाती सत्त्वानां धर्मं देशयाम्यन्येषु च लोकघातुकोटिनयुतशतसहस्रेषु । ये च मया कुलपुत्रा अत्रान्तरा तथागता अर्हन्तः सम्यक्सम्बुद्धाः परिणीताः दीपकरतथागतप्रभृतयस्तेषां च तथागतानामहंतां सम्यक्सम्बुद्धानां परिनिर्वाणानि मयैव तानि कुलपुत्रा उपायकौशल्यधर्मदेशनाभिनिर्हारनिर्मितानि । तायन्धिराभिसम्बुद्धो परिमितपुष्पमाणस्तथागतः सदा स्थितः । अपरिनिर्बतस्तथागतः परिनिर्वाणमादर्शयति वनेयवक्षेन” ।”

अर्थात् असंख्य कल्प पहले ही बुद्ध ने बुद्धत्वं प्राप्त कर लिया था । उनकी आयु अपरिमित है तथा उन्होंने वस्तुतः सभी परिनिर्वाण में प्रवेश नहीं किया है । अथवा यह कहा जाय कि उन्होंने संसार और परिनिर्वाण के भेद से व्यतीत सत्य का साक्षात्कार किया है । तथापि वे नानाकार्यों में प्रकट होकर लोक-हित के लिए उपदेश करते हैं । यह मत पूर्वोक्त महासांघिक मत का अनुवाद-मा प्रतीत होता है । 'एतादृशं ज्ञानबलममेदं प्रभास्वरं यस्य न कश्चिदन्तः आयुश्च मे दीर्घमनन्तकल्पं समुपाजितं पूर्वं चरित्व पर्याप्तं” ॥’

मुषर्णप्रभास-सूत्र में भी कहा गया है कि अर्चा के लिए बुद्ध के शरीर की सरसों भर भी धातु प्राप्त नहीं हो सकती क्योंकि उनकी देह मानव-देह नहीं है । बुद्ध की केवल धर्म-काय वास्तविक है, लोक-समक्ष प्रकाशित उनका शरीर निर्माण-काय है” । यह स्मरणीय है कि मुषर्णप्रभास के इन्चिंग के अनुवाद में तथा उद्गुरी अनुवाद में तीनों कार्यों पर एक अध्याय उपलब्ध होता है” ।

१९-सङ्गमपुण्डरीक (कलकत्ता, १९५३), पृ० २०६-७ ।

२०-वही, पृ० २१३ ।

२१-वे०—ऊपर ।

२२-विकाय पर ३०—नोबेल, मुषर्ण प्रभासोत्तमसूत्र, (साइदेन, १९५८), जि०

१, पृ० ४१ प्र० ।

पहले कहा जा चुका है कि प्रज्ञापारमिता-सूत्रों में प्राचीनतम अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता है। इसमें केवल रूप-काय तथा धर्म-काय का उल्लेख मिलता है। रूप-काय पूर्व-कर्म का विपाक है, किन्तु विशिष्ट-गुण-शाली है। नागार्जुन के प्रज्ञापारमिता शास्त्र में भी दो कायों का उल्लेख है। रूप-काय मानव-काय है जो शाक्य-कुल में उत्पन्न हुई थी। धर्म-काय का आविर्भाव राजगृह में हुआ था^{२३}। पीनी परिनिर्वाणसूत्र या सन्धिनिर्मोचन सूत्र में नागार्जुन की प्रदर्शित दिशा का ही अनुसरण किया गया है। यह सम्भव है कि नागार्जुन के 'सत्य-द्वय' की दृष्टि से रूप-काय और सम्भोग-काय का भेद अनुल्लेख्य है। पञ्चविंशति-साहस्रिका प्रज्ञापारमिता के आधार पर उसके विषय प्रविपादन के लिए 'अभिसमपालङ्कारकारिका' की रचना हुई थी। पीछे पञ्चविंशति-साहस्रिका स्वयं इन कारिकाओं के अनुसार 'संशोधित' की गयी। यह संशोधित संस्करण ही इस समय संस्कृत में उपलब्ध होता है। इसमें बुद्ध की अनन्त ज्योतिर्मय देह का 'आरोचनक आत्मभाव' के नाम से वर्णन किया गया है। पञ्चविंशति-साहस्रिका में 'साम्भोगिक-काय' का पीछे संशोधित उल्लेख प्राप्त होता है। इसके अनुसार बोधिसत्व बोधि के अनन्तर अव्यञ्जनानुव्यञ्जन-युक्त भास्वरकाय के सहारे बोधिसत्वों को महापान का उपदेश देते हैं जिससे उनकी धर्म में अभिरुचि हो। यही सम्भोग-काय है।

मैत्रेयनाथ की अभिसमपालङ्कारकारिका में चार कायों का वर्णन है—स्वाभाविक-काय जो पारमार्थिक है, धर्म-काय जो बुद्धों की अपने लिए काय है, सम्भोग-काय जो समुन्नत बोधिसत्वों के उपदेश के लिए है, तथा निर्माण-काय जो श्रावकों के उपदेश के लिए है^{२४}। इनमें पिछली तीन काय सम्बृत हैं। बोधिसत्व की समस्त चर्चा निर्माण-काय के द्वारा सम्पन्न होती है। यह निर्माण-काय वस्तुतः धर्म-काय से भिन्न नहीं है।

लंकावतार सूत्र में धर्मता बुद्ध, निध्यन्दबुद्ध, तथा निर्माणबुद्ध का उल्लेख प्राप्त होता है^{२५}। यहाँ कहा गया है कि चित्तभाषता का बोध होने पर निर्माणकाय का लब्ध होता है। निर्माणकाय कर्म-प्रभव नहीं है और न इसमें क्रिया जगया संस्कार हैं। निर्माणकाय बल, अभिज्ञा, एवं बशित्व से युक्त है। निर्माणकाय के द्वारा ही बुद्ध देशना-रूप तथागत-कृत्य सम्पादित करते हैं। इस निर्माणकाय की योगि-गण-प्रसिद्ध निर्माण-चित्त से तुलना करनी चाहिए। 'निर्माणचित्तान्यस्थितामात्रात्' इस योग-सूत्र पर

२३-इ०—पूत, सिद्धि, जि० २, पृ० ७८४-८५।

२४-अभिसमपालङ्कारालोक, पृ० ५२३ अ०।

२५-लंकावतार, पृ० २८, ३४, ५७।

ध्यास-आध्य में कहा गया है—'अस्मितामात्रं चित्तकारणमुपादाय निर्माणचित्तानि करोति ततः सचित्तानि भवन्ति ।' इसके विवरण में तत्त्ववैशारदी में उद्धृत पुराण-वाक्य दर्शनीय है—'एकस्तु प्रभुशक्त्या वै बहुधा भवतीश्वरः । भूत्वा यस्मात्सु बहुधा भवत्येकः पुनस्ततः ॥ तस्माच्च मनसो भेदा जायन्ते चैत एव हि । एकधा स द्विधा त्रिधा च बहुधा पुनः ॥ योमीश्वरः शरीराणि करोति विकरोति च । प्राप्नुयाद्विषयान् श्रीशिवर्कशिवपुत्रं तपश्चरेत् ॥ संहरेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानि ॥' सांख्य-परम्परा के अनुसार निर्माणचित्त के अधिष्ठान के द्वारा ही कल्पि ने ज्ञान का उपदेश किया । वातिककार ने विष्णु आदि के अंशावतारों को निर्माणचित्त कहा है । योग-शास्त्र में पाँच प्रकार के निर्माण-चित्तों का उल्लेख है जिनमें ध्यायक्य निर्माण-चित्त कर्माशयहीन होते हैं । सम्भोगकाय के स्थान पर लंकावतार में निष्यन्दबुद्ध अथवा धर्मतानिष्यन्द बुद्ध का उल्लेख है । इस देह का उपयोग परिकल्पित लक्षण तथा परतन्त्र-लक्षण के उपदेश में होता है । सब पदार्थों की स्वप्नवत्ता समझाने तथा प्रज्ञापारमिता अथवा सद्धर्मपुष्करिक के उपदेश के लिए बुद्ध इस देह का आश्रय करते हैं । इस उल्लेख से निष्यन्दबुद्ध का ज्योतिर्मय, आसेचनक काय से सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है । इस देह को 'विपाकज' माना जाता है । बोधिसत्त्वों के पूर्व पुष्पों से यह जन्मि है । इसी कारण इसका नाम सम्भोगकाय प्रसिद्ध हुआ । महाप्रज्ञापारमिताकार के अनुसार बुद्ध-काय त्रिविध है । 'स्वामाविकल्पमं-काय जाययपरवृत्तिलक्षण है । साम्भोगिक (काय) जिससे (बुद्ध) परिषद्-सम्बलों में धर्म-सम्भोग करते हैं । नैर्माणिक जिस निर्माण से (बुद्ध) सत्त्व-हित करते हैं । इनमें साम्भोगिक (काय) सब लोक-धातुओं में परिषद्-सम्बल, बुद्ध-शेष, नाम, शरीर और धर्मसम्भोग-क्रिया के द्वारा विभिन्न है । स्वामाविक (काय) सब बुद्धों की निर्विशेषक होने के कारण सम है, दुर्ज्ञेय होने के कारण सूक्ष्म है, तथा साम्भोगिक-काय से सम्बद्ध होकर सम्भोग-विभूत्व एवं ध्येष्ट भोग-दर्शन में हेतु है । नैर्माणिक-काय बुद्ध-निर्मित है तथा उसके अप्रमेय-प्रभेद है । साम्भोगिक स्वार्थसम्पत्तिलक्षण है, नैर्माणिक परार्थसम्पत्तिलक्षण । इस प्रकार स्वार्थ और परार्थ दोनों का सम्पन्न होना यथाक्रम साम्भोगिक और नैर्माणिक कायों में प्रतिष्ठित है । निर्माण-काय बीणा-वादन आदि शिल्प, जन्म (परिग्रह), सम्बोधि निर्माण आदि के प्रदर्शन के द्वारा शिष्यों को मुक्त करने का महान् उपाय है । इन तीन कायों से बुद्धों का सर्व-काय-संग्रह मानना चाहिए । इनसे स्वार्थ, परार्थ और उनका आश्रय निदर्शित हो जाता है । ये तीनों काय आश्रय, आश्रय और कर्म से निर्विशेष है । धर्म-धातु से जन्मि होने के कारण उनका आश्रय समान है । पृथक् बुद्धाश्रय का अभाव है । कर्म तीनों के साधारण है । इन तीन कायों में तीन प्रकार की निरयता समझनी चाहिए

जिनके कारण तथागत नित्य-काम कहलाते हैं। स्वाभाविक काम की स्वभाव से नित्य होने के कारण प्रकृति से नित्यता है, साम्भोगिक की धर्म-सम्भोग के अविच्छेद के कारण अखण्डतः (अच्युतितः) नित्यता है, नैर्माणिक की अन्तर्ज्येय में पुनः-पुनः निर्मित वृष्ट होने के कारण प्रबन्ध-नित्यता है^{११}।

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि में वसुधन्व का कहना है—‘य एवानास्रबोधानुरहित्यः कुशलोद्भूतः। सुखो विमुक्तिकाशोऽसी धर्मारब्धोऽयं महामुनेः’॥ धर्मकाय अनास्रब वातु है, अचिन्त्य, कुशल भूय, सुख, विमुक्तिकाय। यह परिनिष्ठित और अनास्रब-वातु आश्रयपरायुति का फल है। बोधिसत्त्व के बुद्ध बनने में अमित्य और साश्रव स्कन्धों की परायुति होकर प्रबन्धनित्य, अनास्रव स्कन्धों की प्राप्ति होती है। यही तथागत की सुधर्म-काय है। ‘आश्रयस्य परायुतिः सर्वसङ्कल्पवर्जिता। ज्ञानं लोकोत्तरं चैतद्धर्मकायो महामुनेः’॥ काय विविध अर्थ का संकेत करता है—स्वभाव, आश्रय, तथा सञ्जय। धर्मकाय में पाँच धर्म संगृहीत हैं—अनास्रव धर्म-वातु तथा चार ज्ञान। स्वाभाविक-काय तब धर्मों का सम स्वभाव है, ज्ञान और प्रपञ्चातीत तथा अन्य कार्यों का आश्रय। इसे धर्म-काय भी कहा गया है। सम्भोग-काय द्विविध है—स्व-सम्भोग-काय तथा परसम्भोगकाय। स्व-सम्भोग-काय तीन असंख्येय कल्पों में अजित पुण्य और ज्ञान के सम्भार से निर्वर्तित अनन्त भूत-गुण-सम्पन्न बुद्ध, नित्य और व्यापक रूप-काय है। लक्ष्मि-रूप होने के कारण यह स्वाभाविक-काय से भिन्न है। यह विभूत धर्म-गुण का शाश्वत भोग करती है। समैता-ज्ञान में तथागत पर-सम्भोग-काय को दत्त भूमियों के बोधिसत्त्वों के लिए प्रकट करते हैं। यह विभूतियाँ प्रकाशित करती हैं, धर्म-वक्त्र प्रवर्तित करती हैं, और संशय-सूत्र छिन्न करती हैं कि बोधिसत्त्व धर्म-गुण का सम्भोग करें। इत्यादिगुणानुपपन्न के मध्य में तथागत असंख्य और विविध निर्माण-काय प्रतिपादित करते हैं। वे काय अल्प-भूमिक बोधिसत्त्व तथा दोनों ज्ञानों के पृथग्भवों को उनके अज्ञान के अनुकूल धर्म-द्वेषना से हित-मुख पहुँचाते हैं।

दोनों ही सम्भोग-काय रूप-काय हैं। यह रूप अत्यन्त सूक्ष्म, विषुद्ध और सीमाहीन होते हुए भी सप्रतिष्ठ है। दोनों कार्यों में वर्ण-रूप-संस्थान तथा शब्द है। किन्तु स्व-सम्भोग-काय में महानुरूप लक्षण नहीं है। परसम्भोगकाय में निर्माणकाय के समान चित्त अपना वास्तविक नहीं है। स्वसम्भोगकाय में चित्त, चैत, और रूप तीनों वास्तविक

२६-सुवर्णकार, पृ० ४५-४६।

२७-३०—लेखि, विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, पृ० ४३-४४, वृत्ते, सिद्धि, जि० २, पृ० ६९६ प्र० १।

है। चैत यहाँ पर चार ज्ञान हैं—आदर्श-ज्ञान, समताज्ञान, प्रत्यवेक्षणज्ञान, तथा कृत्यानुष्ठानज्ञान^{१८}।

बोधिसत्त्व—हीनयान में और महायान में

'बोधिसत्त्व' शब्द का 'भावो बुद्ध' के लिए प्रयोग प्राचीन पालि साहित्य में, बहुत स्थानों पर उपलब्ध होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि पहले इसका प्रयोग केवल सम्बोधि से पूर्व शाक्यमुनि को सूचित करने के लिए ही होता था। शाक्यमुनि के असंख्य पूर्व-जन्मों की जातक-साहित्य के द्वारा प्रसिद्धि होने पर बोधिसत्त्व-चरित भी विस्तृततर हो गया। साथ ही शाक्यमुनि के अतिरिक्त अन्य अतीत बुद्धों की कल्पना के कारण सम्बोधि से पूर्व अवस्था में उनके लिए भी बोधिसत्त्व शब्द का प्रयोग हुआ। प्राचीन पालि सन्ध्यों में सात बुद्धों के नाम मिलते हैं—विपस्सी, सिक्खी, वेस्समू, ककुत्स्थ, कोमागमन, कस्सप, और गोतम। दीपनिकाय के महापद्मनमुत्तन में इन बुद्धों के विषय में सूचना दी गयी है तथा उनके उत्पन्न का समय और उनकी जाति, गोत्र, जन्म, बोधि-वृक्ष, आचक्र-युग, आचक्र-सन्निपात, अग्र-उपस्थाता, माता-पिता तथा जन्म-स्थान का उल्लेख है। इसके अनन्तर विपस्सी बुद्ध का जीवन-चरित विस्तार से बताया गया है जो कि सभी मुख्य बातों में शाक्यमुनि के सदृश है। यह कहा गया है कि सभी बुद्धों की जीवनी समान होती है, केवल विस्तर-भेद ही उनमें पाया जाता है। बुद्धों के जीवन की यह व्यापक समानता 'धम्मता' (=धर्मता) कही गयी है। यह धर्मता है कि बोधिसत्त्व तुषित-लोक से प्लुत होकर स्मृति-सम्प्रजन्य युक्त अवस्था में ही मातृ-कुक्षि में प्रवेश करते हैं। अन्य निर्विद्विष्ट धर्मताएँ इस प्रकार हैं—बोधिसत्त्व के मातृ-कुक्षि में प्रवेश के समय समस्त लोकों में सहसा अनन्त प्रकाश फैल जाता है, चार देवपुत्र गर्भ में बोधिसत्त्व की रक्षा करते हैं। उस समय उनकी माता बाल का पालन करती है, काम-राग से मुक्त होती है, और सब प्रकार से सुखी तथा मीरोग होती है। गर्भस्थ बोधिसत्त्व को उनकी माता स्पष्ट देख पाती है। बोधिसत्त्व के जन्म के सप्ताह के अनन्तर उनकी माता का देहान्त हो जाता है और वह तुषित-लोक में उत्पन्न होती है। बोधिसत्त्व का जन्म ठीक दस मास गर्भ में रहकर होता है तथा उनके प्रसव के समय उनकी माता खड़ी रहती है। प्रसव के अनन्तर बोधिसत्त्व का पहले देवता और पीछे मनुष्य प्रतिग्रहण करते हैं। तब-जात बोधिसत्त्व को चार देवपुत्र उनकी माता के सामने स्थापित करते हैं। जब बोधिसत्त्व का जन्म होता है उन पर और उनकी माता पर अन्तरिक्ष से दो उदक-धाराएँ

मिरती हैं—एक शीत और एक उष्ण। तत्काल उत्पन्न बोधिसत्त्व सात पग घरेते हैं तथा धाम् उच्चारित करते हैं 'मैं लोक में श्रेष्ठ हूँ, यह अन्तिम जन्म है, अब पुनर्भव नहीं होगा।' उनके जन्म के समय पुनः अनन्त ज्योति प्रकट होती है। सुदुर्लभता के अन्तर्गत ब्रह्मसंघ में शाक्यमुनि के पूर्व चौबीस बुद्धों का वर्णन किया गया है। नये नाम इस प्रकार हैं—दीपकर, कोण्डञ्ज, मंगल, सुमन, देवत, सोमित, अगोमदस्सी, पद्म, सारद, पद्मुत्तर, समेष, मुज्जात, पियदस्सी, अत्यदस्सी, धम्मदस्सी, सिद्धत्थ, तिस्स और फूस।

बुद्धधर्म की जातकट्ठवग्गना की निदानकथा में बोधिसत्त्व की चर्मा का वर्णन उस समय से किया गया है जब सुमेध ब्राह्मण ने दीपकर बुद्ध के युग में बुद्धत्व के लिए संकल्प (अभिनीहार) किया। बुद्धत्व का संकल्प सिद्ध होने के लिए आठ बातों की आवश्यकता होती है—मनुष्यत्व, पुरुषत्व, हेतु, शास्त्रदर्शन, प्रसन्नता, गुण-सम्पत्ति, अधिकार तथा छन्द। नाना जन्मों में दस पारमिताओं की भावना के द्वारा ही यह संकल्प चरितार्थ होता है। पालि 'पारमी' भाव-वाचक है और उसके अर्थ हैं 'परमत्व', श्रेष्ठ्य, पूर्णत्व। इस अर्थ में 'पारमी' शब्द का प्रयोग प्राचीन सन्दर्भों में भी उपलब्ध होता है। जातकादि साहित्य में 'दस पारमियों' (= दस पारमिताएं) का वर्णन मिलता है। ये दस पारमिता इस प्रकार हैं—दान-पारमी, सील, नेपलम्म, पञ्चा, विरिप, सन्ति, सज्ज, अधिट्ठान, मेता, उपेक्षा & येही हृदय में प्रतिष्ठित बुद्ध-कारक धर्म हैं। सुदुर्लभता के अन्तर्गत चरियापिटक के ३५ जातकों में पारमिताओं की भावना ही उदाहृत है।

सर्वास्तिवादों अभिधर्मकोष के अनुसार बोधिसत्त्व-सञ्ज्ञा उस समय से होती है जब से ३२ महापुरुषलक्षणों के निर्वर्तक कर्म का करना प्रारम्भ होता है। तब से बोधिसत्त्व सदा उच्चकुल में उत्पन्न होता है, पूर्णेन्द्रिय होता है, पुण्य होता है, जाति-स्मर होता है, और अवैर्वातिक होता है। अन्तिम सौ कल्पों में बोधिसत्त्व जम्बूद्वीप में ही होते हैं। उनकी देह के एक-एक क्लृप्त सौ-सौ पुण्यों से उत्पन्न होते हैं। कृपापूर्वक सबको सब कुछ देकर उनकी दानपारमिता पूरी होती है। बिना कोप के अगच्छेद भी सहने से उनकी आन्ति और सील की पारमिता पूरी होती है। एक पैर पर सड़े होकर सात अहोरात्र तिप्प बुद्ध की स्तुति से उनकी वीर्य-पारमिता पूर्ण होती है। इनके अनन्तर ध्यान और प्रज्ञा की पारमिताएं उनसे भावित होती हैं। बोधिसत्त्व धर्म में प्रवेष्ट, स्थिति और निष्कमण सम्प्रज्ञानपूर्वक करते हैं। तीन 'असंख्य'-कल्पों में बुद्धत्व प्राप्त होता है।

महासांघिक लोकोत्तरवादियों ने बुद्ध के साथ बोधिसत्त्व को भी लोकोत्तर बताया। उनके मत से बोधिसत्त्व श्वेत-नाग के रूप में मातृ-गर्भ में प्रवेश करते हैं, तथा अरायुओं के समान उनका गर्भ में क्रमशः विकास नहीं होता। वे पूर्णेश्वर रूप में ही गर्भस्थ होते हैं तथा मातृ-कुक्षि के दाहिनी ओर से उनका प्रसव होता है। अपनी चर्मा के दूसरे असंख्येय-कल्प से वे आर्यत्व प्राप्त करते हैं तथा उनमें कामसंज्ञा, व्यापाद-संज्ञा, एवं विहिंसा-संज्ञा उत्पन्न नहीं होती। सब सत्त्वों के 'परिपाचन' का प्रविधान किये होने के कारण बोधिसत्त्व दुर्पति में भी जन्म-ग्रहण करने का संकल्प करते हैं। अपने ऐश्वर्य से वे यह संकल्प पूरा कर सकते हैं। प्रथम असंख्येय-कल्प में बोधिसत्त्व 'अनिमत' होते हैं, दूसरे में 'नियत', तीसरे में 'व्याकृत'।

महावस्तु में लोकोत्तरवाद की दृष्टि से बोधिसत्त्व की चर्मा का विस्तृत वर्णन किया गया है जिसमें उसको अलौकिकता, पारमिताओं तथा 'भूमियों' का विवरण प्राप्त होता है। स्वविरवाद और सर्वास्तिवाद तथा प्राचीन आगमों में बोधिसत्त्व की विलक्षण और अद्भुत महानुष्य मानते हुए भी मनुष्य माना जाता था, किन्तु महासांघिकों ने उनका सर्वथा अलौकिक विवरण दिया है। बोधिसत्त्व औपपादुक हैं, लोकानुवर्तन के कारण ही मनुष्यवत् प्रतीत होते हैं, उनका 'रूप' 'मनोभव' है, अथवा, एकव्यापहारिकों के मत से, उनमें 'रूप' है ही नहीं। वैतुल्यकों ने यहाँ तक कह दिया कि तुषितलोक से मायादेवी के गर्भ में केवल एक निर्माण-काय का ही अवतार हुआ।

महायान में हीनयान की बोधिसत्त्व-विषयक दृष्टि का स्वाभाविक विकास पाया जाता है। हीनयान में बुद्ध और बोधिसत्त्व असाधारण माने जाते थे और उनके आदर्श तथा मार्ग का सफल अनुकरण सबके लिए सम्भव नहीं माना जाता था। दूसरी ओर असाधारण होते हुए भी बोधिसत्त्व मनुष्य-कोटि से उत्तीर्ण नहीं हैं। और फिर एक से अधिक बुद्ध और बोधिसत्त्व स्वीकार करते हुए भी हीनयान में अनागत बुद्धों का तथा वर्तमान बोधिसत्त्वों का स्थान नगण्य है। महायान में महासांघिक-दर्शित मार्ग से बुद्ध और बोधिसत्त्वों की असाधारणता स्पष्ट ही अलौकिकता में परिवर्तित हो गयी, किन्तु दूसरी ओर उनका आदर्श सबके लिए अनुकरणीय बताया गया। वर्तमान बोधिसत्त्व और भावी बुद्धों का ही महायान में प्राधान्य है। यह युक्तिपुक्त भी लगता है कि जिस मार्ग का बुद्ध ने स्वयं अनुसरण किया उसी का उनके अनुगामी भी करें। बोधिसत्त्व-चर्मा में पारमिताओं और भूमियों के सिद्धान्त का महायान में विशेष विकास हुआ।

हीनयान मुख्यतः भिक्षुओं का धर्म है। अर्हत्त्वप्राप्ति आवश्यक प्रव्रज्या और उपसम्पदा ग्रहण कर विनय के अनुशासन का पालन करते हुए शीलविशुद्धि पूर्वक शमय

और विपणन के द्वारा मार्ग में प्रवेश करते थे। उनके विकास की चार अवस्थाएँ जबवा 'भूमियाँ' प्रसिद्ध थीं—स्रोत-आपन्न, सङ्कदागामी, अनागामी, तथा अर्हत्। प्रत्येक मार्ग के फल-प्राप्त और 'प्रतिपन्नक' में भेद करने से चार के स्थान पर आठ आर्य पुद्गल गिने जा सकते हैं।

महायान में बोधिसत्त्व-वर्णों के अभिलाषी एक ओर हीनयान-प्रसिद्ध विनय के नियमों को भी प्रायः अनुपालनीय मानते थे, दूसरी ओर पारमिताओं की पूर्ति को भी, जिसका भिक्षु-जीवन से विशेष अभिसम्बन्ध नहीं है। बहुत समय तक महायान का कोई अपना विशिष्ट बोधिसत्त्व-विनय नहीं था। इ. न. चिंग का कहना है कि हीनयान तथा महायान का एक ही विनय है। अतः साहायानिक सूत्र और शास्त्रों में 'बोधिसत्त्वों' को कई स्थलों पर चेतावनी दी गयी है कि वे विनय को अचहेतुनीय न समझें। शान्ति-देव के द्वारा ज्वायमकौशल्यसूत्र से उद्धृत ज्योतिर्मात्रवक की कथा इस प्रसंग में स्मरणीय है। ज्योतिर्मात्रवक ने स्त्री पर क्रुधा कर अपना ४२,००० वर्ष का ब्रह्मचर्य खण्डित कर दिया। 'पश्य कुलपुत्र यद्व्येषां निरयसकर्मनीय कर्म तदुपायकुशलस्य बोधिसत्त्वस्य ब्रह्मलोकोपपत्तिसंवर्तनीयमिति'। (जिज्ञा, पृ० १५७)।

प्रारम्भ में विनय-भेद न होते हुए भी बोधिसत्त्ववर्णों के आपह से क्रमशः महा-यानियों के लिए एक विशिष्ट आचरण का आदर्श अंकुरित हुआ। 'कथना' और 'अहिंसा' का कठोर विरामता की अपेक्षा इसमें उत्कृष्टतर स्थान था। शांति-महायान का निषेध इसी प्रवृत्ति का फल मानना चाहिए। शान्तिदेव ने एक बोधिसत्त्वप्राप्तिमोक्षसूत्र को उद्धृत किया है। 'तीनों बुद्धजातकसूत्र तथा शिखासमुच्चय भी एक प्रकार से बोधि-सत्त्व-विनय कहे जा सकते हैं।

महायान में उपासकों का स्थान ऊँचा उठ गया। बौद्ध विहारों में भी कदाचित् महायान की भावुकता तथा 'उपासकीशाल' के सिद्धान्त से सम्बन्धित अपवाद-विरामणता के द्वारा नियम-धीनत्व का प्रचार हुआ। कश्मीर में अनेक विहारों में भिक्षुओं के कलश-पुष्प आदि की चर्चा राजतरंगिणी में प्राप्त होती है। महायान की तान्त्रिक-शाखा के विकास से इस प्रकार की प्रवृत्ति को विशेष बल मिला।

हीनयान में चतुर्भूमिक आर्य-मार्ग प्रसिद्ध है जिसका पहले उल्लेख किया जा चुका है। महाव्युत्पत्ति में आचर-वर्णों का प्रकारभेद तथा नाम-भेद के साथ इस प्रकार संग्रह प्रदर्शित किया है—स्रोत-आपन्न, सप्तहृद्भव-वरम, कुलकुल, सङ्कदागामी, एक-बौद्धिक, अनागामी, अन्तरापरिनिर्वाणी, उपपन्नपरिनिर्वाणी, साधिसंस्कारपरिनिर्वाणी, अर्धसंस्कारपरिनिर्वाणी, अर्धस्रोत, कायसाधो, अज्ञानुसारी, धर्मानुसारी, अज्ञा-

विमुक्त, दृष्टिप्राप्त, समयविमुक्त, असमयविमुक्त, प्रज्ञाविमुक्त, उभयतोभागविमुक्त । इसके अतिरिक्त महाव्युत्पत्ति में सात आचक-भूमियों का उल्लेख भी मिलता है—
 धुक्क-विदशाना-भूमि, गोत्रभूमि, अष्टमकभूमि, दर्शनभूमि, तनुभूमि, बीतरागभूमि, कृताचीभूमि । पहली भूमि स्पष्ट ही पुण्यजन-भूमि है जब कुशल-मूलों का संघ होता है । गोत्रभू की अवस्था को कहीं पुण्यजन और कहीं आर्य की अवस्था कहा गया है । तीसरी और चौथी भूमियाँ श्रोत-आपत्ति का मार्ग और फल हैं । आर्य-सत्त्वों के बोध के द्वारा इनका लाभ होता है । अनियमकोश में इस बोध के १६ क्षण प्रतिपादित किये गये हैं । सङ्कटागामी की अवस्था ही राग, द्वेष और मोह की तनु-भूमि है । अनागामी की अवस्था बीतरागभूमि है तथा अहंत की कृताची भूमि ।

महावस्तु में, जो कि हीनयान और महायान का मध्यवर्ती है, बोधिसत्त्व की 'चार चर्याओं' और 'दस भूमियों' का निर्देश प्राप्त होता है । 'प्रवृत्तिचर्या' में बोधिसत्त्व के सहज गुण प्रकाशित करते हैं, 'अनुलोम चर्या' में इस संकल्प के अनुकूल वे कार्य सम्पन्न करते हैं, तथा 'अनिवर्तनचर्या' में वे उस सुदृढ़ भूमि को प्राप्त करते हैं जहाँ से पीछे लौटना नहीं होता । इसी भूमि में दीपंकर बुद्ध ने बोधिसत्त्व की भावी बुद्धत्व-प्राप्ति का 'व्याकरण' अपना भविष्यवाणी की थी । महावस्तु में निर्दिष्ट 'दस भूमियाँ' इस प्रकार हैं—दुरारोहा, बद्धमाना, पुण्यमण्डिता, शबिरा, चित्तविस्तरा, रूपवती, दुर्जया, जन्म-निदेश, धीवराण्य, अनियेक । इन भूमियों का विवरण महावस्तु में स्पष्ट और सुविचित्र नहीं है । बोधिचित्त के प्रणिधान से बोधिसत्त्वों की पहली भूमि का आरम्भ होता है । उनके पिछले पाप क्षीण हो जाते हैं, किन्तु सातवीं भूमि तक वे 'पुण्यजन' ही रहते हैं । यह अवस्था है कि अपने लज्ज के वैशिष्ट्य के कारण उन्हें इस अवस्था में भी 'आर्य' ब्रह्म 'प्राप्तमूल' कहा जा सकता है । पाप-कर्म की सम्भावना बोधिसत्त्व के लिए अभी भी बनी रहती है, किन्तु उनका पुण्य-सागराण्य निरन्तर बढ़ता रहता है । आठवीं भूमि से बोधिसत्त्व के कृत्य सर्वथा विभू हो जाते हैं । आठवीं भूमि से अनिवर्तनीयता लागू होती है । अब से बोधिसत्त्व चक्रवर्ती राजा होकर धर्म का उपदेश करते हैं । अन्तिम जन्म-ग्रहण के लिए मातृ-गर्भ में प्रवेश के साथ दसवीं भूमि का आरम्भ होता है ।

अष्टसाहस्रिका, पञ्चविंशतिसाहस्रिका तथा शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिताओं में 'भूमियों' का विवरण कुछ अधिक परिष्कृत और विकसित प्रतीत होता है । यह उल्लेखनीय है कि शतसाहस्रिका में दस हीनयानीय भूमियों के नाम दिये गये हैं—
 धुक्कविदशानाभूमि, गोत्रभूमि, अष्टमकभूमि, तनुभूमि, बीतरागभूमि, कृताचीभूमि, प्रत्येक बुद्धभूमि, बोधिसत्त्वभूमि, बुद्धभूमि । इनमें पहली सात भूमियाँ ऊपर निर्दिष्ट

महासुपरसि की सूची में उपलब्ध होती है। बोधिसत्त्व की भूमियों का परिनिष्पन्न विवरण 'दशभूमिकसूत्र' में मिलता है। इस सूत्र का चीनी अनुवाद ई० २०५-२१६ के बीच सम्पन्न हुआ था। 'बोधिसत्त्वभूमि', 'सुखालंकार' तथा 'मध्यमकावतार' में भूमि-विवेचन 'दशभूमिक सूत्र' का ज्ञेय है। हीनयान की साधना का पर्यवसान पुद्गल-नैरात्म्य के बोध के द्वारा अर्हत्व की प्राप्ति में होता है। यही हीनयान का चतुर्थ मार्ग-फल अथवा सप्तमो भूमि है। इतनी प्रगति पहली छः माहायानिक भूमियों में सम्पन्न होती है। इसके अनन्तरवर्ती चार भूमियों में महायान की धर्म-नैरात्म्य तथा बुद्धत्व की ओर विशिष्ट साधना अघसर होती है।

बोधिसत्त्वचर्या—बोधिसत्त्व की चर्या तीन भागों में विभक्त की जा सकती है—परिकर्म अथवा उपचार जो कि आध्यात्मिक महत्वाकांक्षा तथा तय्यारी की अवस्था है, पहली सात बोधिसत्त्व-भूमियाँ, अन्तिम तीन भूमियाँ। पहली अवस्था बोधिसत्त्व-भूमि में 'प्रकृतिचर्या' कही गयी है और द्विधा विभक्त की गयी है—गोत्रभूमि तथा अधिभुक्तिचर्या। पूर्व-कर्म के सम्प्रिण्डित प्रभाव से व्यवस्थित नैतिक और आध्यात्मिक स्वभाव ही 'गोत्र' कहलाता है। महायान में सम्प्रस्थित होने के लिए एक विशेष प्रकार की अभ्युन्नत आध्यात्मिक प्रवृत्ति आवश्यक है—द्वेष-विराड्मूढ, सहिष्णु, करुण, भद्रमौल। असङ्ग का कहना है—'कारुण्यमधिभुक्तिरथ क्षान्तिश्चादि प्रयोगतः। समाचारः सुमत्स्याणि गोत्रे लिङ्गं निरूप्यते ॥ चतुर्विधं लिङ्गं बोधिसत्त्वगोत्रे। आदि-प्रयोगत एव कारुण्यं सत्त्वे। अधिभुक्तिर्महायानधर्मक्षान्तिर्दुष्करचर्यायां सहिष्णुतायेन। समाचारस्य पारमितामवस्थ कुशलस्येति'। (सुखालंकार, ३.५.) अर्थात् बोधिसत्त्वगोत्र के चार लक्षण हैं—प्राणियों पर करुणा, महायान के प्रति स्नेहा, और उत्साह, कठोर चर्या में सहिष्णुता, पारमितारूप कुशल-कर्म का आचरण। बोधिसत्त्व-गोत्र की मुलता सोने और जवाहिरात की ज्ञान से की गयी है। जैसे सुवर्ण-गोत्र प्रभूत, प्रभास्वर, निर्मल और कर्मण्य सुवर्ण का आश्रय होता है, ऐसे ही बोधिसत्त्व गोत्र अजमेय-कुशलमूर्तों का, ज्ञान का, क्लेश-निर्मल्य-प्राप्ति का, तथा अभिजातिप्रभाव का आश्रय है। महारत्नगोत्र ज्ञान, वर्णसम्पन्न, संस्थानसम्पन्न, तथा प्रमाणसम्पन्न रत्नों का आश्रय है। बोधिसत्त्व-गोत्र भी महाबोधि, महाज्ञान, आर्यसमाधि, तथा जन-कल्याण का आश्रय है। (वही, पृ० १२-१३)।

अधिभुक्ति अथवा अध्यायय बुद्धत्व की अभीप्सा है। करुणा तथा प्रज्ञा का कुछ विकास होने पर बार-बार यह आध्यात्मिक प्रेरणा उत्पन्न होती है तथा गोत्रस्य व्यक्ति को बोधिसत्त्वोचित कर्मों के पास ले जाती है। महाभ्युत्पत्ति में अधिभुक्तिचर्याभूमि के

साय चार अवस्थाओं का उल्लेख है—आलोकलम्बः, आलोकजुष्टिः, तत्त्वार्थकदेधानानु-
प्रवेशः, तथा आनन्तर्यसमाधिः ।

पहली बोधिसत्त्वभूमि शुद्धाशयभूमि अथवा 'प्रमुदिता' है । इसमें पुण्यजननत्व छूट
कर आर्यत्व का प्रारम्भ होता है तथा 'निषाम' की प्राप्ति होती है । स्पष्ट श्री हीनयान की
श्रोत आपत्ति से यह अवस्था तुलनीय है । इसमें बोधिचित्त के उत्पाद के द्वारा सायक
परमार्थतः बोधिसत्त्व तथा सम्बोधिपरायण हो जाता है । उसके पाँच भय निवृत्त हो
जाते हैं तथा वह अनेक "महाप्रणिधान" करता है—(१) सब बुद्धों के सर्वथा पूजन
का, (२) बुद्धशासन के परिरक्षण का, (३) तुषित-भवन-वास से लेकर महापरि-
निर्वाण तक सब बुद्ध-कर्मों के 'उपसंक्रमण' का, (४) सब बोधिसत्त्वभूमियों और-
पारमिताओं की चर्चा का, (५) सब सत्त्वों के आध्यात्मिक 'परिपाचन' (विकास में
सहायता) का, (६) सब लोकधातुओं और दिग्-धिभागों के विभेद के प्रापण का,
(७) सब बुद्ध-श्रेष्ठों के परिशोधन का, (८) महायान में अवतरण का, (९) अमोघ-
पोषता का, (१०) जन्म-मरण से महापरिनिर्वाण तक के कर्मों के लोकोपदर्शन का ।
इसी भूमि से बोधिसत्त्व में भूमियों की परिशुद्धि के कारक दस-धर्मों का प्रकाश होता है—
त्याग, कल्याण, अपरिखेद, अमान, सर्वशास्त्राध्यामिता, विष्णु, लोकानुज्ञा, और धृति ।
स्वानान्तर में इन धर्मों की दूसरी सूची इस प्रकार दी गयी है—अध्याशय, सर्वसत्त्व-
समचित्तता, त्याग, कल्याण-मित्र-सेवना, धर्मपर्येष्टि, अनीक्षण नैष्कर्म्य, बुद्धकायस्मृता,
धर्म-विवरण, मानस्तम्भननिर्पातन, सत्यवचन । बोधिसत्त्व बुद्धों का प्रत्यक्ष तथा उनके
शासन का पालन करते हैं । विभिन्न भूमियों में इनमें नाना प्रभाव अथवा तलों का
आविर्भाव होता है—निष्क्रमण का सामर्थ्य, समाधियों का बल, बुद्धों के दर्शन की
शक्ति, निर्मित-कार्यों का पहिचानना, लोक-धातुओं को कोषना, अथवा अवभासित
करना, निर्माण-काय प्रदर्शित करना, अनेक कल्पों तक जीवित रहना ।

दूसरी भूमि 'विमला' अथवा अधिशील-विहार कही गयी है । इसमें दस चित्ता-
शयों के विकास से प्रतिष्ठा होती है—कज्जु, मृदु, कर्मण्य, दम, शम, कल्याण, असंगृष्ट,
अनपेक्ष, उदार, और माहात्म्य । तीसरी भूमि अधिचित्त-विहार अथवा प्रभाकरी कही
गयी है जिसमें भावनीय चित्ताशय इस प्रकार हैं—शुद्ध, स्थिर, निर्विदु, अविराग,
अविनिवृत्त, दृढ़, उत्पन्न, अतृप्त, उदार और माहात्म्य । इस भूमि में बोधिसत्त्व ध्यान,
ब्रह्म-विहार, अभिज्ञा आदि का अभ्यास करते हैं । उनके अकुशलमूल तथा दुष्टि-
संयोजन सर्वथा नष्ट हो जाते हैं । यह स्मरणीय है कि त्रिमुद्रिमग्न के अनुसार भी
अधिचित्त-विहार अनागामिता को ले जाता है । पाँच औरम्भागीय संयोजनों का इस
प्रकार सय हो जाता है ।

चौथी भूमि 'अचिप्पती' है, पांचवी 'सुदुर्जया', छठी अभिमुत्ती। ये तीनों अभिप्रस-विहार हैं। अचिप्पती में बोधिपाक्षिक धर्मों की भावना होती है, सुदुर्जया में आर्य-सत्तों की, अभिमुत्ती में प्रतीत्यसमुत्पाद की। अचिप्पती में प्रवेश दस 'धर्मालोकों' के द्वारा होता है। ये धर्मालोक नाना धानुओं में प्रतिबिम्ब हैं—सत्त्वधानु, लोकधानु, धर्मधानु, आकाशधानु, विज्ञानधानु, कामधानु, रूपधानु, आरूपध्वानु, उदारारूपध्वानु, पाधिमुक्तिधानु, माहात्म्याध्वानुपाधिमुक्ति धानु। इस भूमि में सत्कायदृष्टि छूट जाती है। सुदुर्जया में प्रवेश चित्ताशयविशुद्धिसमता के लाभ के द्वारा होता है। इस समता के विषय अनेक हैं—अतीतानागतप्रत्युत्पन्न बुद्धों के शासन, शील, दृष्टि-विचिकित्सा-ग्रहाण इत्यादि। इस भूमि में बोधिसत्त्व गणित आदि लौकिक शास्त्रों का भी अध्ययन करते हैं। अचिप्पती में बोधपारमिता का तथा सुदुर्जया में ध्यान-पारमिता का विशेष अभ्यास सम्पन्न होता है। अभिमुत्ती में दस प्रकार की समता का बोध होता है—अनिमित्त, असंज्ञ, अनुत्पाद, अज्ञात, विभक्त, आदिविमुक्त, तिष्ठपर्यव, अनाग्रह-निर्पूत, भावास्वन्नप्रतिभासप्रतिश्रुत्कोपम, भावामावाहय। इस अवस्था तक छः पार-मिताओं का अभ्यास परिनिष्ठित होता है।

सातवीं भूमि 'दूरज्जमा' कहाँ गयी है। इसमें पिछली भूमियों की परिणति होती है। इसमें आभोग और अभिसंस्कार दोष रहते हुए भी निनिमित्त विहार होता है। बोधिसत्त्व को इस भूमि में सर्वथा सत्त्वेष अथवा अत्त्वेष नहीं कहा जा सकता।

'अचला' भूमि में अनुत्पत्तिकथमंशान्ति का आधिर्भाव होता है तथा अनाभोग-निनिमित्त-विहार सम्पन्न होता है। स्वयं अचल होते हुए भी लोकोत्तर-व्यक्तिता से बोधिसत्त्व अप्रमाणकायविभक्ति तथा सत्त्वपरिपाचन करते हैं। 'साधुमती' में बोधि-सत्त्व शान्ताधिर्भावा से असंनुष्ट हो प्रतिसंविद्-विहार करते हैं। 'धर्ममेवा' नाम की दसवीं भूमि में बोधिसत्त्व का सर्वज्ञता में अभियोग होता है। तथागत-निःसृत प्रभा से यह अभियोग सम्पन्न होता है। इसके अनन्तर बोधिसत्त्व को इस एक प्रकार से बुद्ध अथवा तथागत कहा जा सकता है यद्यपि उनमें तारतम्य-भेद अभी बना रहता है।

असंग ने इन भूमियों के नाम इस प्रकार समझाये हैं—

“पश्यता बोधिमातङ्गां सत्त्वार्यस्य च साधनं ।
 तीर्थ उत्पद्यते मोदो मुदिता तेन कम्पते ॥
 वोऽशीत्याभोगवर्धमानपाद्विमला भूमिरुच्यते ।
 महाधर्माविभासस्य करणाम्ब प्रनामकरी ॥
 अधिर्भूता यतो धर्मा बोधिपलाः प्रवाहकाः ।
 अचिप्पतीति तथोपात्ता भूमिर्द्वयदाहृतः ॥

सत्त्वानां परिपाकश्च स्वचित्तस्य च रक्षणम् ।
 धौमद्विभज्यते बुद्धं बुद्ध्या तेन कथ्यते ॥
 आभिमुख्याद् द्वयस्येह संसारस्यापि निवृत्तेः ।
 उक्ताह्यभिमुखौ भूमिः प्रज्ञापारमिताश्रयात् ॥
 एकाग्रनयनश्लेषाद्भूमिर्भूरंगमा मता ।
 द्वयसंज्ञाविचलनावचना च निरूप्यते ॥
 प्रतिसंक्षिप्तातिशयत्वाद्भूमिः साधुमती मता ।
 धर्ममेधाद्वयव्याप्लेधर्माकाशस्य मेधयत् ॥”

इस पर विचार करने से यह ज्ञात होगा कि इन भूमियों से अधिकांश के नामों में अन्वर्थता प्रस्कृत नहीं है। विमला, अचला, तथा धर्ममेधा अपवाद हैं। वस्तुतः बोधिसत्त्व-भूमियों का स्वरूपतः आधिष्कार प्राचीन है, उनका इस प्रकार नामकरण उत्तरकालीन। पहले भी प्रकारान्तर से विदित होने के कारण इन भूमियों के परिष्कृत नामकरण में अन्वर्थता सर्वत्र अपेक्षित नहीं थी।

पारमिताएँ—चन्द्रकीर्ति ने मध्यमकाव्यतार में भूमियों का पारमिताओं के साथ इस प्रकार सम्बन्ध प्रतिपादित किया है—प्रमुदिता, दानपारमिता; विमला, शील; प्रज्ञाकरी; खान्ति; आचिन्मती; धीर्मे; मुहुर्बया; ज्ञान; अभिमुखी; प्रज्ञा; दूरज्जमा; उपायकौशलपारमिता; अचला; प्रणिधान, साधुमती; बल, धर्ममेधा; ज्ञान। महा-व्युत्पत्ति में ये दस पारमिताएँ परिणमित हैं।

यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि बोधिचित्तोत्पाद के साथ बुद्धों और बोधिसत्त्वों की ‘अनुत्तरपूजा’ का विधान था। इसमें बुद्धादि की वन्दना, पापदेहना, पुष्पानुमोदना, अभ्येक्षणा, वाचना आदि संगृहीत है। बोधिसत्त्वचर्या का एक बड़ा और महत्त्वपूर्ण भाग प्रसिद्ध छः पारमिताओं की भावना है। इनमें प्रथम और धीर्मेस्थान दान अपवाद कथना का है। यही पारमिता महापान की प्रवर्तिका है। यही परम ‘उपाय’ और ‘संश्लेषस्तु’ है। बोधिचित्त का उत्पादन इसकी चरम अभिव्यक्ति है। बोधिसत्त्व को अपने कार्यों का अन्तिम नियामक कथना की ही भावना मानना चाहिए। ‘निधिद्वम-प्यनुशातं कृपाक्षोरधर्मिणः ॥’

शील-भावना का प्रयोजन आत्मभावरक्षा है जिससे बोधिसत्त्व पर-कल्याण में समर्थ हो सके। शील अरक्षित होने पर निन्दा, अनादर, अपवादादिक का कारण बन जाता है, जोकि धर्म-प्रचार को असम्भव बना देते हैं। शील निवृत्तिरूप भी है, प्रवृत्ति-रूप भी। शील के मुख्य अंग हैं—अल्पजपा, ह्रीं, अथवा के पद्यात् मुधार, तथा धर्म के लिए आदर।

शान्ति विविध है—दुःखाधिवासनाशान्ति, परापकारमयंगशान्ति, धर्मनिध्यान-शान्ति । इनमें पहली शान्ति दुःख का सहना है, दूसरी धर्मा है, तीसरी धर्मस्वभाव का बोध है । जब उपदेश-श्रवण से धर्म-निध्यान-शान्ति उत्पन्न होती है, तो उसे 'षोपानु-माशान्ति' कहा जाता है, विचार से उत्पन्न होने पर 'आनुलोमिकी' । इसका परम रूप अनुत्पत्तिक-धर्म-शान्ति है ।

बीज अथवा कुशलतोत्साह के बिना बोधिचित्त का विकास ही न हो पावेगा । एतदर्थं छन्द, सुमछन्द, अथवा धर्मच्छन्द की भावना आवश्यक है । अपनी दुर्बलताओं के प्रति आत्मबहिष्कार का भान पुरस्कृत करना चाहिए । कर्म में रति होनी चाहिए तथा अप्रमाद ।

ध्यानपारमिता में परम्परागत ध्यान और समापत्तिर्मा, चार अथवा दो सत्थों का अनुसन्धान, तथा स्मृत्युपस्थान समूहोत्त है । शान्तिदेव ने इस प्रसंग में 'परात्मसमता' तथा 'परात्मपरिवर्तन' की भावना का वर्णन किया है ।

प्रज्ञापारमिता या पारमार्थिक ज्ञान बोधिसत्त्वों में केवल बीजावस्था में ही सम्भव है । उसकी फलावस्था केवल बुद्धों में उपलब्ध होती है ।

अध्याय १०

महायान का दर्शन—शून्यवाद

महायान के पूर्व शून्यता

एक प्रकार से माध्यमिक दृष्टि एवं शून्यता अथवा नैरात्म्य की धारणा प्राचीनतम काल से ही बौद्ध धर्म में उपलब्ध होती है। मूल बुद्धदेशना में सत् और असत्, दोनों का ही निराकरण किया गया है तथा परमार्थ को अनिमित्तक्य बताया गया है। परमार्थ की सत् और असत् के परे अनिर्वचनीयता ही माध्यमिक दृष्टि की विशेषता है। मनुष्य की तर्कबुद्धि सत्य के सम्यक् बोध में अक्षम है क्योंकि वह सदैव अन्तर्ग्राहिणी है। वह अपरिच्छिन्न, अनन्त सत्य को आत्मसात् नहीं कर पाती। तर्कबुद्धि के इस अस्ति-नास्ति-युक्त नाना पदार्थमय जगत् की अपारमाधिकता उपनिषदों में कुछ स्थलों पर प्रतिपादित की गयी है, तथा प्रकारान्तर से यही परम्परा बौद्ध धर्म के अन्तर्गत एवं विकसित हुई। बुद्ध के मूल उपदेशों में ईतमय जगत् का मिथ्यात्व स्पष्टतः प्रतिपादित नहीं था। अतः प्रायः प्राचीन हीनयानी सम्प्रदायों में भी शून्यता एवं नैरात्म्य को एक सीमित अर्थ में ग्रहण किया गया है। मनुष्य एक प्रकार का 'संघात' एवं 'सन्तान' है, एक प्रवाहगत समूह। उसके विभिन्न 'स्कन्धों' में किसी स्थिर आत्मा अथवा जीव की कल्पना नहीं करनी चाहिए। देह, इन्द्रियाँ अथवा मन, पृथक्-पृथक् सत्ता रखते हैं जिनकी समष्टि ही लोकप्रचलित आत्मा अथवा अहं की प्रतीति का आधार है। यही पुद्गल-नैरात्म्य कहा जाता है। स्थण्ड, धातु, आमतन आदि में किसी जीव अथवा पुद्गल का अभाव ही उद्गत शून्यता है। फलतः हीनयान में शून्यता अथवा नैरात्म्य का अर्थ प्रायः जीव अथवा आत्मा का अभाव-भाव है।

प्रज्ञापारमिता सूत्रों में

प्रज्ञापारमिता-सूत्रों में शून्यता अथवा नैरात्म्य की इस धारणा का विस्तार किया गया है। किसी भी पदार्थ का अपना कोई स्वभाव नहीं है। वह स्वभावशून्यता ही वास्तविक शून्यता अथवा नैरात्म्य है। इस अर्थ-विस्तार से न केवल जीव अथवा आत्मा का लय हो जाता है अपितु समस्त पदार्थों का भी। अतएव इसे 'धर्मनैरात्म्य' भी कहा

जाता है। वहीं प्रज्ञापारमिता-सूत्रों में एक और अनाद्यत्मक शून्यता का यह सर्वसाही विरुद्ध रूप प्रदर्शित है वहीं दूसरी ओर शून्यता को प्रज्ञापारमिता से अभिन्न प्रतिपादित किया गया है। प्रज्ञापारमिता वस्तुतः निर्विकल्पक साक्षात्कारात्मक ज्ञान है जिसमें समस्त भेद, द्वैत, प्रमेयता एवं अभिधेयता, प्रलीन हो जाती है। 'निर्विकल्पे नमस्तुभ्यं प्रज्ञापारमितेर्मिते।'।

जम्बूसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता के प्रारम्भ में ही सुमूर्ति की यह अद्भुत उक्ति मिलती है कि 'तमप्यहं भगवन् धर्म्यं न समनुपश्यामि यदुत प्रज्ञापारमिता नाम।'। सुमूर्ति का भाष्य यह है कि अस्तित्व एवं नास्तित्व पारमार्थिक बोध के बहिर्भूत है। वस्तुतः बोधिचित्त अचित्त ही है। इस 'अचित्त-चित्त' में अस्तित्व एवं नास्तित्व की उपलब्धि नहीं होती। यह 'अचित्ता' निर्विकार एवं निर्विकल्प है। यही वास्तविक प्रज्ञापारमिता है। इसके विपरीत अविद्या है जो अविद्यमान धर्मों की ही सत्त्व-कल्पना करती है। साधारण लोक अविद्या में निमग्न हैं। वे अविद्यमान जगत् की कल्पना कर अस्ति और नास्ति के दो अन्तों में अभिनिविष्ट होते हैं और इस प्रकार संसारी बनते हैं। वस्तुतः सब धर्म मान्यमान हैं। सब धर्मों की मायोपमता का यह सिद्धान्त अत्यन्त गंभीर है तथा इससे नये बोधिसत्त्व तक उद्दिग्ध हो जाते हैं। शून्यता ही वास्तविक गंभीरता है। कोई भी पदार्थ वस्तुतः उपलब्ध नहीं होता, न वस्तुतः उत्पन्न होता है, न वस्तुतः निरुद्ध होता है; केवल अज्ञानबुद्धाचित्त में ही नायात्व भासित होता है। समस्त व्यावहारिक जगत् विकल्प-सापेक्ष, विकल्पित है। ५

प्रज्ञापारमिता सूत्रों में अनेक स्थलों पर १८ प्रकार की शून्यता का उल्लेख है—अध्यात्म-शून्यता, बहिर्धा-शून्यता, अध्यात्म-बहिर्धा-शून्यता, शून्यता-शून्यता, महा-शून्यता, परमार्थ-शून्यता, संस्कृत-शून्यता, असंस्कृत-शून्यता, आपन्न-शून्यता, स्वलक्षण-शून्यता, अनवराग-शून्यता; अनवकार-शून्यता, प्रकृति-शून्यता, सर्वधर्म-शून्यता, अनुपलम्भ-शून्यता, अभाव-शून्यता, सर्वभाव-शून्यता, एवं अभाव-स्वभाव-शून्यता। यह स्पष्ट है कि शून्यता के ये नाना प्रकार शून्यता के अभ्यन्तर किसी प्रकार का वास्तविक वर्णोक्ति उपस्थित नहीं करते। यदि शून्यता को केवल अभाव कहा जाए तो प्रश्न उठता है 'किसका अभाव?' इसके उत्तर में नाना पदार्थों का परिचयन कर उनका अभाव बताया जा सकता है। अभाव को स्वयं एक पदार्थ माननेवाले नैयायिक भी उसे भाव-सापेक्ष मानते हैं तथा नाना अभावों का उनके 'प्रतियोगियों' के उल्लेख के द्वारा पृथक् निर्देश करते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि भाव-जगत् की छाया के समान एक अभाव-जगत् भी कल्पनीय है। किन्तु माध्यमिकों को न अभाव की पदार्थता स्वीकार्य है, न भाव की। विभिन्न भाव-पदार्थों के अभाव को शून्यता कहने के साथ-

साथ वे अभाव एवं शून्यता की शून्यता का प्रतिपादन करते हैं तथा उसे शून्यता से अभिन्न मानते हैं। यदि किसी पूर्व अन्वयगत स्वभाव के बिना केवल विमृष्ट अभाव निरर्थक है तो यह भी मानना होगा कि स्वभाव का निर्धारण बिना अभाव के आवरण के असम्भव है। स्वभाव-परिच्छेद स्वयं प्रतिषेधपूर्वक है—'विदरमिनेशियो एस्ट निवेशियो (determinatio est negatio) ! असत्ता की रेखा से ही अशेष सत्तामय जगत् का चित्र आलिखित होता है। यही स्वभाव-शून्यता पारमार्थिक शून्यता है।

प्रज्ञापारमिता-सूत्रों में शून्यता के सिद्धान्त का सुश्लिष्ट एवं तार्किक प्रतिपादन नहीं किया गया है। अनन्त पुनरुक्ति के द्वारा हीनवान-सम्मत विभिन्न धर्मों का मिश्रमात्र एवं विकल्पप्राप्ति चित्त की परमार्थ में अनुपयोगिता वहाँ उद्घोषित की गयी है। उन्हें पढ़ने से पाठक के मन में बराबर यह धारणा उत्पन्न होती है कि 'स्वभाव' मिथ्या है एवं सत्य का निर्विकल्प चित्त में ही साक्षात्कार हो सकता है, यद्यपि यह साक्षात्कारात्मक बोध अनिवार्यनीय है। वहाँ तक कि स्वयं इस बोध की सत्ता के विषय में चर्चा भी इसे जागतिक एवं असत्य बना देती है। इसीलिए सुमूर्ति ने ऊपर उद्धृत उक्ति में प्रज्ञापारमिता का भी अपलाप किया है। शून्यता सचमुच अमिषत् सर्वप्राप्तिनी है, यहाँ तक कि आत्मप्राप्तिनी भी और उसका निष्कर्ष मौन में ही हो सकता है जैसा कि विमलस्वीतिसूत्र में प्रतिपादित है जहाँ बोधिसत्त्व विमलस्वीति ने संजुधी आदि के द्वारा तत्त्वनिरूपण के आग्रह का उत्तर वयमीन के द्वारा दिया।

अन्य महायानसूत्र—जिस प्रकार उपनिषदों में अथवा प्राचीन हीनवानी सूत्र-साहित्य में विविध दार्शनिक बीज उपलब्ध होते हैं, उसी प्रकार महायान-सूत्रों में भी अनेक परधर्मी बौद्ध दार्शनिक परम्पराओं की मूलप्रेरणा देखी जा सकती है। इन सूत्रों के अनुसार बौद्धसत्त्व को चाहिए कि वह हीनवान-प्रोक्त सब धर्मों में नैरात्म्य अथवा शून्यता की भावना करे। इस प्रकार के उपदेश की विधा व्याख्या की जा सकती है। एक ओर यह कहा जा सकता है कि जगत् के सभी प्रतीयमान पदार्थ, अथवा बौद्धिक विचार के द्वारा व्याख्यापित तत्त्व, अपारमार्थिक हैं, उनमें कोई स्मर, पृथक् स्वभाव नहीं है। यह विमृष्ट धर्म-नैरात्म्य है अथवा धर्म-शून्यता है। दूसरी ओर इसीको प्रकारान्तर से कहा जा सकता है—सब धर्म कल्पित अथवा विकल्प-सापेक्ष हैं। किन्तु ऐसा कहने पर यह ध्वनित होता है कि विकल्पात्मक चित्त ही प्रागर्थात् आशम्बर का सृजकार है। बोधिसत्त्व की योगचर्या में साधना का स्थान तथा योगसत्य निर्माणाशक्ति चित्त के अद्भुत महत्त्व का समर्थन करते हैं। इस प्रकार बोधिसत्त्व-चर्या से सम्बद्ध धर्म-नैरात्म्य की भावना का दार्शनिक आधार द्विविध सिद्ध होता है—सब 'धर्मों' की असारता, तथा चित्त की प्रधानता। संकाशतार, धनम्पूह, सन्निविशोषन आदि

सूत्रों में इस चित्तवादी दूसरे पक्ष का न्यूनाधिक स्पष्टता से विवरण दिया गया है। पहले शून्यवादी पक्ष का नागार्जुन ने विस्तृत एवं युक्तियुक्त प्रतिपादन किया। दूसरे योगाचार-विज्ञानवादी-पक्ष का विस्तार सर्वप्रथम मैत्रेयनाथ ने किया। यह स्मरणीय है कि शून्यवाद तथा योगाचार-विज्ञानवाद दोनों का ही एक संयुक्त मूल है तथा उनका प्रारम्भिक विभेद अल्प था। इसके समर्पण में यह उल्लेखनीय है कि प्रसिद्ध माध्यमिक आचार्य जार्यदेव के ऋतुशतक को 'बोधिसत्त्व-योगाचार-शास्त्र' कहा गया है। इस पर एक ओर आचार्य वसुबन्धु ने व्याख्या लिखी थी, दूसरी ओर मैत्रेयनाथ ने नागार्जुन के 'महसंक्रान्ति' पर व्याख्या लिखी तथा नागार्जुन से असंग, वसुबन्धु एवं स्मिरमति में उद्धरण पाये जाते हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि परवर्ती काल में माध्यमिक, योगाचार एवं सौत्रान्तिकों के पारस्परिक प्रभाव से अनेक 'संकीर्ण' मतों का आविर्भाव हुआ; उदाहरणार्थ, शान्त-रक्षित को माध्यमिक भी कहा जा सकता है, विज्ञानवादी भी। स्वयं मैत्रेयनाथ की रचनाओं में उत्तरतन्त्र को माध्यमिक-प्रासंगिक तथा अभिसमया-संसार को योगाचार—माध्यमिक-स्वातन्त्रिक कहा गया है। असंग ने भी मध्यमक-कारिकाओं पर मध्यमकानुसार नाम की व्याख्या लिखी जिसका गीतम प्रज्ञाकवि ने चीनी में अनुवाद किया। वस्तुतः मैत्रेय तथा असंग, दोनों की रचनाओं में शून्यवाद के अविरोध से योगाचार का प्रतिपादन किया गया है।

नागार्जुन-जीवनी

'संक्रान्तारसूत्र,' 'महामेघसूत्र,' 'महाभिरीसूत्र' एवं 'मंभुक्षीमूलकस्य' में नागार्जुन के विषय में प्रशिष्यवाणी उपलब्ध होती है। संक्रान्तार के अनुसार नाग नाम का भिक्षु परिनिर्वाण के बहुत समय पश्चात् दक्षिणापथ में सत् और असत् का प्रतिषेध करते हुए महायान का प्रचार करेगा। चीनी परम्परा के अनुसार नागार्जुन आचार्य-परम्परा में बारहवें से तथा उनका काल परिनिर्वाण के ७०० वर्ष पश्चात् था। महामेघसूत्र के अनुसार परिनिर्वाण के ४०० वर्ष अनन्तर एक लिच्छवि नाम नाम का भिक्षु श्वेता तथा धर्म का विस्तार करेगा। वही पीछे प्रसन्नप्रभाव नाम की लोकघातु में ज्ञानाकरप्रभ नाम का बुद्ध हुआ, यह कहा गया है। महामेघ में यह भी उपलब्ध होता है कि दक्षिणापथ में श्वपिल नाम के जनपद में विपत्ति-चिकित्सक नाम का राजा होगा। उसके ८० वर्ष के होने पर अनुत्तर धर्म लुप्तप्राप्त हो जायगा। उसी समय सुन्दरमति नाम की क्षुद्र मदी के उत्तरी तट पर महाकालक ग्राम के निकट एक लिच्छवि कुमार उत्पन्न होगा तथा धर्म की व्याख्या करेगा। यह कुमार नामकुल प्रदीप नाम के बुद्ध के सम्मुख

प्रणिधान करेगा। यह स्पष्ट नहीं है कि वहाँ नागार्जुन की ओर संकेत है। यह भी कहा गया है कि महाभेरीसूत्र में नागार्जुन के द्वारा ८वीं भूमि की प्राप्ति उल्लिखित है।

कुमारजीव ने नागार्जुन की जीवनी चीनी में लगभग ४०५ ई० में अनूदित की थी। इसके अनुसार नागार्जुन दक्षिणात्य ब्राह्मण थे। उन्होंने न केवल वेदों का अध्ययन किया अपितु अन्य अनेक विद्याओं में अपूर्व गति प्राप्त की। अलौकिक शक्ति के द्वारा वे अदृश्य हो सकते थे। अपने तीन मित्रों के साथ उन्होंने इस विद्या के अप्रयोग के द्वारा राजकीय अवरोध में अनुचित प्रवेश किया, किन्तु उनके पदचिह्नों के सहारे यह अपराध पकड़ा गया। नागार्जुन के तीनों मित्रों को दण्ड हुआ, वे स्वयं मन ही मन भिक्षु बनने का संकल्प कर भाग निकले। इस संकल्प के अनुकूल उन्होंने प्रज्ञाया ग्रहण की तथा त्रिपिटक ९० दिन में पढ़ लिये एवं उसके अर्थ हृदयंगम कर लिये तथापि असन्तुष्ट रहने पर उन्होंने और सूत्रों की खोज की। अन्ततः हिमालय में उन्हें एक स्वविर मिश्रु से महायान-सूत्र-ज्ञान हुआ। नागराज की सहायता से उन्हें इस महायानसूत्र पर एक व्याख्या भी उपलब्ध हुई। इसके अनन्तर उन्होंने ३०० वर्षों से अधिक सद्धर्म का प्रचार किया। नागार्जुन का समकालीन एक राजा था जिसे उन्होंने सिद्धि-प्रदर्शन के द्वारा सद्धर्म में दीक्षा दी। उन्होंने नाना शास्त्रों की रचना की जिनमें तन्त्र एवं चिकित्साशास्त्र भी उल्लिखित हैं।

श्वान्वांग (वाट्स, जि० २, पृ० २००-६) के अनुसार दक्षिण कोसल की राजधानी के अनतिदूर अशोक के द्वारा निर्मित एक प्राचीन स्तूप था। इससे सम्बद्ध संघाराम में नागार्जुन बोधिसत्त्व निवास करते थे। उस समय सातवाहू नाम का राजा शासन करता था और वह नागार्जुन का भक्त था। यहीं सिंह से समागत देव बोधिसत्त्व ने आर्य नागार्जुन के दर्शन किये। नागार्जुन रसायन-शास्त्र में सिद्ध थे। उन्होंने अत्यन्त दीर्घ आयु प्रदान करनेवाली एक सिद्धबटी का आधिष्ठातृ किया था। सातवाहू राजा ने भी इसका सेवन किया और उनके पुत्र ने पिता की दीर्घ आयु से प्रसन्न होकर बोधिसत्त्व नागार्जुन से उनके स्तिर की दक्षिणा माँगी, जिसे आचार्य ने पूरा किया। इस स्थान से दक्षिण-पश्चिम की ओर श्वान्वांग ने भ्रमरगिरि नाम के पर्वत का उल्लेख किया है। यहीं सातवाहन राजा ने नागार्जुन के लिए एक संघाराम का उद्घाटन किया। इस विहार के विवरण से इसकी प्रभूत समृद्धि झलकती है। इसके निर्माण में नागार्जुन की अलौकिक शक्ति ने राजा की सहायता की थी। धान्यकटक में श्वान्वांग ने नागा-

जून के परवर्ती अनुयायी भावनिबेक के निवास का उल्लेख किया है। यह स्मरणीय है कि जम्माघीट के स्तूप के निकट प्राप्त एक लेख में भदन्त नागार्जुनाचार्य का उल्लेख मिलता है। राजतरंगिणी में कर्नूल के पछईद्वन (आधुनिक हारवन) को नागार्जुन का निवास बताया गया है।

बुद्धो (पृ० १२०-३०) के अनुसार बुद्ध के परिनिर्वाण के ४०० वर्ष पश्चात् दक्षिणापस के विदर्भ जनपद में एक समूह, किन्तु सन्तानहीन ब्राह्मण रहता था। उसे स्वप्न में आनास हुआ था कि वह यदि १०० ब्राह्मणों को धार्मिक भोजन में निर्मज्जित करे तो उसके पुत्र उत्पन्न होगा। इसका अनुसरण करने पर उसे पुत्रलाल हुआ। इस पुत्र के विषय में ज्योतिर्विदों ने कहा कि वह १० दिन से अधिक कदाचित् जीवित न रह पाये। पुनःपि १०० ब्राह्मणों को खिलाने से आयु की वृद्धि सम्भव बतायी गयी। सातवें वर्ष के निकट होने पर, जबकि इस बालक का निधन ज्योतिर्विदों द्वारा बताया गया था, उसके माता-पिता ने उसे एक सेषक के साथ परिभ्रमण के लिए बाहर भेज दिया ताकि के स्वयं उसकी मृत्यु को देखने से बच जायें। इस प्रकार घर से प्रव्रजित वह बालक क्रमशः मालदा के द्वार तक पहुँचा। वहाँ उससे प्रभावित होकर सारह नाम के ब्राह्मण ने उसपर अनुकम्पा की और उसे वास्तविक प्रव्रज्या प्रदान की। बालक को अमितायु के मंडल में दीक्षित किया गया और अमितायु-वारणी का उपदेश किया गया। इसके प्रभाव से बालक का अनिष्ट कट गया। मालदा के बिहारस्वामी राहुलमद्र के अनुग्रह से उसे उपसम्पदा प्राप्ता हुई तथा उसका भिक्षु केक्ष्म में श्रीमान् नाम हुआ। कुछ समय पश्चात् मालदा में भारी अकाल पड़ा। इस अवसर पर श्रीमान् ने रसायन की सहायता से स्वर्ण प्राप्त किया तथा उसके द्वारा संघ का कार्य कर्णचित् अतिवाहित हो पाया, किन्तु संघ में यह बात विदित होने पर श्रीमान् को दंडित किया गया और यह आज्ञा दी गयी कि वह एक करोड़ विहारों का निर्माण करे। उस समय शंकर नाम के भिक्षु ने म्यामालंकार नाम का एक ग्रन्थ लिखा, तथा सबको तर्क में पराजित किया। उस भिक्षु को परास्त करने के लिए श्रीमान् ने धर्म की व्याख्या की तथा उसके मुग्धों के पश्चात् श्रोताओं में से दो बालक पृथ्वी के नीचे सहसा अन्तर्हित हो गये। यह पता चला कि वे दोनों नाग थे। इसके अनन्तर श्रीमान् ने नागलोक में अवतरण किया और वहाँ धर्म का उपदेश किया। नागलोक से ही वे अतसाहजिका प्रज्ञापारमिता तथा स्वल्पाक्षरा प्रज्ञापारमिता अपने साथ ले आये तथा उन्होंने एक करोड़ विहारों का निर्माण किया। इसी समय से वे नागार्जुन नाम से विख्यात हुए। पीछे पृथ्वधन में स्वर्ण उत्सादित कर उन्होंने प्रभूत भिक्षा-वितरण किया, वहीं उनका अनुगृहीत ब्राह्मण अपनी मृत्यु के अनन्तर नागबीधि

नाम के आचार्य के रूप में पुनः उत्पन्न हुआ। वहाँ में नामार्जुन परवेश नाम के पूर्वी जनपद में गये तथा अनेक नैत्यों का निर्माण किया। राजजनपद में भी उन्होंने ऐसा ही किया। फिर वे उत्तर-पूर्व गये। वहाँ जेतक नाम के एक बालक के शिष्य में उन्होंने यह भविष्यवाणी की कि वह राजा बनेगा। पूर्व देश में उन्होंने एक वृक्ष की शाखा पर अपने वस्त्र लटकाने और बोधे। इसके पश्चात् जब वह बालक राजा बन गया उसने नामार्जुन को बहुत-से रत्न दिये। नामार्जुन ने उसे प्रत्युपहार दिया। नामार्जुन ने वज्रासन के लिए हीरक जाल के समान एक वृत्ति बनायी तथा श्रीपालकटक के नैत्य का निर्माण किया। उन्होंने माध्यमिक दर्शन के प्रसार के लिए तर्कानुकूल माध्यमिक पास्तव का प्रणयन किया तथा अनेक माध्यमिक स्तोत्र लिखे। व्यावहारिक पक्ष में उन्होंने सूत्रसमुच्चय में आगमों के अनुकूल उपदेश किया, स्वप्न-चित्तामणि-भारिकया में गोवत्स आचर्यों को समुत्तेजित-सम्प्रवृत्त किया, सुहृल्लेख में उन्होंने उपासकधर्म बताया तथा बोधिगण नाम के ग्रन्थ में भिक्षुधर्म प्रकाशित किया। तंत्रसमुच्चय, बोधि-चित्तविवरण, पिंडीकृतसाधने, सूत्रमेलापक, मंडलविधि, पंचकम आदि ग्रन्थों को उन्होंने तांत्रिक दृष्टि से लिखा। योगशतक आदि उनके चिकित्साविषयक ग्रन्थ हैं। नीति शास्त्र में उन्होंने जनपोषणविन्धु तथा प्रज्ञाशतक की रचना की। रत्नावली में राजाओं के उपभोग के लिए महामान के सिद्धान्त और चर्चा का निर्देश किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने प्रतीत्यसमुत्पाद-चक्र, धूपयोगरत्नमाला आदि ग्रन्थों का निर्माण किया। व्याख्याओं में उन्होंने गुह्य-समाज-तुल्यटीका, शक्तिस्तम्ब-कारिका आदि लिखे।

उस समय अन्तीवाहन जयवा उदयनभद्र नाम के राजा का शक्तिमान् नाम का कुमार था। शक्तिमान् ने अपनी माता से यह सुना कि उसके पिता ने नामार्जुन की सहायता से अमृत की प्राप्ति की थी। इस पर कुमार श्रीपर्वत गया जहाँ आचार्य नामार्जुन निवास करते थे। आचार्य कुमार को उपदेश देने लगे। कुमार ने नामार्जुन का सिर काटना चाहा, किन्तु असफल रहा। आचार्य ने कहा—'कभी कुश के द्वारा एक कीड़ा मृक्षसे मार डाला गया था, उसके पाश मेरे ऊपर है। अतएव एक कुश से मेरा सिर काटा जा सकता है।' इस पर कुमार ने कुश से उनका सिर काट लिया। आचार्य की छिन्न शीवा से यह सुनायी दिया—'जब मैं सुभाक्ती-लोक-धातु चला जाऊँगा, किन्तु पीछे पुनः इस देह में लौट आऊँगा।' वह कुमार उनका सिर ले गया, किन्तु उससे एक वशी ने उसे लेकर आचार्य की देह से एक योजन की दूरी पर स्थापित कर दिया। देह और सिर क्रमशः एक-दूसरे के पास आते गये और अन्ततः पुनः जुड़ गये।

यदि इन सब विभिन्न परम्पराओं का आलोचन किया जाय तो यह प्रतीत होता है कि नागार्जुन कदाचित् दूसरी शताब्दी ई० में हुए थे, तथा कनिष्क एवं एक शातवाहन राजा के समकालीन थे। उनका मूल स्थान अन्ध्राप्रदेश में सम्भवतः धान्यकटक के समीप अथवा श्रीपर्वत पर मानना चाहिए। उनका नालंदा एवं कश्मीर से भी सम्बन्ध प्रतीत होता है। कदाचित् प्रसिद्धि के अनुकूल उन्होंने पर्याप्त परिभ्रमण किया था। यह सम्भव है कि शून्यवाद के प्रवर्तक नागार्जुन के अतिरिक्त एक अथवा एकाधिक अन्य आचार्य भी नागार्जुन के नाम से परवर्ती काल में प्रसिद्ध हुए जो कि तांत्रिक एवं रासायनिक थे, किन्तु जिन्हें दार्शनिक नागार्जुन से पृथक् स्मरण रखना कालान्तर में कठिन हो गया।

नागार्जुन की रचनाओं में महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र, 'मध्यमशकारिका,' तथा विषहृ-
व्यावर्तनी' का विशेष महत्त्व है। महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र में एक प्रकार के सर्वोच्च 'माहायानिक अभिधर्म' की भूमिका है। मैथेयनाथ के समान नागार्जुन ने भी प्रज्ञापार-
मितासूत्रों को एक रीतिबद्ध रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया। किन्तु वस्तुतः उनके शून्यवाद से इस किसी भी प्रकार के 'अभिधर्म' अथवा रीतिबद्ध दर्शन का सामंजस्य नहीं हो सकता। सम्भवतः इसी कारण साध्यमिक-दर्शन परम्परा में महाप्रज्ञापार-
मिताशास्त्र का स्थान नगण्य है। साध्यमिककारिकाओं में तथा विषहृव्यावर्तनी में नागार्जुन ने अपने विलक्षण तर्क के द्वारा समस्त अभिधर्म तथा तर्क का खण्डन किया है।

नागार्जुन की तर्कपद्धति—शून्यता के सिद्धान्त का रीतिबद्ध दार्शनिक प्रतिपादन सर्वप्रथम नागार्जुन ने किया। उन्होंने प्रज्ञापारमिता-सूत्रों का सार खींचकर एक सर्वोच्च दर्शनशास्त्र की रचना की। उन्होंने तर्क से ही तर्क का खण्डन किया तथा शून्यता को प्रतीत्यसमुत्पाद से अभिन्न बताया। उनके शब्दों में 'यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्षते ॥ रा। प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत्सैव मध्यमा ॥' उनके समस्त एक बड़ी समस्या थी—'शून्यता' स्वीकार करने पर तर्क ही नहीं किया जा सकता क्योंकि शून्यवादी किसी भी पक्ष को अपना ले तो शून्यता की ही हानि हो जाती है। अब 'प्रतिज्ञा'

३—चीनी त्रिपिटक में "ता किल्लेन्द" नाम से अनुवाद मिलता है। इ०—ऊपर।

उसका प्रेष अनुवाद सामांत के द्वारा, "स ज्ञेते व प्राद्वि वर्तु र साजेत"।

४—अभी तक दिल्लीयोचेका बुद्धिका में पुस्तों का संस्करण ही सर्वोत्तम है।

५—इ०—जे० बी० ओ० आर० एस०, २४-२; मैसांग शिन्वा ए बुद्धिक, जि० ९,
१९४८-५१, पृ० १९-१५२; नवनालन्दा महाविहार रिसर्च पब्लिकेशन,
जि० १।

हो नहीं की जा सकती तो युक्ति के द्वारा उसका साधन दूर की बात है। वस्तुतः शून्यता का उपदेश सब 'दृष्टियों' से छुटकारे के लिए है। यदि कोई शून्यता की भी दृष्टि बना लेता है तो वह असम्भव है—'शून्यता सर्वदृष्टीना प्रोक्ता निःसरणं विनै। येषां तु शून्यता दृष्टिः तानसाध्यान्वभाविरे ॥' समस्त शून्यवाद विकल्पात्मक तर्क-बुद्धि की सत्य के क्षेत्र से बाहर रख देता है। अतएव नागार्जुन शून्यता की सिद्धि तर्कबुद्धि एवं उसके स्वीकृत सिद्धान्त के निरास के द्वारा करते हैं। किसी भी वस्तु को सत्यता स्वीकार नहीं की जा सकती क्योंकि उसे स्वीकार करने पर अपरिहार्य रूप से विरोध प्रसक्त हो जाता है। इस प्रकार के तर्क को नागार्जुन और उनके अनुयायी 'प्रसंगापादन' अथवा 'प्रासंगिक' कहते थे। आधुनिक अभिप्रा में नागार्जुन की प्रणाली डायलेक्टिकल (dialectical) थी। उद्योतकर आदि ने माध्यमिक-सम्मत इस प्रकार की तर्क-प्रणाली को केवल 'नास्तिक चिंतन' कहकर उसका खण्डन किया है।

शून्यता की न्यायतः प्रतिपाद्यता : पूर्वपक्ष—विषहृष्यावर्तनी नाम के अल्पकाय ग्रन्थ में नागार्जुन ने शून्यवाद की न्यायतः प्रतिपाद्यता पर विचार किया है। प्रारम्भ में ही उन्होंने अपने विरोध में दी गयी प्रधान युक्ति का उल्लेख किया है—'यदि सभी पदार्थों में अपना स्वभाव अविद्यमान है तो तुम्हारे शब्द भी स्वभावहीन होने के कारण स्वभाव के खण्डन में असमर्थ हैं, और दूसरी ओर यदि तुम्हारी बात स्वभावयुक्त है तो तुम्हारी पिछली प्रतिज्ञा खण्डित हो जाती है।' चन्द्रकीर्ति ने भी इस तर्क को इस प्रकार प्रकट किया है—सब पदार्थों के अनुपाद का सिद्धान्त प्रमाणजन्य है अथवा अप्रमाणजन्य? पहले विकल्प में प्रमाणों के लक्षण आदि प्रस्तुत करना चाहिए। दूसरे विकल्प में 'सिद्धान्त' ही असिद्ध रहता है। रूप से माना जा सकता है। इस मौलिक कठिनाई का विश्लेषणपूर्वक उत्तर देने के लिए नागार्जुन ने विषहृष्यावर्तनी में अपने प्रतिपक्ष का विस्तार करते हुए पट्कोटिक आपत्ति का उल्लेख किया है—(१) यदि सब पदार्थ शून्य हैं तो उनकी शून्यता के प्रतिपादक वाक्य 'सब पदार्थ शून्य हैं' यह भी शून्य है क्योंकि वह भी सब पदार्थों में अन्तर्गत है और उसके शून्य होने पर सब पदार्थों की अशून्यता अवलत रहती है और ऐसी स्थिति में 'सब पदार्थ शून्य हैं' यह प्रतिपक्ष अनुप-पन्न हो जाता है। (२) दूसरी ओर यदि यह मान लिया जाय कि सर्वशून्यता की उक्ति उपपन्न है तो वह उक्ति स्वयं शून्य हो जायेगी तथा शून्य उक्ति के द्वारा शून्यता का प्रति-पादन नहीं हो पायेगा। (३) और यदि सब पदार्थ शून्य हैं तथा इसके साथ ही इस शून्यता की उक्ति शून्य नहीं है तो यह उक्ति सर्वत्र असंगृहीत होगी। अर्थात् पदार्थ-समष्टि के बहिर्भूत होगी। पदार्थ अशून्य हो नहीं सकता तथा शून्यता की उक्ति अशून्य है—ये दोनों परस्पर असंगत हैं। (४) यदि शून्यता की उक्ति को संगृहीत माना

जाय और उसके साथ ही सब पदार्थों को शून्य, तो वह उक्ति पुनः शून्य हो जायगी अथवा प्रतिषेध में अशम । (५) यदि उक्ति शून्य है, किन्तु शून्य होते हुए भी उसके द्वारा अशून्यता का प्रतिषेध किया जा सकता है तो शून्य होते हुए भी सब पदार्थ अर्थविम्वार में समर्थ हो जायेंगे, किन्तु तब शून्यता अस्तित्व का नामान्तर होगी, जोकि दृष्टान्त-विरुद्ध है । (६) यदि सब पदार्थ शून्य हैं तथा कार्य करने में असमर्थ हैं तो शून्यता की प्रतिपादक उक्ति के शून्य होने के कारण सब पदार्थों के स्वभाव का प्रतिषेध मुक्त नहीं है । संक्षेप में यह अनिवार्य प्रतीत होता है कि शून्यवाद के समर्थन में सदैव तार्किक विषमता उत्पन्न हो जाती है—सब शून्य मानते हुए अन्ततः कुछ शून्य और कुछ अशून्य मानना पड़ता है और इस प्रकार की विषमता में कोई हेतु नहीं दिया जा सकता ।

मान लीजिए शून्यवादी की ओर से यह कहा जाय कि शून्यता का स्थापन ऐसा ही है जैसे कोई कहे 'शब्द मत करो' किन्तु यह कहने में स्वयं अनिवार्यतया शब्द करे । ऐसे स्थल में शब्द के द्वारा शब्द का निवारण होता है । इसी प्रकार से सब पदार्थों के स्वभाव का प्रतिषेध समझना चाहिए । किन्तु शून्यवादी की यह युक्ति स्वीकार्य नहीं है । वस्तुतः उस दृष्टान्त में वर्तमान शब्द से अनागत शब्द का प्रतिषेध किया जाता है, किन्तु यहाँ शून्यता की उक्ति से अशेष पदार्थों का निषेध किया जाता है जिनमें उक्ति स्वयं सम्मन्त है । यदि शून्यवादी की ओर से यह कहा जाय कि उसके द्वारा किये गये सब पदार्थों के प्रतिषेध का प्रतिषेध के द्वारा किया गया यह प्रतिषेध भी अनुपपन्न मानना चाहिए तो यह भी स्वीकार्य नहीं हो सकता क्योंकि सब पदार्थों का प्रतिषेध शून्यवादी की प्रतिज्ञा है, उसके विपक्षी की नहीं ।

शून्यवादी यह भी नहीं कह सकता कि मैं पदार्थों को प्रत्यक्षतः उपलब्ध करके तदनन्तर उनका निषेध करता हूँ क्योंकि उसकी दृष्टि से प्रत्यक्ष ही निषिद्ध है । यही अचक्षय स्थिति अनुमान एवं अन्य प्रमाणों की माननी चाहिए ।

यदि शून्यवाद माना जाय तो जो ११९ कुशल धर्म आचार्यों के द्वारा परिमणित हैं उनका भी परित्याग करता होगा । मूर्खों में निर्माण एवं बोधि की ओर के जाने वाले अनेक धर्मों का निर्देश है, वे भी सब शून्य हो जायेंगे ।

यदि सब पदार्थ निःस्वभाव होते तो उनके पुष्क-पुष्क नाम ही नहीं होते । सदैव नाम का आधार कोई न कोई वस्तु देनी जाती है तथा निर्वस्तु नाम असम्भव है । यदि यह कहा जाय कि नाम का आधार स्वभाव है, किन्तु यह स्वभाव पदार्थों का नहीं है तो प्रश्न उठता है कि "यह विलक्षण स्वभाव किसका है ?"

यह भी स्मरणीय है कि प्रतिषेध उसी का होता है जिसकी सत्ता प्राप्त हो । जैसे यह कहने पर कि 'पर में पड़ा नहीं है' यह मान लिया जाता है कि पड़ा वहाँ हो सकता

या अथवा अन्यथा है। इस युक्ति से विदित होता है कि शून्यवादी के द्वारा स्वभाव का प्रतिषेध स्वयं स्वभाव को सिद्ध करता है। यदि किसी पदार्थ का स्वभाव है ही नहीं तो उसका प्रतिषेध ही क्यों किया जाता है? यह कोई नहीं कहता कि आग ठंडी नहीं है। शून्यवादी ही सब पदार्थों के निषेध में इतना व्याकुल क्यों हो? यह कहा जा सकता है कि जैसे कोई बुद्धिमान् एवं दयालु व्यक्ति मृगतृष्णा से ग्रस्त मूढ़ लोगों को बताये कि यहाँ पानी नहीं है, ऐसे ही शून्यवादी भी अविद्या-ग्रस्त जनता को शिक्षा देना चाहता है। किन्तु ऐसा कहने पर छः प्रकार के पदार्थों की सत्ता इस दृष्टान्त से स्वयं प्रतिपादित हो जाती है—भ्रान्ति, उसका विषय, उसका आश्रय (भ्रान्त पुरुष), प्रतिषेध, उसका विषय, तथा प्रतिषेधक पुरुष। इन छः पदार्थों के सिद्ध होने से शून्यता के सिद्धान्त की हानि हो जाती है। यदि भ्रान्ति तथा उसके आश्रय और विषय न भी स्वीकार किये जायें तब तक प्रतिषेध तथा उसके आश्रय और विषय, स्वीकार करने ही होंगे। यदि इनको अस्वीकार कर दिया जायगा तो सब पदार्थों की सत्ता स्वयं सिद्ध हो जायेगी।

वस्तुतः सब पदार्थों की शून्यता सिद्ध ही नहीं की जा सकती है क्योंकि उसमें कोई हेतु नहीं दिया जा सकता। हेतु दिया जा सकता तो वह शून्य न होता। बिना हेतु के कोई सिद्धि नहीं होती। यदि बिना हेतु के ही स्वभाव-प्रतिषेध सिद्ध हो जाय तो स्वभाव का अस्तित्व भी उसी प्रकार से अहेतुक सिद्ध हो जायगा। यदि हेतु का अस्तित्व माना जाय तो उसके द्वारा साध्य अस्वाभाव्य अपुक्त हो जायगा। अन्त में, सब पदार्थों का प्रतिषेध इसलिए अनुपपन्न है क्योंकि वह प्रतिषेध्य के न पहले हो सकता है न पीछे और न साथ। यदि प्रतिषेध पहले माना जाय तो प्रतिषेध्य के अभाव में प्रतिषेध होगा किसका? यदि प्रतिषेध को प्रतिषेध्य के पश्चात् माना जाय तो वह समझ में नहीं आता कि प्रतिषेध्य के होने पर प्रतिषेध से होगा क्या। यदि प्रतिषेध और प्रतिषेध्य दोनों साथ हों तो उनमें किसी प्रकार का कार्यकारणभाव स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार नामार्जुन ने विस्तार से शून्यवाद के विरोध में पूर्वपक्ष की युक्तियों का प्रतिपादन किया है, एवं और अधिक विस्तार से इन उक्तियों का खंडन।

नामार्जुन का उत्तर

शून्यवादी को अपने वचन की शून्यता अभीष्ट है, किन्तु उसके वचन और अन्य पदार्थ हेतु-व्यत्यय-सामग्री की अपेक्षा रखते हुए समान-कोटिक हैं और सभी समान स्थ से शून्य हैं। वस्तुतः प्रतिपक्षी से शून्यता का सिद्धान्त ठीक समझा नहीं। पदार्थों का प्रतीत्यसमुत्पाद ही शून्यता है, क्योंकि जिसकी सत्ता परतन्त्र अथवा परापेक्ष होती है

उसका अपना वास्तविक स्वभाव स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि पदार्थों का वास्तविक स्वभाव हो तो उन्हें हेतु-प्रत्यय की अपेक्षा न हो। उनकी यह निःस्वभावता ही शून्यता है। शून्यवादी का बचन भी प्रतीत्यसमुत्पन्न है और इसी प्रकार शून्य है जैसे कि अन्य पदार्थ। रथ, पट, घट आदि पदार्थ प्रतीत्यसमुत्पन्न होने के कारण असंस्कारण आदि अपना-अपना कार्य करते हैं। ऐसे ही शून्यवादी की उक्ति भी प्रतीत्यसमुत्पन्न होने के कारण निःस्वभाव होती हुई भी पदार्थों की निःस्वभावता के साधन में अपना कार्य करती है। जिस प्रकार जाड़ू का बनाया एक आदमी जैसे ही दूसरे का प्रतिषेध करे ऐसे ही शून्यवादी के द्वारा पदार्थों के स्वभाव का निषेध है।

शून्यता प्रतिपादक वाक्य न स्वाभाविक है और न यहाँ पर तात्त्विक विषयता उत्पन्न होती है। सभी पदार्थ शून्य हैं और उनकी शून्यता का प्रतिपादक वाक्य भी शून्य है, किन्तु इन सबको शून्यता प्रतीत्यसमुत्पन्न होने के कारण है। स्वभाव का प्रतिषेध उस प्रकार का नहीं है जैसा 'शोर मत करो' इस वाक्य में शब्द का प्रतिषेध। प्रतिषेधों के बिने हुए दृष्टान्त में शब्द के द्वारा शब्द का व्यावर्तन किया जाता है। यह दृष्टान्त तब सार्थक होता यदि निस्स्वभाव वाक्य के द्वारा निस्स्वभाव पदार्थों का निवर्तन किया जाता, किन्तु यहाँ निस्स्वभाव बचन के द्वारा पदार्थों के स्वभाव का प्रतिषेध किया गया है। प्रतिषेध इस प्रकार है जैसे कोई भावा-निर्मित पुत्र माया-निर्मित स्त्री में अनुरक्त अन्य पुरुष को उसकी भान्ति बताये एवं कारण करे। शून्यता-प्रतिपादक वाक्य निर्मितकोपम है, निधिङ्गमान पदार्थ निर्मितक-स्त्री के समान है। यह भी कहा जा सकता है कि ज्वनि-निवारण के दृष्टान्त में हेतु साध्यसम है क्योंकि ज्वनि की सत्ता ही नहीं है। सच बात तो यह है कि शून्यवादी व्यवहार-सत्य को स्वीकार करते हुए ही स्वभाव-शून्यता का प्रतिपादन करता है। व्यवहार-सत्य को स्वीकार किये बिना धर्म का उपदेश नहीं किया जा सकता।

“व्यवहारमनामित्य वरमाचों न वेद्यते ।

परमार्थमनागम्य निर्वाचं नाधिगम्यते ॥”

यदि शून्यवादी की कोई प्रतिज्ञा है तब तो उसमें दोष उद्भावित किया जा सकता है, किन्तु शून्यवादी किसी प्रतिज्ञा को उपस्थापित करता ही नहीं। सभी पदार्थ शून्य एवं अत्यन्त उपमान्त हैं, ऐसी स्थिति में प्रतिज्ञा ही सम्भव नहीं है, प्रतिज्ञा के लक्षण की प्राप्ति किस प्रकार होगी। यदि प्रत्यक्ष आदि चार प्रमाणों से अथवा उनमें से किसी एक से शून्यवादी कुछ उपलब्ध कर प्रवृत्ति एवं निवृत्ति को पुरस्कृत करे तभी तद्बिषयक उपालम्भ न्याय्य होगा, किन्तु वस्तुतः शून्यवादी न प्रमाणोपलब्ध किसी विषय की

बर्चा करता है, न उसके आधार पर किसी प्रकार की प्रवृत्ति की। दूसरी ओर यदि प्रतिपक्षी माना अर्थों की प्रमाणतः प्रसिद्धि बतलाता है तो उसे यह भी बतलाना चाहिए कि उन प्रमाणों की प्रसिद्धि किस प्रकार होगी। यदि यह कहा जाय कि प्रमाणों से प्रमेय-सिद्धि होती है तथा एक प्रमाण से दूसरे प्रमाण की तो अनवस्था प्रसक्त हो जाती है। और यदि प्रमाणों की प्रसिद्धि बिना प्रमाण के हो सकती है तो प्रमेयों की क्यों नहीं हो सकती? यदि यह कहा जाय कि अग्नि के समान प्रमाण अपने को तथा अपने से भिन्न प्रमेयों को प्रकाशित करता है तो यह उत्तर देना होगा कि यह दृष्टान्त विषम और भ्रान्तिमूलक है। अग्नि अपने को प्रकाशित नहीं करती क्योंकि प्रकाशन अप्रकाशित का होता है। उदाहरणार्थ, अग्निरे में अनुपलब्ध घटप्रकाश होने पर प्रकट हो जाता है। अग्नि इस प्रकार कभी भी अप्रकाशित नहीं मानी जा सकती। यदि एक बार यह मान भी लिया जाय कि अग्नि अपने को प्रकाशित करती है तो यह क्या नहीं कहा जा सकता कि अग्नि दूसरे के साथ-साथ अपने को भी जला देती है। यह भी क्या नहीं माना जा सकता कि अग्निरे अपने को तथा अन्य पदार्थों को बराबर डंक लेता है। प्रकाश अग्निरे का अपाकरण है। जहाँ अग्नि होती है वहाँ अग्निरे होता ही नहीं और न अग्नि में ही अग्निरे होता है। अतएव यह कहना निस्सार है कि अग्नि अपने को तथा अन्य पदार्थों को प्रकाशित करती है। यदि यह कहा जाय कि अग्नि के पहले अग्निरे होता है जिसका अग्नि अपनी उत्पत्ति के साथ अपाकरण कर देती है तो यह दिखलाना होगा कि अग्नि की उत्पत्ति के समय उसका अग्निरे से सम्पर्क होता है। यह स्पष्ट ही असम्भव है। यदि बिना अग्निरे से सम्पर्क हुए अथवा बिना उसकी प्राप्ति के ही अग्नि के द्वारा उसका निवारण होता है तो यहाँ पर उपस्थित अग्नि से ही अशेष लोकधातुओं में अग्निरे हट जाता।

पुनश्च, यदि प्रमाणों की सिद्धि स्वतः मानी जाय तो उन्हें प्रमेयों की भी अपेक्षा न होगी। यदि प्रमेय-निरपेक्ष रूप से प्रमाण-सिद्धि मान ली जाय तो ये स्वतः-सिद्ध प्रमाण किसी भी प्रमेय के साधन न होंगे। दूसरी ओर यदि यह कहा जाय कि प्रमाणों की सिद्धि प्रमेयापेक्ष होती है तो सिद्ध-साधन का दोष उपस्थित हो जाता है क्योंकि अपेक्षा सिद्ध-वस्तु की ही रह सकती है। असिद्ध वस्तु का अन्याभिसम्बन्ध असम्भव है। पुनश्च यदि प्रमाणों की सिद्धि प्रमेयापेक्ष होती है तो प्रमेय-सिद्धि प्रमाणनिरपेक्ष माननी होगी और इस प्रकार की निरपेक्ष प्रमेय-सिद्धि होने पर प्रमाण-सिद्धि सर्वथा व्यर्थ होगी। प्रमाण-सिद्धि प्रमेयापेक्ष होने पर प्रमाण और प्रमेय का परस्पर व्यापक हो जाता है क्योंकि तब प्रमेयों से प्रमाण सिद्ध होते हैं न कि प्रमाणों से प्रमेय। यदि दोनों

की सिद्धि परस्परापेक्ष मानी जाए तो दोनों की ही असिद्धि माननी होगी। क्यों तब एक ओर प्रमेय प्रमाण-सिद्ध होने, किन्तु वे प्रमाण स्वयं साध्य रहेंगे। दूसरी ओर प्रमाण प्रमेय-सिद्ध होंगे, किन्तु वे प्रमेय स्वयं साध्य होंगे। यदि पिता से पुत्र उत्पन्न हो और पुत्र से पिता तो न पिता उत्पन्न होगा न पुत्र, और ऐसी स्थिति में यह भी नहीं तम हो पायेगा कि कौन पुत्र है और कौन पिता। सच तो यह है कि प्रमाणों की सिद्धि न स्वतः होती है, न परस्पर, न प्रमेयों से, और न अकस्मात्।

शुन्य धर्मों के विषय में आचार्यों के द्वारा परिणयन अवश्य किया गया है, किन्तु इन धर्मों के स्वभाव का प्रविभक्त निर्देश नहीं किया जा सकता। यह नहीं कहा जा सकता कि यह कुशल-विज्ञान का स्वभाव है, यह अकुशल विज्ञान का स्वभाव। अतएव यह कहना ठीक नहीं कि पुण्य-पुण्य धर्मस्वभाव का धर्मज्ञ लोगों ने उपदेश किया है। यदि कुशलधर्मों का कुशलस्वभाव प्रतीत्य उत्पन्न होता है तो वह उनका 'स्वभाव' न होकर परभाव ही होगा; और यदि यह कहा जाए कि कुशल धर्मों का स्वभाव निरपेक्ष रूप से उत्पन्न होता है तो आध्यात्मिक जीवन ही व्यर्थ हो जायगा। तब ब्रह्म-चर्यवास के स्थान पर धर्मों का अपना निरपेक्षवास रहेगा। प्रतीत्यसमुत्पाद के संचित होने पर सद्धर्म का अनिवार्य रूप से सञ्चन हो जायगा क्योंकि बुद्ध भगवान् ने कहा है "मित्रबो, जो प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है वह धर्म को देखता है"। जब निरपेक्ष रूप से कुशल, अकुशल अथवा अव्याकृत धर्मों के स्वभाव होंगे तो आर्यसत्त्वों को मिथ्या मानना होगा। धर्म और अधर्म तथा लौकिक व्यवहार भी असम्भव हो जायगा क्योंकि तब हेतु-निरपेक्ष सभी भाव नित्य होंगे। भलाई या बुराई के घटने-बढ़ने का प्रश्न नहीं होगा और न दुःख से मोक्ष तक की चर्चा का। बुद्ध भगवान् की प्रसिद्ध देशना 'सभी संस्कार अनित्य हैं' मिथ्या हो जायगी, सभी संस्कृत धर्म असंस्कृत हो जायेंगे।

पदार्थों के नामयुक्त होने से उनका स्वभाव सिद्ध नहीं होता क्योंकि नाम स्वयं निःस्वभाव है।

शून्यवादी धर्मों के स्वभाव का प्रतिषेध करते हुए धर्म-विनिर्मुक्त किसी पदार्थ का स्वभाव स्वीकार नहीं करते। ऐसी स्थिति में निस्स्वभाव धर्मों के अतिरिक्त किसी अन्य स्वभाव के स्वीकार का उपालम्भ अयुक्त हो जाता है। यह आपत्ति भी निराधार है कि जिसकी सत्ता प्राप्त है उसी का प्रतिषेध किया जा सकता है और अतएव स्वभाव का स्वीकार किये बिना शून्यता का उपदेश नहीं हो सकता। क्योंकि यदि ऐसा है तब तो विपक्षी के द्वारा शून्यता का प्रतिषेध ही शून्यता को सिद्ध कर देता है। यदि शून्यता के प्रतिषेध होते हुए भी वह प्रतिषिध्यमान शून्यता शून्यता नहीं है,

तो सत् का ही प्रतिषेध होता है, वह सिद्धान्त खंडित हो जाता है। पुनश्च शून्यवादी न किसी का प्रतिषेध करता है न उसके लिए कोई प्रतिषेध है; अतएव यह कहना व्यर्थ है कि उसके प्रतिषेध में ही विधि पुरस्कृत है। पूर्वपक्ष में कहा गया है कि उक्ति के बिना भी असत् का प्रतिषेध प्रसिद्ध है। अतएव निस्स्वभावत्व का स्थापन व्यर्थ है। इसके उत्तर में शून्यवादी का कहना है कि “सब पदार्थ निस्स्वभाव हैं,” यह उक्ति पदार्थों को निस्स्वभाव नहीं बनाती, किन्तु स्वभाव के पूर्वसिद्ध अभाव का स्थापन करती है। उदाहरण के लिए देवदत्त के घर में न होने पर यदि कोई कहे “देवदत्त घर में है” और इस पर अन्य कोई पुरुष उसका निषेध करते हुए कहे—“नहीं है” तो उसका निषेध-वचन देवदत्त का अभाव उत्पन्न नहीं कर सकता, केवल उसे प्रकाशित करता है।

पूर्वोक्त मृगतृष्णा के दृष्टांत पर शून्यवादी का कहना है—यदि मृगतृष्णा में जलबुद्धि स्वाभाविक हो तो वह प्रतीत्यसमूत्पाद नहीं होगी। वस्तुतः मृगतृष्णा, विपरीत-दर्शन तथा अयोनिशोभनस्कार की अपेक्षा रखते हुए ही यह जलबुद्धि उत्पन्न होती है। अभिनिषेध स्वाभाविक हो तो उसको निवृत्ति किस प्रकार होगी? स्वभाव अनिवर्तनीय है। ऐसे ही अन्य ब्राह्म आदि धर्मों में भी शून्यता समझनी चाहिए।

पूर्वपक्ष में कहा गया है कि निस्स्वभाव्य के कारण हेतु के ही असिद्ध होने से शून्यवाद की सिद्धि असम्भव है। इसके उत्तर में भी वही तर्क उपयोगी है जैसा ऊपर षट्क-प्रतिषेध में प्रयुक्त हुआ है। प्रतिषेध और प्रतिषेध के परस्पर सम्बन्ध की अनुपपत्ति में शून्यवादी का उत्तर है कि यह सच है कि त्रिकाल में न प्रतिषेध सम्भव है न प्रतिषेध, किन्तु यह वस्तुतः शून्यवाद का समर्थन ही है।

इस प्रकार शून्यवाद की तात्त्विक सम्भावना पर विचार करते हुए नागार्जुन का अन्त में कहना है कि जो शून्यता को मानता है उसके सभी पुरुषार्थ मुरझित रहते हैं। शून्यता को मानने वाले प्रतीत्यसमूत्पाद को हृदयंगम करते हैं और इस प्रकार चार आर्यसत्य तथा आध्यात्मिक उन्हें उपलब्ध होते हैं। इसी आधार पर उनके समस्त लौकिक व्यवहार भी व्यवस्थित हो जाते हैं।

साध्यमिक कारिकाएँ—प्रतीत्यसमूत्पाद—साध्यमिक कारिकाओं का प्रारम्भ प्रतीत्यसमूत्पाद के उपदेष्टा बुद्ध की प्रसिद्ध बन्धना से होता है। “अनिरोधमनुत्पाद-मनुच्छेदमणादवतम् । अनेकार्थमनार्थमनाममनिर्गमम् ॥ यः प्रतीत्यसमूत्पादं प्रपञ्चोपशमं शिवम् । देवयामानं सम्बुद्धस्तं बन्धे वदतां वरम् ॥” प्रतीत्यसमूत्पाद को यहाँ “प्रपञ्चोपशम” एवं “शिव” कहा गया है तथा आठ विशेषणों से उसकी अत्युत्कर्षता एवं अनिवर्तनीयता प्रतिपादित की गयी है। प्रतीत्यसमूत्पाद की अनेक

व्याख्याएँ प्रचलित थीं, यथा "हेतुप्रत्यय-सामग्री की अपेक्षा पदार्थों का उत्पाद", "मंगुर पदार्थों का उत्पाद", "इदम्प्रत्ययता।" नामार्जुन के लिए पदार्थों की "आपेक्षिकता" उनकी स्वभावशून्यता को द्योतित करती है एवं प्रतीत्यसमुत्पाद को मानने वाला सब पदार्थों को मायोपम समझता है। इससे अविद्या निवृत्त होती है तथा दुःख के "हादशांग" क्षिप्त हो जाते हैं।

प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वारा व्यावहारिक जगत् का प्रतिवेध इन आठ विशेषणों से प्रकाशित किया गया है—अनिरोध, अनुत्पाद, अनुच्छेद, अशाश्वत, अनेकार्थ, अना-
नार्थ, अनागम एवं अनिर्गम। अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पाद में न निरोध होता है न उत्पाद, न उच्छेद होता है, न शाश्वत स्थिति, न उसमें पदार्थों की एकता है न अनेकता, न आगति होती है न निर्गति। विरुद्ध धर्मों का निषेध प्रतीत्यसमुत्पाद की अतन्वयता द्योतित करता है। तर्क-बुद्धि प्रत्येक पदार्थ को धर्म-विशेष से विशेषित कर तद्विपरीत धर्म से उसकी व्याप्ति करती है। इस दृष्टि से जो वस्तु एक नहीं है उसे अनेक होना चाहिए, जो उच्छिन्न नहीं होती उसे शाश्वत होना चाहिए, किन्तु प्रतीत्य-समुत्पाद में इस प्रकार का तर्क नहीं लगता। इसका कारण यह है कि शून्य में विशेषण लगा देने से शून्यगुणित अंकों के तुल्य विशेषणों का विरोध भी शून्यत्वात् हो जाता है। आचार्य गौडपाद ने कहा है कि मायामय बीज से उत्पन्न हुआ मायामय अंकुर न शाश्वत कहा जा सकता है न नश्वर। "प्रपंचोपशम" में प्रपंच शब्द का अर्थ माक् अथवा उसके द्वारा प्रतिपाद्य समस्त अभिधेय-मंडल मानना चाहिए। इस प्रकार प्रपंचोपशम का अर्थ सर्व-वाग् विषय का अतिक्रमण होता है। चित्त-वैत की अप्रपत्ति तथा ज्ञान-श्रेय-व्यवहार की निवृत्ति होने पर जाति, जरा, मरण आदि जडेष उपशम के अभाव के कारण प्रतीत्यसमुत्पाद को "शिव" कहा गया है। अनिरोध आदि विशेष-ण न केवल प्रतीत्यसमुत्पाद की अतन्वयता सूचित करते हैं अपितु उत्पाद, निरोध, एकत्व, अनेकत्व तथा गमनागमन आदि तर्कबुद्धिमुक्त धर्मों की अपारमाधिकता भी द्योतित करते हैं। लौकिक बुद्धि के द्वारा चिकित्सित उत्पादननिरोधमुक्त जगत् की अपारमाधिकता तथा परमार्थ की अवाच्यता, दोनों ही प्रतीत्यसमुत्पाद से सूचित होते हैं। यही शून्यवाद का सार है और माध्यमिक कारिकाओं के प्रारम्भ में ही इस प्रकार निर्दिष्ट है।

पदार्थों की उत्पत्ति का संबन्ध—उत्पाद, निरोध आदि मिथ्या विकल्पों के सम्बन्ध में प्रवृत्त होते हुए नामार्जुन पहले उत्पाद को लेते हैं। उनका कहना है—

"न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः।

उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः स्वयन् केचन॥"

अर्थात् किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति कभी भी नहीं होती, न अपने से, न दूसरे से, न दोनों से, और न अकस्मात् । चार प्रकार के प्रत्यय बताये गये हैं—हेतु-प्रत्यय, सात्त्विक-प्रत्यय, जनन्तर-प्रत्यय एवं अधिपति-प्रत्यय । इनके अतिरिक्त और कोई पाँचवा प्रत्यय स्वीकार्य नहीं है । वस्तु का अपना स्वभाव उसके प्रत्ययों में विद्यमान नहीं होता है, उस स्वभाव के अविद्यमान होने पर परतः उत्पत्ति असम्भव हो जाती है । यह कहा जा सकता है कि प्रत्यय स्वयं पदार्थ को उत्पन्न नहीं करते, किन्तु क्रिया के द्वारा करते हैं । उदाहरणार्थ, चक्षु आदि प्रत्यय विज्ञानजनक क्रिया के निष्पादक होने के कारण प्रत्यय कहे जा सकते हैं । इस प्रकार नागार्जुन का कहना है कि “न तो क्रिया प्रत्यययुक्त है न प्रत्ययवियुक्त, एवं प्रत्यय भी न क्रियायुक्त है न क्रियारहित ।” उपर्युक्त उदाहरण में क्रिया विज्ञान के उत्पन्न होने पर अभीष्ट हो सकती है अथवा उसके उत्पन्न होने के पहले अथवा विज्ञान की उत्पद्यमान अवस्था में । विज्ञान के उत्पन्न होने पर क्रिया की कल्पना अयुक्त है क्योंकि तब क्रिया का निष्पादकत्व ही व्यर्थ होगा । विज्ञान के उत्पन्न होने के पहले उसकी उत्पादन क्रिया सुतरां अयुक्त है क्योंकि वह कर्तृविहीन होगी । उत्पद्यमान विज्ञान की कल्पना ही अयुक्त है, क्योंकि उत्पन्न एवं अनुत्पन्न के अतिरिक्त कोई तीसरी कोटि सुबोध नहीं है । प्रत्ययवियुक्त क्रिया की कल्पना स्पष्ट ही अनुपयोगी है । वस्तुतः उसकी योग्यता ही अज्ञात रहेगी । जैसे क्रिया के साथ प्रत्ययों का सम्बन्ध जोड़ना कठिन है ऐसे ही प्रत्ययों के साथ क्रिया का सम्बन्ध भी दुर्घट है ।

यदि यह कहा जाय कि चक्षु आदि प्रत्ययों की अपेक्षा से विज्ञान उत्पन्न होता है अतएव चक्षु आदि प्रत्यय कहे जाते हैं तो यह बतलाना पड़ेगा कि जबतक विज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती तबतक चक्षु आदि अप्रत्यय ही क्यों न माने जायें और यदि वे अप्रत्यय होंगे तो उनसे उत्पत्ति ही किस प्रकार होगी । यदि यह कहा जाय कि पहले वे अप्रत्यय हैं किन्तु पीछे किसी अन्य प्रत्यय की अपेक्षा से वे स्वयं प्रत्यय बन जाते हैं, तो भी युक्त न होगा, क्योंकि जिस अन्य प्रत्यय की उनकी अपेक्षा होगी उसका प्रत्ययत्व सिद्ध करना उतना ही कठिन होगा । पुनरपि चक्षु आदि प्रत्यय सदभूत विज्ञान के कल्पित किये जा सकते हैं अथवा असदभूत विज्ञान के । दोनों ही प्रकार से अयुक्तता प्रकट होती है—यदि विज्ञान स्वयं सत् है तो उसको प्रत्यय की आवश्यकता नहीं है । यदि विज्ञान असत् है तो उसका प्रत्यय होगा हो कैसे ? इस प्रकार जब न सत्, न असत्, न सचसत् पदार्थ की उत्पत्ति मानी जा सकती है तब उसका उत्पादक हेतु किस प्रकार माना जा सकता है ?

व्याविज्ञान आदि के विषय व्याधि की आलम्बन-प्रत्यय कहा जाता है। आलम्बन प्रत्यय विद्यमान धर्म (=चित्त-वैत) का हो सकता है अथवा अविद्यमान धर्मों का। दोनों ही विकल्पों में आलम्बन प्रत्यय अनावश्यक अथवा असम्बद्ध है। वस्तुतः चित्त-वैतों की आलम्बनता सांभूत ही है। कारण के अप्रवृत्ति निरोध की कार्य की उत्पत्ति का समतन्त्र प्रत्यय कहा जाता है। किन्तु कार्यभूत अङ्कुरादि धर्मों के अनुत्पन्न होने पर बीजादि कारण का निरोध अनुपपन्न है। बीज आदि के अनिच्छा होने पर समतन्त्र-प्रत्यय अनवकाश है। दूसरी ओर, प्रत्यय के निरोध होने पर उसकी प्रत्ययता किस प्रकार बनी रहेगी? अधिपति प्रत्यय का लक्षण इस प्रकार किया गया है—“यस्मिन् सति यद्भवति” अर्थात् जिसके होने पर कार्य होता है। अधिपति प्रत्यय कार्य के विशिष्ट स्वरूप का नियामक होता है। नागार्जुन का कहना है कि स्वभाव के अभाव में स्वभाव का नियामक कौन होगा? निस्स्वभाव पदार्थों की सत्ता ही नहीं है अतएव इदं प्रत्ययता से लक्षित अधिपति प्रत्यय की कल्पना उपपन्न नहीं है। प्रत्ययों में व्यस्त अथवा समस्त रूप में कार्य की सत्ता नहीं दिखायी जा सकती; अतः उन प्रत्ययों से उनमें अविद्यमान कार्य की उत्पत्ति किस प्रकार मानो जा सकती है? यदि यह कहा जाय कि इन प्रत्ययों में न होते हुए भी कार्य उनसे उत्पन्न होता है तो फिर वह कार्य अप्रत्यय से भी क्यों नहीं उत्पन्न होता? यहाँ सांख्यी के सत्कार्यवाद तथा वैशेषिकों के असत्कार्यवाद का खण्डन किया गया है। सत्कार्य-वाद में कार्य की उत्पत्ति व्यर्थ हो जाती है, असत्कार्यवाद में असम्भव। कार्य प्रत्ययमय है और प्रत्यय अप्रत्यय रूप है। ऐसी स्थिति में उन प्रत्ययों से उत्पन्न कार्य प्रत्ययमय कैसे होगा? अर्थात् पद के तन्तुमय होने के लिए यह आवश्यक है कि तन्तु स्वयं स्वभावसिद्ध हो। अतः कार्य न प्रत्ययमय है न अप्रत्ययमय, वस्तुतः जब कार्य ही नहीं है तो प्रत्यय अप्रत्यय की कल्पना अनावश्यक है।

गति का प्रतिषेध—उत्पत्ति के प्रतिषेध के अन्तर नागार्जुन दूसरे प्रकरण में गति के प्रतिषेध के लिए तर्क प्रस्तुत करते हैं। गति की सिद्धि के लिए गन्तव्य मार्ग की सिद्धि आवश्यक है। गन्तव्य मार्ग को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—जिसका अतिक्रमण हो चुका है, जिसका अतिक्रमण शेष है। गन्तव्य के अतिक्रान्त भाग में गमन उपरत हो चुका है, अनतिक्रान्त भाग में आरम्भ ही नहीं हुआ है। अतएव वर्तमान क्षण में गमन का गन्तव्य के किसी भी भाग से सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। फलतः वर्तमानकालिक गमन असिद्ध है। वर्तमानकालिक गमन के असिद्ध होने पर गमन की वैकालिक असिद्धि अनिवार्य है।

यह बांका की जा सकती है कि गन्तव्य अर्थात् 'गत' 'अगत' तथा 'गम्यमान', इन तीनों भागों में विभक्त कर 'गम्यमान' भाग में गमन की कल्पना करनी चाहिए। किन्तु 'गम्यमान' गन्तव्य में गमन के लिए गमन के पूर्व ही गन्तव्य को 'गम्यमान' होगा चाहिए। ऐसी स्थिति में या तो 'दो गमन' मानने होंगे या गति के अभाव में भी गम्यमानता की सिद्धि माननी होगी। दो गमन मानने पर दो गन्ता मानने होंगे। वस्तुतः 'गत' और 'अगत' अर्थों में गति का योग नहीं है, 'गम्यमान' अर्थात् गति सिद्धि स्वयं गमनसापेक्ष है। गम्यमानता गतिपूर्वक है, गति गन्तव्यपूर्वक।

गमन गन्ता की भी अपेक्षा रखता है, किन्तु गन्तुत्व स्वयं गतिसापेक्ष है। यदि गमन के पूर्व ही गन्ता सिद्ध है तो 'द्विगमन'—असंग पुनः उपस्थित होगा। यदि गन्ता सिद्ध ही नहीं है तो तदाभित गमन भी असिद्ध होगा। यदि गन्ता और गमन एक हैं तो कर्तृ-कर्म-विरोध उपस्थित होगा। यदि गन्ता अन्य है, गमन अन्य, तो वे घट-घट सपुंस हो जायेंगे। गन्ता गतिरहित भी होगा, गति गन्तरहित भी।

गमनारम्भ भी गन्तव्यसापेक्ष होने के कारण उपर्युक्त रीति से अनुपपन्न है। स्थिति के निरोध से गति का आरम्भ कहा जाता है, किन्तु यह निरोध स्थिति काल में भी असम्भव है, उसके अनन्तर भी। वस्तुतः गति स्थितिसापेक्ष है, स्थिति गतिसापेक्ष। दोनों ही असिद्ध हैं। नागार्जुन के इस गति-विचार में स्थूल गति को क्षणिक पारमाणविक गति में विप्लेधित कर यह प्रदर्शित किया गया है कि जहाँ आपाततः एक अविच्छिन्न क्रियाप्रवाह प्रतीत होता है वहाँ वस्तुतः क्षणानुपूर्वी के समानान्तर एक स्थित्यानुपूर्वी देखी जा सकती है जिसमें गति उतनी ही अवास्तविक है जितनी नटराज की मूर्ति में। गतिशील वस्तु प्रत्येक क्षण में कहीं-न-कहीं अवस्थित अर्थात् उपलब्ध होती है। यहाँ तक नागार्जुन तथा ग्रीक दार्शनिक जेनो के विचार समानान्तर हैं। किन्तु नागार्जुन स्थिति की प्रतीति को भी अलातचक्रवत् भ्रान्त मानते हैं।

इन्द्रिय-परीक्षा—तृतीय प्रकरण में चक्षु-आदि इन्द्रियों की परीक्षा की गयी है। अभिधर्म के अनुसार दर्शन, श्रवण, घ्राण, रसन, स्पर्श तथा मन, छः इन्द्रियाँ हैं। उनके दृष्टव्य आदि गोचर हैं। ये ही सुप्रसिद्ध द्वादश आयतन हैं। नागार्जुन का कहना है कि इन्द्रियों को विषयों का ग्राहक नहीं माना जा सकता क्योंकि वे स्वयं अपने ग्रहण में असमर्थ हैं। पुनरव दर्शन आदि विषय-ग्रहण को उसी रीति से अनुपपन्न सिद्ध किया जा सकता है जिस रीति से ऊपर गमन को अनुपपन्न सिद्ध किया गया है। इन्द्रियों को विषयोप-लब्धि का कारण भी नहीं माना जा सकता क्योंकि तब उनके अतिरिक्त एक कर्ता अपेक्षित होगा जिसे अपनी उपलब्धि में असमर्थ मानते हुए भी विषयों की उपलब्धि में समर्थ

मानना होगा। स्वर्णादि व्यापार को असंगत मानकर त्रिवारहित धर्मभाव की उत्पत्ति का पक्ष भी नहीं लिया जा सकता क्योंकि इस प्रकार का निष्क्रिय धर्म आकाशकुमुद के समान असत्य होगा।

स्कन्ध-परीक्षा—चतुर्थ प्रकरण में स्कन्ध-परीक्षा की गयी है। रूपस्कन्ध के अन्तर्गत रूप, रसद आदि भौतिक गुण हैं, उनके कारण महाभूत हैं। बिना भूत-भौतिक के कार्यकारणभाव के रूपस्कन्ध की सिद्धि नहीं हो सकती। किन्तु कार्य-कारण-भाव की अनुपपन्नता ऊपर सिद्ध की जा चुकी है। पुनश्च कार्य न कारण के सदृश अभीष्ट है, न विसदृश। रूप के कारण चार महाभूत कठिन, द्रव, उष्ण तथा तरल स्वभाव के हैं। आभ्यन्तर भौतिक धर्म पाँच इन्द्रियाँ रूपप्रसादात्मक हैं, बाह्य भौतिक रूपादि का स्वभाव विविध इन्द्रियाह्व है। भूत और भौतिकों के लक्षण में स्पष्ट ही भेद है। किन्तु भेद होने पर कार्यकारण नियम ही दुर्बोध है। रूपस्कन्ध के समान ही अन्य स्कन्ध तिरस्कार्य हैं।

पंचम प्रकरण में धातुपरीक्षा की गयी है। छः धातुएं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश तथा विज्ञान हैं। इनके पृथक्-पृथक् लक्षण दिये गये हैं। यथा, आकाश का अनावरण अथवा अनवरोध। किन्तु लक्ष्य और लक्षण का सम्बन्ध दुष्परिपाद है। यदि लक्ष्य और लक्षण भिन्न हैं तो पृथ्वी और कठिन्य पृथक्-पृथक् उपलब्ध होंगे; यदि वे अभिन्न हैं तो लक्षण निरावश्यक अथवा लक्ष्य अलक्ष्य हो जायेंगे। यदि लक्ष्य लक्षण-रहित है तो उसमें लक्षण की प्रवृत्ति न होगी, यदि लक्ष्य लक्षणसहित है तो उसमें लक्षण की प्रवृत्ति अनावश्यक होगी। लक्षण के बिना लक्ष्य की उपलब्धि नहीं हो सकती, लक्ष्य की उपलब्धि के बिना लक्षण किया नहीं जा सकता। तात्पर्य यह है कि आकाश आदि तत्त्व केवल लक्षण-मोक्षर हैं, किन्तु ऐसी स्थिति में उनके लक्षण ही काल्पनिक हो जाते हैं। मौलान्तिक आकाश को अभावभाव मानते हैं। किन्तु जब भाव ही अस्ति है तो अभाव कैसे सिद्ध होगा? 'ओ अल्पबुद्धि पदार्थों के अस्तित्व एवं नास्तित्व को मानते हैं वे विषात्मक, प्रपञ्चीपक्षम को नहीं देखते हैं।'

षष्ठ प्रकरण रागरक्त-परीक्षा है। यह संका की जा सकती है कि तथागत ने राग आदि क्लेशों का अस्तित्व बताया है, अतः स्कन्ध आदि उपपन्न हैं। मागार्जुन का कहना है कि राग और रक्त (=रागयुक्त) का सम्बन्ध अनुपपन्न है। यदि राग की उत्पत्ति के पूर्व पुरुष रागरहित है तो उसमें राग की उत्पत्ति होगी ही नहीं, अन्यथा अहंता में रागोत्पत्ति सम्भव होगी। दूसरी ओर राग के पूर्व ही पुरुष रक्त अथवा रागयुक्त किस प्रकार होगा? यदि राग और रागयुक्त वस्तु को सहोत्पन्न माना जाय तो उन्हें

बैल के दो सींगों के तुल्य निरपेक्ष मानना होगा। राग और रक्त का सहभाग न उनके एकत्व के साथ संगत है, न उनके पृथक्त्व के साथ।

सप्तम प्रकरण में संस्कृतपरीक्षा है। उत्पाद, व्यय, तथा स्थित्यन्वयात्वं को तीन संस्कृतलक्षण बताया गया है। किन्तु इन लक्षणों के पृथक्-पृथक् प्रयोग से संस्कृतत्व निरूपित नहीं हो सकता और इनका एक साथ प्रयोग किया नहीं जा सकता। पुनश्च, यदि उत्पाद आदि में उत्पाद आदि लक्षण प्रयुक्त किये जायें तो अनवस्था प्रसक्त होगी, यदि नहीं, तो वे असंस्कृत हो जायेंगे। उत्पाद आदि विरुद्ध लक्षणों की एक ही वस्तु में प्रवृत्ति भी दुर्घट है। उत्पाद आदि पृथक्-पृथक् भी अनुपपन्न हैं। वस्तुतः उत्पाद, स्थिति एवं भंग माया, स्वप्न अथवा गन्धर्वनगर के समान हैं।

आठवें प्रकरण में कर्मकारक परीक्षा है। कर्ता, क्रिया, एवं कर्म का उसी प्रकार निराकरण सुलभ है जैसे गन्ता, गमन, एवं गन्तव्य का। कर्ता के बिना कर्म असम्भव है, कर्म के बिना कर्तृत्व असिद्ध। यदि कर्म के पूर्व कर्ता विद्यमान है तो पहला ही कर्म दूसरा कर्म होगा। यदि कर्ता नहीं है तो कर्म का प्रारम्भ ही न होगा।

सामितीय कहते हैं कि दर्शन, श्रवण आदि के पूर्व ही उनके उपादाता की सत्ता को स्वीकार करना चाहिए। इसका पूर्वपरीक्षा नाम के नवम प्रकरण में सम्पन्न है। कर्म और कर्ता, गमन और गन्ता के समान ही उपादान और उपादाता परस्पर सापेक्ष होने के कारण निःस्वभाव हैं। यह आपत्ति की जा सकती है कि सापेक्ष होने से ही किसी वस्तु को शून्य नहीं माना जा सकता। उदाहरण के लिए अग्नि इन्धन की अपेक्षा कर प्रज्वलित होती है, तथापि अग्नि का दाहकत्व स्वभाव अधुण रहता है। इसके निराकरण के लिए अग्नीन्धनपरीक्षा नाम के दशम प्रकरण की रचना हुई है। यदि अग्नि इन्धन से पृथक् है तो नित्यप्रज्वलित रहेगी; न उसे जलाना होगा, न वह बुझेगी। यदि अग्नि इन्धन से पृथक् नहीं है तो इन्धन को जलाना न होगा, न इन्धन जलेगा। अन्यथा कर्तृ-कर्म-विरोध उपस्थित होगा। अग्नि और इन्धन परस्पर सापेक्ष हैं तथा नागार्जुन के लिए उनका दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक के समान असिद्ध है। नागार्जुन से तर्क करना कठिन है क्योंकि वे सब दृष्टान्तों को ही असिद्ध मानते हैं।

एकादश प्रकरण का नाम पूर्वपरिकोटिपरीक्षा है। तथागत ने कहा है—“निधुजो । जन्म-मरण रूप संसार अनादि है। अविद्या से आच्छादित तथा तूष्ण्या से बंधे हुए जीवों के आवागमन की पूर्व कोटि का पता नहीं चलता।” इससे विदित होता है कि अनादि संसार की सत्ता है। अतएव संसारी आत्मा की भी सत्ता माननी चाहिए। इस दंभा के उत्तर में नागार्जुन का कहना है कि तथागत ने संसार को अनवस्था बताया है क्योंकि

संसार का न आदि है और न अन्त। ऐसी स्थिति में संसार का मध्य ही कैसे स्वीकार किया जा सकता है? संसार के अभाव में संसार भी निराकृत हो जाता है। पुनरुत्पत्ति यदि पहले जन्म की सत्ता सिद्ध हो और पीछे जरा-मरण की तो जन्म, जरामरण से रहित हो जायगा तथा सब अन्त हो जायेंगे। यदि जरामरण पहले हो और जन्म पीछे तो अहेतुक जन्म का जरा-मरण किस प्रकार होगा अर्थात् फिर से सबको जन्मरता प्रसक्त हो जाती है। जरा-मरण और जन्म को समानकालिक भी नहीं माना जा सकता क्योंकि वे परस्पर विरुद्ध हैं। वही नहीं, सहभूत जन्म और मरण ब्रह्म के दो सौंनों के समान निरोक्ष तथा अहेतुक हो जायेंगे। इस तर्क से यह सूचित होता है कि न केवल संसार की अभितु किसी भी पदार्थ की पूर्वकोटि अथवा सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती।

बारहवाँ प्रकरण दुःख-परिच्छेद है। यह कहा जा सकता है कि दुःख की सत्ता से आत्मा की सत्ता सूचित होती है। पाँच उपादान स्कन्ध दुःख कहलाते हैं। यह दुःख निराश्रय नहीं हो सकता, अतएव आत्मा की सत्ता को स्वीकार करना चाहिए। इसके उत्तर में नागार्जुन दुःख की सत्ता का ही खण्डन करते हैं। दुःख स्वयंकृत हो सकता है, अथवा परकृत, अथवा स्वयंकृत-एवं-परकृत, अथवा अहेतुक। दुःख पिछले जन्म के स्कन्धों की अपेक्षा रखकर उत्पन्न होते हैं। अन्यापेक्षया उत्पन्न होने के कारण स्कन्धात्मक दुःख को स्वयंकृत नहीं माना जा सकता। दुःख को परकृत भी नहीं माना जा सकता क्योंकि पिछले जन्म के कारणारमक स्कन्धों को इस जन्म के कार्यात्मक स्कन्धों से भिन्न व्यवस्थित नहीं किया जा सकता। यहाँ पर कार्य और कारण की भेदाभेद-व्यवस्था की अनुपपन्न सूचित किया गया है। यह कहा जा सकता है कि दुःख का कारण दुःख अनिमेत नहीं है, अतएव यह है कि पुण्य स्वयं अपने कर्म से दुःख की उपलब्धि करता है। इसके उत्तर में नागार्जुन का प्रश्न है कि यह पुण्य कौन-सा है—यह जो दुःख की उपलब्धि करता है अथवा वह जो उसके कारणभूत कर्म का कर्ता है। दुःख की उपाधि एक पुण्य को सूचित करती है, कर्म की उपाधि दूसरे पुण्य को। यहाँ पुण्य की केवल प्रवृत्तिभूत अथवा औपाधिक सत्ता स्वीकृत है। ऐसी स्थिति में दुःख को स्वयंकृत अथवा अनिमेत-पुण्य-कृत किस प्रकार माना जा सकता है? मनुष्य-मुद्गल के द्वारा किये कर्म का दुःख तारक-पुण्यल भोग करता है। इस दुःख को स्वकृत मानना अनुपपन्न है। दूगती और यदि एक पुण्य को कर्ता दूसरे को भोक्ता मानकर दुःख को परकृत माना जाय तो भी कठिनाई दुनिवार है। वस्तुतः ऐसी स्थिति में दुःख की अन्यत्र उत्पत्ति तथा अन्यत्र संक्रान्ति स्वीकार करनी होगी। स्वयंकृत दुःख के अप्रसिद्ध होने पर अन्यकृत दुःख की उत्पत्ति ही न होगी क्योंकि जो अन्य पुण्य दुःख को उत्पादित करता है उसके लिए दुःख स्वयंकृत होगा। परकृत दुःख 'पर' के लिए स्वयंकृत होगा। यदि दुःख न

स्वकृत है, न परकृत तो उभयकृत भी नहीं हो सकता। अहेतुक दुःख आकाशकुमुम को सुगन्ध के समान है। न केवल दुःख अपितु समस्त घट, पट आदि पदार्थ इसी प्रकार न स्वकृत हैं न परकृत, न उभयकृत, न अहेतुक।

तेरहवाँ प्रकरण संस्कार-वरीक्षा है। तथ्यागत ने सब संस्कारों को नश्वर और मिथ्या कहा है। वस्तुतः यदि सब संस्कार मिथ्या हैं तो नश्वर कौन है? जब संस्कार हैं ही नहीं तो उनका विनाश कैसे होगा? अतएव तथ्यागत की उक्ति की शून्यता की सूचना मानना चाहिए। यह शंका हो सकती है कि निस्स्वभावता को स्वभाव की विनाशिता कहा जा सकता है। किन्तु यदि स्वभाव है तो उसका अन्यथाभाव नहीं हो सकता और यदि स्वभाव नहीं है तो उसके अन्यथाभाव का प्रश्न ही नहीं उठता। वस्तुतः अन्यथाभाव ही अनुपपन्न है। जो युवा है, वह बूढ़ा नहीं होता, जो बूढ़ा है वह बूढ़ा क्या होगा? यदि दूध, दही बन जाता है तो दूध को ही दही मान लेना चाहिए, अन्यथा दूध से अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु दही बनेगी। निस्स्वभावता अथवा शून्यता को किसी प्रकार का स्वभाव न मानना चाहिए। यदि कोई वस्तु अशून्य हो तब शून्य भी कोई वस्तु हो सकती है। जब अशून्य ही नहीं है तो शून्य किस प्रकार होगा? तथ्यागत ने शून्यता को सब दृष्टियों से मुक्ति का मार्ग कहा है। जो शून्यता को ही दृष्टि बना लेते हैं उनकी असाध्य मानना चाहिए।

चौदहवें प्रकरण का नाम संसर्ग-वरीक्षा है। द्रष्टा, दर्शन एवं द्रष्टव्य, ये तीन दो-दो करके अथवा तीनों साथ संसर्ग में नहीं आ सकते। संस्कारों के संसर्ग का उपदेश बन्ध्यापुरुषों के संसर्ग के समान है। अन्योन्यसंस्र्गों के लिए अन्यत्व सिद्ध होना चाहिए। किन्तु अन्यत्व अन्योन्यसापेक्ष है। घट का पट से अन्यत्व तभी सिद्ध होगा जब पट का घट से अन्यत्व पूर्वसिद्ध रहेगा। 'यदि अन्य (यथा घट) अन्य (यथा पट) से अन्य है तो वह (घट) अन्य (पट) के बिना ही अन्य रहेगा, किन्तु वह अन्य, अन्य के बिना अन्य नहीं है, अतएव उसकी सत्ता नहीं है', अर्थात् यदि घट पट से अन्य है तो पट के बिना भी घट में अन्यत्व सिद्ध होगा। किन्तु इस प्रकार का पट-निरपेक्ष घटगत अन्यत्व असम्भव है। यहाँ पर यह स्मरणीय है कि बौद्धों के अनुसार शब्दों का अर्थ अपोहात्मक होता है अर्थात् घट शब्द एक निश्चित स्वभावविशेष की ओर संकेत न कर पर-भाव की व्यावृत्ति सूचित करता है। घट शब्द का अर्थ पट न होकर पट, कट आदि का अभाव है। नागार्जुन के अन्यत्व-सङ्गन में एक प्रकार का अत्यन्त अपोहवाद सूचित है। अन्यत्व न अन्य में हो सकता है, न अनन्य में। अन्य में अन्यत्व की कल्पना किसी प्रकार के अतिशय का आधान नहीं करती, अनन्य में उसकी कल्पना ही नहीं की जा

सकती। अन्धत्व की अवस्थिति अन्य में हो सकती है, किन्तु अन्धत्व की अवस्थिति के बिना अन्य की सिद्धि ही नहीं होगी।

पन्द्रहवें प्रकरण में स्वभावपरीक्षा है। नागार्जुन के लिए वास्तविक स्वभाव को ऋक्षिम तथा निर्लेख होना चाहिए; किन्तु इसके विपरीत मर्याद में सभी तथाकथित स्वभाव प्रतीत्यसमुत्पन्न एवं सापेक्ष हैं। अतएव उन्हें अवास्तविक या शून्य मानना चाहिए। स्वभाव के अभाव में परभाव भी नहीं हो सकता। स्वभाव और परभाव के न होने पर भाव नहीं हो सकता तथा भाव के न होने पर अभाव भी नहीं हो सकता। स्वभाव, परभाव, भाव एवं अभाव, इनको मानने वाले ब्रह्मशासन को ठीक नहीं पहचानते। यदि स्वभाव की हेतुप्रत्यय से उत्पत्ति हो तो वह ऋक्षिम हो जायगा। अतः स्वभाव की उत्पत्ति, विनाश या अन्यथाभाव असम्भव हैं। किन्तु यह शुद्ध अस्तित्ववाद ही शाश्वतवाद है जिसका तथागत ने नास्तित्ववाद या उच्छेदवाद के समान खण्डन किया है। कात्यायनाख्यब्राह्मण का सब बौद्ध सम्प्रदायों में पाठ मिलता है। इस ग्रन्थ में तथागत ने अस्तित्व और नास्तित्व का प्रतिषेध कर मध्यमा प्रतिपदा का उपदेश किया है जोकि स्वभावशून्यता का उपदेश है।

सोलहवाँ प्रकरण अन्धनबोझपरीक्षा है। संसार के प्रतिषेध के लिए नागार्जुन का कहना है कि यदि संस्कार संसरण करते हैं तो वे नित्य होंगे या अनित्य। नित्य होने पर वे निष्क्रिय एवं असंचारी हो जायेंगे। अनित्य होने पर वे उत्पत्ति के अनन्तर ही नष्ट हो जायेंगे और अतएव संसरण में अंतमय होंगे। संस्कारों के स्थान पर यदि जीव को संचारी बताया जाय तो भी इसी प्रकार की कठिनाई उत्पन्न होगी। यदि संसारी इस जन्म के स्कन्धों का त्याग कर जन्मान्तरीय स्कन्धों का उपादान करे तो अन्तराल में उसका अभाव मानना होगा। यदि अस्वायपूर्वक उपादान किया जाय तो एक साथ ही दो संसारियों की सत्ता पाननी होगी। संसार के समान निर्वाण भी न संस्कारों का हो सकता है, न जीव का। अतएव न बन्धन वास्तविक है न मोक्ष। संसार और निर्वाण दोनों ही कल्पित हैं।

सत्रहवाँ प्रकरण कर्मकल्पपरीक्षा है। कर्म का मूल 'चित्ता' अथवा मानसिक संकल्प है। इस संकल्प से उत्पन्न वाचिक एवं कायिक क्रिया 'अविप्रश्रित्ति' नाम का सूक्ष्म रूप-धर्म, तथा 'परिभोगमय' दान भी कर्म माने जाते हैं। कर्म और कर्मफल का सम्बन्ध उपपादित करने के लिए 'अविप्रश्रान्त' नाम के चित्तविप्रयुक्त धर्म की कल्पना की जाती है। कर्म एक प्रकार का ऋण है, 'अविप्रश्रान्त' ऋणपत्र के समान है। इस कल्पना से कर्म की अनित्यता उसके फल की अनिवार्यता से समंजस हो जाती है। इस समस्त

अभ्युपगम के विरोध में नागार्जुन का कहना है कि यदि कर्म को स्वभावयुक्त माना जायगा तो वह शाश्वत तथा अ-कार्य हो जायगा। पाप, पुण्य आदि भी नित्यव्यवस्थित हो जायंगे। पुनश्च कर्म के कर्ता तथा भोक्ता का भेद अथवा अभेद व्यवस्थापित नहीं किया जा सकता। अतएव कर्म को निःस्वभाव या शून्य मानना चाहिए। कर्म की सत्ता ऐसी ही है जैसे कोई मायानिर्मित पुरुष अन्य का निर्माण करे। क्लेश, कर्म, देह, कर्ता तथा कर्मफल, सब गन्धर्वनगर, मरीचिका अथवा स्वप्न के समान हैं।

अठारहवाँ प्रकरण आत्मपरीक्षा है। यदि आत्मा स्कन्धों से अभिन्न है, तो वह उत्पत्ति-विनाशशून्य हो जायगा। यदि आत्मा स्कन्धों से भिन्न है तो विज्ञान आदि स्कन्ध, लक्षणां से रहित हो जायंगे। अर्थात् स्कन्ध-भिन्न आत्मा में रूप, अनुभव, निमित्तोद्ग्रहण, अभिसंस्करण तथा विषय-प्रतिविज्ञप्ति का अभाव होगा। आत्मा के बनाव में आत्मीय का अभाव अनिवार्य है। आत्मा और आत्मीय के उपशम होने पर योगी निर्मम और निरहंकार हो जायगा। किन्तु इस निर्मम और निरहंकार पुरुष की भी वास्तविक सत्ता नहीं है, जो उसे विद्यमान मानता है वह अविद्या में पड़ा है। जहं और मम के क्षीण होने पर पुनर्जन्म क्षीण हो जाता है। कर्म और क्लेश के क्षय से मोक्ष की प्राप्ति होती है। कर्म और क्लेश विकल्प से उत्पन्न होते हैं, विकल्प प्रपञ्च से, समस्त प्रपञ्च शून्यता में निरुद्ध हो जाता है। तत्प्राप्त ने कहीं आत्मा का उपदेश किया है, कहीं अनात्मा का और कहीं आत्मा एवं अनात्मा दोनों का प्रतिषेध किया है। यह उनका उपायकोशल है। चित्त-मोक्ष के निवृत्त होने पर समस्त अभिधेम भी निवृत्त हो जाता है। अर्थात् परमार्थ अवाक्यमनसगोचर है। चरमता निर्वाण के समान अनुत्पन्न एवं अनिरुद्ध है। बुद्ध का अनुशासन यह है कि सब तथ्य है, सब अतथ्य है, तथ्य एवं अतथ्य दोनों हैं तथा वस्तुतः न अतथ्य है और न तथ्य है। तत्त्व का लक्षण यह है कि वह निरूपेण, शान्त, निष्प्रपञ्च, निर्विकल्प तथा नानात्वरहित है। जो कुछ सापेक्ष है उसका अपना स्वभाव नहीं है, न उसका परभाव हो सकता है। न वह उन्निष्ठ है, न शाश्वत। बुद्ध शासन का मर्म यही है कि परमार्थ न एक है न अनेक, न नित्य और न अनित्य।

उन्नीसवें प्रकरण में काल-परीक्षा है। यह माना जाता है कि अतीत, अनागत तथा वर्तमान, इन तीन रूपों में काल की विज्ञप्ति है। नागार्जुन का कहना है कि वर्तमान और भविष्य अतीत की अपेक्षा ही निर्धारित किये जा सकते हैं। किन्तु यदि वे वस्तुतः अतीत की अपेक्षा रखते तो उन्हें भी अतीत में होना चाहिए था। जब अतीत या तब वर्तमान और भविष्य नहीं थे। जब वे थे ही नहीं तो उन्हें अपेक्षा किस प्रकार हो सकती थी? जिस समय वर्तमान और भविष्य सत्ता-लाभ करते हैं, उस समय अतीत नष्ट हो गया था।

वस्तुतः काल के तीनों विभाग परस्पर सापेक्ष हैं, किन्तु हो नहीं सकते क्योंकि जब एक होता है तो दूसरे नहीं होते। यह कहा जा सकता है कि काल की सत्ता क्षणादि परिमाण से सूचित होती है। किन्तु क्षण आदि से अतिरिक्त यदि कोई स्थिर काल हो तभी क्षण आदि के द्वारा उसके परिमाण का ग्रहण किया जा सकता है। इस प्रकार का कूटस्थ काल सर्वथा असिद्ध है। दूसरी ओर यह भी नहीं कहा जा सकता कि क्षणादि के द्वारा किसी नित्य काल की अभिव्यक्ति होती है। यदि यह कहा जाय कि संस्कृत पदार्थों की अपेक्षा काल की सत्ता होती है तो भी यह स्मरणीय है कि इन पदार्थों की सत्ता स्वयं असत्य है।

औसत प्रकरण का नाम सामग्री-परीक्षा है। हेतुप्रत्यय-सामग्री की सत्ता का निराकरण करते हुए नागार्जुन का कहना है कि यदि सामग्री में फल विद्यमान है तो सामग्री से वह उत्पन्न किस प्रकार होता है? और यदि वह सामग्री में विद्यमान नहीं है तो उसे सामग्री से उत्पन्न किस प्रकार कहा जा सकता है? हेतु-फल-भाव की अनुपपन्नता उपर्युक्त रीति से ही यहाँ पुनः विस्तारित है। संभव-विमर्श-परीक्षा नाम के इसीसर्वे प्रकरण में भी उत्पत्ति तथा विनाश को असंभव प्रतिपादित किया गया है।

औसत प्रकरण में तथागत-परीक्षा है। तथागत के अस्तित्व का नागार्जुन ने उसी प्रकार निराकरण किया है जैसे आत्मा के अस्तित्व का। न तथागत स्कन्धात्मक हो सकते हैं न स्कन्धातिरिक्त। स्कन्धों के सहारे उनकी प्रज्जप्तिमान होती है। स्कन्धापेक्ष होने के कारण वे निस्स्वभाव हैं। तथागत की इस शून्यता में किसी अन्य वस्तु की अशून्यता अभिप्रेत नहीं है। अतएव यह भी कहा जा सकता है कि तथागत न शून्य हैं न अशून्य, न दोनों, और न दोनों का अभाव। इस स्वभाव-शून्यता के कारण ही निरोध के अनन्तर बुद्ध रहते हैं अथवा नहीं, इस प्रकार की चिन्ता अयुक्त है। जो बुद्ध को प्रपञ्चातीत तथा अव्यय प्रपञ्चित करते हैं, वे प्रपञ्च से ही विहृत हैं, वे तथागत को नहीं जानते। तथागत का वही स्वभाव है जो जगत् का, दोनों ही निस्स्वभाव है।

तेईसवाँ प्रकरण क्षिर्यासपरीक्षा नाम का है। राग, द्वेष, और मोह की उत्पत्ति में संकल्प साधारण कारण है तथा शून्य आकार, अशून्य-आकार एवं विपरीत क्रमशः विशिष्ट कारण हैं। किन्तु शून्य, अशून्य आदि की अपेक्षा उत्पन्न होने के कारण क्लेश निःस्वभाव हैं। आत्मा की शून्यता के कारण भी वे निराश्रय हैं। रूप, रस आदि षड्विध बाल्य वस्तु भी स्वप्नोपम हैं। अतएव क्लेश निराश्रय हैं। यदि अनित्य को नित्य समझना अविद्या है तो शून्य को अनित्य समझना क्या अविद्या नहीं है?

चौबीसवें प्रकरण में ज्ञानैतत्थों की परीक्षा की गयी है। यह सांका हो सकती है कि शून्यता का स्वीकार करने पर उत्पत्ति और निरोध, असत्य हो जाते हैं, अतः ज्ञानैतत्थ

भी मिथ्या मानने होंगे। ऐसी स्थिति में आर्यफल, आर्य-पुरुष, संघ, धर्म एवं बूढ़ की भी सत्ता असम्भव हो जायेगी। न केवल तीनों रत्न शून्यता से विमृष्ट हो जाते हैं अपितु समस्त लौकिक व्यवहार भी। उसके उत्तर में नागार्जुन का कहना है कि इस प्रकार की शंका शून्यता के अज्ञान के कारण है। तथागत ने संवृत्ति सत्य तथा परमार्थसत्य, इन दोनों सत्तों का उपदेश किया है। इन दो का विभाग ठीक न जानने पर मग्धीर बूढ़-शासन में प्रवेष्ट नहीं हो सकता। व्यवहार का सहारा लिये बिना परमार्थ का उपदेश सम्भव नहीं है। परमार्थ के ज्ञान के बिना निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती। शून्यता का असम्भूत ज्ञान वैसे ही नास्तिक सिद्ध होता है जैसे दुर्गुहीत सपं अथवा दुष्प्रसाधित विद्या। यही कारण है कि संबोधि के अनन्तर तथागत ने प्रमोददेश के प्रति अर्वाच का अनुमन किया। शून्यता पर आशेष करना व्यर्थ है। शून्यता के न मानने पर तथा नाश वस्तु-स्वभाव स्वीकार करने पर हेतु-प्रत्यय-भाव तथा उत्पत्ति और निरोध का कम सम्भव है। दूसरी ओर प्रतीत्यसमुत्पाद का ही नामान्तर शून्यता है। सापेक्ष अप्रदेश तथा मध्यमा-प्रतिपद भी वही है। कोई भी वस्तु अप्रतीत्य उत्पन्न नहीं होती, अतः कोई भी वस्तु अशून्य नहीं है। वस्तुतः शून्यता के न मानने पर ही आर्यसत्य आदि के अभाव का बोध सिद्ध होता है। यदि सब कुछ स्वभाव-सिद्ध है तो अनित्यात्मक दुःख, समुदय, निरोध तथा मार्ग असम्भव हो जायेंगे। जो प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है वही दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग को भी देखता है।

पञ्चीसर्वा प्रकरण निर्वाणपरौक्षा नामक है। यह शंका की जा सकती है, यदि सब कुछ शून्य है, न किमी की उत्पत्ति होती है न विनाश, तो किसके ग्रहण अथवा निरोध के द्वारा निर्वाण सम्भव होगा? इस शंका के उत्तर में नागार्जुन का प्रतिप्रश्न है कि यदि सब कुछ अशून्य अथवा स्वभावसिद्ध है, न किसी की उत्पत्ति होती है न विनाश, तो भी किसके ग्रहण व निरोध के द्वारा निर्वाण सम्भव है? वस्तुतः निर्वाण अग्रहीत एवं असम्प्राप्त है, अविच्छिन्न एवं अशाश्वत, अनिरुद्ध एवं अनृपवत्। निर्वाण को भावरूप नहीं कहा जा सकता क्योंकि अस्तित्व जरा-मरण आदि के अतिरिक्त नहीं हो सकता। यदि निर्वाण भावात्मक माना जाय तो निर्वाण संस्कृत एवं सोपादान हो जायगा। यदि निर्वाण भावात्मक नहीं तो उसे अभावात्मक भी नहीं माना जा सकता। अभाव सापेक्ष एवं सोपादान होता है। निर्वाण को वैसा नहीं माना जा सकता। निर्वाण न भाव है, न अभाव। उत्पत्ति, निरोध का सापेक्ष कम संसार कहा जाता है। उसी की निरपेक्षतया अप्रवृत्ति को निर्वाण कहते हैं। संसार और निर्वाण में किसी प्रकार का भेद नहीं है। परमार्थ समस्त उपालम्भ एवं प्रपंच का उपशम है। वस्तुतः बूढ़ भगवान् ने कभी किसी के लिए किसी धर्म का उपदेश नहीं दिया।

सञ्जीवनें प्रकरण में द्वावशाम्भतन का प्रसंग है। यह प्रसिद्ध है कि अविद्या से संस्कार उत्पन्न होते हैं। संस्कारों से जन्मान्तर में विज्ञान का प्रादुर्भाष होता है, विज्ञान से नाम-रूप का, नामरूप से पञ्चायतन का, पञ्चायतन से संस्पर्श का, स्पर्श से वेदना का, वेदना से तृष्णा का, तृष्णा से उपादान का, उपादान से भव का, भव से जाति का, जाति से जरा-मरण का। इस प्रकार बारह कार्यों की परम्परा से दुःख की उत्पत्ति होती है। हेतु-प्रत्यय को अपेक्षा संसार की प्रवृत्ति ही प्रतीत्यसमुत्पाद है। संसार का मूल कारण अविद्या है, अविद्या का अर्थ है भ्रमता का अज्ञान। भ्रमता का ज्ञान होने पर संसार-प्रवाह का निरोध हो जाता है। तत्त्वदर्शी के लिए अविद्या नित्य प्रहीण है। नागार्जुन का अभिप्राय यह है कि प्रतीत्यसमुत्पाद वास्तविक उत्पत्ति एवं निरोध को सूचित नहीं करता, अपितु सब धर्मों की अन्योन्य सापेक्षता को। संसार की उत्पत्ति अविद्या-मुख से है। माना पदार्थ एवं उनकी उत्पत्ति-निरोध अज्ञान होने पर ही प्रतिभासित होते हैं।

सत्ताईसवें प्रकरण का नाम दृष्टिपरीक्षा है। बुद्ध भगवान् के समय में पूर्वोक्त तथा अपरान्त के विषय में अनेक प्रकार के विवाद प्रचलित थे, इन्हें ही यहाँ दृष्टि कहा गया है। सब दृष्टियों का भ्रमता के अन्युपगम से निरोध हो जाता है।

आर्यदेश—आर्यदेव अथवा देव नागार्जुन के प्रधान शिष्य थे। उन्हें कामदेव अथवा नीलनेत्र भी कहा गया है। कुमारजीव ने इनकी जीवनी का चीनी अनुवाद लगभग ४०५ ई० में सम्पन्न किया था। आर्यदेव के विषय में यह कहा गया है कि वे दक्षिणावर्त के ब्राह्मण थे। उनके समय में महेश्वर की एक बहुत ऊँची स्वरूपमयी प्रतिमा थी जिसके विषय में प्रसिद्ध था कि उसके सामने की हुई कामना अवश्य पूरी होती है। इस मूर्ति को कलनाभाव सिद्ध करने के लिए आर्यदेव ने उसकी बायी ओर निकाल ली, किन्तु पीछे अपनी निरहंकारता सिद्ध करने के लिए उन्होंने स्वयं अपनी एक ओर निकाल लिया। श्वान्ध्याय के अनुसार देव बोधिसत्त्व सिंहल से नागार्जुन के दर्शन के लिए आये थे। परस्पर वादसंवाद के अनन्तर नागार्जुन ने आर्यदेव को अपना धार्मिक उत्तराधिकारी स्वीकार किया। बुद्धों के अनुसार आर्यदेव का सिंहल में जीवपादुक रूप से आधिर्भाव हुआ था। वहाँ के राजा ने उनका पालन-पोषण किया। पीछे नागार्जुन के वे प्रधान शिष्य तथा धर्मदायाद बन गये। आर्यदेव ने तालंदा जाकर मातृषेट नाम के माहेश्वर आचार्य से तर्क किया तथा सद्धर्म की रक्षा की। बुद्धों के अनुसार इस प्रसंग में श्रीपर्वत से तालंदा जाते हुए मार्ग में आर्यदेव ने वृक्ष-देवता को अपनी एक ओर का दान कर

दिया। परम्परा के अनुसार आर्यदेव ने आठवीं भूमि प्राप्त की थी। एक अनुश्रुति उनकी मृत्यु उनके द्वारा पराजित एक तीक्ष्ण शिष्य के हाथों बताती है। चन्द्रकीर्ति के अनुसार आचार्य आर्यदेव सिंहलद्वीप में उत्पन्न हुए थे और वहाँ युवराज होकर पीछे वहीं प्रव्रजित हुए तथा दक्षिण में जाकर आचार्य नागार्जुन के शिष्य बने। उनके रचित ग्रन्थों में भाष्यमिक-चतुःशतिका, माध्यमिक-हस्तशाल-प्रकरण, स्वस्तित-प्रमथन-मुक्ति-हेतु-सिद्धि, तथा ज्ञानसारतन्त्रसूच्य का उल्लेख प्राप्त होता है। उन्होंने तन्त्र पर भी अनेक ग्रन्थ लिखे तथा अद्यमिलप्रमथप्रदीप चित्तावरण-विशोध, चतुःषोडशब्रह्ममंडल-अपायिका-विधिसार-समुच्चय, चतुःषोडशाधन, ज्ञानवाकिनीसाधन तथा एकद्वयपंचिका। यह सम्भव है कि वज्रवागी आर्यदेव माध्यमिक आर्यदेव से भिन्न हों।

आर्यदेव का प्रधान ग्रन्थ चतुःशतक है जिसका डा० वेद तथा महामहोपाध्याय विधुशेखर शास्त्री ने तिब्बती अनुवाद से अंगतः उद्धार किया है। चित्तविशुद्धिप्रकरण तथा हस्तशालप्रकरण के उद्धार का भी मूल किया गया है।

शून्यवाद के लिए आर्यदेव के चतुःशतक का महत्त्व नागार्जुन की माध्यमिक कारिकाओं के ही अनन्तर है। चतुःशतक को बोधिसत्त्व-योगाचार-शास्त्र भी कहा गया है। इस नाम से नागार्जुन और आर्यदेव की कृतियों का भेद सूचित होता है। माध्यमिक-कारिकाओं में शून्यता का तार्किक प्रतिपादन भाष किया गया है। चतुःशतक में शून्यता के प्रतिपादन को बोधिसत्त्वचर्या के साथ समन्वित किया गया है। नागार्जुन ने शून्यता को परमार्थसत्य बताकर उसके साथ एक व्यावहारिक या संवृत्तिसत्य भी स्वीकार किया था। आर्यदेव ने इस देशान्तरभेद को अधिकारभेद के साथ समन्वित कर बोधिसत्त्व को योगचर्या का एक निश्चित कम प्रदर्शित किया है जिसमें शून्यता का स्थान चरम है। महामानसूत्रों में शून्यता और योग का सम्बन्ध निश्चित है, किन्तु उसकी दार्शनिक व्याख्या अस्पष्ट है। नागार्जुन की प्रधान कृति में साधना का व्यावहारिकपक्ष उपेक्षित है। आर्यदेव में साधन और दर्शन, योग एवं शून्यता का पूर्ण सामंजस्य है।

चतुःशतक में १६ प्रकरण हैं। पहला प्रकरण नित्य-ब्राह्म-प्रहाणोपायसन्दर्शन है, जिसमें कथ-आदि तन्त्रों को हेतुप्रत्यय-सम्भूत होने के कारण अनित्य सिद्ध किया गया है। दूसरा प्रकरण सुख-ब्राह्म-प्रहाणोपायसन्दर्शन है जिसमें अनित्य वस्तुओं की दुःखात्मकता प्रतिपादित है। तीसरा प्रकरण बुद्धि-ब्राह्म-प्रहाणोपायसन्दर्शन है जहाँ दुःखात्मकता से अशुचित्व का प्रदर्शन है। चतुर्थ प्रकरण में आत्मब्राह्म के निराकरण का उपाय वर्णित है, पाँचवें में बोधिसत्त्वचर्या का विवरण है, छठे में क्लेशों के प्रहाण का उपाय सन्दर्शित है, सातवें में मनुरूप-मुलभ अभीष्ट भोगों से मुक्ति का उपाय निरूपित है, आठवें में शिष्यचर्या का वर्णन है, नवम में नित्यार्थ प्रतिषेध की

भावना प्रदर्शित है, वयम में आत्मप्रतिषेध है, एकादश में कालप्रतिषेध है, द्वादश में दृष्टिप्रतिषेध, त्रयोदश में इन्द्रियार्थप्रतिषेध, चतुर्दश में अन्तर्ग्राहप्रतिषेध, पंचदश में संस्कृतार्थप्रतिषेध, तथा षोडश में मुक्तशिष्याभिनिर्दय भावना का निरूपण है।

चतुःशतक पर धर्मपाल तथा चन्द्रकीर्ति की व्याख्याएँ विदित हैं। धर्मपाल ने समस्त ग्रन्थ को दो तुल्य भागों में विभक्त किया था। पूर्वार्ध की २०० कारिकाओं में धर्मशासन है, अपरार्ध विग्रहशतक है जिसमें तर्क तथा शब्दन का प्राधान्य है। धर्मपाल ने केवल उत्तरार्ध पर व्याख्या की थी। चन्द्रकीर्ति ने समस्त को एक इकाई मान कर व्याख्या की है। पूर्वार्ध में प्रत्येक कारिका के साथ एक-एक दृष्टान्त उल्लिखित है। इन दृष्टान्तों को मूलतः आचार्य धर्मशास ने समोभित किया था।

आर्यदेव का कहना है कि बौद्ध मत सर्वश्रेष्ठ होते हुए भी अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण सर्वाधिक लोकप्रिय नहीं है। ब्राह्मण धर्म में बाह्य उपालना का प्राधान्य होने के कारण वह स्कुलबुद्धि जनता को आकर्षित करता है। जैनधर्म जादू-प्रधान है तथा पूर्वजन्म के अपुण्य का फल है। वास्तविक धर्म संश्लेष में अहिंसा ही है तथा शून्यता ही निर्वाण है। किन्तु शून्यता का उपदेश सब के लिए नहीं है। हीन अधिकारियों के लिए दान का उपदेश है, मध्यम अधिकारियों के लिए शील का, उत्तम अधिकारियों लिए ध्यान का। शान्ति की प्राप्ति स्वभावशून्यता के योग से ही सम्भव है। यह सूक्ष्मतम होते हुए भी प्रकारान्तर से सरलतम है क्योंकि इसमें किसी प्रकार का कर्म आवश्यक नहीं है। शून्यता का ज्ञान बहुबुद्धि नित्यसिद्ध एवं निर्गुण परमार्थ का ज्ञान है। ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होती है। नन्द-जगत् की वास्तविकता की प्रतीति ही अज्ञान है। शून्यता उसकी निवर्तक है।

शून्यता की सिद्धि के लिए आर्यदेव ने भी स्यादि स्थानों का तथा काल, सत्य परमाणु एवं आत्मा का खण्डन किया है। अनेक स्थलों पर नागार्जुन की युक्तियों का अनुवादमात्र है, किन्तु तथापि आर्यदेव की तर्कशैली में एक नवीनता है। नागार्जुन ने प्रायः सर्वत्र "तत्त्वान्मत्वविकल्प" को उपस्थापित कर उभयमा अनुपपत्ति पुरस्कृत की है। फलतः जिस युक्ति से नागार्जुन ने यति का निषेध किया है उसी से 'दर्शन' का, जिस युक्ति से आत्मा का निषेध किया है उसी से तथागत का। नागार्जुन के 'प्रसंगापादन' में व्यापक एकरसता है जो निराकरणीय विषयों के तथा मतों के वैलक्षण्य की उपेक्षा कर देती है। आर्यदेव अनेकत्र अपने प्रतिषेधों में विशिष्ट विषयों के द्वारा प्रस्तावित युक्तियों का विचार करते हैं। उदाहरण के लिए उन्होंने वैशेषिकों के नित्य परमाणुवाद का विस्तार से खण्डन किया है तथा इस प्रसंग में विपक्ष के दोषों का आविष्कार किया है।

नागार्जुन तथा आर्यदेव की तर्कप्रणाली प्रसंगानुमान पर आश्रित है। वे स्वयं किसी प्रकार का अभ्युपगम नहीं करते, किन्तु अशेष अभ्युपगमों में विरोध की प्रसक्ति प्रदर्शित करते हैं। विरोध से अन्तर्प्रसू होने के कारण अस्तित्व-नास्तित्व, कार्य-कारण आदि सभी पक्ष निराकृत हो जाते हैं। शून्यवादी को सब मतों और वादों का ग्रहण अभीष्ट है। शून्यता स्वयं कोई पदार्थ अथवा वाद नहीं है।

उत्तरकालीन प्रवृत्तियाँ—इस प्रकार का तर्क कठिनाइयों से मुक्त नहीं है। यदि शून्यवादी न किसी प्रमाण को मानता है, न प्रमेय को, तो उसके विपुलाकार प्रश्नों का प्रतिपाद्य हो क्या हो सकता है? परमत् के स्रष्टन के लिए भी उभयसिद्ध दृष्टान्त अपेक्षित है जो कि शून्यवादी को दृष्ट नहीं है। मुनरच सर्वप्रमाणसिद्ध जगत् का अपलाप करते हुए शून्यवादी का निरपवाद नास्तिकता के मत में निपात अनिवार्य है। नागार्जुन ने विप्रहृष्यावर्तनी में इन आपत्तियों का उत्तर देने की चेष्टा की है। शून्यवादी प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार को संवृतिसत्य मानता है, किन्तु उसकी सापेक्षता के कारण उसकी स्वभावशून्यता जानता है। अविद्या के गर्भ में संवृत जगत् की व्यावहारिक सत्ता अप्रति-पिद्ध है, किन्तु इस जगत् की विचारक्षमता उसकी पारमाधिक शून्यता खोति करती है। शून्यता नास्तिकता न होकर स्वप्नोपमता है।

किन्तु इससे पूर्ण समाधान नहीं होता। यदि व्यवहार में स्वविरोध है तो इस स्वविरोधिता की उक्ति स्वविरोधी है अथवा नहीं? मुनरच, यदि सब धर्म मिथ्या एवं स्वप्नोपम हैं तो यह स्वप्नोपमता विद्यमान है अथवा नहीं? मैत्रेयनाथ ने अभूत-परिकल्प (=मिथ्या कल्पना) का अस्तित्व स्वीकार कर विज्ञानवाद की प्रतिष्ठा की। संसार भ्रान्त अनुभवमान है, किन्तु यह भ्रान्ति अविसमान नहीं है। यही नहीं, इस भ्रान्ति का जाग्रत परावृत्त होकर बोधि को व्यक्त करता है। इस मत में परमार्थ को एक प्रकार से व्यवहार का आधार कह सकते हैं। दूसरी ओर शून्यवाद के विरुद्ध ताकिक शंकाओं के समाधान के लिए तथा सम्भवतः विज्ञानवाद के प्रभाव से स्वातन्त्रिक-माध्यमिक मत का आधिर्भाव हुआ।

स्वातन्त्रिक शाखा—आचार्य भानविकेक अथवा भय ने माध्यमिकों की स्वातन्त्रिक शाखा की प्रतिष्ठा की। उन्होंने माध्यमिककारिकाओं पर प्रज्ञाप्रदीप नाम की व्याख्या लिखी जो तिब्बती में शेष है। माध्यमिक-सूत्र-कारिका नाम के एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का भी उन्होंने प्रणयन किया जिस पर उन्होंने तर्कशाला नाम की व्याख्या स्वयं लिखी। तर्कशाला का संस्कृत-मूल उपलब्ध, किन्तु अप्रकाशित है।

अन्य के करतलखरन तथा मध्यमकार्यसंग्रह नाम के ग्रन्थों का संस्कृत में उद्धार किया गया है। उनको दो और कृतियाँ विहित हैं—मध्यमकावतारप्रबोध, तथा मध्यमकप्रतीरोधसमुत्पाद ।

भाषाविवेक ने बुद्धानुमान के समर्थन में 'स्वतन्त्र अनुमान' उद्भाषित किये हैं। इन स्वतन्त्र अनुमानों में 'पदा' को 'परमार्थतः' इस विशेषण से विशेषित किया गया है, हेतु में विषयव्यावृत्ति नहीं है, तथा अनुमितिप्रसज्यप्रतिषेधारम्भक है। उदाहरण के लिए भव्य का एक 'स्वतन्त्र प्रयोग' इस प्रकार है—'परमार्थतः आध्यात्मिक आद्यतन स्वतः उत्पन्न नहीं हैं, क्योंकि वे विद्यमान हैं, यथा चैतन्य' । यहाँ 'परमार्थतः' विशेषण इसलिए दिया गया है कि चक्षु-आदि ज्ञापतनों का सावृत उत्पाद प्रतिषेध नहीं है। 'स्वतः उत्पाद' के निषेध में 'परतः उत्पाद' अभीप्सित न होने के कारण यहाँ 'प्रसज्य-प्रतिषेध' अंगीकार्य है न कि 'पर्युदास प्रतिषेध' ।

'स्वतन्त्रानुमान' के समर्थन के साथ भव्य ने 'प्रसंगानुमान' का निराकरण किया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने आचार्य बुद्ध-पालित का विशेष रूप से सूचन किया है। बुद्ध-पालित भाषाविवेक के ज्येष्ठ समकालीन थे तथा 'प्रसंगिक साध्यात्मिक' मत के प्रतिष्ठाता थे। बुद्धपालित ने साध्यात्मिक कारिकाओं पर मध्यमकवृत्ति नाम की व्याख्या लिखी थी। भाषाविवेक का कहना है कि प्रसंगानुमान में हेतु और दुष्टान्त का अभाव है, परीक्ष्य दोष का परिहार भी नहीं है, तथा प्रसंगवाच्य को उलटकर विपरीत अर्थ सिद्ध किया जा सकता है। उदाहरण के लिए बुद्धपालित ने इस प्रसंग का आपादन किया है—'पदार्थ स्वतः उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि उनकी उत्पत्ति व्यर्थ होगी, और (उत्पत्ति मानने पर) उत्पत्ति कभी निवृत्त नहीं होगी।' इसको इस प्रकार उलटा जा सकता है—'पदार्थ परतः उत्पन्न हैं, क्योंकि तब उनकी उत्पत्ति एवं निरोध सावकाश होंगे'। यह स्मरणीय है कि नैयायिकों के अनुसार भी 'प्रसंग' को हेतु के अभाव में अनुमान नहीं माना जा सकता। अनुमान से बहिष्कृत होने पर प्रसंग का किस प्रमाण में अन्तर्भाव होगा ?

भाषाविवेक के स्वतन्त्रानुमान का आधार प्रसंग में दोषोपपत्ति ही नहीं है, अपितु परमार्थ एवं संवृति के विषय में मतपरिष्कार है। भाव-विवेक के अनुसार परमार्थ भी द्विविध है, संवृति भी। एक ओर 'अपर्याय-परमार्थ' है, दूसरी ओर 'पर्याय-परमार्थ'। 'अपर्याय परमार्थ' अनभिसंस्कार, लोकोत्तर, अनास्तव, एवं अप्रपञ्च है। 'पर्यायपरमार्थ' साभिसंस्कार, तथा प्रपञ्चानुगत है। यहाँ 'कल्पनानुलोमिक परमार्थज्ञान' है। संवृति में भी 'तथ्यसंवृति' तथा 'विध्यासंवृति' ये दो भेद हैं। परमार्थाश्रित दोषना तथ्यसंवृति है। तथ्यसंवृति परमार्थ की शब्द और तर्क के स्तर पर अभिव्यक्ति है।

परमार्थ और संवृति के इन अन्तर्गत भेदों की कल्पना से भावविवेक में उनके मध्य की खाई पूरने का यत्न किया है। 'तथ्यसंवृति' तथा 'पर्यायपरमार्थ' प्रतीयमान मिथ्या जगत् से प्रपञ्चातीत अनिर्वाच्य सत्य तक पहुँचने के पुल हैं। 'अपरोक्ष परमार्थ' तथा 'पर्यायपरमार्थ' की तुलना वेदान्त के निरुपाधिक एवं सोपाधिक ब्रह्म से की जा सकती है। यह स्मरणीय है कि माया (=संवृति) के भी वेदान्त में दो भेद हैं—विद्या तथा अविद्या। वस्तुतः मिथ्या से सत्य तक पहुँचने के लिए ज्ञान की आवश्यक रूप से मध्यस्थ मानना होगा। अन्यथा परमार्थ निरर्थक शब्द मात्र रहेगा। ज्ञान के भी दो भेद मानना अनिवार्य है—परोक्ष तथा अपरोक्ष। असत्य में प्रसक्त लोक की परमार्थ की ओर प्रवृत्ति उपदेशमूलक परोक्ष ज्ञान के बिना नहीं हो सकती। यह परोक्ष ज्ञान ही अपरोक्ष ज्ञान के आकर्षण का सूत्र सिद्ध होता है। अपरोक्ष ज्ञान परमार्थ का साक्षात् द्वार है। भावविवेक के मत में यही दृष्टि अन्तर्भूत है।

प्रासंगिक मत—स्वातन्त्रिक मत के अण्डन का तथा प्रासंगिक मत के उद्धार का श्रेय आचार्य चन्द्रकीर्ति को है। चन्द्रकीर्ति धर्मपाल के शिष्य कहे गये हैं; अतएव उन्हें छठी शताब्दी में मानना चाहिए। ताराणाथ के अनुसार उनका जन्म दक्षिणापथ के समस्त नाम के स्थान में हुआ था। शैशव में ही उन्होंने विविध प्रतिभा का परिचय दिया। नागार्जुन की कृतियों का परिशीलन उन्होंने आचार्य बुद्धपालित तथा मध्य के शिष्य कमलासिद्धि के निर्देशन में किया। तदनन्तर नालन्दा में चिरकाल तक निवास कर उन्होंने माना ग्रन्थों की रचना की। बुद्धो (पृ० १३४-३५) के अनुसार चन्द्रकीर्ति का जन्म दक्षिण में समस्त नाम के स्थान में हुआ था। उनमें अनेक अलौकिक शक्तियाँ बतायी गयी हैं, तथा वे चित्रलिखित ग्रन्थ का दोहन कर सकते थे तथा पाषाण के स्तम्भ का बिना उसे स्पर्श किये प्रक्षोभ कर सकते थे। चन्द्रकीर्ति के प्रधान ग्रन्थ मध्यसंकाश-तार, माध्यमिककारिकाओं पर प्रसन्नप्रदा नाम की व्याख्या, तथा आमदेव के चतुःशतक पर व्याख्या है।

चन्द्रकीर्ति का कहना है कि माध्यमिक का कोई भी स्वपद नहीं है तथा सनी पदार्थ उसके लिए स्वभावशून्य हैं। ऐसी स्थिति में माध्यमिक हेतु अथवा दृष्टान्त का अभिधान नहीं कर सकता। प्रसंग अनुमान नहीं है। परोक्ष अनुमान में प्रसंग का आपादन होता है, प्रसंग का साधन नहीं। प्रसंगार्पण विपरीत के मत को व्याहृत सिद्ध करती है। इससे शून्यवादी का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। उसे निःशेष मतों का प्रहण ही अभीष्ट है। चन्द्रकीर्ति भी संवृति को 'लोकसंवृति' एवं 'अलोकसंवृति' में विभक्त करते हैं, किन्तु इन दोनों ही विभागों को भावविवेक की मिथ्यासंवृति के अन्तर्गत मानना चाहिए।

अध्याय ११

महायान का दर्शन—योगाचार, विज्ञानवाद

‘योगाचार’ और ‘विज्ञानवाद’

विद्यारण्य स्वामी ने सर्वदर्शनसंग्रह में ‘योग’ और ‘आचार’ के अर्थ ‘कमलः गुरु के उपदेश में अप्राप्त की प्राप्ति के लिए पर्यनुयोग तथा उपदिष्ट अर्थ का अंगीकार’ बताया है। उनके मत से बाह्यार्थ की शून्यता का अंगीकार करने से तथा आन्तरिक की शून्यता का पर्यनुयोग करने से ही ‘योगाचार’ यह नाम प्रसिद्ध हुआ^१। किन्तु यह व्युत्पत्ति अशुद्ध है। इसके विपरीत भास्कराचार्य सत्य के समीपतर है—‘शमविविषयनायुगलङ्घ-वाही मार्गो योग इति योगलक्षणम्। शमश्च इति समाधिकच्यते। विषयना सम्बन्धोन्-लक्षणा। यथा युगलङ्घो बलौकदी बहतस्तथा यो मार्गः सम्बन्धोन्लवाही स योगः। सेनाचरतीति योगाचार उच्यते’^२। अर्थात् शम और विषयनात्मक योग मार्ग का आचरण ही ‘योगाचार’ का मर्म है। यह लक्षण अधिक व्यापक हो जाता है। वस्तुतः ‘योगा-चार’ सम्प्रदाय में योगचर्चा का एक विशिष्ट कम और उससे सम्बद्ध दार्शनिक भावना अंगीकृत है। प्रज्ञापारमिता, लंकावतार, आदि सूत्रों में विभिन्न बोधितत्त्व-भूमिदों की प्राप्ति का मार्ग निर्दिष्ट है जिसका मर्ममनास के अभिसमयालंकार तथा असंग के योगा-चारभूमिशास्त्र में विस्तृत निरूपण है। योगाचारभूमिशास्त्र को इस सम्प्रदाय का मूल शास्त्र कहा गया है।^३ असंग के महायानसंग्रह के अनुसार योग के द्वारा परमार्थ ज्ञान की

१—“विपर्यस्ताद्योगश्चाचारश्चेति द्वयं करणीयम्—गुरुकृतभावनास्तनुष्यं बाह्यार्थस्य शून्यत्वं चांगीकृत्यान्तरस्य शून्यत्वं चाङ्गीकृतं कथमिति पर्यनु-योगस्य करणाथैवाञ्चिद्योगाचारप्रथा।” (सर्वदर्शनसंग्रह, १० १२, आनन्दश्रम०)।

२—अष्टाशुब, २.२.२८ पर भाष्य।

३—वासुकिपुष्प, बुद्धिस्मृत, जि० १, पृ० ३१७।

और अपसर होना ही योगाचार का लक्षण है। अन्यत्र बोधिसत्त्वभूमि के अनुकूल योगचर्या ही योगाचार का लक्षण उपदिष्ट है। दूसरी ओर समस्त वैधानुक्त की चित्तभाव अथवा विज्ञानभाव घोषित करने के कारण उन्हें 'विज्ञानवादी' कहा जाता है। वसुवन्धु की विज्ञप्तिभाष्यविश्लेषिका और त्रिशिका में 'योगाचार' का यह 'दार्शनिक पक्ष' विस्तृत रूप से प्रतिपादित है। संक्षेप में मैत्रेय, असंग और वसुवन्धु की रचनाओं ने योगाचार-विज्ञानवाद को एक निश्चित सम्प्रदाय और दार्शनिक प्रस्थान का एक रूप दिया। वसुवन्धु के अनन्तर यह सम्प्रदाय अनेक शाखाओं में बँट गया तथा विद्वानाग एवं धर्म-कीर्ति ने कुछ परिवर्तन के साथ इसे एक बौद्ध न्यायसम्मत दर्शन का आकार प्रदान किया। विज्ञानवाद के मूल का अनुगन्धान करते हुए उसका वेदान्त से सामीप्य स्मरणीय है। दोनों में ही समस्त प्रपञ्च के मूल में ज्ञान अथवा विज्ञान को अवस्थित माना जाता है। औपनिषद दर्शन के लिए आन्तरिक्षत का कहना है—'तेषामत्यापराधं तु दर्शनं नित्यतो-न्तितः'। अर्थात् नित्यत्व का स्वीकार ही वेदान्त का 'अल्प अपराध' है। गौरीरक्त भाष्य में बौद्ध विज्ञानवाद का खण्डन करते हुए शंकराचार्य ने बौद्धों की ओर से यह आशंका प्रकट की है—'साक्षिणोऽवगन्तुः स्वयं सिद्धतामुपक्षिपता स्वयं प्रभवे विज्ञान-मित्येव एव मम पक्षस्थया वाचोमुक्तमन्तरेणाश्रित इति।' अर्थात् बौद्ध पक्ष ही वेदान्त से वेदान्त का पक्ष है। इसके उत्तर में शंकराचार्य ने कहा है कि बौद्ध मत में विज्ञान को अनित्य एवं सविशेष माना जाता है जबकि वेदान्त में पारमार्थिक ज्ञान नित्य एवं निर्विशेष है। पुनश्च भेदजगत् को मायिक और स्वप्नवत् मानते हुए भी वेदान्त में उसके अभ्यन्तर सांख्य का अनुसरण करते हुए ज्ञान के अतिरिक्त बाह्य अर्च की सत्ता का अपसाप नहीं किया जाता। दूसरी ओर यह स्मरणीय है कि शंकराचार्य ने साह्य-ग्राहक भाव से विरहित विज्ञान की चर्चा नहीं की है। वसुवन्धु प्रभृति आचार्यों की व्याधानुसार विश्लेषणा अभ्यासपक्ष सांख्यान्य वेदान्त से दूर पड़ती है, किन्तु लंकावतार वादि सूत्रों में वेदान्त से तुलनीय सैद्धान्तिक छाया बहुधा आभासित होती है। अज्ञान-विजृम्भित मानात्वयुक्त जगत् के पीछे एक दैतहित निर्विकल्प ज्ञान की पारमार्थिक

४—वही, पृ० ३१६।

५—वही, पृ० ३१७।

६—३०—नौवे।

७—३०—सत्त्वसंग्रह, ३३०-३१।

८—ब्रह्मसूत्र २.२.२८ पर।

स्थिति है, यह धारणा दोनों में ही मर्मभूत और तुल्य है। किन्तु इसका प्रथम उन्मेष उपनिषदों में उपलब्ध होता है। बौद्धों में इस धारणा का वास्तविक मूल तर्क न हो कर योग्य अनुभूति ही थी, किन्तु कमशः इसीकी तार्किक व्याख्या के द्वारा विज्ञानवादी दर्शन का विकास हुआ। इस तार्किक व्याख्या के प्रसंग में पहले हीनयानी अभिधर्म के प्रभाव ने तथा पीछे बौद्धेतर दर्शनों के साथ संघर्ष ने विज्ञानवाद को अपने रहस्यवादी मूल से दूर पहुँचा दिया। दूसरी ओर, उपनिषदों के आशय का अद्वैत दर्शन में विकास बौद्ध दर्शन के प्रभाव से असंस्पष्ट नहीं माना जा सकता। इसका स्पष्ट प्रमाण गौडगपाद की माणकूष्यकारिकाएँ हैं जिनका औपनिषद मूल बौद्ध ऋषि विस्तार से प्रतिपादित हो चुका है^१। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि विज्ञानवाद की एक रहस्यवादी अनुभूति के रूप में प्रथम अभिधर्मिक उपनिषदों में हुई थी जिसकी कुछ प्रतिध्वनि प्राचीन बौद्ध ग्रंथों में एवं विस्तार महामान-सूत्रों में उपलब्ध होता है। मैत्रेय-असंग एवं जमुङ्गन्ग ने इसी आधारपर योगाचार-विज्ञानवाद को एक पृथक् शास्त्र के रूप में उद्भूत तथा प्रतिष्ठापित किया।

उपनिषदों में आत्मा अथवा ब्रह्म का स्वरूप सत्, अनिर्वचनीय, अवयव ज्ञान कहा गया है। ऐतरेय के अनुसार 'यदेतत् हृदयं मनश्चेतत्। सज्जानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा इष्टिर्भूतिर्मनीषा वृत्तिः स्मृतिः सङ्कल्पः कुरुरसुः कामो वस इति सर्वाण्येवेतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति'^२। अर्थात्, बौद्ध ग्रंथों में, चित्त-चैतन्य विज्ञान से अभिन्न है। इसी उपनिषद के अनुसार सब देवता, सब महामूर्त, सब जीव, समस्त स्थावर और जंगम प्रज्ञान में प्रतिष्ठित हैं। 'प्रज्ञानेनो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म'^३। यही आशय बौद्धों के द्वारा इस प्रकार अभिव्यक्त है—'चित्तमात्रं भो जिनपुत्रा यदुत वैधातुकम्'। अर्थात् तीनों लोक धातु चित्तमात्र है। कौण्टकि ब्राह्मणोपनिषद् में सब विषयों को प्रज्ञापोष कहा गया है। सब भूतमात्राएँ प्रज्ञानात्मा में बँधे ही अवस्थित हैं, जैसे रत्नानामि मे^४ में अर। बृहदारण्यक में याज्ञवल्क्य के मैत्रेयी एवं जनकको दिने हुए उपदेशों में आत्मा का स्वरूप अविनाशी, किन्तु दूतर्हित विज्ञानधन बताया गया है^५। यह स्मरणीय है कि उपनिषदों में विज्ञान अथवा प्रज्ञान का महत्त्व आत्म-स्वरूप होने के कारण ही है, आत्मनिरपेक्ष रूप से नहीं। यह भी स्पष्ट है कि इन स्थलों

१-विधुसेनर भट्टाचार्य के द्वारा।

१०-ऐ० उ० ३.२।

१२-कौ० उ० ३.८।

१३-यही, ३.३।

१३-य० उ० ४.५।

में आत्मा का स्वकामभूत अद्वैत ज्ञान ही अभिप्रेत है न कि वृत्तिज्ञान अथवा अन्तःकरण का धर्मविशेष। किन्तु इस प्रकार की भ्रान्ति की सम्भावना मुख्य है तथा कदाचित् इसीलिए प्राचीन बौद्ध सूत्रों में बार-बार विषयाकान्त चित्तस्वर चित्त का नैरात्म्य उद्घोषित है। इस प्रसंग में मज्झिमनिकाय में उल्लिखित साति केवट्टपुत्त की भ्रान्ति का शास्ता के द्वारा निराकरण स्मरणीय है। किन्तु दूसरी ओर विज्ञान को एक स्वतन्त्र पर 'अनन्त, सर्वतः प्रम' कहा गया है। अल्प विज्ञान के 'अप्रतिष्ठित' होने का उल्लेख है तथा स्वयं बुद्ध भगवान् को 'ज्ञानभूत' कहा गया है। किन्तु यह निस्सन्देह है कि हीनयानी आगम में प्रायः चित्त-विज्ञान को कार्य-कारण से नियन्त्रित एक दुःखमय प्रसङ्ग मान कर निरोद्धव्य ही बताया गया है^१।

महासांघिक और सौत्रान्तिक कल्पनाएँ—हीनयान के सम्प्रदायों में 'प्रज्ञप्ति-वादियों' का उल्लेख मिलता है, किन्तु उनके सिद्धान्तों के पर्यालोचन से यह प्रतीत नहीं होता कि उनका विज्ञानवाद से कोई स्पष्ट सम्बन्ध था। महासांघिकों के सिद्धान्तों में अवश्य चित्त की प्रमास्वरता एवं स्वभावविक्षुद्धि का प्रतिपादन मिलता है, तथा उनके रूपकाम के सिद्धान्त में एक प्रकार से विज्ञानमूलक मायावाद भी अन्तर्निहित है। उन्होंने एक प्रकार के 'मूल विज्ञान' की कल्पना की थी। सौत्रान्तिकों ने 'सूक्ष्म मनोविज्ञान' कल्पित किया था^२।

महायानसूत्र—किन्तु परवर्ती विज्ञानवाद की सम्यक् अवतारणा महायान-सूत्रों में सर्वप्रथम पायी जाती है। तिब्बती जं-यं-शद्-य के सिद्धान्त के अनुसार योगाचार के तीन मूल सूत्र हैं—सन्धिनिर्मोचन, लंकावतार, तथा वनव्यूह^३। एक पुरानी धारा से प्रवाहित, किन्तु चिर-उपेक्षित विज्ञानवाद का बीज महायान-सूत्रों में निक्षिप्त बोधिसत्त्वों की योगचर्या के क्षेत्र में एक आध्यात्मिक आवश्यकता से अंकुरित हुआ। योगाचार विज्ञानवाद का यह अंकुरोद्गम अथवा 'सूत्रकाल' लगभग ई० पू० पहली शताब्दी से ई० तीसरी शताब्दी तक मानना चाहिए। इसके अनन्तर तीसरी से पाँचवीं शताब्दी तक मैत्रेय, असंग, एवं वसुबन्धु के कार्य से विज्ञानवाद की परिणति का युग अथवा 'शास्त्र-काल' मानना चाहिए। वसुबन्धु के अनन्तर न्यायानुसारी, परिवर्तित एवं अनेक-प्रभेद-निष्ठ विज्ञानवाद का युग है।

१४-३०—ऊपर।

१५-३०—ऊपर।

१६-ऐक्या ओरियन्टलिमा, १९३१, पृ० ८४, पाठतिप्पणी।

संज्ञा सूत्रों में उल्लेख—विज्ञानवाद के आविर्भाव के इस काल-निर्णय से एक अन्य भीमास्तित्व पर विचार किया जा सकता है। न्यायसूत्रों के सर्वप्रथम-निराकरण तथा सर्वशून्यतानिराकरण के प्रकरणों में आधिपतिक एवं माध्यमिक दृष्टियों की सूचना उपलब्ध होती है, किन्तु विज्ञानवाद का तुल्य उल्लेख प्राप्त नहीं होता। बाह्याभेद-निराकरण के प्रकरण में भी विज्ञानवाद-विहित कुछ दृष्टियों का उल्लेख होते हुए भी वस्तुतः शून्यवाद का ही निराकरण अभिप्रेत है। योगसूत्रों में कैवल्यपाद के अन्तर्गत 'वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तपोविभक्तः पन्थाः' इत्यादि के द्वारा विज्ञानवाद का स्पष्टन मिलता है। शंकर और रामानुज के अनुसार ब्रह्मसूत्रों में 'नामान उपलब्धेः' इत्यादि के द्वारा विज्ञानवाद का निराकरण किया गया है, किन्तु ऐसा मानने पर शंकर के अनुसार नानकार के द्वारा शून्यवाद का अनुल्लेख मानना होगा तथा रामानुज के अनुसार 'सर्ववानु-पगलेक्ष' में एक पृथक् अधिकरण स्वीकार करना होगा। दोनों ही दशाओं में आपत्ति की जा सकती है। वस्तुतः ब्रह्मसूत्रों में भी न्यायसूत्रों के 'बाह्याभेद-निराकरण' के सदृश शून्यवाद के अभिमत प्रत्यक्षोपलब्ध जगत् के मिथ्यात्व का ही स्पष्टन मानना चाहिए, न कि विज्ञानवाद का।

इस प्रकार न्यायसूत्र एवं ब्रह्मसूत्र दोनों योगसूत्रों से प्राचीन प्रतीत होते हैं। न्याय-सूत्र सम्भवतः प्राचीनतम हैं। उनका परिचय केवल कुछ सामान्य बौद्ध सिद्धान्तों से है यथा सर्वनामानात् अथवा धर्मशून्यता, क्षणमज्ञ एवं नैरात्म्य। अतएव न्यायसूत्रों को ई० पू० पहली शताब्दी से अर्वाचीन मानना चाहिए। ब्राह्मसूत्रों में सर्वोक्तिवाद का विस्तृत परिचय कदाचित् ई० पहली अथवा दूसरी शताब्दी की ओर इंगित करता है। योगसूत्रों को इससे भी परवर्ती मानना चाहिए। उनमें उल्लिखित लक्षण परिणाम आदि का विवेचन भी सम्भवतः सर्वोक्तिवादी आचार्यों का ऋणी है।

सन्धिनिर्माण—सन्धिनिर्माणसूत्र माध्यमिकों के लिए महत्वपूर्ण होते हुए भी मूलतः योगाचार का प्रतिपादक है। इसके अनुसार भगवान् बुद्ध ने तीन धर्मचक्र प्रवर्तन किये थे^१। पहला चतुस्तरय-धर्मचक्र-प्रवर्तन था जिसमें हीनयानी अभिनिर्विष्ट हुए। दूसरा अलक्षणात्वधर्म-चक्र-प्रवर्तन था जिसका विस्तार प्रज्ञापारमितासूत्रों में हुआ है। तीसरा परमार्थ-विनिश्चय-धर्म-चक्र-प्रवर्तन था जो सन्धिनिर्माण, शंका-वतार, पनप्पुह आदि में निरूपित है। हीनयानियों ने उत्पत्तिनिःस्वभावता के आधार पर केवल परतन्त्रलक्षण का ग्रहण किया है। प्रज्ञापारमितासूत्रों में लक्षण-

१५—भासिलियेफ, डेर बुद्धिस्मृत, जि० १, पृ० १६३; ऐक्स्टा ओरिप्येलिया, १९३२, पृ० ९१।

निःस्वभावता के आधार पर परिकल्पितलक्षण का वर्णन किया गया है। परमार्थ-निःस्वभावता के आधार पर परि-निष्पन्न लक्षण का विवरण इन्हीं सन्धिनिर्माचन आदि योगाचार सूत्रों में द्रष्टव्य है^{१८}।

परमार्थ के विषय में सन्धिनिर्माचन में कहा गया है कि समस्त संस्कृतधर्म न संस्कृत है, न असंस्कृत। असंस्कृत धर्म भी इसी प्रकार असंस्कृत नहीं कहे जा सकते। सब कुछ विकल्पमात्र, प्रज्ञप्तिमात्र, आभासमात्र है। परमार्थ विकल्पातीत है एवं उसे एक अथवा अनेक नहीं कहा जा सकता। परमार्थतः सब पदार्थों में लक्षणतमता द्रष्टव्य है^{१९}।

घनव्यूह—घनव्यूह पदार्थों की सीमाओं के परे एक शुद्ध क्षेत्र है^{२०}। घनव्यूह सूत्र में ज्ञानविज्ञान की महिमा निरूपित है। सब कुछ चित्तमात्र है तथा पाँच स्कन्ध कल्पित है। आलय से ही संसार का उद्गम मानना चाहिए। उसी में क्लिष्टाक्लिष्ट बीज विद्यमान हैं, किन्तु उसे आत्मा न समझना चाहिए। सब पदार्थों में तथागतमार्ग ही प्रतिबिम्बित है जैसे चन्द्रमा जल में। यही परमार्थ है। दूसरी ओर नाम तथा लक्षण के द्वारा मिथ्या प्रपञ्च प्रतिभासित होता है।

लंकावतार—लंकावतारसूत्र में बाह्य पदार्थों की सत्ता को मायावत् प्रतीयमान बताया गया है। उनकी प्रतीति एवं प्रविभाग काल्पनिक है। वस्तुतः उनकी कभी उत्पत्ति ही नहीं हुई। जिस प्रकार दीवार पर तस्वीरें खिंची हों ऐसे ही समस्त लोक-सन्निवेश है। समस्त जगत् वर्ण के प्रतिबिम्ब के समान अथवा जल या चाँदनी में छाया के समान समझना चाहिए^{२१}। इस प्रकार बाह्य जगत् की भ्रान्त प्रतीति चित्त के विकल्प से ही होती है। चित्त के अतिरिक्त कुछ सब माया है—“मायोपमाः सर्व-धर्माविषयविज्ञानवज्रिताः।”^{२२} इसीसे शून्यवाद और विज्ञानवाद का भेद भी स्पष्ट हो जाता है। शून्यवाद में सभी पदार्थ निःशेष रूप से मायोपम हैं, विज्ञानवाद में मह समस्त माया चित्त के ऊपर आरोपित है। चित्त-भित्ति पर ही जगच्चित्र विकल्प के द्वारा आलिखित है। यही पर मह उल्लेखनीय है कि लंकावतार में अनेक स्थलों पर शून्यवाद का प्रतिपादन किया गया है और अतएव उसे विशुद्ध विज्ञानवाद का सूत्र-

१८—मेकटा ओरिगन्देलिया, १९३२, पृ० ९३-९५।

१९—वासिलियेक, पूर्व० पृ० १६२।

२०—वही, पृ० १७४।

२१—लंका, पृ० २०।

२२—वही, पृ० २२।

ग्रन्थ नहीं मानना चाहिए। वस्तुतः महाभानसूत्रों में बहुधा सून्यवाद एवं विज्ञानवाद का स्पष्ट भेद प्रतिपादित नहीं हुआ। नागार्जुन, मैत्रेयनाथ आदि के प्रयत्नों से यह भेद प्रकट हुआ, किन्तु पुनः परवर्ती काल में मिश्रित हो गया।

स्वभावतः चित्त अत्यन्त परिसूक्ष्म, निराभास और अद्वय है। तथापि अनादि काल से वह अविद्या के आवरण से आच्छन्न है। अविद्या का मूल स्वरूप ग्राह्य-बाह्य-लक्षण द्वैत की प्रतीति ही है। चित्तमात्र के ही सत्य होने पर भी एक ओर ग्राह्य-सत्ता तथा दूसरी ओर विविधाकार ग्राह्य जगत् की सत्ता अनादि वासना के आधार पर प्रतिभासित होती रहती है। वस्तुतः ग्राह्य और ग्राहक रूप अनुभव के दोनों छोरों को उसकी परिधि के अन्त्यन्तर ही प्रतीयमान मानना चाहिए।

अनादि प्रपञ्च की वासना से बाधित चित्त ही 'आलम्बविज्ञान' एवं 'तथागतगर्भ' कहलाता है।" इसी में समस्त कुशल एवं अकुशल हेतु विद्यमान रहते हैं। यही नित्य और निरन्तर विद्यमान रहता हुआ सब जन्मों और गतियों का कर्ता है। यह अत्यन्त सूक्ष्म तथा दुरालम्ब है। इसी की ठीक न समझने के कारण आत्मवाद की भ्रान्ति प्रस्तुत होती है। आलम्बविज्ञान अथवा तथागतगर्भ की ही विसृष्टि अथवा परावृत्ति से परमायु की प्राप्ति होती है। 'तथागतगर्भ' को 'सर्वसत्त्वदेहान्तर्गत' कहा गया है जिससे वह आलम्ब-समष्टि-सा प्रतीत होता है।

दूसरी ओर आलम्बविज्ञान से ही शक्ति प्रवृत्ति-विज्ञानों की उत्पत्ति होती है जैसे सागर से तरंगों की। विज्ञान जाठ हैं—पाँच इन्द्रिय विज्ञान, विषय परिच्छेदात्मक मनोविज्ञान, अलंकारात्मक मन, अविद्यात्मक आलम्ब-विज्ञान। मन तथा मनोविज्ञान का प्रायः वही कार्य है जो सांख्य में बुद्धि-अहंकार-मन का। पहले पाँच विज्ञान ग्राह्य विषयों के संस्पर्श से प्रवृत्त होते हैं। मनोविज्ञान इन विज्ञानों का समन्वय तथा उनका आलम्ब-विज्ञान से संबन्ध स्थापित करता है। मन अहंकार और ममकार उपस्थित करता है। आलम्बविज्ञान को वासनाशय कहा जा सकता है।

इन जाठों विज्ञानों के भेद को वास्तविक न समझकर केवल कार्यभेद अथवा व्यावहारिक समझना चाहिए। जैसे समुद्र एवं तरंगों में वास्तविक भेद नहीं है ऐसे ही आलम्ब एवं अन्य विज्ञानों में। 'चित्त', 'मन' एवं 'विज्ञान' का भेद भी लक्षणात्मक विकल्पित है। कर्म संचित करने के कारण जो चित्त कहलाता है वही दुश्म जगत् को विषयात्मक रूप से जानने के कारण विज्ञान कहलाता है।

२३-बहो, पृ० ४६ प्र०, ७७-७८, २२०-२३।

२४-बहो, पृ० ४६, १२६, २२९ इत्यादि।

परमार्थ की चित्तमात्रता का यह अर्थ नहीं है कि सुप्रसिद्ध वैयक्तिक चित्तधारकों में समस्त जगत् का कर्णचित् निमज्जन कर गजनिमोलिका को उदाहृत करना होगा। चित्त की वैयक्तिकता तथा 'प्रवर्तन' साहचर्य के अभिव्यक्ति की अपेक्षा रखते हैं तथा हेतुप्रत्यय से प्रतिनियत हैं। बाह्य जगत् तथा व्यक्ति-भेद, दोनों ही प्रपञ्च के अन्तर्गत हैं तथा इस प्रपञ्च का मूल तथागतगर्भ के 'आगन्तुक क्लेशों' में है। एक ओर प्रापञ्चिक भेदजगत् है, दूसरी ओर उसके मूल में अद्वय और विगुह्य चित्त। 'दो सत्यों' का सिद्धान्त यहाँ आभासित है।

इस प्रसंग में 'विस्वभाव' का उल्लेख आवश्यक है। इनमें सर्वप्रथम 'परिकल्पित-स्वभाव' है जिसका प्रकट भ्रान्तियों में समुत्पन्न होता है। व्यावहारिक जगत् में सभी पदार्थ सापेक्ष हैं तथा हेतुप्रत्यय के अधीन। यही उनका 'परतन्त्र स्वभाव' है। ये दोनों ही स्वभाव पदार्थों की क्षुण्यता तथा भाविकता प्रदर्शित करते हैं। सब पदार्थों की वास्तविकता उनकी चित्तमात्रता ही है। इसी को 'परिनिष्पन्न स्वभाव' कहते हैं। यह 'निरामास' एवं 'स्वसिद्ध' है। यही 'तथता' अथवा 'धर्मधातु' है तथा इसका बोध प्रज्ञा या आर्यज्ञान में ही सम्भव है। 'विस्वभाव' को ही प्रकारान्तर से 'पञ्चधर्म' कहा गया है। 'पञ्चधर्म' इस प्रकार हैं—निमित्त, नाम, संकल्प, सम्यग्ज्ञान, एवं तथता। इनमें पहले तीन धर्म पहले दो स्वभावों में अन्तर्भूत हैं। शेष दो धर्म 'परिनिष्पन्न स्वभाव' हैं^{१०}।

लंकावतार के प्रारम्भ में ही माहायानिष्ठ योग का तीर्पयोग से विभेद प्रकट किया गया है। योग का तात्पर्य अद्वय चित्तमात्रता के अभिसमय अथवा साक्षात्कार में है। इसे ही 'प्रत्यात्मगति' अथवा 'आर्यज्ञान' कहा गया है। बोधिसत्त्वों की योगचर्या की अनेक भूमियाँ हैं जिनमें छठी भूमि में निरोध की समाप्ति होती है। सप्तमी भूमि में बोधिसत्त्व सब पदार्थों की निस्स्वभावता का साक्षात्कार करते हैं। आठवीं भूमि में वे विकल्पात्मक चित्त से सर्वथा निवृत्त होते हैं। स्वप्न से जागरण के समान वे प्रपञ्च से मुक्त होते हैं, किन्तु बुद्धानुभाव से परिनिवृत्त नहीं होते। वे परमार्थ में स्थित होते हैं जहाँ न कम है, न कमानुसन्धि, जो निरामास चित्तमात्र है, एवं जिसे विकल्प-विविक्त-धर्म कहा गया है।

लंकावतार में चार प्रकार के ध्यान बताये गये हैं—बालोपचारिक, अर्धप्रविचय, तपतालम्बन, तथागत। हीनयानियों के बुद्ध्यल-नैरात्म्य तथा धर्म-रक्षण में अभिनिवेश पूर्वक सन्नानिरोध तक समस्त ध्यान पहले प्रकार के है। महायानियों के धर्म

मैत्रालम्बपूर्वक ध्यान दूसरी कोट में संश्रद्धा है। दोनों प्रकार के मैत्रालम्ब को विकल्प-मात्र मानने से तथालालम्बन ध्यान निष्पन्न होता है। चतुर्थ ध्यान प्रत्यात्म जाग्रतज्ञान में प्रतिष्ठित है। इसी से तथालभ भूमि में प्रवेश होता है तथा अभिन्त्य सत्त्वकल्याण का कार्य सम्पन्न होता है।

मैत्रेय और असंग—आर्य असंग को ज्ञान देनेवाले बोधिसत्त्व मैत्रेय को एक ऐतिहासिक महापुरुष तथा योगाचार-विज्ञानवाद का वास्तविक प्रतिष्ठायक मानना ही न्याय्य प्रतीत होता है^{११}। श्वानुच्चांग के अनुसार असंग ने तृपित लोक में बोधिसत्त्व मैत्रेय से योगाचार्यशास्त्र, महापानसूत्रालंकार, मध्यान्तविभंगशास्त्र आदि ग्रन्थ प्राप्त किये तथा परवर्त्ती उन्हें प्रचारित किया^{१२}। परमार्थ के चीनी वसुवन्धु-वर्त्ति के द्वारा यह परम्परा छठी शताब्दी में चीन पहुँच चुकी थी तथा उसी शताब्दी में इसका उल्लेख श्वंगपाल ने एवं सातवीं शताब्दी में प्रभाकरमिश्र ने किया है। तिब्बती परम्परा से भी इसका समर्थन उपलब्ध होता है। तारानाथ और बु-दोन के अनुसार असंग ने मैत्रेय पंच-धर्म की प्राप्ति की^{१३}। ये पाँच तात्त्व इस प्रकार हैं—अभिसमयालंकार, सूत्रालंकार, मध्यान्तविभंग, धर्ममर्मताविभंग, तथा महापानउत्तरतन्त्र।

अभिसमयालंकार की पुष्पिका में ग्रन्थकार का नाम 'मैत्रेयनाथ' दिया हुआ है। इस पुग में महान् बौद्ध आचार्यों को बोधिसत्त्व कहने की प्रथा थी और ऐसा प्रतीत होता है कि ऐतिहासिक 'बोधिसत्त्व मैत्रेयनाथ' को नाम-साम्य ने पौराणिक, बोधिसत्त्व (अजित) मैत्रेय, से अभिन्न बना दिया। मैत्रेयनाथ का कातनिर्णय वसुवन्धु की तिथि पर निर्भर करता है। मैत्रेय नागार्जुन की 'भवसंक्रान्ति' के व्याख्याता होने के कारण उनसे परवर्त्ती तथा असंग-वसुवन्धु से पूर्ववर्त्ती थे। इस प्रकार उन्हें तीसरी अथवा चौथी शताब्दी में रखना चाहिए।

मैत्रेय और असंग का परस्पर सम्बन्ध कुछ वैसा प्रतीत होता है वैसा मुकरात और अकलातुन का था। मैत्रेय ने अपना आशय सूत्रात्मक कारिकाओं में निबद्ध किया अथवा उपदेश किया, असंग ने उसकी व्याख्या की। इस व्याख्या के सहारे ही मैत्रेय का आशय सुबोध एवं प्रचारित हुआ। नागार्जुन के सद्युक्त मैत्रेय का मुख्य कार्य भी प्रज्ञापारमितासूत्रों के आपार पर एक दार्शनिक प्रस्थान का प्रवर्तन था। नागार्जुन की जयंती

२६—मुक्ति, वाकिट्ठस आद्य मैत्रेय (नाथ) एवम् असंग, पृ० ७-८; चिन्तरनित्त, जि० २, पृ० ३५२-५३।

२७—श्वानुच्चांग, पृ० २४८, द्वि-लि०, पृ० ८५।

२८—तारानाथ, पृ० ११२; बु-दोन, जि० २, पृ० १४०।

मैत्रेय की रचनाएं योग चर्या से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती हैं तथा निरवशेष-शून्यवाद से उनमें सिद्धान्त-पार्ष्विक दृष्टिगोचर होता है। किन्तु तथापि भाष्यमिक मत से उनका सर्वत्र विमर्श नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ, महायान उत्तरतत्त्व को भाष्यमिक-प्रासंगिक तथा अभिसमयालंकार को योगाचार-भाष्यमिक-स्वातन्त्रिक कहा गया है^१।

महायान-सूत्रालंकार में मुख्यतः बोधिसत्त्वचर्या का निरूपण उपलब्ध होता है तथा उसमें योगाचार का साधन पक्ष ही प्रधान है। समस्त ग्रन्थ २१ अधिकारों में विभक्त है जो इस प्रकार हैं—(१) महायानसिद्धयधिकार—इसमें महायान की श्रेष्ठता एवं प्रामाणिकता का प्रतिपादन है (२) धरमवगमनाधिकार (३) मोक्षधिकार—आध्यात्मिक जीवन और अधिकार के भेद से मनुष्यों में नैसर्गिक प्रभेद अनुभूत हैं जिन्हें 'गोश' कहा गया है—'पातूनामधिभूतेश्च प्रतिपत्तेश्च भेदतः। फलमेवोपलब्धेन गोवा स्तित्वं निरूप्यते ॥' (१.२) (४) चित्तोत्पादाधिकार—बोधिसत्त्वों का बोधि अनुकूल चित्त का उत्पन्न भूमिभेद से भिन्न होता है। वास्तविक चित्तोत्पाद प्रमुक्ति भूमि में ही होता है। (५) प्रतिपत्त्यधिकार—बोधिसत्त्व के द्वारा पदार्थ-सम्पादन। (६) तत्त्वाधिकार—परमायं जडय है, अज्ञात एवं अग्रहीत, ग्राह्यग्राहकभाव से रहित विशुद्ध धर्मधातु। चित्तादन्यदालम्बनं ग्राह्यं नास्तीत्यवगम्य बुद्ध्या तस्यापि चित्तमावस्य नास्तित्वावगमनं ग्राह्यभावे ग्राह्यभावात्। इमे चारम नास्तिर्त्वं विदित्वा धर्मपाती अवस्थानमतदगतितर्भाहग्राहकलक्षणाम्नां रहित एवं धर्मधातुः प्रत्यक्ष-तामेति^२। (७) प्रमाणाधिकार—बोधिसत्त्वों की छः अभिज्ञाएं, तन्मयज्ञानकर्म, रश्मिकर्म इत्यादि। (८) वरिष्ठाधिकार—बुद्धि, प्रसाद आदि के परिपाकलक्षण। (९) बोध्यधिकार—कमलाः आवरणलक्ष्य से बोधि अथवा बुद्धत्व की प्राप्ति होती है। बुद्धत्व सधता से अभिन्न होने के कारण सर्वधर्ममय है, किन्तु परिकल्पित धर्मस्वभाव की दृष्टि से बुद्धत्व में सर्वधर्माभाव है। पारमितादि साधन की दृष्टि से बुद्धत्व शुक्लधर्ममय है, किन्तु परिनिष्पन्न लक्षण से पारमित्यादि के द्वारा अनिर्देश्य एवं जडयलक्षण है।

“सर्वधर्माश्च बुद्धत्वं धर्मो नैव च वाचनम्।

शुक्लधर्ममयं तच्च न च तैस्तन्निरूप्यते ॥” (१.४)

बुद्धत्व सर्वगत है, किन्तु उपयुक्त पात्र में ही उसकी अभिव्यक्ति हो पाती है। बुद्ध कृत्य भी सहज रीति से बिना 'आभोग' (=प्रयत्न) अथवा 'प्रतिप्रलम्बि' (=शैथिल्य) के प्रवृत्त होता है। अनालस्य धातु में बुद्धों की आत्मा नैरात्म्य से अभिन्न है। बुद्धत्व

भावाभाव-विलक्षण है। बुद्ध की विमुक्त धर्मधातु में एक प्रकार का वृत्तिभेद है, जो स्वाभाविक, साम्भोगिक, एवं नैर्माणिक कार्यों की आख्या पाता है। बोधि की प्राप्ति के लिए बोधिसत्त्वों को सब कुछ कल्पना समझना चाहिए। 'जो परिकल्पित स्वभाव से अविद्यमानता है वही परिनिष्पन्नस्वभाव से परम विद्यमानता है। जो परिकल्पित स्वभाव का सर्वथा अनुपलम्भ है वही परिनिष्पन्न स्वभाव का परम उपलम्भ है'।
 (१०) अभिमुक्ष्यधिकार (११) धर्मपर्येष्ट्यधिकार—अभूतपरिकल्प अथवा पर-
 तन्वस्वभाव माया के समान है, उसमें ग्राह्यग्राहकभाव की द्वयभ्रान्ति ऐसे ही प्रतिभासित है जैसे माया में हथी, घोड़े, आदि की आकृतियाँ। इस उपलक्षण कल्पना का जभाव परमाण्वे है, उसकी उपलब्धि अभूतपरिकल्प की संवृतिसत्त्वता है"। अस्तित्व और नास्तित्व माया के अन्दर ही संगत है"।

आध्यात्मिक आयतन मायोपम है, बाह्य आयतन स्वप्नोपम तथा प्रतिबिम्बोपम। चित्त-वैत धान्तिकारक होने के कारण मरीचिकोपम है। देशनाधर्म प्रतिध्वनि के समान है एवं समाधिसंनिभित धर्म स्वच्छ जल में चन्द्रबिम्ब के समान है"। वस्तुतः चित्तमात्र ही ग्राह्य-ग्राहक रूप से एवं क्लिष्टाक्लिष्ट रूप से द्विधा प्रतिभासित होता है। यही विज्ञप्तिभावता है"।

३१—"याऽविद्यमानता संघ परमा, विद्यमानता ।

सर्वधानुपलम्भश्च उपलम्भः परो मतः ॥" (सूत्रालंकार, पृ० ४८)

३२—"यथा माया तथाभूतपरिकल्पो निरूप्यते ।

यथा मायाकृतं तद्वत् द्वयभ्रान्तिर्निरूप्यते ॥

यथा तस्मिन् तदभावः परमार्थस्तथेय्यते ।

यथा तस्योपलब्धिस्तु तथा संवृतिसत्त्वता ॥" (वही, पृ० ५९)

३३—"तस्मादस्तित्वनास्तित्वं भाषादिषु विधीयते ॥" (वही)

३४—सूत्रालंकार ११.३० ।

३५—"चित्तं द्वयप्रभासं रागाद्याभासमिष्यते तद्वत् ।

व्यङ्गाभासं न तदन्यो धर्मः क्लिष्टकुशललोऽस्ति ॥

चित्तमात्रमेव द्वयप्रतिभासमिष्यते ग्राह्यप्रतिभासं ग्राहक-प्रतिभासं च ।

यथा द्वयप्रतिभासादन्यो न द्वयलक्षणः ।

इति चित्तं चित्राभासं चित्राकारं प्रवर्तते ॥

...तत्र चित्तमेव वस्तु तच्चित्राभासं प्रवर्तते ।..." (पृ० ६३)

शब्दानुसार अर्थप्रतीति के आलम्बन तथा शब्दार्थवासना से उपस्थापित आलम्बन दोनों परिकल्पितलक्षण में संगृहीत हैं, अथवा, नाम और अर्थ की अन्योन्यापेक्ष प्रतीति ही परिकल्पितलक्षण है। अर्थात् शब्दानुविद्ध समस्त अनुभव कल्पनामात्र है। ग्राह्य-ग्राहक-लक्षण अभूतपरिकल्प ही परतन्त्र का लक्षण है। पाँचों इन्द्रियविज्ञान, मन, एवं मनोविज्ञान तथा रूपादि इसी में संगृहीत हैं। परिनिष्पन्न लक्षण प्रकृतिपरिभूद एवं निर्विकल्प तमता है। यही सब धर्मों की निःस्वभावेता एवं अनुत्पत्ति है। (सूत्रालंकार, ११, ५०-५२)।

(१२) देशनाधिकार, (१३) प्रतिपत्त्यधिकार, (१४) अववादानुशासन्यधिकार—तीनों लक्षणों में अनुगत शून्यता विविध है। परिनिष्पन्न स्वभाव प्रकृत्या शून्य है। (१५) उपायसहित कर्माधिकार, (१६) पारमिताधिकार (१७) पूजा-सेवा-प्रमाणाधिकार, (१८) बोधिपक्षाधिकार—इसमें प्रसंगतः सब संस्कारों का धनिकत्व तानिक रीति से सिद्ध किया गया है तथा सभी संस्कारों को चित्त का फल कहा गया है। पुद्गलनैरात्म्य की भी युक्ति से सिद्धि की गयी है। (१९) गुणाधिकार (२०)-(२१) चर्याप्रतिष्ठाधिकार—इसमें बोधिसत्त्वभूमियों का विवरण दिया गया है।

यद्यपि सूत्रालंकार में कहीं-कहीं, अभिसमयालंकार के तुल्य संक्षिप्त कारिकाएँ हैं तथापि प्रायः कारिकाएँ विशद हैं एवं गृह्यमय्याख्या के सन्निकट हैं। इस ग्रन्थ में मैत्रेय की अपेक्षा, असंग का ही हाथ अधिक मानना चाहिए। शून्यवाद का सामीप्य भी पर्यालोचनीय है। परमार्थ की भावाभाव विलक्षणता पर बल दिया गया है, चित्त-मात्रता पर नहीं। परमार्थ को बोधि, बुद्धत्व एवं धर्मधातु कहा गया है। अनुभवसिद्ध और अभिलापसंसृष्ट नानाकार जगत् एक मायिक भ्रान्तिमात्र है, किन्तु इस भ्रान्ति का आधार हेतुप्रत्यय-नियत परतन्त्र-जगत् है जो, सर्वथा अभावात्मक न होते हुए भी पार-

३६—“यथा जल्यार्पणं जलाय निमित्तं तस्य वासना ।

तस्मादजस्य विलयानं परिकल्पितलक्षणम् ॥

यथानामार्थमर्थस्य नाम्नः प्रत्ययानता च या ।

असंकल्पनिमित्तं च परिकल्पितलक्षणम् ॥

त्रिविधत्रिविधाभातो ग्राह्यग्राहकलक्षणः ।

अभूतपरिकल्पो हि परतन्त्रस्य लक्षणम् ॥

अभावाभावेता या च भावाभावेतमानता ।

अश्रान्तशान्ताऽकल्पा च परिनिष्पन्नलक्षणम् ॥”

सांख्यिक नहीं है। परमाण्वं शब्दार्थकल्पना, सदेतत्कल्पना अथवा ग्राह्यग्राहक-कल्पना के परे है। वह अद्वय और अनिर्वचनीय है तथा उसका ठीक परिचय बोधि में ही हो सकता है। इस धर्म का आधार तर्क न होकर योगानुभव है। तर्क के विषय में सूत्रालंकार का कहना है—'बालाश्रयो मतस्तर्कः'। योगाचार का अनुभव शब्दार्थकल्पना से परिकल्पित भेदों को तथा जागतिक ज्ञान के विषयविषयिभेद को छोड़कर एक अनिर्वचनीय और अद्वय ज्ञान में परिनिष्पन्न होता है। इसके अनुकूल 'चित्स्वभाव' एवं 'सत्यद्वय' के सिद्धान्तों का प्रतिपादन सूत्रालंकार में देखा जा सकता है।

सम्यक्संनिर्वाण तथा धर्मधर्मता विभंग में सम्मिनिर्मोचन आदि सूत्रों के आधार पर विज्ञानवाद की व्याख्या उपलब्ध होती है। धर्मधर्मता विभंग में निर्वाण को धर्मता कहा गया है तथा धर्मों को प्रकृतिनिवृत्त। धर्मों की व्यावहारिक सत्ता परतन्त्रलक्षण अथवा सापेक्ष है। साहाय्यनिक योगचर्या धर्मों के सांकेतिक आकार को छोड़ उनके वैषम्यसा-निक आकार के प्रतिवेध में परिनिष्ठित होती है।

सम्यक्संनिर्वाणसूत्रभाष्यटीका में स्थिरमति का कहना है—'अस्य कारिकाशास्त्र-स्यायमेवेयः प्रणेता ।—वक्ता चास्याचार्यात्मिनः । तस्माच्छ्रुत्वाचार्यमुख्यमुस्तस्य भाष्यमकरोत्'। इस शास्त्र के प्रणयन का तात्पर्य बृद्ध भगवान् के विषय में निर्विकल्पज्ञान का उत्पादन है जोकि धर्मनैरात्म्य की देणना से ही हो सकता है। अतएव महाभूत धर्मनैरात्म्य का प्रतिपादन ही इस शास्त्र में मुख्य है। इसके लिए सात पदार्थों का विवरण दिया गया है—लक्षण, आवरण, तत्त्व, प्रतिपक्षभावना, अवस्था, फलप्राप्ति, तथा यानानुत्तर्यं। लक्षण का तात्पर्य संकलेश और व्यवधान से है, आवरण का बहुशूलधर्मों से, तत्त्व का दसविध अविधरीत तत्त्व से, प्रतिपक्षभावना का मार्ग से, अवस्था का २१ प्रकार की बोधावस्था आदि से, फल-प्राप्ति का १५ प्रकार के विपाक फलादि से, तथा यानानुत्तर्य का बोधिसत्त्वों के असाधारण गान से। इस व्याख्या के अनुसार ये सात पदार्थ अधिभुक्तिचर्यामूमि से प्रारम्भ कर बोधिसत्त्वधर्मों के आवश्यक अंगों और अवस्थाओं का चोतन करते हैं। स्थिरमति ने इन सात पदार्थों की अनेक नव्य व्याख्याओं का उल्लेख किया है।

१७—'निर्वितोऽनियतोऽप्यपी साधुतः शेरवानपि ।

बालाश्रयो मतस्तर्कस्तस्यातो विषयो न तत् ॥ (सूत्रालंकार, १.१२)

१८-३०—ओवरमिलर, ऐकदा ओरियन्टलिया, १९३१ ।

१९-सं० विमुशेजर भट्टाचार्य और सुचि, पृ० ३ ।

४०-वही, पृ० ६ ।

कथन के विषय में संप्रेयनाम का कहना है—‘अमृत-परिकल्पोऽस्ति द्वयं तत्र न विद्यते । शून्यता विद्यते स्वप्न तस्यापि न विद्यते ॥’ (१. २)

इस कारिका का महत्त्व पर्यालोचनीय है क्योंकि इससे योगाचार का मर्म तथा शून्यवाद से उसका विभेद परिलक्षित होता है । स्थिरमति की व्याख्या इस प्रकार है—कुछ लोग मानते हैं कि सब धर्म शशविषाण के समान सर्वथा अविद्यमान हैं । इस सर्वापलाप के निषेध के लिए कहते हैं—‘अमृत-परिकल्प है’, अर्थात् स्वभावतः है । यह शंका की जा सकती है कि यह तो मूत्रविरोध होगा क्योंकि मूत्र में कहा गया है कि ‘सब धर्म शून्य हैं ।’ (किन्तु) विरोध नहीं है । क्योंकि ‘वहाँ द्वय (=द्वैत) नहीं है ।’ अमृत-परिकल्प धातुप्राहक रहित, शून्य है, (किन्तु) असंभव संबंध स्वभावतः न हो, ऐसा नहीं है । इसलिए मूत्रविरोध नहीं है । (यह कहा जा सकता है कि) यदि ऐसा है तो द्वैत शशविषाण के समान सर्वथा अस्तित्वहीन होगा तथा अमृतकल्प परमार्थतः स्वभावापेक्ष होगा और इस प्रकार शून्यता के अभाव का प्रसंग उत्पन्न हो जायगा । (किन्तु) ऐसा नहीं है । क्योंकि ‘वहाँ शून्यता विद्यमान है’ । अमृत परिकल्प में धातुप्राहक रहितता ही शून्यता है । (अतः) शून्यता अविद्यमान नहीं है । (यह कहा जा सकता है कि) यदि अमृतपरिकल्प में बद्ध शून्यता विद्यमान है तो हम मुक्त क्यों नहीं हैं ? और यह विद्यमान (शून्यता) गृहीत क्यों नहीं होती ? इस संशय के अपनयन के लिए कहा है उसमें भी यह विद्यमान है । ‘अर्थात् शून्यता में भी अमृत-परिकल्प विद्यमान है, इसलिए आप मुक्त नहीं हैं ।’ यह स्मरणीय है कि अमृतपरिकल्प का अर्थ है चित्त-चैत प्रवाह—‘अमृतपरिकल्पाच्च चित्त-चैतान्निधातुकाः ।’

इस कारिका और व्याख्या से प्रायः वही अर्थ निगलित होता है जो अगर सूत्रालंकार (११. १५-१६) में । द्वैत की प्रतीति केवल आन्ति है, किन्तु उसका आधार सर्वथा मिथ्या नहीं है । द्वैत कल्पित है, किन्तु यह असत्य कल्पना (=अमृत परिकल्प) वास्तविक है । यह आन्ति में प्रस्तुत एक अनादि चित्त-चैत प्रवाह है जिसमें द्वैताभावरूप शून्यता विद्यमान है, किन्तु जो स्वयं इस शून्यता का आवरण किये हुए है । ‘अमृत-परिकल्प’ के हृदय में ‘शून्यता’ है, ‘शून्यता’ को डके हुए ‘अमृतपरिकल्प’ । दोनों ही विद्यमान हैं, किन्तु ‘शून्यता’ की प्राप्ति इस आवरण की विमूढ़ि के द्वारा करनी होगी । ‘अमृतपरिकल्प’ और ‘शून्यता’ अविद्या और अद्वैत से तुलनीय हैं ।

प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि अनुमृत जगत् अमृत परिकल्प अथवा चित्त-कल्पना मात्र है । यह मिथ्या विकल्प वास्तविक है, किन्तु इसमें प्रतिभासमान आत्माएँ अथवा बाह्य पदार्थ अवास्तविक हैं । वस्तुतः स्वप्नवत् निरात्मनः विज्ञान ही वास्तव

के अनुकूल नाना पदार्थों को आभासित करता है। बाह्यग्राहक विकल्प की अवास्तविकता ही शून्यता है। वही मोक्षोपयोगी विशुद्ध आत्मस्वभाव है। किन्तु विकल्पात्मक विज्ञानधारा से वह वैसे ही प्रच्छादित है जैसे रजःपटल से निर्मल आकार।

यहाँ दो अन्तों का मध्य से प्रतिभाग किया गया है। एक ओर सर्वशून्यता निराकृत है, दूसरी ओर रूपादि धर्मों की वास्तविकता। मृतनररम्य एवं विकल्पमाषता में ही अद्वैतरूपा शून्यता संगृहीत है, किन्तु वह शून्यता महान् बल से विरोधनीय है। 'नास्त्य-यत्नेन मोक्षः'। अभूतपरिकल्प ही संक्लेश का लक्षण है, शून्यता व्यवधान का। अनादिकालिक संसार के प्रवाह में पतित चित्त-चैतन्यिक ही निर्विशेषतया अभूत परिकल्प है। बाह्यग्राहक विकल्प ही विशेष है। इस विकल्प का निर्यात्त्व ही शून्यता है। जैसे रज्जु संप्रत्यभाव से शून्य है, किन्तु रज्जुस्वभाव से नहीं, ऐसे ही इस शून्यता को आत्मन्तिक नहीं मानना चाहिए। जो वहाँ नहीं है वह उससे शून्य है जिस प्रकार अभूत परिकल्प में है। 'अतोऽभूतपरिकल्पं द्वयेन शून्यं पश्यति।' जो अवशिष्ट है वह सत् है, और अवशिष्ट है अभूतपरिकल्प और शून्यता। अभूतपरिकल्प में हैत की अविद्यमानता देखना ही 'अनध्यारोप' अर्थात् अध्यास का परित्याग है; अभूतपरिकल्प एवं शून्यता का अस्तित्व देखना ही 'अनपवाद' अर्थात् निश्शेष सत्ता के अपलाप का त्याग है। 'अध्यारोप' और 'अपवाद' के मध्य में ही शून्यता का अविपरीत लक्षण उद्भावित होता है। 'मच्छून्यं तस्य सदमावायेन शून्यं तस्य तत्रमावात्' अर्थात् जो शून्य है उसका अस्तित्व है, जिससे वह शून्य है उसका धनस्तित्व है। सर्वास्तित्व और सर्वनास्तित्व से विलक्षण यही मध्यमा प्रतिपद है।

विज्ञान में ही बाह्य पदार्थ एवं आत्मा का प्रतिभास उत्पन्न होता है। आठ प्रकार के विज्ञान हैं—आलयविज्ञान, तथा सत्त प्रवृत्ति विज्ञान। आलय विज्ञान अर्धसत्त्व-प्रतिभास-युक्त है तथा विपाक होने के कारण अव्याकृत है, तथा केवल प्रत्ययविज्ञान है। सब साक्ष्य धर्म बीज रूप से उसमें आलीन होते हैं। मन आत्मप्रतिभास तथा क्लिष्ट है। छः विज्ञान विज्ञप्तिप्रतिभास तथा कुशल, अनुपाल अथवा अव्याकृत हैं। इन विज्ञानों के साथ इनसे सम्प्रयुक्त चैत भी संशाल्य है। केवल विज्ञान अथवा चित्त पदार्थों का सामान्यतः निर्विशेष, ग्रहण करता है। चैत उनका विशेष ग्रहण करते हैं। 'तथार्थमात्र दृष्टिर्विज्ञानम्—अर्धविशेष-दृष्टिश्चैतसा वेदनादयः—'। ये आठ विज्ञान ही परतन्त्रलक्षण अथवा अभूत-परिकल्प कहलाते हैं—“एवं चाष्ट विज्ञान-वस्तुकः परतन्त्रोऽभूतपरिकल्पः।” परिकल्पितस्वभाव रूप, चक्षु आदि अर्थात्मक है। परतन्त्र-स्वभाव अथवा अभूत-परिकल्प हेतु-प्रत्यय-युक्त एवं व्यावहारिक चित्त-चैत-प्रवाह

है। इसमें सब संस्कृत धर्म संगृहीत हैं। ब्राह्मणाहक-भाव का अभाव ही परिनिष्पन्न-स्वभाव अथवा शून्यता है। इसके अन्य पर्याय हैं—तपता, भूतकोटि, अनिमित्त, परमार्थ, एवं धर्मधातु।

शून्यता को ब्राह्मणाहक अथवा द्वय का अभाव कहा गया है। इसका ठीक बोध आवश्यक है। ब्राह्म से तात्पर्य उन सब विषयों से है जो ज्ञान में आलम्बन के रूप से प्रकट होते हैं। ज्ञान के अतिरिक्त आत्मा अथवा ब्राह्म पदार्थों की सत्ता नहीं है यही विज्ञप्तिमात्रता है। विज्ञप्तिमात्रता के छेक बोध से समस्त विज्ञेय विज्ञान में विलीन हो जाते हैं। किन्तु यह परम सिद्धान्त नहीं है। विज्ञेय के अभाव में विज्ञान स्वयं तिरोहित हो जाता है, क्योंकि ब्राह्म और ब्राह्म की सत्ता सापेक्ष ही हो सकती है। पहले ज्ञान के विषयभूत अथवा ब्राह्म पदार्थों का लोप, पीछे उनके विषयिभूत अथवा ब्राह्म विज्ञान का लोप, यही द्वयराहित्य अथवा शून्यता है। यह रमरणीय है कि विज्ञान का अभाव केवल विज्ञातृत्व रूप में अभिप्रेत है न कि नास्त्य-प्रतिभास के रूप में। विज्ञप्ति मात्र की अनुपलब्धि की भावना से 'लौकिकाग्रधर्म' नाम की समाधि का लाभ होता है।

इस विवरण से यह स्पष्ट होगा कि मध्यान्तविभाग में शून्यता के सिद्धान्त को सर्वोपरि रक्षणीय माना है, किन्तु उसकी इस प्रकार व्याख्या की गयी है कि वन्य और भौक्ष तथा आध्यात्मिक साधन अथवा योगधर्मों वास्तविक बने रहें। इस सिद्धान्त को 'विज्ञानवाद' न कहकर 'योगाचार' ही कहना चाहिए क्योंकि इसमें परम स्थान विज्ञप्ति-मात्रता का न होकर शून्यता के अनुकूल योगसाधन का ही है। यही दृष्टि ऊपर सुप्रालंकार में भी आभासित थी।

उत्तरतन्त्र को माध्यमिक-प्रासंगिक कृति कहा गया है^{४१}। इस पर आर्यासंग की उत्तरतन्त्र-व्याख्या विहित है। उत्तरतन्त्र को पाँच महत्मान सूत्रों पर आश्रित बताया जाता है—(१) तथामतमहाकरुणानिर्देश-सूत्र अथवा धारणीश्वर-राज-परिपूज्या, (२) श्रीमाला-देवीसिंहनाद-सूत्र, (३) तथामत-गर्भ-सूत्र, (४) सर्वबुद्ध क्षिपाव-तारुजानालोकालंकार सूत्र, (५) रत्न-दारिका-परिपूज्या। तिब्बत में जो-न-य सम्प्रदाय में उत्तरतन्त्र के सिद्धान्त को प्रायः ईश्वरार्द्रत के समकक्ष बना दिया गया। इस ग्रन्थ का रत्न गोत्र विभाग महामानोत्तरतन्त्रशास्त्र के नाम से जानस्टन ने मूल में सम्पादन किया है। (पटना, १९५०)। वे उसे असंग की कृति नहीं मानते।

४१—ऐक्टा ओरियण्टेलिया, १९३१, पृ० ८३।

४२—वही, पृ० १०६।

उत्तरतन्त्र में सात मुख्य विषयों का निरूपण है—बुद्ध, धर्म, संघ, मोक्ष, बोधि, बल, कृत्यानुष्ठान-ज्ञान। बुद्धत्व के आठ गुणों का इस प्रकार विवरण दिया गया है—असंस्कृतत्व, अनाभोग (=सकलपरहित किया), पर-प्रत्ययागम्य, बोधि, कष्टा, बल, स्वार्थसम्पत्ति, धरार्थ सम्पत्ति (=स्वकाय)।^{४३} जाति, स्थिति और विनाश से मुक्त होने के कारण बुद्ध असंस्कृत है। स्वभावतः नित्य-ज्ञान होने के कारण वे अनाभोग हैं। वे प्रत्यात्मपतिगोचर हैं, पर प्रत्यय-गम्य नहीं।

धर्म सत्, असत् आदि चतुष्कोटि-विनिर्मुक्त है^{४४}। यह विकल्प का अगोचर है तथा उसमें क्लेश और कर्म का अभाव है। यह अद्वय, विषुद्ध, अनावरण, क्लेश-प्रतिपक्ष, क्लेश-विमोक्ष, तथा विमोक्ष-हेतु है। उपागत धर्म-धानु से अभिन्न है तथा सब सत्त्वों में अन्तर्निहित है। बुद्धत्व का बीज सर्वत्र विद्यमान है तथा यह महायान के द्वारा विकासनीय है^{४५}। सर्वप्रथम महायान में अधिभूति आवश्यक है। तीर्थिकों के लिए आवश्यक है कि वे प्रज्ञापारमिता के द्वारा नेत्रात्म्य सीखें। संसार को दुःखमात्र समझने वाले भावकों को गरागमज्ज आदि समाधियों की भावना करनी चाहिए। अत्येक बुद्धों के लिए कष्टा भावनीय है। धर्मकाय ही महायान का पयन्त है जिसमें नित्य-पारमिता, सुखपारमिता, आत्मपारमिता तथा बुद्धिपारमिता है^{४६}।

अभिसमयालंकार का पूरा नाम है—“अभिसमयालंकार-नाम-प्रज्ञापारमितोप-देशशास्त्रम्।” उत्तरतन्त्र के समान ही इसमें ‘मृन्मता’ एवं अद्वयता का प्राधान्य है। यह स्मरणीय है कि इसे योगाचार-माध्यमिकस्वातन्त्रिक कहा गया है^{४७}। इसका आधार स्पष्ट ही प्रज्ञापारमितामूल है^{४८}। मध्यान्तविभाग के अतिरिक्त इसमें वि-स्वभाव अथवा आत्मविज्ञान की चर्चा नहीं है। दूसरी ओर ‘योगाचार’ (=योगचर्या) की दृष्टि से इसका महत्त्व स्पष्ट है। समस्त धर्म का मुख्य तात्पर्य ‘अभिसमय’ अथवा तत्त्व-साक्षात्कार का विवरण है। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि अभिसमयालंकार में एक बोधिसत्त्वाभिधर्म की मातृका संगृहीत है।

४३—वही, पृ० १२४; सु० रत्नगोत्रविभाग (सं० ब्रांन्स्टन), पृ० ७-८।

४४—पृ० ओ०, पृ० १३१।

४५—रत्नगोत्रविभाग, पृ० ४०-४३।

४६—पृ० ओ० पृ० १६६।

४७—वही, पृ० ८३; सु० ओवरमिस्टर, एनालिसिस ऑफ दि अभिसमयालंकार, (कंस्क-१), पृ० ii।

४८—इ०—ऊपर।

हरिभद्र के अनुसार भगवान् मंत्रेय ने स्वयं प्रज्ञापारमितातय पर अभिसमया-
लंकार नाम से स्फुटतर कारिकाओं की रचना की। असंग, वमुचम्बु तथा विमुक्तिसेन ने
क्रमशः इनकी व्याख्या की^{१३}। विमुक्तिसेन की अभिसमयालंकार-व्याख्या का संस्कृत
मूल भी विदित है^{१४}। हरिभद्र का आलोक माध्यमिक दृष्टि से लिखा गया है तथा
विज्ञानवाद का विरोधी है^{१५}। अभिसमयालंकार में अत्यन्त संक्षिप्त २७३ कारिकाएँ
हैं जिनमें एक प्रकार से विषय-निर्देश मात्र किया गया है।

बुद्धिमान् लोग सर्वाकारजता का मार्ग देते तथा सूत्रार्थ का स्मरण कर दशात्मिका
धर्मचर्या को सुल से प्रतिपन्न हों, यही अभिसमयालंकार का प्रयोजन सम्भारम्भ में
ही कहा गया है। इसके अनन्तर समस्त ग्रन्थ का पिण्डार्थ-निर्देश किया गया है—
आठ पदार्थों के द्वारा प्रज्ञापारमिता समुदीरित है—सर्वाकारजता, मार्गेजता, सर्वज्ञता,
सर्वाकाराभिसम्बोध, मूर्धप्राप्ताभिसमय, अनुपूर्वाभिसमय, एकताप्राप्तिभिसम्बोध, तथा
धर्मकाय। समस्त ग्रन्थ इन्हीं आठ अभिसमयों में विभक्त है। पहले तीन पदार्थ सर्वज्ञता
के प्रभेद हैं। इनके अनन्तर चार पदार्थ सर्वज्ञता के उपायभूत हैं (चत्वारः प्रयोगाः)।
अन्तिम पदार्थ मार्ग का चरम फल है।

सर्वाकारजता के मार्ग में १० पदार्थ बोध्य हैं—बोधिचित्तोत्पाद अवकाश,
निर्वेद्यांग, प्रतिपत्त्याचार, प्रतिपत्त्यालम्बन, प्रतिपत्सुदेव, सत्राहप्रतिपत्ति, प्रत्यान-
प्रतिपत्ति, सम्भारप्रतिपत्ति, तथा नियोगप्रतिपत्ति। बोधि-चित्तोत्पाद के विभिन्न
प्रभेदों के लिए २२ उपमान प्रस्तुत किये गये हैं जिनका उल्लेख असंग ने महायानसूत्रा-
लंकार में भी किया है तथा उनके मूल के लिए अक्षयमतिमुद्र का निर्देश किया है। इस
प्रसंग में दूसरा पदार्थ 'अवकाश' अथवा उपदेश है जिसके १० प्रभेद बताये गये हैं—
प्रतिपत्त्यवकाश, अनुसृत्य०, रत्नत्रय० (=बुद्ध, धर्म, संप), असक्ति०, अपरित्यान्ति०,
प्रतिपत्सम्परिग्रह, पंचचक्षुः० (=पांचचक्षुः, दिव्य०, प्रज्ञा०, धर्म०, बुद्ध०), अभिज्ञा०,

४९—अभिसमयालंकारालोक (सं० तुचि), पृ० १।

५०—एडवर्ड कौन्स, अभिसमयालंकार, पृ० २।

५१—इ० "ये तु धर्मचतुमेव सदा विशुद्धमद्वयं ज्ञानमात्मन्मयं मन्यन्ते तैः सदा
विशुद्धत्वाद्भुतरोत्तरविशुद्धिविशोधगमनं कथमिति वस्तव्यम्।" अथातु-
कनकाकायाशुद्धिवज्जुद्धिरिष्यते" इति चेत्। एवं तर्हि शुद्धं तात्त्विकं ज्ञानमिति
प्रतिपक्षाभिनिवेशादर्थाक्षिप्तो विपक्षाभिनिवेशः। (अभिसमयालंकारा-
लोकः पृ० ७७)।

दर्शनमार्गः, भावनामार्गः । संघरत्न के निरूपण में बौद्ध प्रकार के आर्य समुल्लिखित हैं—श्रद्धानुसारी से लेकर प्रत्येक बुद्ध तक ।

चार निर्वेधभागीय अंग सत्य-दर्शन के समीप लौकिक भावना मार्ग की श्रम स्थितिर्था हैं^१ । इनमें बुद्ध और बोधिसत्त्वों का भावकों और प्रत्येक बुद्धों की अपेक्षा ब्रह्मिष्ठ्य आलम्बन, वाकार, हेतु, सम्परिग्रह एवं 'अनुविकल्पसंयोग' के कारण होता है । उदाहरण के लिए अनित्यता आदि लक्षणों के आलम्बन होने पर बोधिसत्त्व उन्हें वस्तुगत मान कर अभिनिविष्ट नहीं होते । वे स्वादि स्वन्यों के उदय-व्यय को प्रज्ञप्तिमात्र मानते हैं । चार निर्वेधभाग इस प्रकार हैं—ऊर्मगतत्वस्था, मूर्धावस्था, शान्त्यवस्था, तथा लौकिकाद्यधर्म । इनमें प्रत्येक विविध है—मृदु, मध्य, अधिमात्र । ऊर्मगत अथवा आलोकलब्ध नाम की समाधि में चित्तमात्रता का ईषत्स्पष्टज्ञान होता है । मूर्धावस्था में यही ज्ञान मध्यस्पष्ट होता है । शान्त्यवस्था में विज्ञप्तिमात्रता का स्पष्ट बोध होता है । इसके अनन्तर ब्राह्मणुपलब्धि के सहारे विज्ञप्तिमात्र अथवा धाहक की भी अनुपलब्धि लौकिकाद्यधर्म में होती है । इन अवस्थाओं में अभी बोधिसत्त्व अभिभूक्तियर्थाभूमि में विद्यमान पृथग्जन ही रहता है, किन्तु बुद्ध अभिभूक्ति अथवा निष्ठा के कारण अनेक गुणों से मुक्त होता है ।

महामानिक प्रतिपत्ति का आधार बोधिसत्त्व का प्रकृतिस्थ मोक्ष है जो वस्तुतः धर्ममातृ से अभिन्न होते हुए भी संवृत्ता १३ प्रकार का निर्दिष्ट है । ये मोक्ष विभेद ४ निर्वेधभाग, लोकोत्तर दर्शन एवं भावना मार्ग, प्रतिपक्षोत्पाद-विपक्षानिरोध, तत्संयुक्त विकल्पापगम, संसार एवं निर्वाण में अप्रतिष्ठित प्रज्ञा एवं कक्षा, आवकासाधारण धर्म, परार्थानुक्रम, तथा आसंसार निर्निमित्त एवं अनाभोग परकायेज्ञान के आधार निरूपित होते हैं । यह स्मरणीय है कि मोक्षभेद वास्तविक न होकर ओपाधिक है—

“धर्मधातोरसम्भेदादुपोद्बोधो न मुच्यते ।

आधेयधर्मभेदात् तद्भेदः परिणीयते ॥” (१.४०)

प्रतिपत्ति के आलम्बन सर्वधर्म हैं जो अनेकधा वर्गीकृत हैं । उसके उद्देश तीन हैं—सर्वसत्त्वाद्यता, प्रहाण, एवं अधिगम । आलम्बन और उद्देश में ऐसा ही सम्बन्ध है जैसा शरसम्बान और लक्ष्यबोध में । उद्देश की निष्पत्ति के लिए प्रतिपत्ति अभिहित है । प्रतिपत्ति सर्वज्ञता की ओर समुद्दिष्ट तथा भट्टपारमिताओं में अधिष्ठित किया है । सन्नाहप्रतिपत्ति एवं प्रस्थानप्रतिपत्ति 'प्रयोगात्मक' हैं तथा सम्भारभूमि एवं अभिभूक्ति-

अपांभूमि में संगृहीत है। अर्थात् मे आप भूमि में प्रवेश के लिए उपकारी है। सम्प्राप्ति-पति दया से प्रारम्भ कर धारणीपर्यन्त साक्षात् प्रयोजक है तथा अधिमात्र अद्यतन में संगृहीत है। पहली अथवा प्रमुदिता भूमि में सम्प्राप्तिपति दर्शन-मार्गात्मिका है। द्वितीयादि भूमि में वह भावना मार्गस्वभावा है। निर्माण-प्रतिपति भावना-साधने में अधिष्ठित है। अन्तिम धर्मकाय के अभिसमय में 'क्षिया' नहीं होती। यह उल्लेखनीय है कि सम्प्राप्तिपति के प्रसंग में दस भूमियों का विवरण दिया हुआ है।

सर्वाकारजता की प्राप्ति के लिए मार्गजता की प्राप्ति आवश्यक है। यावत्, प्रत्येक बुद्ध तथा बोधिसत्त्व के मार्गों का अनित्यादि आकारतः ज्ञान होता है। प्रत्येक-बुद्ध-मार्ग में ग्राह्यग्रहण, किन्तु ग्राहकाग्रहण के द्वारा यावत् की तुलना में वैशिष्ट्य है। प्रत्येक बुद्ध बिना शब्द के ही उपदेश करने में समर्थ हैं। बोधिसत्त्वों का दर्शनमार्ग प्रज्ञापरमिता ही है। चतुसत्त्वों में प्रत्येक के विषय में धर्मज्ञानशान्ति, धर्मज्ञान, जन्मपञ्चान्तान्ति, तथा जन्मपञ्चान्त इस प्रकार चतुर्धा ज्ञान होने के कारण यह १६ विस्तारणों में निष्पन्न होता है। भावनामार्ग सासव और अनासव है। सासव में अधि-भुक्ति, परिणामना, तथा अनुमोदना संगृहीत हैं, अनासव में अभिनिर्हृत् तथा अत्यन्त-विशुद्धि। परिणामना के अर्थ हैं समस्त पुण्यों को सम्बोधि के उपकारक की कोटि में प्रदान करना। उपायकौशल के द्वारा सांभूत दृष्टि से अपने और दूसरों के कुशलमूलों को अनुमोदित करना ही अनुमोदना है। अभिनिर्हृत् का स्वभाव सर्वज्ञता अथवा स्कन्ध-निरात्म्य का यथाभूत ज्ञान है तथा उसकी खोखला प्रज्ञापरमिता की है जिसके बिना बुद्धत्व अप्राप्य है। बुद्धत्वेवा, पदपरमिताएँ तथा उपायकौशल अत्यन्त-विशुद्धि के लिए अधिमोक्ष में उपकारक हैं। विशुद्धि के प्रतिपक्ष है—साराधिष्ठान, मन्गीर-धर्मता में अधिभुक्ति का अभाव, स्कन्धादि में अभिनिवेश, तथा पाप-भिव-परिग्रह। विशुद्धि का स्वभाव स्कन्धों में आत्मात्मीय भाव के टूटने पर उनकी मायोपमता का बोध है। यावत् की विशुद्धि क्लेशावरण के ग्रहण से होती है, प्रत्येक बुद्धों की विशुद्धि क्लेशावरण तथा ग्राह्यविकल्पात्मक ज्ञेयावरण के एक देश के ग्रहण से, बोधिसत्त्वों की यानत्रय के मार्गावरण के ग्रहण से, तथा बुद्ध की आत्मनिक विशुद्धि समस्त क्लेशावरण एवं ज्ञेयावरण के ग्रहण से होती है।

सर्वज्ञता का अर्थ है सर्ववस्तुपरिज्ञान। यह द्विविध है—फलभूत प्रज्ञा का आसन्न वस्तुज्ञान तथा फलभूत प्रज्ञा का दूरीभूत वस्तुज्ञान। इनमें पहला महायानोचित करुणा से युक्त है, दूसरा धर्मों को पृथक् सत्ता मानता है। प्रज्ञा न संसार में और न निर्वाण में प्रतिष्ठित है। अतीतानागत प्रत्युत्पन्न धर्मों की अनुत्पन्न समझने के कारण उसके लिए सब समान हैं। यावत् द्वारा शून्यता एवं करुणा के अवहण के कारण प्रज्ञा उनसे

द्विभूत है। किन्तु बोधिसत्त्वों के उपायकौशल के वह आसन्न है। उसकी प्राप्ति के लिए विषय-परिहार आवश्यक है—स्कन्ध शून्यता विषयक, त्रैयधिक धर्मों के विषय में, बोधिसत्त्वों के विषय में, अर्थात् उन्हें वास्तविक समझना परिहार्य है। इस परिहार के लिए दानादि में अनहंकार, औरों का उसमें नियोजन, तथा संग का निषेध आवश्यक हैं। बुद्धादि विषयक आसक्ति भी पुण्यात्मक एवं सूक्ष्म होते हुए भी अन्ततः परिहार्य है। सब धर्म स्वभाव से ही निर्विकृत अथवा संगरहित हैं। उनके स्वभाव की अद्वयता का ज्ञान ही संगवर्जन है। धर्मस्वभाव दुर्बोध और अचिन्त्य है। इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए धर्मों की धर्मों के दशविध प्रयोग तथा बोधिसत्त्वों का बोधप्रशिक्षण दर्शन-मार्ग अनिवार्य है।

सर्वकारामिसम्बोध में 'वस्तुज्ञान के प्रकारों' को आकार कहा गया है। अर्थात् नामा आलम्बनों की वास्तविक समझनेवाली दृष्टियों के ये आकार प्रतिपन्नभूत हैं। सर्वज्ञता के विविध होने के कारण ये आकार भी विविध हैं। सर्वज्ञता के २०-आकार हैं जिनमें प्रथम तीन सत्त्वों में प्रत्येक से ४ आकार सम्बद्ध हैं, मार्गसत्त्व से १५। इन १५ में ४ कोसावरण-प्रतिपक्ष है, ११ जेयावरणप्रतिपक्ष। मार्गज्ञतासम्बन्धी ३६ आकार हैं, तथा सर्वकाराज्ञता-सम्बन्धी ११०, जिनमें आपको के ३०, बोधिसत्त्वों के ३४, तथा बुद्धों के १९ हैं। ये आकार विविध प्रयोगों से भावनीय हैं। इस भावना में अधिकार के जिन अतीत बुद्धों की सेवा, कुशलमूलसंग्रह, कल्याणमित्र आदि आवश्यक हैं। भावना के प्रयोग अनेकविध हैं, गया स्यादि स्कन्धों में अनवस्थान तथा उनकी ओर उदासीनता। यहाँ पर २० प्रयोगों की ज्ञानपूर्वी दी हुई है। इस भावना से १४ प्रकार के गुण प्राप्त होते हैं तथा मार की शक्तिहानि आदि। ४६ प्रकार के दोष इस प्रसंग में परिहार्य हैं। इसके अनन्तर ज्ञान, विरोध, कारिण तथा स्वभाव के लक्षण संगृहीत हैं। प्रत्येक प्रकार की सर्वज्ञता में १६ प्रकार के ज्ञान समुचित हैं। बोधिसत्त्वज्ञान की विशेषता भी १६ प्रकार की है। बोधिसत्त्व की विद्या के ११ लक्षण दिये हुये हैं। भावना का स्वभाव १६ लक्षणों से प्रतिपादित है।

इस सर्वकारावबोध में अनिमित्तप्राप्ति ज्ञान तथा दानादि बुद्ध धर्मों के प्रादुर्भाव से समुदागम कौशल बोधभागीय कहा जाता है। यह पाँच प्रकार का है—बुद्धादि में बुद्ध, दानादि में वीर्य, हिताशय-सम्पादन रूप स्मृति, अविकल्पनात्मक समाधि, तथा धर्मों का सर्वकाराज्ञान रूप प्रज्ञा। इसके अनन्तर निर्मेषभागीयों की चर्चा है। शैलपार्थ के अतिक्रमण के पश्चात् बोधिसत्त्व सब धर्मों को स्वप्नोपम दैत कर संसार और निर्वाण की समता का बोध प्राप्त करता है।

पूर्वाभिमतमय में बोधिसत्त्व के दर्शनमार्ग एवं भावनामार्ग का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। मर्तों के क्षयज्ञान तथा अनुत्पादज्ञान को ही बोधि कहा गया है। इनकी प्राप्ति यथाकम अभिहित है। जेधावरण का क्षय ही समस्त धर्मों का अन्त है। धर्मों की वास्तविक सत्ता होने पर इस प्रकार का आवरणक्षय असम्भव है। वस्तुतः इस समस्त साधना में न कुछ अपनेय है, न कुछ आक्षेप्य; वस्तुतत्त्व को तत्त्वतः देखना ही सर्वप्रथम है। इस यथार्थज्ञान से ही मुक्ति होती है।

अनुपूर्वाभिमतमय में दानादि पारमितानां तथा ब्रह्मादि अनुस्मृतियों का उल्लेख है। इसमें व्यस्त और समस्त रूप से पूर्व-अभिगत धर्मों का आनुपूर्वी से अभिसमय किया जाता है।

एक क्षण में सब धर्मों के अभिसम्योप को एकक्षणाभिमतमय कहा गया है। इसकी चार अवस्थाएं निर्दिष्ट हैं। पहली में सब (अविशक) अनास्रवधर्मों का एक दाना-विज्ञान में तत्क्षण अवघोष सिद्ध होता है। जब प्रतिपक्षहानि से बोधिसत्त्व की अवस्था केवल वैयवधानिक विपाकधर्मता के कारण सर्वथा शुक्लस्वभाव होती है तब समस्त विपाक प्राप्त अनास्रव धर्मों का एक क्षण में ज्ञान होता है। यही प्रज्ञापारमिता है। तीसरी अवस्था में धर्मों के अलक्षणत्व का तथा चौथी में उनके अद्वय तत्त्व का एकक्षणाभिमतमय सम्पन्न होता है।

सर्वथा चिन्मूर्ति को प्राप्त अनास्रव धर्म ही बुद्ध की स्वाभाविक काय है। ३७ बोधिपत्र, ४ अग्रमाण, ८ विमोक्ष, ९ समापत्ति, १० कृत्स्न, ८ अभिभवायतन, १० बल, ४ वैशारद्य, ३ अरक्षण, ३ स्मृत्युपस्थान, ३ असंनौषधर्मता, वासना समुदात, महाकल्याण, १८ आधेयिक धर्म, तथा सर्वाकारजता—ये धर्मकाय में संगृहीत हैं। साम्भोगिक काय ३२ लक्षण और ८० व्यंजनों से युक्त है। आसंसार जिस काय से बुद्ध अगदित का सम्पादन करते हैं वह निर्माणकाय है। इनमें पहली स्वाभाविक काय पारमाधिक, शेष तीन तथ्यसंभूति के रूप में प्रतिभासित होती है तथा अधिकारियों को उनसे आध्यात्मिक साहाय्य प्राप्त होता है।

असंग योगाचार सम्प्रदाय के प्रवर्तक के रूप में असंग का नाम प्रायः प्रसिद्ध है। इनके अनेक ग्रन्थ केवल चीनी अनुवाद में अवशिष्ट हैं, यथा—गहायानसम्परिग्रह, प्रकरण-आर्यवाचा, "महायानाभिधर्म-संगीति-शास्त्र" (वस्तुतः तन्त्रिणों ११९९ ता० सेइ-अ-फि-ता-मो-छि-तुन्-का संस्कृत अनुवाद "अभिधर्मसमुच्चय" होना चाहिए) तथा बज्रच्छेदिका पर एक व्याख्या। परमार्थ के द्वारा वसुवन्धु की चीनी में उपलब्ध चौथी के अनुसार पुरापुर के एक कौशिक गोत्र के ब्राह्मण परिवार में असंग, वसु-वन्धु एवं विरिचिवत्स नाम के तीन भाई उत्पन्न हुए थे। प्रारम्भ में तीनों सर्वोत्ति-

वाद के अनुयायी थे। इस विवरण के अनुसार असंग ने वसुवन्धु को बुद्धावस्था में महायान की ओर प्रवर्तित किया था। बुद्धों के अनुसार प्रसन्नशौला नाम की ब्राह्मणी तथा एक क्षत्रिय से असंग की उत्पत्ति हुई थी। उसी ब्राह्मणी तथा अन्य ब्राह्मण से कालान्तर में वसुवन्धु उत्पन्न हुए थे। वसुवन्धु कनसौर में संभद्र नाम के आचार्य के पास शिक्षा के लिए गये। असंग ने मैत्रेय की सहायता प्राप्त करने के लिए कुक्कुट-पाद पर्वत की गुहा में चिरकाल तक उनके प्रसादन का प्रयत्न किया। १२ वर्ष के अनन्तर उन्हें मैत्रेय का दर्शन प्राप्त हुआ। मैत्रेय के पूछने पर असंग ने यह बताया कि वे महायान के प्रचार के लिए ज्ञान चाहते हैं। मैत्रेय के साम वह तुलित लोक गये जहाँ देव-मनवा से उन्होंने एक क्षण निवास किया। यह एक क्षण मानव पचास वर्षों के बराबर है। योगवर्षा-भूमि के व्याख्याता के अनुसार वे तुलित लोक में छः महीने रहे थे और मैत्रेय से शिक्षा प्राप्त की थी। इस प्रकार असंग ने प्रतीत्यसमुत्पादमूल, योगवर्षा, तथा अन्य महायान सूत्रों का परिशीलन किया। इसके अनन्तर उन्हें मैत्रेय के द्वारा विरचित पाँच ग्रन्थों की प्राप्ति हुई। हरिभद्र ने भी इसका उल्लेख किया है कि असंग ने मैत्रेय से सीखा तथा यही परम्परा पीछे वसुवन्धु के द्वारा अग्रसर हुई। जम्बयाकरगुप्त की मर्मकौमुदी में भी इस प्रकार का उल्लेख प्राप्त होता है। मनुष्यलोक में लौट आने पर असंग ने महायानसम्बन्धी अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा, जिसका संशोध उन्होंने अभिषमसमुच्चय में संगृहीत किया। तत्त्वविनिश्चय तथा उत्तरतन्त्र एवं संधिनिर्बोचन-सूत्र पर व्याख्यान भी उन्होंने लिखी। उन्होंने बोधि-सत्त्वों की तीसरी भूमि प्राप्त की थी।

असंग की कृतियों में महायानसम्परिग्रह, अभिषमसमुच्चय तथा योगाचार-भूमिशास्त्र का योगाचार-सम्प्रदाय के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। महायान-सम्परिग्रह का चीनी में बुद्धयान्त ने ई० ५३१ में, परमार्थ ने ई० ५६३ में तथा स्थानु-च्चांग ने ई० ६४८-४९ में अनुवाद किया। परमार्थ के अनुवाद के आधार पर "सै-लुन्" अथवा "सम्परिग्रह" सम्प्रदाय का चीन में प्रवर्तन हुआ जोकि वहाँ योगाचार विज्ञानवाद का पूर्वसूच था। महायानसम्परिग्रह में १० पदार्थों का विवरण है—आलय विज्ञान अथवा मूलविज्ञान, विज्ञप्तिमात्रता अथवा भिस्वभाव, विज्ञप्तिमात्रता का अवशेष, ९ पारमिताएँ, १० भूमियाँ, धौल, समाधि, प्रज्ञा, अधिकल्पज्ञान, तथा विकाय। आलयविज्ञान में क्लिष्ट और अक्लिष्ट बीजों का संग्रह है जिनकी कारण-शक्ति से अहिर्मुख विज्ञान-प्रवाह प्रवृत्त होता है। इस विज्ञान-प्रवाह में प्राणवाहक भेदयुक्त एक परिकल्पित जगत् प्रतिभासित होता है। सम्बोधि की ओर अभिमुख

होने से ही चित्त विशुद्ध होता है तथा विकल्प एवं क्लेश से मुक्ति पाता है। अवि-
कल्प ज्ञान में ही परिनिष्ठित लक्षण तथा अप्रतिष्ठित निर्वाण की प्राप्ति होती है।
आलस्य विज्ञान ही विशुद्ध एवं परावृत्त होने पर तपसा से अभिन्न है।" इस अवस्था
में उसे अमलविज्ञान अथवा भवमविज्ञान कहा गया है।

बुद्धों के अनुसार अभिधर्मसमुच्चय में वैधानिक सिद्धान्तों का संग्रह है, किन्तु
अभिसंग्रहसूत्र के अनुसार उसे केवल महायान ग्रन्थ मानना चाहिए। अभिधर्म-
समुच्चय में "महायानाभिधर्मसूत्र" का उल्लेख मिलता है। स्पष्ट ही महायानी
अभिधर्म के प्रभाव से मुक्त नहीं थे। एक ओर नागार्जुन के "महाप्रज्ञापारमिता-
शास्त्र" तथा मैत्रेय के "अभिसंग्रहसूत्र" में प्रज्ञापारमितासूत्रों के आधार पर एक
विलक्षण "अभिधर्म" की रचना का प्रयास है; दूसरी ओर जर्मन तथा वसुवन्धु की
रचनाओं में सर्वास्तिवाद की अभिधर्म आवश्यक परिवर्तन के साथ स्वीकार कर
लिया गया है। वसुवन्धु का अभिधर्मज्ञान तथा सर्वास्तिवाद में निष्ठा सुविदित है।
योगाचार-अभिधर्म में विज्ञानवाद तथा सर्वास्तिवाद के बेमे लजोड़ से अद्वैत वेदान्त
तथा शास्त्रों के तत्त्वकलाप का संयोग तुलनीय है।

यह स्मरणीय है कि सर्वास्तिवादी अभिधर्म में ७५ पृथक् धर्मों की सत्ता स्वीकार
की जाती है—७२ संस्कृत तथा ३ असंस्कृत। संस्कृत धर्मों में ११ रूप, १ चित्त,
४६ चैत अथवा चित्तसम्प्रयुक्तसंस्कार, तथा १४ चित्तविप्रयुक्त संस्कार परिगणित
हैं। योगाचारसम्मत अभिधर्म में १०० धर्मों का परिगणन किया गया है—९४
संस्कृत तथा ६ असंस्कृत। संस्कृत धर्मों में ११ रूपधर्म, ८ विज्ञान, ५१ चैतनिक
तथा २४ चित्त-विप्रयुक्त-संस्कार गिने गये हैं। ११ रूप धर्मों में १० सुविदित
हैं—५ इन्द्रियाँ तथा उनके ५ विषय। ११वाँ रूपधर्म "धर्मापतनसंगृहीत रूप" है।
इसीमें परमाणु अथवा ध्यातरूप का संग्रह होता है। ७ विज्ञान स्वविरचादियों
के तथा सर्वास्तिवादियों के परिचित हैं—५ चक्षुरादि इन्द्रियविज्ञान, मनोविज्ञान,
तथा मनस्। सर्वास्तिवादी मनस् को दोष ६ विज्ञानों से पृथक् कोटि का नहीं मानते
हैं जबकि स्वविर सतोधातु को ६ विज्ञानों से कार्यतः तथा आश्रयतः भिन्न मानते हैं।
योगाचार भी स्वविरों के समान मनोधातु को ६ विज्ञानों से भिन्न स्वीकार करते हैं।
इन बात के अतिरिक्त योगाचार ज्ञानविज्ञान नाम के अष्टम विज्ञान की सत्ता स्वीकार

५३—यह स्मरणीय है कि कुछ विद्वान् 'परामृति' और 'परिवृति' में सैद्धांतिक
भेद की कल्पना करते हैं।

करते हैं। आलयविज्ञान ही व्यक्तित्व का अनादि एवं अनुच्छिन्न आधार है। वही वास्तव का आलय है तथा मनोगत व्यक्तित्वभान का आलम्बन।

सर्वास्तिवादियों के ४६ चित्तसम्प्रयुक्त संस्कारों के अतिरिक्त योगाचार ५ और स्वीकार करते हैं—अमोह, दुष्टि, मुषितस्मृतिता, असम्प्रवृज्य, तथा विशौर। सर्वास्तिवादियों के १४ विप्रयुक्तसंस्कारों में "अप्रान्ति" को छोड़कर शेष १३ योगाचारों से स्वीकृत है। इनके अतिरिक्त ११ अन्य संस्कार योगाचार-परिगणित हैं—गुणगन्तव्य, प्रवृत्ति, प्रतिनियम, योग, जव, अनुक्रम, काल, देश, संस्था, सामग्री, तथा भेद।

योगाचारसम्मत ६ असंस्कृत धर्म इस प्रकार हैं—आकाश, प्रतिसंस्वानिरोध, अप्रतिसंस्वानिरोध, आनिञ्ज्य, संज्ञावेदयित-निरोध, एवं तपता। इनमें पिछले तीन सर्वास्तिवाद के अविदित हैं। यह उल्लेखनीय है कि अभिधर्मंतमुत्पत्त्य में तपता को विविध कहा गया है—कुशलधर्मंतपता, अकुशलधर्मंतपता, एवं अव्याकृतधर्मंतपता और इस प्रकार ८ असंस्कृत धर्म परिगणित हैं। आकाश क्पाभाव है, अप्रतिसंस्वानिरोध अविसंयोगात्मक निरोध है, तथा प्रतिसंस्वानिरोध क्षिप्तयोगात्मक निरोध है। आनिञ्ज्य की परिभाषा की गयी है—“शुभकृतसर्वांतरागमास्थो-पर्ववीतरागस्य मुषनिरोधः।” संज्ञावेदयितनिरोध को आकिञ्चनायतन के ऊपर “अस्मावर चित्तर्षतसिक धर्मों का तथा कुछ स्थावरों” का निरोध कहा गया है। कुशल धर्मंतपता नैरात्म्य है। वही शून्यता, अनिमित्त, भूतकोटि, परमार्थ तथा धर्म-धानु है। तपता की आस्था अनन्यधानीयता के कारण दी गयी है।

इन सौ धर्मों का स्कन्ध, धातु, तथा आयतन, इन तीन धर्मों में, तथा पाँच “जैवों” में संग्रह किया जा सकता है। पाँच जैव उपर्युक्त हैं—रूप, चित्त, चैतसिक, चित्त-विप्रयुक्त संस्कार, तथा असंस्कृत। इन धर्मों का तीन लक्षणों में भी संग्रह किया जा सकता है—परिकल्पित लक्षण, विकल्पित लक्षण तथा धर्मतालक्षण। इनमें पहला पुद्गल कल्पना की ओर संकेत करता है, दूसरा स्कन्धादि के प्रसिद्ध लक्षणों की ओर, तथा तीसरा उनके वास्तविक नैरात्म्य की ओर। योगाचारभूमिशास्त्र के अनुसार समस्त आन्तरिक तथा बाह्य भूत-भौतिक धर्मों के बीज चित्तसन्तति में सन्निविष्ट हैं। उन्हीं असंस्कृतों की गणना ६ अथवा ८ की जा सकती है। वस्तुतः वही धर्मता अनावरण स्वभाव होने के कारण आकाश, आवरणनिरोध होने के कारण प्रतिसंस्वादिनिरोध, अचल स्वभाव होने के कारण आनिञ्ज्य तथा परमार्थ होने के कारण तपता कही जाती है।

योगाचारभूमिशास्त्र का चोनी नाम योगाचार्यभूमिशास्त्र है तथा चीनी परम्परा के अनुसार वह मैत्रेयनाथ की कृति थी। तिब्बती अनुवाद में नाम “योगचर्या-

भूमिशास्त्र" हो गया है तथा ग्रन्थकार आर्वासंग कहे गये हैं। इस शास्त्र के पाँच खण्ड हैं—बहुभूमिक वस्तु, निर्णय-अथवा विनिर्दय-संग्रह, वस्तुसंग्रह, पर्याप्तसंग्रह, तथा विवरणसंग्रह। बहुभूमिक वस्तु में १७ योगाचार-भूमियों का पुरूप, चारों तरफ फल की दृष्टि से विवरण है। पहली भूमि (१) पञ्चविज्ञान-काय-सम्प्रगुस्त है, दूसरी (२) मनोभूमि है। ये दो समस्त साधना की आधार हैं। (३) सवितर्का-सविचारा, (४) अकितर्का-विचारमाणा, तथा (५) अकितर्कासविचारा, ये तीन भूमियाँ साधन के मुख्य भेद प्रदर्शित करती हैं। (६) समाहिता तथा (७) अग्र-साहिता, (८) सविता तथा अविता भूमियाँ विभिन्न अवस्थाएँ हैं। (९) श्रुतमयी (११) चिन्तामयी तथा (१२) भावनामयी भूमियाँ चारों का निर्देश करती हैं। नियान तथा द्विविध निर्वाण फल हैं एवं तद्विषयक भूमियाँ (१३) ध्यायक भूमि, (१४) प्रत्येक-वृद्ध भूमि (१५) बोधिसत्त्वभूमि (१६) सोपधिक भूमि तथा (१७) निरूपधिका भूमि कही गयी हैं। ये १७ भूमियाँ ही संक्षेपतः योगाचार-भूमि हैं। सोपधिषोप निर्वाण में परिसूक्ष्म विज्ञान की कायमहित अवधिगद कहा गया है। निरूपधिषोप निर्वाण में विज्ञान अपरिषोप निरुद्ध हो जाता है। यही निर्वाण-प्राप्त्यु अत्यन्तशान्त पद है जिसके लिए साधना का जीवन स्वीकार किया जाता है।

निर्णयसंग्रह प्रथम खण्ड पर व्याख्या के तुल्य है। वस्तुसंग्रह में बहुभूमिक में उल्लिखित विषयों के पिटकानुसार संग्रह का निर्देश है। पर्याप्तसंग्रह में नामानुसृत विभिन्न विषयों के विशेषतः सांख्यिक तथा वैयकथानिक धर्मों के पर्याप्त शिरो गये हैं। विवरण संग्रह में पूर्वोक्त शिक्षाक्रम का विस्तार है।

यह स्मरणीय है कि इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड का १५वाँ परिच्छेद—बोधिसत्त्व-भूमि—महायानचर्या के लिए अतिशय महत्त्व का है। समस्त ग्रन्थ मानो एक महा-मानान्त्रिधर्म-कोश तथा विश्वकोश का संमिश्रण है। योगाचार का यह प्रमाणभूत शास्त्र है।

वसुबन्धु—ऊपर कहा जा चुका है कि परमार्य के अनुसार वसुबन्धु जतंग के अनुज थे तथा मुरगपुर के एक ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुए थे। बुद्धों के अनुसार उन्होंने कदमोर में वैभाषिक आचार्य संप्रभट से शिक्षा प्राप्त की। परमार्य ने उनके गुरु का नाम बुद्धमित्र तथा स्वानुच्चांग ने मनोरथ बताया है। सांख्य आचार्य मिन्ध-वास के द्वारा बुद्धमित्र अथवा मनोरथ के बाद में पराजित होने पर चित्तवशास के विरोध में वसुबन्धु ने परमार्यसत्तति नाम के ग्रन्थ की रचना की। मिन्धवास नाम के राजा ने वसुबन्धु को आश्रय प्रदान किया तथा सम्भवतः उसके राज्यकाल

में वसुबन्धु ने अपने प्रतिष्ठित ग्रन्थ 'अभिधर्मकोश' की रचना की। विक्रमादित्य के पुत्र बालादित्य के वे शिक्षक थे तथा राज्य में अभिषिक्त होने पर बालादित्य ने उन्हें अपने पास अयोध्या बुला लिया जहाँ वे ८० वर्ष की अवस्था तक जीवित रहे। वसुव्रत नाम के वैसाकरण के आलोचकों का उन्होंने परिहार किया, किन्तु वैसापिक आचार्य शंभुमद्र के साथ बाद की बुढ़ापे के कारण अस्वीकार कर दिया। "अभिधर्मकोश" में वसुबन्धु की सौप्तान्तिक प्रवृत्ति प्रकट है। किन्तु असंग के अनुरोध से उन्होंने महायान को स्वीकार किया तथा योगाचार सम्प्रदाय में दार्शनिक विज्ञानवाद को निरिक्त एवं शास्त्रीय रूप प्रदान किया। विज्ञानवाद की दृष्टि से वसुबन्धु की प्रधान रचनाएँ मध्यान्तविभागासूत्रभाष्य, निस्त्वभाष्यनिर्देश, विज्ञप्तिमावता-विशतिका, तथा प्रशिक्षा है। बुद्धों ने उन्हें पंचस्कन्धप्रकरण, व्याख्यापुक्ति, कर्मसिद्धिप्रकरण आदि का रचयिता कहा है। उनके नाम से कुछ अन्य ग्रन्थ भी विदित हैं यथा, सद्धर्मपुष्परीकोपदेश, ब्रह्मच्छेदिकाप्रस्तापारमिताशास्त्र, आर्यदेव के शतशास्त्र की व्याख्या आदि। किन्तु यह सम्भव है कि इन ग्रन्थों के रचयिता एक दूसरे पूर्वोक्तार्थ वसुबन्धु थे।

वसुबन्धु के कालनिर्णय पर विद्वानों में प्रचुर विवाद रहा है। परमार्थ तथा स्वानुच्चांग के विवरण से वसुबन्धु परिनिर्वाण से १,००० अथवा ११०० वर्ष परचातु हुए थे। उनके द्वारा स्वीकृत निर्वाण के समय में भेद होने के कारण वे दोनों गणनाएँ वस्तुतः एक ही फल देती हैं, और यह है वसुबन्धु का पाँचवीं शताब्दी ई० में होना। विक्रमादित्य तथा बालादित्य की समकालीनता से यह समर्थित होता है। दिह्नाग का कालसाभिध्य भी इसी ओर संकेत करता है। पलान्तर में यह कहा गया है कि एक परम्परा के अनुसार वसुबन्धु निर्वाण से ९०० वर्ष बाद हुए थे तथा कुमारजीव ने उनके अनेक ग्रन्थों का अध्ययन एवं बीनी अनुवाद किया था। किन्तु इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि यशोमित्र ने एक पूर्वोक्तार्थ बुद्ध अथवा स्वधिर वसुबन्धु का उल्लेख किया है। यह सम्भव है कि चतुर्थशतकीय उल्लेख उन्हीं की ओर समुद्दिष्ट हों। वे बुद्ध वसुबन्धु मनोरथ के उपाध्याय थे तथा सम्भवतः उन महायान-ग्रन्थों के प्रणेता थे जिनका कुमारजीव को अनुवादक कहा गया है। किन्तु इनके विषय में अधिक नहीं कहा जा सकता। इन्हें असंग का भाई बताना तथा परमार्थ के वसुबन्धुचरित में दो वसुबन्धुओं का संकर कल्पित करना निराधारप्राम है।

विज्ञानवाद के विकास में वसुबन्धु का स्थान और वेत—आर्य सैधेय ने मध्य एवं उत्तरकालीन महायान सूत्रों के आधार पर एक प्रकार के "भाष्यमिक-योगा-

चार" दर्शन का प्रवर्तन किया। उनकी रचनाओं में उत्तरतन्त्र तथा अभिसम्बाल-लंकार प्रधानतया माध्यमिक हैं, अध्यान्तविभाग प्रधानतया योगाचार। किन्तु अध्यान्तविभाग में भी विज्ञप्तिमात्रता की पारमाधिक नहीं माना गया है प्रत्युत धर्मभाव को शून्यता से अभिन्न कहा गया है। आर्य असंग ने सुव्यस्तिकादी प्रभाव से योगाचार-अभिधर्म का विस्तृत प्रतिपादन किया जिसमें आलम्ब-विज्ञान तथा त्रिस्वभाव का विवरण होते हुए भी विज्ञप्तिमात्रता के स्थान पर विविध धर्मलक्षणों का ही प्राधान्य प्रतीत होता है। धर्मों का यथाकथञ्चित् विज्ञान-संसर्ग ही इस अभिधर्म का विज्ञानवाद कहा जा सकता है। यह स्मरणीय है कि चित्तभाषता, अष्ट-विज्ञान तथा त्रिस्वभाव का उल्लेख अवतंसक, लंकारवृत्त आदि सूत्रों में भी उपलब्ध होता है। इस "सौत्र विज्ञानवाद" का मंत्रम एवम् असंग की कृतियों में योगदर्पा की दृष्टि से प्रचुर विस्तार होते हुए भी विमृष्ट विज्ञानवादी दर्शनों के रूप में वास्तविक विकास सर्वप्रथम वसुवन्धु की रचनाओं में ही देखा जा सकता है। वसुवन्धु को ही वषार्ष में विज्ञानवादी दर्शनशास्त्र का प्रवर्तक मानना चाहिए।

सूत्रों में विज्ञप्तिमात्रता को स्वप्न, माया आदि के दृष्टान्तों से उपासित किया गया है। वसुवन्धु ने विज्ञप्तिमात्रताविज्ञप्तिका में इन दृष्टान्तों की तर्कसंगति तथा बाह्यार्थ-स्वीकार का युक्ति-विरोध प्रकाशित किया है। विज्ञान का अर्थाकार प्रतिभास पूर्वविदित था, किन्तु उसके निश्चित तार्किक समर्थन के द्वारा वसुवन्धु ने योगदर्पा के अन्तर्भूत तथा आगमनानुसारी एक अध्यात्मवादी आग्रह को व्यापानुसारी सिद्धान्त का रूप प्रदान किया। विज्ञप्तिमात्रताविज्ञप्ति में वसुवन्धु ने विज्ञप्तिमात्रता का बाह्यार्थवाद की छाया से अन्धकारित अभिधर्मकान्तर से स्पष्ट उद्धार किया तथा विज्ञप्तिमात्रता का धर्मभाव से अभेद व्यवस्थित किया। अभिधर्म-स्वीकृत पंचविध ज्ञेयों के विज्ञानपरिणाम के सिद्धान्त के द्वारा विज्ञानसात्करण में वसुवन्धु ने अपनी पिछली सौत्रान्तिक प्रवृत्ति के प्रकारान्तर से प्रभाव का परिचय दिया है। वसुवन्धु के समय से ही बाह्यार्थ-दर्शनों के समक्ष लण्डन-मण्डन-समर्थ प्रौढ़ बौद्ध-दर्शन का अम्युदय मानना चाहिए।

लंकारवृत्तसूत्र में यह अनेकधा अभिहित है कि चित्तभाव ही सत्य है, यही वास्तव के बल से अर्थाकार प्रतिभासित होता है। "स्वचित्तं दृश्यतस्त्वनं बहिर्भां व्यापते नृणाम्। बाह्यं न विद्यते दृश्यमन्तर्गम्यर्थां न विद्यते ॥ अर्थाभासं नृणां चित्तं चित्तं वै व्याप्ति कल्पितम्। नास्त्यर्थविचलमात्रेयं निर्विकल्पां विमुच्यते ॥" बाह्य पदार्थों की प्रतीति ऐसी ही है जैसे माया, स्वप्न, मुग्धकृष्णा, सन्धर्शनगर अथवा

तैमिरिक-दृष्ट केसादि—“एवं हि दूषिता बालादिवसचेत्तैरनादिकैः । मायामरीचि-
प्रभवं भावं गृह्णन्ति तत्त्वतः ॥” “इन्द्रियाणि च मायाक्या विषयाः स्वप्नसन्निभाः ॥”
“गन्धर्वनगरं स्रजदंष्ट्रा च मृततुणिका । दृश्यं स्याति तथा नित्यं प्रज्ञया च न विद्यते ॥”
“मायाहन्ती यथा चित्रं पद्मानि कनका यथा । तथा दृश्यं नृणां स्याति चित्तं अज्ञान-
वासिते ॥”

इन्हीं सिद्धान्तों एवं दृष्टान्तों के तार्किक समर्पण के द्वारा विज्ञप्तिमात्रता-
विज्ञातिका की रचना हुई है ।

समस्त जगत् को अनुभव के आधार पर दो भागों में विभक्त किया जा सकता
है—ज्ञान एवं ज्ञेय । ज्ञेय पदार्थ ज्ञान के बाहर अवस्थित तथा स्वतन्त्र प्रतीत होते
हैं । वस्तुतः यह प्रतीति भ्रान्ति है । ज्ञेय पदार्थ मिथ्या हैं तथा ज्ञानमात्र सत्य है ।
ज्ञान ही ज्ञेयत्व से प्रतिभासित होता है । यही विज्ञानवाद का मूल सिद्धान्त है ।

पुरानी बौद्ध परम्परा का निर्वाह करते हुए वसुवन्धू “ज्ञान” के स्थान पर
“विज्ञान” शब्द का ही प्रयोग करते हैं । उनके लिए विज्ञान, विज्ञप्ति, चित्त एवं मन
पर्यायवाची शब्द हैं । चित्त अथवा मन में वेदना आदि मन के धर्म (=चैत, चित्त-
सम्प्रयुक्त संस्कार) संगृहीत हैं ।”

विज्ञातिका की पहली कारिका में विज्ञप्तिमात्रता का मुख्य सिद्धान्त इस प्रकार
प्रतिपादित है—“यह (विद्यमान) विज्ञप्तिमात्र है क्योंकि प्रतीति असत् पदार्थों की
होती है जैसे तिमिररोगी को अविद्यमान केश अथवा चन्द्रमा का दर्शन ॥” इस

५४—“चित्तं मनोविज्ञानं विज्ञप्तिश्चेति पर्यायाः ।

चित्तमत्र तत्सम्प्रयोगमभिप्रेतम् ॥” (विज्ञातिका)

५५—“विज्ञप्तिमात्रमेवेतदसद्वर्थावभासनात् ।

यथा तैमिरिकस्यासत्केजाचन्द्राविवर्शनम् ॥” (वही, का० १)

“असद्वर्थावभासन” “असत्त्वयाति” का द्योतक न होकर वस्तुतः “आत्म-
त्वाति” का द्योतक है । तु०—नामती, पृ० ११ “विज्ञानवादिनामपि यद्यपि
न बाह्यं वस्तुसत्ताप्यनाद्यविद्यावासनारोपितसत्त्वकं बाह्यं तत्र ज्ञानाकार-
स्मारोपः ॥” “अवभासन” पद पर तु०—“अवभासपदं च समीचीनेति
प्राप्तये प्रतिष्ठं, यथा नीलस्यावभासः पीतस्यावभास इति ॥” (वही, पृ०
७-८) ।

उक्ति को प्रमाणित करने के लिए बसुवन्धु महायानिक आगम का उद्धरण देते हैं।^{११} यद्यपि यह प्रसिद्ध है कि बौद्ध आचार्य केवल दो प्रमाण मानते थे—प्रत्यक्ष तथा अनुमान—तथापि इस प्रसिद्धि के विपरीत प्राचीन योगाचार मन में आगम को भी प्रमाण माना जाता था।^{१२} जबकि इस कारिका में प्रतीयमान विषयों का सिध्दात्मक विज्ञप्तिमात्रता की प्रतिष्ठा के लिए हेतुरूप से उपन्यस्त प्रतीत होता है तथा इसे “स्वभावानुमान” कहा जा सकता है।^{१३} किन्तु वस्तुतः यह विज्ञप्तिमात्रता का हेतु न होकर उसको अर्थ का विशदीकरण है क्योंकि “विज्ञप्तिमात्र” पद में “मात्र” स्वयं बाह्य पदार्थों का प्रतिषेध करता है।^{१४}

विज्ञप्तिमात्रता का सिद्धान्त समस्त अनुभव को भ्रान्ति अथवा स्वप्न के समान निरात्मक घोषित करता है। यह साहसमात्र न होकर एक न्यायसंगत सिद्धान्त है, यह दिखलाने के लिए बसुवन्धु दूसरी कारिका में अपने मत के विरोध में चार संकाएँ प्रकट कर दो अन्य कारिकाओं से उनका उत्तर देते हैं।

शंका—“यदि बाह्य अर्थ के बिना ही विज्ञान की उत्पत्ति होती है तो उसमें देश और काल के नियम, चित्तसन्तति का अनियम, तथा व्यवहारसामर्थ्य युक्त नहीं है।” (कारिका-२)

समाधान—“देश आदि का नियम स्वप्नवत् सिद्ध है। चित्तसन्तति का अनियम प्रेतवत् सिद्ध है क्योंकि सभी (प्रेत) कुत्सित-नदी आदि की उपलब्धि करते हैं। व्यवहारसामर्थ्य “स्वप्नोपपत्तौ” के समान तथा नरकवत् सिद्ध है। नरकपाल आदि

५६—“चित्तमात्रं भो जिनपुत्रा यदुत वंधातुकमिति सूत्रात्।” (विशतिका)

५७-इ०—तुचि—आनिदुस्त आँव भवेयनाय एण्ड असं।

५८-तु०—भामती, पृ० २८०—“यौ यः प्रत्ययः स सर्वो बाह्यानालम्बनो यथा स्वप्नमायादिप्रत्ययस्तथा चैव विधायास्ततः प्रत्यय इति स्वभावहेतुः। बाह्यानालम्बनता हि प्रत्ययत्वमात्रानुबन्धिनी वृक्षतेष्वंतिशयतात्वमात्रानुबन्धिनीति तन्मात्रानुबन्धिनी निरालम्बनत्वे साध्ये भवति प्रत्ययस्य स्वभावहेतुः” इस अनुमान में व्याप्तिवाक्य स्वभावकथन (= एनालिटिकल जजमेन्ट) हो जाता है। किन्तु इस प्रकार का स्वभाव लोकप्रसिद्ध नहीं है। शब्दरत्नावली में भी प्रत्ययत्व की स्वप्नवत् निरालम्बनत्व में हेतु दिया गया है (पृ० ८-१०)।

५९—“भावमित्यर्थप्रतिषेधार्थम्।” (विशतिका, वही)

६०—स्वप्ने इयमभापत्तिमन्तरेण शुकविसर्गलक्षणः स्वप्नोपपत्तौ।” (वही)

के दर्शन से तथा उनके द्वारा पीड़न के अनुभव से सभी (चारों) सिद्ध है।" (कारि-
कार्त्त-३-४) ।

दूसरी कारिका में भ्रान्ति तथा सत्य अनुभव में चार भेद प्रकाशित किये गये हैं। भ्रान्ति में देशगत एवं कालगत नियम नहीं होते; भ्रान्ति व्यक्तिस्वापेक्ष होती है, सार्वजनिक नहीं; तथा भ्रान्ति के आलम्बनों से कोई वास्तविक कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। कहीं भी और किसी भी समय किसी वस्तु की भ्रान्त प्रतीति सम्भव है; किन्तु उसका वास्तविक प्रत्यक्ष विशिष्ट देश एवं विशिष्ट काल की अपेक्षा रखता है। मरुस्थल में नदी की भ्रान्ति हो सकती है, आकाश में गन्धर्वनगर की, जलौम खाकर रात्रि के समय चन्द्रोदय को सूर्योदय समझा जा सकता है, १९६० में किसी बड़े संग्रह को तैमूर लंग ! भ्रान्ति में । देश का नियम है, न काल का। किन्तु प्रत्यक्ष में वे नियम अनिवार्य हैं। प्रतीति के बाहर पदार्थों की सत्ता मानने पर इन नियमों की सत्ता भी सुबोध है। पुनरप यदि विषय-जगत् अवास्तविक एवं कल्पित है, ज्ञानप्रवाह ही एक मात्र सत्य है तो ज्ञेय पदार्थों की प्रतीति को विशिष्ट चित्त-सन्तति अथवा व्यक्तिविशेष की अपेक्षा रखनी चाहिए। उदाहरण के लिए जिसकी आँख में दोष होता है उसे ही अविद्यमान केश आदि का आभास होता है, सबको नहीं। कल्पना अथवा भ्रान्ति प्रातिस्विक होती है, विश्वजनीन नहीं। इसके विपरीत उपर्युक्त देश-काल में प्रतिष्ठित सभी के लिए व्यवहार में एक-सा दृश्य जगत् प्रतिभासित होता है। स्पष्ट ही अर्ध-प्रतिभास विशिष्ट देश-काल की अपेक्षा रखता है न कि विशिष्ट व्यक्ति की। यह उसका भ्रान्ति से वैलक्षण्य प्रकट करता है। फिर, यदि विषय कल्पित है, तो उनको अपेक्षितता में असमर्थ होना चाहिए। जिस प्रकार स्वप्न में देखे गये अन्न, पान, वस्त्र, विष, आपाव

६१—"देशकालनियमादिविषयम्" (यहाँ) ।

६२—"अनर्था यदि विज्ञप्तिनियमो देशकालयोः ।

सन्तानस्थानियमश्च मुक्ता कृत्यक्रिया न च ॥

वेद्यादिनियमः सिद्धः स्वप्नवत् प्रेतवत् पुनः ।

सन्तानानियमः सर्वैः पुपनद्यादिवर्जने ॥

स्वप्नोपधातवत् कृत्यक्रिया नरकवत् पुनः ।

सर्वं नरकपालादिवर्जने तैश्च वाच्यम् ॥" (विज्ञप्तिका का० २-४)

६३—तीर्थांतिकों का कहना है कि प्रतीतिगत वैचित्र्य प्रतीति के बाहर हेतु की सत्ता सूचित करता है। विज्ञानवादो इस हेतु को वासना बताते हैं। पु०—
भाषतो, पु० २८०-८१ ।

आदि से भोजन, स्नान-निवृत्ति आवरण आदि की क्रियाएँ नियम नहीं होती ऐसे ही समस्त जगत् के पदार्थ मन्त्रबन्धन-नगर के समान असमर्थ होने चाहिए । किन्तु वस्तुनिश्चय ठीक विपरीत है । अतः बाह्य पदार्थों को मानसिक कल्पना नहीं माना जा सकता ।

इन शंकाओं का आचार्य वसुबन्धु ने इस प्रकार उत्तर दिया है—देश-काल का नियम उसी प्रकार सिद्ध मानना चाहिए जैसे स्वप्न में । एक चित्तसन्तति के अनियम अथवा व्यक्तिनिरपेक्षता के विषय में स्मरणीय है कि स्वप्न में भी बाह्य पदार्थों के ही जो जगत् उत्पन्न होता है उसमें विविध देश-काल का नियम उस समय प्रतीत होता है । ऐसे ही कर्मविपाक तुल्य होनेपर प्रेतों को पूर्यपूर्ण नदी आदि समान दृश्य दीखते हैं यद्यपि वस्तुतः उन दृश्यों की सत्ता नहीं होती । विभिन्न प्रेतों की अनुभव-धाराएँ पुष्क-पुष्क हैं एवं उनके समक्ष कोई स्वतन्त्र बाह्य विषय नहीं है, तथापि कर्मविपाक के समान होने के कारण उन्हें समान दृश्य दीखते हैं । इन दोनों दृष्टान्तों से यह सिद्ध होता है कि बाह्य पदार्थों के अभाव में भी अनुभव के अन्तर्भूत दृश्य-जगत् में देश-काल का नियम प्रतीत हो सकता है तथा वैयक्तिक चित्त-संततियों का अनियम भी सम्भव है । काल्पनिक पदार्थों भी अर्थक्रिया अथवा व्यवहारसामर्थ्य के विषय में भी यह स्मरणीय है कि स्वप्न में अथवा नरक में बाह्य पदार्थों के अभाव में ही दृश्यमान पदार्थों का कार्यसामर्थ्य प्रत्यक्ष होता है । स्वप्न में वास्तविक कामिनी के अभाव में भी अर्शवि-भोक्ष उपलब्ध होता है । नरक में नारक जोष नरकपाल आदि का प्रत्यक्ष करते हैं तथा उनसे पीडा का अनुभव भी । वास्तविक विषयों के अभाव में भी नरक का अनुभव देश-काल का नियम, व्यक्ति-निरपेक्षता, तथा अपने अन्तर्गत पदार्थों का कार्यसामर्थ्य प्रदर्शित करता है । स्वप्न, प्रेतलोक, तथा नरक के दृष्टान्तों से स्पष्ट है कि विषयों के बिना भी केवल चित्त से ही एक नियत, अनेक साधारण, तथा समर्थ जगत् का भासित होना सम्भव है ।

यह शंका की जा सकती है कि नरक का दृष्टान्त युक्त नहीं है क्योंकि नरक में दृष्ट नरकपाल, पक्षी आदि को कर्मजन्य वास्तविक प्राणी माना जा सकता है । स्वर्ग में पक्षियों का जन्म प्रसिद्ध भी है । इस शंका के समाधान में वसुबन्धु का कहना है—“स्वर्ग के समान नरक में पक्षियों का जन्म नहीं होता और न प्रेतों का, क्योंकि वे वहाँ के दुःख का अनुभव नहीं करते ।” यदि नरकपाल वस्तुतः नरक में उत्पन्न

६४—“तिरस्वी सम्भवः स्वर्गे यथा न नरके तथा ।

न प्रेतानी यत्तत्तन्त्रं दुःखं नानुभवन्ति ते ॥”

(विश्लेषिका, का० ५)

होते तो वे भी नारकीय वेदना से तप्त होते और कदाचित् अपने बन्धियों के साथ वहाँ से भाग निकलने का प्रयास करते। अतः यह मानना चाहिए कि नारक प्राणियों को अपने कर्म के कारण अवास्तविक नरकपाल, आदि का आभास होता है। यह भी नहीं सोचना चाहिए कि कर्म-बल से भौतिक पदार्थ परिणत होकर नरकपाल आदि के आकार अवभासित करते हैं क्योंकि "यदि उनके (नारकों के) कर्म से वहाँ भौतिक परिणाम अभीष्ट है तो चित्त का परिणाम क्यों अभीष्ट नहीं है? कर्म की वासना अन्यत्र तथा उसका फल अन्यत्र क्यों माना जाय? क्यों न जहाँ कर्मवासना है वहाँ कर्मफल की कल्पना की जाय?"^१ कर्म के संस्कार चित्त में संनिविष्ट हैं। कर्मफल की उत्पत्ति भी वहाँ ग्याय्य है। चित्त से उत्पन्न तथा चित्त में आलीन कर्म के फल के भोग के लिए चित्त के बाहर कर्म से उत्पन्न पदार्थों की कल्पना में स्पष्ट ही गौरव है।

इतने विमर्श से यह स्पष्ट हो जाता है कि विज्ञप्तिमात्रता का सिद्धान्त असंगत अथवा दुस्साहसमान नहीं है। समस्त अनुभव की स्वप्नतुल्यता में किसी प्रकार का व्यापात जगत्वा मुक्तिविरोध प्रदर्शित नहीं किया जा सकता। किन्तु विज्ञप्तिमात्रता के विरोध-परिहार मात्र से वह सिद्ध नहीं हो जाती। अब तक उसके समर्थन में केवल एक आगम की मुक्ति दी गयी है। किन्तु यह शंका की जा सकती है कि अन्यत्र तथागत ने रूपादि आद्यतनों का उपदेश किया है। अतएव बाह्य पदार्थों की कल्पना मुक्त है।

इसके उत्तर में बुधुबुधु का कहना है—“(तथागत के द्वारा) शिष्यों के प्रति रूपादि-आद्यतनों के अस्तित्व का उपदेश “उपपादुक-सत्त्वों” के उपदेश के समान आभिप्रायिक है।

जिस बीज से तथा जिस आधार को लेकर विज्ञान की प्रवृत्ति होती है उन्हीं को शायम मुनि ने विज्ञान के द्विविध आद्यतन के रूप में बताया है।

इस प्रकार पुद्गल नैरात्म्य में प्रवेश (प्राप्त होता है)। किन्तु उन्होंने पुनः

६५—“अवि तत्कर्मभिस्तत्र भूतानां सम्भवस्तथा ।

इच्छते परिणामस्य कि विज्ञानस्य नेष्यते ॥

कर्मणो वासनान्धस्य फलमन्यत्र कल्प्यते ।

तत्रैव नेष्यते यत्र वासना कि नु कारणम् ॥”

दूसरे प्रकार से उपदेश दिया है (जिससे) धर्मनैरात्म्य में कल्पित स्वभाव के द्वार से प्रवेश हो।^{१११}

तथामत ने शिष्यों के अधिकार के अनुसार विविध देशता की है। "आत्मा" में अभिनिविष्ट जनता के उद्धार के लिए उन्होंने "आयतनों" का उपदेश किया है, किन्तु उत्तम अधिकारियों के लिए उन्होंने इनका भी निषेध किया है। यह निषेध "आयतनों" के कल्पित स्वभाव का है, न कि सर्वथा। यही वसुधन्धु ने तथामत के "उपायकौशल" को उपस्थित कर विज्ञानवाद को सर्वास्तिवाद से सत्यतर बताया है तथा "कल्पित-स्वभाव" का उल्लेख कर विज्ञानवाद का शून्यवाद से भेद प्रदर्शित किया है।

वस्तुतः विज्ञप्तिमात्रता का सिद्धान्त बौद्ध दर्शन के जन्तुगत एक व्यपस्थित तात्त्विक एवं आध्यात्मिक विकास की ओर संकेत करना है। सामान्य लौकिक व्यवहार में घट, पट आदि पदार्थों को तथा उनके व्यवहर्ता पुरुषों को वास्तविक माना जाता है। हीनयान में उनकी सत्ता की केवल शब्दजन्य भ्रान्ति मान इनके स्थान पर "द्वादश आयतनों" को सत्य स्वीकार किया गया। इस दृष्टि से घट-आदि पदार्थ क्षणिक, इन्द्रियग्रह्य रूप आदि "धर्मों" के प्रवाहील समूहमात्र हैं तथा "पुरुष" अथवा "जीव" एक चित्तप्रवाह मात्र हैं जो एक ओर अक्षु आदि इन्द्रियों पर तथा दूसरी ओर रूप-आदि विषयों पर निर्भर है। इन्द्रियाँ आध्यात्मिक अथवा आन्तरिक आयतन हैं, विषय बाह्य आयतन हैं। इन द्विविध आयतन पर चित्त अथवा विज्ञान का प्रवाह जाहित है। फलतः आयतनों के उपदेश को हृदयंगम करने से "पुद्गलनैरात्म्य" का बोध हो जाता है तथा घट-पट आदि का स्थूल एवं स्थिर जगत् रूप-रस आदि की सूक्ष्म धाराओं में विलीन हो जाता है। सामान्य लौकिक-व्यवहार की तुलना में यह हीनयानी दर्शन पर्याप्त रूप से "वैनाशिक" है। महायान में यही प्रवृत्ति और अधिक विकसित रूप में पायी जाती है। आत्मा के समान बाह्य पदार्थ भी निराकृत हो जाते हैं। यही "पुद्गलनैरात्म्य" के और आगे "धर्मनैरात्म्य" का

६६—"रूपाद्यातनास्तिर्ध्वं तद्विनेयजनं प्रति ।

अभिप्रायवशादुक्तमुपपादुकतत्त्ववत् ॥

यतः स्वधीयाद् विज्ञप्तिर्यदाभाता प्रवर्तते ।

द्विविधापतनत्वेन ते तस्या मुनिरवधीत् ॥

तथा पुद्गलनैरात्म्यप्रवेशो ह्यन्यथा पुनः ।

वेशना धर्मनैरात्म्यप्रवेशः कल्पितात्मना ॥

(विशालिका, का० ८-१०)

स्तर है। विज्ञप्तिमात्रता के द्वारा ही धर्मनैरात्म्य में प्रवेश सम्भव है। अतएव यह मानना चाहिए कि तत्काल ने रूप-आदि आमतनों की सत्यता का उपदेश प्राथमिक अधिकारियों की पुद्गलनैरात्म्य की शिक्षा देने के लिए किया, किन्तु उसी अधिकारियों को उन्होंने महामान सूत्रों में विज्ञप्तिमात्रता के द्वारा धर्मनैरात्म्य का उपदेश किया।

शून्यवादियों के विरोध में यह स्मरणीय है कि धर्मनैरात्म्य का अर्थ "धर्मों" का सर्वथा अभाव नहीं है। अभाव केवल उनके ब्राह्म-बाह्यकादि परिकल्पित स्वभाव का है, उनके अनिवर्चनीय स्वभाव का नहीं जोकि बुद्धज्ञान का विषय है। विज्ञप्तिमात्रता से नैरात्म्य में प्रवेश होता है, स्वयं विज्ञप्तिमात्रता का अभाव नहीं होता।

आगम-विरोध के उपर्युक्त परिहार में सत्य का एक तारतम्य मान लिया गया है जिसके अनुसार रूपादि के अस्तित्व की अपेक्षा रूपादि का नास्तित्व ही गम्भीरतर और वास्तविक सत्य है। यदि यह धारणा आग्रहमान नहीं है तो यह तर्कसम्मत होनी चाहिए। वस्तुतः एकदेशी आगम के सहारे अन्य सम्प्रदायों से तर्क नहीं किया जा सकता। वसुवन्धु हीनयानी एवं महायानी, दोनों आगमों से सुपरिचित थे। सौम्य एवं असंग के समान वे केवल आगमानुसारी नहीं थे। पिछली कारिकाओं में उन्होंने विज्ञप्तिमात्रता के विरुद्ध आरोपों का तर्क से परिहार किया है। अब अपने सिद्धान्त के समर्थन में आगममात्र से असन्तुष्ट होकर वे विभुद्ध तर्क उपस्थित करते हैं।

विज्ञप्तिमात्रता के दो पक्ष हैं—विज्ञान का अस्तित्व, तथा विशेष पदार्थों का नास्तित्व। इनमें पहले पक्ष की स्थापना माध्यमिकों के विरोध में उचित है। इसका आचार्य ने सूक्ष्म इंगित किया है—(१) नैरात्म्य का अर्थ कल्पित स्वभाव का निरस्कार है, सर्वथा अस्तित्व का नहीं, (२) विज्ञप्तिमान के द्वारा ही इस अकल्पित स्वभाव में प्रवेश सम्भव है, (३) धर्मों का अनिवर्चनीय स्वभाव बुद्धगोचर है। किन्तु यहाँ माध्यमिकों के निराकरण का विस्तृत प्रयत्न नहीं किया गया है। माध्यमिकों की अद्भुत तर्क-प्रणाली के समक्ष वह होता भी कठिन। कदाचित् इसी कारण शंकराचार्य ने भी शारीरकभाष्य में शून्यवादका अपलाप मात्र किया है।

बाह्य पदार्थों के सम्बन्ध के लिए वसुवन्धु परमाणुवाद का खण्डन करते हैं—
“(ज्ञान का) विषय न एक हो सकता है, न परमाणुरूप अनेक, और न परमाणु संहत होकर (विज्ञान का विषय हो सकते हैं) क्योंकि परमाणु ही सिद्ध नहीं होता।

६ (परमाणुओं) से एक साथ ही (६ प्रदेशों में) संयोग होने पर परमाणु के ६ अंश मानने होंगे। ६ (परमाणुओं) के समान प्रदेश में अवस्थित होने पर पिण्ड (समूह पदार्थ) अनुमान हो जायगा।

परमाणुओं का संयोग न होने पर उनके संघात में किसका संयोग होगा वह भी नहीं है कि परमाणुओं के निरवयव होने के कारण उनका संयोग सिद्ध नहीं होता।

परमाणु को नित्य मानने पर उसका एकत्व अयुक्त है। परमाणु को अवित्यक्त मानने पर छाया एवं अवरोध कैसे होंगे? और यदि पिण्ड परमाणुओं से अन्य नहीं है तो वे (छाया एवं रोष) पिण्ड के धर्म भी नहीं हो सकते।^{१०१}

मान लीजिए नील-रूप का प्रत्यक्ष होता है। इस प्रत्यक्ष का विषय क्या है? अर्थात् नीलविज्ञान के आलम्बन "नील" की सत्ता यदि विज्ञान के बाहर है तो उसका क्या स्वरूप है? तीन विकल्प सम्भव हैं—नील-रूप पटादि-अवयवि-निष्ठ हो सकता है, तबका अनेक-परमाणु-निष्ठ, अथवा परमाणु-संघात-निष्ठ। इनमें पहला पक्ष वैशेषिकों का है, दूसरा वैभाषिकों का है,^{१०२} तीसरा सौषाटिकों का। वैशेषिकों के विषय में वसुवन्धु का कहना है कि अवयवों के अतिरिक्त अवयवों का ग्रहण नहीं हो सकता। शेष दो पक्षों के विरोध में उनका कहना है कि परमाणुओं का न प्रत्येकका ग्रहण हो सकता है न उनके संघात का। स्वयं परमाणु ही सिद्ध नहीं हो सकता।

अपर, नीचे तथा चार दिशाओं को मिलाकर एक परमाणु का अन्य परमाणुओं से छः पाद्यों में संयोग कल्पनीय है। यदि इन छः संयोगों को युगपत् माना जाय तो परमाणु के छः अंश भानने होंगे तथा वह अविभाज्य न रहेगा। दूसरी ओर यदि ये

६७—"न त्वेकं न धानेकं विषयः परमाणुः ।
न च ते संहता यस्मात्परमाणुनं सिध्यति ॥
यत्केन पुणरद् योगात् परमाणोः यदंशता ।
धण्या समानवेशात्वात् पिण्डः स्यादणुमात्रकः ॥
परमाणोरसंयोगे तत्संघातोऽस्ति कस्य सः ।
न धानवयवत्वेन तत्संयोगो न सिध्यति ॥
विभागभेदो यस्यास्ति तत्स्यैकत्वं न युज्यते ।
छायादृती कथं बान्यो न पिण्डश्चेन्न तस्य ते ॥"

(विज्ञानिका, का० ११-१४)

६८-नु०—अभिधर्मकोश जि० ३, पृ० २१३—"परमाण्वतीन्द्रियत्वेऽपि समस्तानां प्रायशत्त्वं ।" वसुवन्धु ने विज्ञानिका में प्राचीन वैभाषिकों के मत का संघ-
अद्व के नवीन वैभाषिक मत से विभेद नहीं किया है। दवानुष्वांग के विज्ञप्ति-
मात्रतासिद्धिशास्त्र में परमाणुवाद का विस्तृत आलोचन है। दे०—नोबे ।

छः संयोग परमाणु के समान प्रदेश में माने जायें तो परमाणु-संयोग से उत्पन्न स्थूल पदार्थ परमाणु के ही आकार का हो जायगा । यदि परमाणु में दिग्विभाग अथवा देशगत विस्तार है तो वह विभाज्य हो जाता है, यदि उसमें दिग्विभाग नहीं है तो छाया एवं आवरण (अवरोध) असम्भव होंगे । पार्श्वभेद होने पर ही छाया सम्भव है, अन्यथा समस्त परमाणु युगपत् आलोकित अथवा अन्धकारित हो जायेंगे । परमाणुओं का प्रतिघात अथवा परस्पर रोध भी तभी सम्भव है जब उनमें अंशतः स्पर्श हो । निरक्ष परमाणुओं में या तो सम्पर्क ही नहीं होगा, अन्यथा सर्वात्मता स्पर्श होगा जिससे एक परमाणु दूसरे से मिल कर अभिन्न हो जायगा । यदि छाया तथा रोध को परमाणु के धर्म न मान कर स्थूल पदार्थों के धर्म माना जाय तो मिश्र को परमाणुओं से पृथक् मानना पड़ेगा । इन विकल्पों से स्पष्ट है कि परमाणु-कल्पना में अपरिहार्य व्याघात है ।^{११}

बाह्य पदार्थों को परमाणुनिमित्त मानकर वसुवन्धु ने उनको तर्क द्वारा दुरुपपाद सिद्ध किया है । किन्तु यह कहा जा सकता है कि परमाणु-संघटन से विज्ञान के आत्ममयन रूप-आदि का संघटन मानना युक्त नहीं है क्योंकि परमाणुओं के उल्लेख के बिना ही रूप-आदि का लक्षण किया जा सकता है । जड़ के निरपेक्ष नीलादि धर्मों को ही रूप कहते हैं और यही उसका वचार्थ लक्षण है । इसी प्रकार रस-आदि अन्य बाह्य आसक्तियों के लक्षण कल्पनीय हैं । इन लक्षणों के निमित्त परमाणु-कल्पना अनावश्यक है । बाह्य पदार्थों के दिक्-संक्षिप्तेषु के विवरण से ही परमाणु परिकल्पित हैं, उनके स्वल्प-निर्देश के लिए नहीं ।

इसके कारण से वसुवन्धु का कथन है—“(न) । आदि । के एक (द्रव्य) होने पर अभिन्न मति, युगपद्, जलनिष्ठ एवं अनुचलनिष्ठ, विनिर्जन्म (पदार्थों की) अनेकव्यवस्थिति, तथा (स्थूल के दृष्ट होने पर) सूक्ष्म का अदानी नहीं हो सकेंगे ।”^{१२}

वील, पीत आदि दृश्यमान विषय एक द्रव्य हैं अथवा अनेक । यदि उन्हें एक द्रव्य मान लिया जाय तो अनेक दोष प्रकट होंगे । आकाश या मूर्खों को एक मान

६९-नु०—आरोरकभाष्य ब० सु० २.२.१२ पर जहाँ शंकराचार्य ने वंशेषिणों के परमाणुवाद का खंडन किया है ।

७०—“एकत्वे च कमेनेतिर्युगपत्प्र पृहाप्रही ।

विच्छिन्नलोक्युत्तिष्ठ सूक्ष्मानीशा च नो भवेत् ॥”

(विशालिका, का० १५)

लेने पर एक ही उद्दान में पक्षियों को अन्तरिक्ष के उस पार हो जाना चाहिए तथा एक दग धरने से ही हम सबको वामनावतार के समान पृथ्वी लांघनी चाहिए। कोई पदार्थ अंशतः उपलब्ध तथा अंशतः अनुपलब्ध न हो सकेगा। दीवार की सामने में देखने पर उसका पृष्ठभाग भी दीख जाना चाहिए। एक खेत में खड़े गाव, बैल आदि एक ही स्थान में होने चाहिए, क्योंकि जहाँ एक अवस्थित है वहीं दूसरा भी। जब उसका अन्तराल शून्य है तो जहाँ एक पहुँचे वहाँ औरों को पहुँचा मानना चाहिए। यही मन्त्री केवल लक्षणभेद से ही द्रव्यभेद मानने पर समान रूप पदार्थों में स्थूल की उपलब्धि होने पर सूक्ष्म की भी हो जानी चाहिए। इन दोनों के कारण नीलादि में द्रव्यगत अनेकता तथा दिक्परिमाण आदि के द्वारा भेद स्वीकार करने होंगे। परमाणु-स्वीकार के बिना इस प्रकार की अनेकता अथवा भेद दुस्तरास है और अतएव नीलादि की सिद्धि असम्भव है तथा परमाणुवाद के सञ्चन से ज्ञान के बाहर अवस्थित भूत-भौतिक पदार्थों की सत्ता भी खण्डित हो जाती है।

साधारणतया बाह्य पदार्थों की सत्ता का आधार प्रत्यक्ष प्रमाण माना जाता है जोकि सब प्रमाणों में अग्रणी है, और जबतक यह आधार अशुभ्य है, बाह्य पदार्थों का प्रतिषेध निरर्थक है।^{७१} अतएव इसका सञ्चन करते हुए आचार्य वसुदेव कहते हैं—
“जिस प्रकार स्वप्नादि में प्रत्यक्ष बुद्धि (बिना आलम्बन के होती है, यह ऊपर कहा जा चुका है); जब वह (प्रत्यक्ष बुद्धि) होती है तब वह अर्थ नहीं दीक्षता। उसका प्रत्यक्षत्व कीं माता ज्ञान ? जिस प्रकार (बिना अर्थ के) उसके आभास के साथ विज्ञान की उत्पत्ति होती है, तसा तदनन्तर उसकी स्मृति की, यह कहा जा चुका है।^{७२} स्वप्न तथा सान्नि में बिना वास्तविक आलम्बन के प्रत्यक्ष बुद्धि उत्पन्न होती है, जसा

७१—विज्ञानवाद के विरोध में यही प्रधान युक्ति है, तु०—उ० पू० २.२.२८—

“तानाव उपलब्धेः”। बाह्य जगत् प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है, अतः सत्य है। किन्तु बाह्य जगत् का यह दृश्यत्व ही उसके मिथ्यात्व का हेतु माना जा सकता है। उपर्युक्त “स्वप्नावानुमान” में यही अभिप्रेत है। इस अनुमान का वास्तविक आधार योगानुभूति विशेष ही है।

७२—“प्रत्यक्षबुद्धिः स्वप्नादी यथा सा च यथा तथा ।

न सोऽर्थो दृश्यते तस्य प्रत्यक्षत्वं कथं मतम् ॥

उक्तं यथा तथाभासा विजृप्तिः स्मरणं ततः ॥”

(विश्लेषिका, का० १६, १७)

प्रत्यक्षबुद्धि से आलम्बन की सत्ता सिद्ध नहीं होती। अथवा, नीलादि के प्रत्यक्ष में जिस समय "यह मुझे प्रत्यक्ष है" उस प्रकार की प्रत्यक्षबुद्धि उत्पन्न होती है उस समय तक "यह नीला है" इस प्रकार का प्रत्यक्ष हो नहीं रहता क्योंकि मनोविज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष के निश्चय के समय अनुविज्ञान निरुद्ध हो जाता है।" यही नहीं, नीलादि विषय स्वयं क्षणिक हैं। जिस समय उनका प्रत्यक्ष व्यवस्थित होता है उस समय तक वे ही नष्ट हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्षज्ञान की उत्पत्ति में एकाधिक क्षण का समय लगता है। अतः पदार्थों की क्षणिकता के कारण वह सद्रूपक नहीं हो सकता।

अस्तु निरपवाद क्षणिकता के सिद्धान्त के साथ प्रत्यक्ष का सामंजस्य स्थापित करना टेढ़ी खोर है। इस समस्या का स्थविरवादियों ने कथ-क्षण तथा चित्त-क्षण में भेद मान कर समाधान प्रस्तुत किया।" सौवांतिकों से वास्तव अर्थ की अनुमेयता सिद्धान्तिकों की।" अनुभूत विषय का ही स्मरण होता है; अतएव मनोविज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष-निरूपण से प्रत्यक्षीकृत अर्थों की सत्ता का अनुमान किया जा सकता है। किन्तु अनुबन्धु इस अनुमान को व्याप्ति की ही अस्मिन्न मानते हैं।

यह अवधान है कि आभासतः इस विवेचन में अनुबन्धु ने प्रत्यक्ष के स्वल्प का सूक्ष्म विचार नहीं किया है। न उन्होंने प्रत्यक्ष एवं आन्ति के भेद का प्रमास किया है, न सविकल्पक एवं निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के भेद का। इसे साभिप्राय मानना चाहिए। अस्तुतः विज्ञानवाद की दृष्टि से समस्त अर्थ-प्रत्यक्ष विकल्पित एवं भात हैं। अन्यथा यह स्मरणीय है कि अराम ने घोरान्वारभूमिशास्त्र में प्रत्यक्ष के तीन लक्षणों का निर्देश किया था—अपरोक्षता, अविकल्पता, तथा अभासता।" अनुबन्धु ने भी प्राचीनविधि में प्रत्यक्ष का लक्षण, "ततोऽर्थाद् विज्ञानं प्रत्यक्षम्" किया है जिसमें प्रत्यक्ष का आन्ति अनुमानादि तथा सर्वज्ञान से भेद विवक्षित है।" किन्तु अनुबन्धु के इस लक्षण में वास्तव अर्थ की सत्ता का स्वीकार है। अतः इसे उनके सौवान्तिक युग का मानना चाहिए। इसीलिए सम्भवतः विज्ञान से इस परिभाषा की ओर अपनी अधोचि प्रकट की है।"

७३-तु०—अनिधर्माभूत—"पञ्चविज्ञानानि न शक्नुवन्ति विवेकतुम्।" (५।१०)

७४-वे०—ऊपर।

७५-तु०—सर्ववर्णनसंग्रह।

७६-तुचि, डोबिन्स आदि संश्लेषणात् एव अतंग, प्र० ६० प्र०।

७७-तु०—न्यायवार्तिक, प्र० ४०-४१, न्यायवार्तिकतत्पर्यटीका, प्र० १५०-५३;

श्वेतरवात्की, बुद्धिस्ट लौकिक, वि० १, पृ० १५६, वे०—नीचे।

७८-श्वेतरवात्की, वही।

यदि स्वप्न के समान जागरित में भी विज्ञान को असद्विषयक माना जाय तो स्वप्न के ही समान जागरित के जगत् का मिथ्यात्व भी लोक प्रसिद्ध होता चाहिए । किन्तु ऐसा नहीं है । इससे यह शंका की जा सकती है कि जागरित प्रतीति को स्वप्न-वत् मिथ्या नहीं मानना चाहिए ।^{११} किन्तु इसके विपरीत यह स्मरणयोग्य है कि स्वप्न-लोक का मिथ्यात्व स्वप्न से जागने पर ही स्पष्ट होता है ।^{१२} ऐसे ही समस्त जीव लोक भी वासनानिद्रा से प्रबुद्ध होने पर ही विषयाभाव की यथावत् अवगति करता है ।

पुनरपि यह शंका हो सकती है कि यदि वाह्य पदार्थों के अभाव में केवल अपने चित्त-प्रवाह के विशिष्ट परिणाम से ही अर्थाकार विज्ञान उत्पन्न होता है तो सत्संग अथवा असत्संग, सद्वर्त्मश्रवण अथवा असद्वर्त्मश्रवण का भी कोई सत् अथवा असत् फल नहीं होगा ।

वाह्य विषय के अभाव में सत्संग अथवा असत्संग का प्रश्न ही नहीं उठता । इसके उत्तर में वसुबन्धु का कहना है कि चित्त के बाहर अन्य विषयों का अभाव प्रतिपाद्य है न कि अन्य चित्तों का । विज्ञानवाद एकचित्तवाद अथवा "सौल्लिप्तिम्" नहीं है । एक चित्तधारा पर अन्य चित्तधारा का प्रभाव विज्ञानवादों को स्वीकार्य है ।^{१३}

स्वप्न में पाप-पुण्य की उत्पत्ति नहीं होती, जागरित में होती है । इसका कारण स्वप्नलोक की अलीकता अथवा जागरित की वास्तविकता को न मानना चाहिए क्योंकि स्वप्न में चित्त की अकर्मण्यता ही उसका यथार्थ कारण है ।^{१४}

हिंसा एवं हिंसाजन्य पाप के विषय में भी एक चित्तमन्तति का दूसरी चित्तमन्तति पर प्रभाव ही कारण समझना चाहिए । पिशाचादि के द्वारा आविष्ट होने के स्थल पर चित्त का चित्त पर प्रभाव स्पष्ट दोखता है । चित्त व्यापार की परहिंसा में समर्थता सिद्ध करना कठिन नहीं है । अधिर्कोप से दण्डकारण्य का उद्बोधना सुविदित है ।^{१५}

७९-नु०—अ० सू० २.२.२९—"बंधम्यान्त्र न स्वप्नाविवात् ।"

८०—"स्वप्ने दुःखविषयाभावं नाप्रमुद्धोजगच्छति ॥" (विज्ञानिका, का० १७)

नु०—शधरभाष्य, पृ० ८-१० ।

८१—"अन्योन्याधिपतित्वेन विज्ञानिनिपन्नो निधः ।" (विज्ञानिका, का० १८)

८२—"मिद्धेनोपहतं चित्तं स्वप्ने तेनात्मं फलम् ।" (वहो)

८३—"मरणं परविज्ञप्तिविशेषाद् विविद्या यथा ।

स्मृतिलोपादिकान्येषां पिशाचादिमनोवशात् ॥

कथं वा दण्डकारण्यशून्यत्वमधिकोपतः ।

मनोवश्यो महावशः कथं वा तेन सिद्धयति ॥" (वहो, का० १९-२०)

परिचित ज्ञान के विषय में स्मरणीय है कि स्वचित्त ज्ञान के समान वह भी प्राह-
ग्राह्य विकल्प से दूषित है । विज्ञानमात्रता विज्ञातु-विशेष-भाव से युक्त है । विज्ञप्ति-
मात्रता का स्वभाव सर्वविदित मन के आभ्यन्तर ज्ञान अथवा स्व-बोध (इन्द्रोन्मेषकान्)
में प्रकाशित नहीं होता । वह निर्विकल्प, तर्क का अविषय एवं केवल बुद्धगोचर है ।^{८४}

विज्ञप्तिका में विज्ञानमात्रता के सामान्य सिद्धान्त का तर्कानुकूल प्रतिपादन है ।
विज्ञप्ति में विज्ञान के प्रभेदों का तथा उनके आधार पर संसार एवं मोक्ष का विवरण
प्रस्तुत किया गया है ।

विज्ञान का त्रिविध परिणाम ६ तत्त्व है । आत्मा तथा 'धर्म' उसमें उपचरित
अथवा अध्वस्त है ।^{८५} परिणाम का अर्थ है कार्य-कारणभावन के अनुसार निरोध एवं
उत्पाद ।^{८६} विज्ञान की सत्ता, कार्य-कारण-निमित्त तथा प्रबाहस्य है । यहाँ वेदान्त
से भेद स्पष्ट है । वेदान्त में भी जगत् को ज्ञान में अध्वस्त बताया गया है, किन्तु
ज्ञान को कूटस्थ निर्य माना गया है । अतएव शांकरमत में ज्ञानस्वरूप ब्रह्म का जगत्
के रूप में परिणाम न मानकर विवर्त ही माना जाता है ।^{८७}

विज्ञान का त्रिधा परिणाम इस प्रकार है—आलम्ब विज्ञान, मन, तथा ६ प्रकार
के विषयविज्ञान ।^{८८} ये ८ विज्ञान तथा इनसे सम्बद्ध चैतन्यिक धर्म ही वस्तुसत् हैं,
शेष धर्म उपचार अथवा आरोपमात्र । यह स्मरणीय है कि वैभाषिक पंचविध
धर्मों को वास्तविक मानते थे—रूप, चित्त, चैत, चित्तविप्रयुक्त तथा असंस्कृत ।

८४—"परचित्तविदां ज्ञानमयमार्थं कथं यथा ।

स्वचित्तज्ञानमज्ञानाद् यथा बुद्धस्य गोचरः ॥

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः स्वशक्तिसदृशी भवति ।

कृतेयं सर्वथा सा तु न क्लिप्ता बुद्धगोचरः ॥" (वहो, का० २१-२२)

८५—"आत्मधर्मोपचारो हि विविधो यः प्रवर्तते ।

विज्ञानपरिणामेऽपि परिणामः स च त्रिधा ॥" (त्रिज्ञान, का० १)

८६—"कीदृशं परिणामो नाम ? अन्वयात्मन्, कारणक्षणनिरोधसमकालः कारण-
क्षणविलक्षणः कार्यस्यात्मज्ञानः परिणामः ।" (स्थिरमति का विज्ञप्ति-
भाष्य, पृ० १६) ।

८७—वस्तुतः वेदान्त के इतिहास में परिणामवाद से निवर्तवाद तक एक विकास
का क्रम देखा जा सकता है ।

८८—"विषाको मननाद्यप्येव विज्ञप्तिविषयस्य च ।" (विज्ञप्ति, का० २, पूर्वार्ध) ।

सौवान्तिकों ने अन्तिम दो का निराकरण किया। असंस्कृत, अभावमान है। तथा चित्तविप्रयुक्त धर्म प्रकृतिमान। सौवान्तिक से योगाचार बनकर समुदाय एक चरण और अग्रसर हुए तथा उन्होंने विशिष्टता में रूप-धर्म की सत्ता का विस्तृत वर्णन किया। फलतः यह युक्त ही है कि विशिष्टता में केवल चित्त-वैत धर्मों को ही वास्तविक बताया गया है। किन्तु "अष्टविज्ञान" के विवरण में समुदाय सर्वथा पूर्व धर्मों के, विशेषतः सूत्रों के, श्रेणी है।

'आलय नाम का विज्ञान 'विपाकात्मक' तथा सब 'बीजों' का आश्रय है। 'उपाधि' एवं 'स्थान' उसके आलम्बन हैं, किन्तु उसके 'आकार' (विज्ञप्ति) के सदृश वे भी 'असंविदित' हैं। आलयविज्ञान स्पर्श, मनस्कार, वेदना, संज्ञा, एवं चेतना से सदा सम्प्रयुक्त होता है। इस प्रसंग में उपेक्षाकृत वेदना विवक्षित है। आलय-विज्ञान 'अनिवृत्त' तथा 'अव्याकृत' है। उससे सम्प्रयुक्त स्पर्श आदि भी उसके अक्षुण्ण (विपाकात्मक, असंविदित-आलम्बन, अनिवृत्त, तथा अव्याकृत) हैं। आलय-विज्ञान की वृत्ति नदी के प्रवाह के समान है। इसकी आवृत्ति अर्हेत्त्व में होती है।^{८९}

कुशल एवं अकुशल कर्मों की वासना के परिणाम होने पर उनकी कलोलपत्ति विपाक जाती जाती है।^{९०} जन्म के प्रारम्भ में आलय-विज्ञान ही पिछले जन्म के संस्कारों का सम्पिण्डित फल होता है। कर्मों के अनुसार एक विशिष्ट धातु, गति, एवं योनि में जन्म तथा अन्य फल प्राप्त होते हैं। ये फल विज्ञान के परिणामविशेष हैं तथा यह विपाकात्मक विज्ञानपरिणाम ही आलयविज्ञान है।^{९१}

८९—"तत्रालयाख्यं विज्ञानं विपाकः सर्वबीजकम् ।

असंविदितकोपाविस्थानविज्ञप्तिकं च तत् ॥

सदा स्पर्शमनस्कारवित्तुसंज्ञाचेतनाविगतम् ।

उपेक्षा वेदना तत्रानिवृताव्याकृतं च तत् ॥

तथा स्पर्शादयस्तच्च वर्तते श्रोतसीधवत् ।

तस्य यदावृत्तिरर्हेत्वे ॥ (त्रिशिका, का० २-५)

९०—"तत्र कुशलाकुशलकर्मवासनापरिपाकवशाद् यथाशेषं फलाभिनिवृत्तिविपाकः ।" (स्थिरमति, पृ० १८) ।

९१—"सर्वधानुगतियोनिजातिषु कुशलाकुशलकर्मविपाकत्वाद् विपाकः ।" (वही, (पृ० १८-१९)

आलयविज्ञान में सब सांकेतिक धर्मों के बीज संगृहीत हैं। बीज का अर्थ विज्ञानगत सामर्थ्य विशेष है जिससे परिपाकदशा में फलविशेष उत्पन्न होता है।

आलय विज्ञान के "आलम्बन" एवं "आकार" विधित नहीं होते। ये आलम्बन द्विविध हैं—एक ओर "उपाधि" या उपादान, दूसरी ओर "स्थान" या भाजन-लोक। उपादान में बीज तथा इन्द्रिययुक्त देह संगृहीत हैं। भाव यह है कि जन्म के समय एक ओर तो आलयविज्ञान शरीर को प्रतिभासित करता है दूसरी ओर उसके उपयुक्त लोक को।^{११} लोकप्रतिभास साधारण कर्म के अनुसार होता है। अतएव विभिन्न आलय-विज्ञानों से पृथक्-पृथक् प्रतिभासित होने पर भी अनेक दीपकों के प्रकाश के समान एक ही लोक की प्रतीति होती है।

स्पर्श-आदि पाँच चैत धर्म सर्वगत हैं। इन्द्रिय, विषय एवं विज्ञान, इन तीन का कार्य-कारण-भाव से समवस्थान संनिपात कहलाता है। इससे उत्पन्न इन्द्रिय-विकार के अनुकूल विषय का वेदनीयतया व्यवस्थापन स्पर्श है।^{१२} वेदना अनुभवात्मक एवं त्रिविध है—गुल, दुःख, तथा अदुःख-असुख। आलयविज्ञान से केवल तीसरा ही प्रकार सम्बद्ध है। मनस्कार के द्वारा चित्त आलम्बन की ओर अभिमुख होता है।^{१३} संज्ञा के द्वारा आलम्बन के वैशिष्ट्य का निरूपण होता है—"यह नीला है,

१२—"आलयविज्ञानं द्विधा प्रवर्तते ।

अध्यात्मम् उपादानविज्ञप्तिर्योऽहिर्ष्या परिच्छिन्नाकारभाजनविज्ञप्तिर्योऽत्र ।
तत्राध्यात्ममुपादानं परिकल्पितस्वभावाभिनिवेशवासानां साधिष्ठानमिन्द्रिय-
कर्म नाम च । १०० उपादानमुपाधिः । स पुनरात्मादिविकल्पवासानां क्पादि-
धर्मविकल्पवासानां च । १०० आधयोपादानं चोपाधिः । आध्यात्म आत्मभावः
साधिष्ठानम् इन्द्रियकर्म नाम च । १०० तत्र कारणवशात्वेद्योर्तोर्नामकयो-
रुपादानं । आरूपवशात्तौ—नामोपादानमेव । किन्तु वासानावत्त्वमेव तत्र
कर्म न विपाकावस्थं । तत्पुनरुपादानमिदं तत्रा प्रतिसेवेवपितुनशावधमित्यतो
संचिदित इत्युच्यते । स्थानविज्ञप्तिर्भाजनलोकसंनिवेशविज्ञप्तिः । साध्य-
परिच्छिन्नालम्बनाकारप्रवृत्तत्वाद् अतंसंचितेत्युच्यते ।"

(स्थिरमति, पृ० १९)

१३—"तत्र स्पर्शस्त्रिकसंनिपाते इन्द्रियविकारपरिच्छेदः वेदनासंनिधयकर्मकः ।"

(बही, पृ० २०)

१४—"आलम्बने येन चित्तमभिमुखोच्यते ।" (बही)

न कि पीला" इत्यादि ।" चेतना मन की चेत्या है जिसके होने पर विषय की ओर चित्त का निर्भाव ऐसे ही होता है जैसे भुम्बक की ओर लोहे का ।"

अनौभूमिक आगन्तुक उपक्लेशों से अनावृत होने के कारण आत्म-विज्ञान अनिवृत्त कहलाता है । स्वयं विपाक होने के कारण विपाक के प्रति आत्म न कुशल है, न अकुशल, अर्थात् अव्याकृत है ।"

आत्मविज्ञान की अग्निकता, किन्तु अनुपत्ति-तदी की धारा के समान है । उसकी प्रवृत्ति एक अविच्छिन्न कार्यकारण-परम्परा है ।" यह परम्परा अहंत्व प्राप्ति तक विद्यमान रहती है ।

"(विज्ञान का) दूसरा परिणाम मन है । आत्मविज्ञान को आश्रय तथा आत्मबन्ध बना कर मन को प्रवृत्ति होती है । मन मननात्मक विज्ञान है । वह सदैव आत्मवृष्टि, आत्ममोह, आत्ममान, तथा आत्मस्नेह नाम के चार निवृत्त, किन्तु अव्याकृत क्लेशों से युक्त होता है । जिस धानु अथवा भूमि में मन की उत्पत्ति होती है तन्मय स्पर्श आदि चैत्यों से वह युक्त होता है । अहंत्व, निरोध समाप्ति तथा लोकोत्तरमार्ग में मन का अभाव होता है ।"

९५—"संज्ञा विषयनिमित्तोद्ग्रहणम् ।" (वही)

९६—"चेतना चित्ताभिर्लङ्कारो मनसश्चेष्टा यस्य सत्यामात्मबन्धं प्रतिवेत्तः प्रस्थन्द इव भवति अयस्कान्तवशावयःप्रस्थन्ववत् ।" (वही, पृ० २१)

९७—"अनौभूमिकैरागन्तुकैरुपक्लेशैरनावृततगदनिवृत्तं । विपाकत्वाद् विपाकं प्रति कुशलाकुशलत्वेनाध्याकरणाव्याकृतम् ।" (वही, पृ० २१)

९८—"तत्र लोतो हेतुकलयोर्निरन्तर्येण प्रवृत्तिः । उदकतमूहस्य पूर्वोपरभागा-विच्छेदेन प्रवाह ओष इत्युच्यते ।" (स्थिरमति, पृ० २२), तु० "आदान-विज्ञानगभीरसूक्ष्मो ओषो यथा वर्तते सर्वबीजो ।—(स्थिरमति के द्वारा उद्धृत गाथा, पृ० ३५)

९९—"तवाभिस्य प्रवर्तते ।

तयात्मन् मनोनाम विज्ञानं मननात्मकम् ॥

क्लेशैश्चतुर्भिः सहितं निवृत्ताव्याकृतैः सदा ।

आत्मवृष्ट्यात्ममोहात्ममानात्मस्नेहसंज्ञितैः ॥

यत्रजस्तन्मयैरन्यैः स्पर्शैश्चैवाहृतो न तत् ।

न निरोधस्तमापत्तौ नार्ये लोकोत्तरे न च ॥

द्वितीयः परिणामोऽयं ।" (विशिका, का० ५-८)

आलयविज्ञान आसनात्मक "अभेदन" भित्त है, विषय-विज्ञान विषयों के प्रति-
भास प्रस्तुत करते हैं। इस दो के माध्य में विमर्शात्मक मन की स्थिति है। आलय-
विज्ञान से धन की उत्पत्ति होती है तथा उसे ही आलम्बन बनाकर मन में 'अहंकार'
उत्पन्न होता है। क्लिष्ट किन्तु अव्याकृत चार क्लेशों से मन सदा सम्प्रयुक्त होता
है।^{१००} मन के स्पर्श आदि अग्न सम्प्रयुक्त धर्म भी क्लिष्ट एवं अव्याकृत हैं।

"(विज्ञान) का तृतीय परिणाम (रूप, शब्द, गन्ध, आदि) छः प्रकार के विषयों
के उपलब्धि स्वरूप हैं। वह कुशल, अकुशल तथा अव्याकृत है। उससे सम्प्रयुक्त
चैत धर्म अनेक कोटिक हैं—सर्वत्रय, विनियत, कुशल, क्लेश, उपक्लेश एवं अनियत।
रूप आदि पाँच विज्ञानों की आलयविज्ञान से आलम्बन प्रत्यय के अनुसार पुष्क-पुष्क
अथवा साथ उत्पत्ति होती है जैसे, जल में तरंगों की।^{१०१} आसन्निक, दो समापत्तियाँ
तथा अचित्तक मिद्व एवं मूर्छा के अतिरिक्त मनोविज्ञान सर्वत्र उत्पन्न होता है।^{१०२}

सर्वत्रय चैत धर्म स्पर्श-आदि उपयुक्त पाँच हैं। नियत चैत धर्म सब विषयों में
प्रवृत्त न होकर, कुछ विषयों में ही प्रवृत्त होते हैं। ये भी पाँच हैं—छन्द, अभिमोक्ष,

१००-तु०—“अविद्यया चात्मवृष्ट्या चास्मिन्मानेन तुण्णया ।

एभिश्चतुभिः संक्लिष्टं मननालक्षणं मनः ॥

विषयानिनिमित्तं तु मनः क्लिष्टं सर्वत्र यत् ।

कुशलव्याकृते चित्ते सबाहंकारकारणम् ॥”

(उद्धृत स्थिरमति, पु० २३)

१०१-स्थिरमति ने तन्विनिर्भोजन सूत्र से इसी आशय का उद्धरण दिया है (पु०
३३-३४) ।

१०२-“... तृतीयः बह्विधस्य वा ।

विषयस्योपलब्धिः सा कुशलाकुशलाहूया ॥

सर्वत्रगोविनियतः कुशलेश्चैतत्तरसौ ।

सम्प्रयुक्ता तथा क्लेशोरुपक्लेशोस्तिवेवना ॥

पञ्चानां मूलविज्ञाने यथाप्रत्ययमुत्पन्नः ।

विज्ञानानां सह न वा तरङ्गानां यथा जले ॥

मनोविज्ञानसम्भूतिः सर्वदासंज्ञिकावृते ।

समापत्तिद्वयान्निष्ठान्मूर्धनावप्यवित्तकाल् ॥”

(त्रिभिषा, का० ८-९, १५-१६)

स्मृति, स्मृति, एवं प्रज्ञा । कुशल धर्म स्मारक है—श्रद्धा, ह्री, अवयवत्रय, अलोम, अद्वेष, अमोह, बीज, धर्मविषय, अप्रमाद, उपेक्षा, तथा अहिंसा । क्लेश छः हैं—राग, प्रीति, मोह, मान, मिथ्या दृष्टि, तथा विचिकित्सा । उपक्लेश बीस हैं—कोप, उद्वेग, मत्सर, प्रदाह, ईर्ष्या, मात्सर्य, घाह्य, माया, विहिंसा, मद, अहो, अवयव, औदत्य, स्तयान, अभ्रष्टा, कौसीय, प्रमाद, मुषित-स्मृतिता, भिक्षेप, असम्प्रजय । अनिमित्त चार हैं—कोहल्य, मित्र, वितर्क एवं विचार ।^{१०३} ये चार धर्म द्विविध हैं—चित्तवृत्ति एवं अचित्तवृत्ति ।

आसंज्ञिक का अर्थ असंज्ञितस्वों में उपपत्ति होने पर चित्त-वैतनिक धर्मों का निरोध है । वो समापत्तिव्यो असंज्ञितमापत्ति तथा निरोध समापत्ति है । मित्र एवं मुखा में भी बुद्धि-व्यापार उपरत होने के कारण वे 'अचित्तक' कहे गये हैं । इन पाँच अवस्थाओं में मनोविज्ञान की प्रवृत्ति नहीं होती ।

ये आठ विज्ञान तथा उनसे सम्प्रयुक्त एक्यावन ज्ञान धर्म ही विज्ञानपरिणाम तथा वास्तविक धर्म हैं । आठ विज्ञान वस्तुतः अनिष्ट हैं । उनका भेद केवल लक्षणार्थ कल्पित है^{१०४} ।

'विज्ञान का यह चिन्तन-परिणाम विकल्प है जिसके द्वारा विकल्पित अर्थ-जगत् असत् है । अतएव यह समस्त त्रैधातुक विज्ञप्तिमान है'^{१०५} ।

आलयविज्ञान ही सब धर्मों का बीज है । एक जन्म में पूर्वविपाक के क्षीण होने पर कर्मवासना तथा प्राहृदय-वासना के साथ दूसरे विपाक की उत्पत्ति होती है । इस प्रकार जन्म से जन्मान्तर तक आलयविज्ञान का प्रवाह अविच्छिन्न रहता है^{१०६} । आलयविज्ञान

१०३-त्रिशिका, का० १०-१४, स्थिरमति, त्रिशिकाभाष्य, पृ० २५-३३ ।

१०४-तु०—लंकावतार, पृ० ३१४—"चित्तमनश्च विज्ञानं लक्षणार्थं प्रकल्प्यते । अभिज्ञानलक्षणान्यष्टौ न च लक्ष्यं न लक्षणम् ॥"

१०५-विज्ञानपरिणामोऽयं विकल्पो यद् विकल्प्यते ।

तेन तन्नास्ति तेनेदं सर्वं विज्ञप्तिमात्रकम् ॥" (त्रिशिका, का० १७)

१०६—"सर्वबीजं हि विज्ञानं परिणामस्तथा तथा ।

धातुपयोऽवयवाद् येन विकल्पः स स जायते ॥

कर्मणो वासना प्राहृदयवासनाया सह ।

क्षीणे पूर्वविपाकेऽन्यविपाकं जनयन्ति तत् ।" (त्रिशिका, का० १८-१९)

तु०—"अनादिकात्मिको धातुः सर्वधर्मसमाधायः ।

तांस्मन् सति गतिः सर्वा निर्वाणायामोऽपिवा ॥"

(अभिधर्मसूत्र, स्थिरमति के द्वारा उद्धृत, पृ० ३७)

हो प्राकृत संस्कारों से अधिवासित विज्ञान है जो प्रतिक्षण में नामरूप का प्रत्यय होता है^{१०७}। उसकी प्रवृत्ति से संसार तथा व्यावृत्ति से निर्वाण संभव है^{१०८}।

सभी विकल्प के विषय मिथ्या हैं। उनका स्वभाव केवल परिकल्पित है। किन्तु ये विकल्प स्वयं हेतुभाय्य से उत्पन्न होते हैं तथा इनकी परतन्त्रसत्ता है। इस परतन्त्र सत्ता में परिकल्पित स्वभाव का अभाव ही परतन्त्र की परिनिष्पन्नता है। चित्त-वैत रूप विज्ञान-परिणाम ही विकल्प है तथा कार्यकारण नियत होने से परतन्त्रलक्षण कहे गये हैं। चित्त-वैत में प्रतिभासमान विविध वस्तु-वस्तु भांतिमात्र है, तथा परिकल्पित लक्षण कहा गया है। परतन्त्र में परिकल्पित की अवास्तविकता ही परिनिष्पन्न लक्षण है। परिनिष्पन्न परतन्त्र से न अन्य है, न अनन्य। परतन्त्र के बिना उसकी उपलब्धि नहीं होती^{१०९}।

परिकल्पित आदि तीन स्वभावों की विविध निःस्वभावता है। इसी को तथामतने सर्व-धर्म-शून्यता कहा है। परिकल्पित स्वभाव में लक्षण-शून्यता है। उदाहरण के लिए रूप, वेदना आदि धर्मों की उनके लक्षणों के अनुसार सत्ता ही नहीं है। वेदना अनुभव-लक्षण है किन्तु इस लक्षण का लक्ष्य वास्तविक नहीं है। परतन्त्रलक्षण में उत्पत्ति-निःस्वभावता है तथा परिनिष्पन्नलक्षण में परमार्थ-निःस्वभावता^{११०}। परि

१०७-“तस्मादविद्याप्रत्ययाः संस्काराः, तदधिवासि चात्मविज्ञानं संस्कारप्रत्ययं विज्ञानं, तत्प्रत्ययं प्रतिक्षणं नामरूपमित्येवं नोत्तिरनवद्या।” (स्थिरमति, वही, पृ० ३८)

१०८-स्थिरमति, वही, पृ० ३८-३९।

१०९-“येन येन विज्ञानेन पद्यं वस्तु विकल्प्यते ।
परिकल्पित एवासी स्वभावो न स विद्यते ॥
परतन्त्रस्वभावस्तु विकल्पः प्रत्ययोऽन्यः ।
निष्पन्नस्तस्य पूर्वेण तदा रहिता तु या ॥
अतएव स तेषां नान्यः परतन्त्रतः ।
अनित्यारिवद् बाह्योनादृष्टेऽस्मिन् स दुष्यते ॥”

(विशिका, का० २०-२२)

११०-“विविधस्य स्वभावस्य विविधा निःस्वभावताम् ।

अन्याय सर्वधर्माणां हेतिता निःस्वभावता ॥

प्रथमो लक्षणोऽयं निःस्वभावोऽपरः पुनः ।

न स्वयंभाव एतस्योपपत्तिर निःस्वभावता ॥” (विशिका, का० २३-२४)

निष्पन्न हो तबता है क्योंकि उसका अन्यथाभाव नहीं होता। परिनिष्पन्न ही विज्ञप्ति मात्रता है^{१११}।

अबतक विज्ञान विज्ञप्तिमात्रता में अवस्थित नहीं होता, अपितु प्राज्ञप्राहक वासना से लिप्त रहता है तबतक उसकी भिवृत्ति नहीं होती। 'यह विज्ञप्तिभाव है', इस प्रकार की उपलब्धि को समस्त स्वागित करने से भी विज्ञप्तिमात्रता में अवस्थिति नहीं होती। अर्थात् विज्ञातृत्व में अभिनिवेश भी विज्ञप्तिमात्रता में बाधक है। प्राज्ञात्याग के अनन्तर प्राहक-त्याग भी अभीष्ट है। विषयविषयिभाव के प्रहीण होने पर निर्विकल्प लोकोत्तर ज्ञान उत्पन्न होता है तथा चित्त विज्ञप्तिमात्रता में अवस्थित होता है^{११२}। (यह स्थिति) अ-चित्त एवं अनुपलम्भ है। वही लोकोत्तर ज्ञान है। वही द्विविध दोषक्षय के कारण आश्रय की परावृत्ति है। वही कुशल, प्रादुर्भाव एवं अचिन्त्य अनात्मवधानु है। वही मुक्त्यात्मक विमुक्तिकाय तथा महाभूमि की धर्मभाव है^{११३}। विज्ञेय जनों की अनुपलम्भि तथा विज्ञातृत्वभाव के त्याग के कारण विज्ञप्तिमात्रता को चित्तरीहित तथा उपलब्धिरहित कहा गया है। यह स्मरणीय है कि द्वैत-निर्विण्ण मन अथवा चित्त का समय अनेक आध्यात्मिक दर्शनों में द्वैतहोन परमार्थ के साक्षात्कार के लिए आवश्यक

१११—"धर्माणां परमार्थेन स यतस्तपतामि सः।

सर्वकालं तमाभावात् संघ विज्ञप्तिमात्रता ॥"

(यही, का० २५)

११२—"यान्द्विज्ञप्तिमात्रत्वे विज्ञानं नावतिष्ठति।

प्राज्ञद्वयस्यानुशयस्तावन्न विनिवर्तते ॥

विज्ञातिमात्रमेवेदमित्यपि ह्युपलम्भवतः।

स्यावग्रहप्रयतः किञ्चित् सन्मात्रे नावतिष्ठते ॥

मदात्मभावं विज्ञानं नेवोपलभते तदा।

स्थितं विज्ञानमात्रत्वे प्राज्ञाभावे तदप्राहत् ॥"

(यही, का० २६-२८)

११३—"अधितोऽनुपलम्भोऽती ज्ञानं लोकोत्तरं च तत्।

आध्वस्य परावृत्तिद्विधा बोध्यहानितः ॥

स एवानात्मनो भानुरचिन्त्यः कुशलो ध्रुवः।

पुणो विमुक्तिकायोऽती धर्माख्योऽयं गृहभूमिः ॥"

(यही, का० २९-३०)

माना गया है^{११४}। ईतद्विलम्ब तथा चित्तशय की इस अवस्था में विषय-विषयिभावपूर्वक ज्ञान का अभाव होने के कारण इसे अनुपलम्भ कहा गया है, किन्तु यह ज्ञान का सर्वथा अभाव नहीं है। वस्तुतः यही लोकोत्तर ज्ञान है।

आश्रय का अर्थ आलम्बविज्ञान है। द्विविध दोष क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण है। इनका मूल आलम्बगत अकर्मण्यता है। उसकी निवृत्ति होने पर अद्वयज्ञान का आविर्भाव होता है। आलम्बविज्ञान में संवित संसार के मूलभूत दोषों की निवृत्ति तथा पारमात्मिक ज्ञान का उदय; यही 'आश्रयपरावृत्ति' है^{११५}।

दोषों के द्विविध्य के कारण यह आश्रयपरावृत्ति भी द्विविध है—तोत्तरा तथा निरुत्तरा। श्रावकों के क्लेशावरणक्षय से पहली प्राप्ति होती है। यही मुक्तात्मक विमुक्तिकाय है। बोधिसत्त्वों के ज्ञेयावरणक्षय से बुद्ध की धर्मेकाय प्रकाशित होती है^{११६}। यही अनाश्रय धाम है। यह तर्क की अयोधर तथा श्रयात्मवेदनीय है। निवृत्ति होने के कारण ही इसे मुक्तात्मक कहा गया है, क्योंकि अनित्य वस्तु दुःखात्मक होती है।

बसुबन्धु ने विज्ञानवाद को एक परिष्कृत शारबीय रूप प्रदान किया तथा उसके विरुद्ध आक्षेपों का तार्किक परिहार किया। बसुबन्धु अपने समय के प्रसिद्धतम बौद्ध आचार्य थे। उनके दर्शन में न्यायानुसारिता स्पष्ट है यद्यपि उन्होंने आगमानुसरण का सर्वथा "परित्याग" नहीं किया है। उनके चार विख्यात शिष्य थे—स्थिरमति, विमुक्तसेन, गुणप्रभ, तथा रिज्जनाग। स्थिरमति ने बसुबन्धु की शिक्षिका पर भाष्य तथा उनके भाष्यान्तर्विर्गमगुण-भाष्य हुए टीका लिखी। ये संस्कृत में उपलब्ध हैं।

११४-तु०—तु० उप० "न प्रेक्ष्यतं ज्ञातोति" इत्यादि, जहाँ ईतज्ज्ञान का विलीन सुचित है। "विज्ञातारं धारे केन विज्जानीयमात्" का आशय भी यही है—विज्ञेय के अभाव में विज्ञातृत्व किस प्रकार शेष रहेगा? योंही का लक्षण ही "चित्त-वृत्ति-निरोध" किया गया है। शारक्य में भी प्रपञ्चात्मक बुद्धिसंप्रेषण है, मुख्य चिन्मात्र है। नैयायिकों की सूक्ति में भी भावनात्मक ज्ञान क्षीण हो जाता है। वेदान्त में भी वृत्तिज्ञान अन्य है, ज्ञानात्मक कहा अन्य। तु० "चित्तं ज्ञातारं चित्तं तच्छानं ज्ञयमज्जगता" (धम्मपद, दे० ऊपर)।

११५-इ०—स्थिरमति, पृ० ४४।

११६-यही, तु०—"ज्ञेयमादानविज्ञानं द्वयावरणलक्षणम्।

सर्वबीजं क्लेशबीजं बन्धस्तत्र द्वयोर्द्वयोः॥"

(गाथा यही उद्धृत। "द्वयोः" का अर्थ है "भावकबोधितत्वयोः")

उनकी अनेक अन्य रचनाओं का उल्लेख मिलता है—अभिषर्म्मकोश पर करकाशनि नाम की व्याख्या, अभिषर्म्मसमुच्चय तथा वसुबन्धु के ८ ग्रन्थों पर व्याख्यान, काश्यप-परिवर्त पर व्याख्या। अभिषर्म्म में स्थिरमति को वसुबन्धु से भी अधिक पण्डित कहा गया है। स्थिरमति की शिष्यपरम्परा में, पूर्ववर्त्त, जिनमित्र, तथा शीलेन्द्रबोधि के नाम उल्लिखित हैं।

विमुक्तसेन प्रज्ञापारमिता में पारंगत थे। वे पहले कौस्तुल्लक सम्प्रदाय के थे तथा आचार्य बुद्धदास के भतीजे थे। उनकी अभिसम्मासंस्कार पर व्याख्या प्रसिद्ध है। गुणप्रब चिन्मय के विद्वान् थे। उनका जन्म ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उन्हें मूल सर्वास्तिवाद के चिन्मय का श्रामणिक ज्ञान था।

विद्भनाग—विद्भनाग ने दक्षिण में कांची के निकट सिंहवक्त्र के ब्राह्मण परिवार में जन्म लिया था। प्रारम्भ में वे एक वात्सीपुत्रीय आचार्य नागदत्त के शिष्य थे। किन्तु पीछे वे वसुबन्धु के शिष्य बने तथा उन्होंने तीनों ग्रन्थों का अध्ययन किया। वे विज्ञानवाद तथा तर्कशास्त्र में विशेष रूप से निपणात थे। उन्होंने अभिषर्म्मकोश-यर्म्म-प्रदीप, आष्टसाहसिकापिच्छार्म्म, गुणात्पर्यन्तस्तोत्रव्याख्या, जालम्बन्धनपरीक्षा, विद्वान्-परीक्षा, हेतुचक्रसन्तर्जन, व्यापमूल, आदि १० ग्रन्थों की रचना की। अपने अनेक निबन्धों की संगृहीत कर उन्होंने प्रमाणसमुच्चय नाम के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की तथा उसपर स्वयं वृत्ति लिखी। पीछे जितेन्द्रबुद्धि ने इस पर विशाखाभलक्ती नाम की व्याख्या लिखी। दुर्भाग्यवश विद्भनाग का कोरुम्ब सम्स्कृत में शेष नहीं है। 'गद्य-प्रवेष्ट' नाम का संस्कृत में उपलब्ध ग्रन्थ विद्भनाग की कृति है अथवा उनके शिष्य संकर-स्वामी की, भण्डारिचित नहीं हो पाया है। तिब्बती परम्परा विद्भनाग को 'भवागारवेष्ट' का लेखक बताती है, बीसी परम्परा संकर स्वामी को।

विद्भनाग की मन्मसाज्जेन तर्कशास्त्र का प्रवर्तक कहा गया है। उन्होंने तर्कविद्या को न केवल आमय से मुक्त किया अपितु पारम्भायिक तत्त्वचिन्तन से भी उसे पृथक् करने का प्रयास किया। उनकी दृष्टि से तर्कशास्त्र के विषय व्यवहारोपयोगी हैं तथा विभिन्न शास्त्रीय सम्प्रदायों के लिए समान हैं। यहीं से विशुद्ध व्यापशास्त्र का उदय मानता चाहिए। और यही कारण है कि विद्भनाग के अपने पारम्भायिक सिद्धान्तों के विषय में माना मत प्रस्तुत किये गये हैं। विद्भनाग को न केवल योगाचार, या सौषान्तिक, या सौषान्तिक—योगाचार, अपितु वैभाषिक, अथवा नाय्यमिक तक कहा गया है। वस्तुतः उनकी 'जालम्बन्धनपरीक्षा' से उन्हें विज्ञानवादी मानना चाहिए, यद्यपि 'प्रमाणसमुच्चय' में सौषान्तिक छाप देवी जा सकती है।

दिङ्नाग ने न्यायभाष्यकार वात्स्यायन तथा सम्भवतः प्रभातपाद का खण्डन किया है। दूसरी ओर उनका खण्डन न्यायवार्तिककार उद्योतकर ने किया है। दिङ्नाग की कृतियों के चीनी अनुवाद ई० ५५७ तथा ई० ५६९ के बीच उपलब्ध होते हैं। दिङ्नाग को सम्भवतः पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में रचना चाहिए।

धनुक्कधु के विज्ञानवाद का उनके अनन्तर अनेक धारानों में विकास हुआ। मालन्दा में दिङ्नाग, अणोज तथा धर्मपाण के सहारे एक परम्परा अग्रसर हुई। चतुर्थी में गुण-मति तथा स्थिरमति दूसरी परम्परा के आचार्य थे। नन्द, परमाण्व तथा जयसेन तीसरी धारा में उल्लेखनीय हैं। सातवीं शताब्दी में यथानुष्ठांग ने अपने विवर्तिताप्रतापसिद्धि शास्त्र में प्रामः दो शताब्दियों का विज्ञानवादी दार्शनिक विकास समूहित किया। विबुद्ध विज्ञानवादी परम्परा का इसे चरम बिन्दु मानना चाहिए। दूसरी ओर दिङ्नाग के 'सौमान्तिक-योगाचार' मत का तथा बौद्धन्याय का चरम विकास धर्मकीर्ति की रचनाओं में देखा जा सकता है। इसी परम्परा में शान्तरक्षित तथा कम्मसोपल को मानना चाहिए।

यथानुष्ठांग की सिद्धि से धनुक्कधु के मुख्य सिद्धान्त—'विज्ञानपरिणाम'—के विकास का परिचय मिलता है। असंग तक ज्ञान के दो अंश या भाग माने जाते थे—साहजनाम तथा साहकनाम। अर्थात् ज्ञान ही एक ओर विधायक से प्रकट होता है, दूसरी ओर निमित्तक से। ज्ञान का यह अंश 'निमित्तभाग' कहलाता है, सात्कन अंश 'दर्शनभाग'। ज्ञेय की 'निमित्त' कहने से इसका मिथ्यात्व तथा ज्ञान के अन्तर्भूत प्रतिभासभास होना सूचित होता है। अतएव नन्द और कम्पुकी इन्हीं दो भागों की सत्ता स्वीकार करते थे। 'दर्शनभाग' विज्ञान का आन्तरिक-तत्त्व है। वहीं बाह्य 'निमित्त-भाग' के रूप में परिणत होता है। अतएव 'परतन्त्र' होते हुए भी वह 'परिकल्पित-तुल्य' है। जहाँ तक 'दर्शनभाग' साहकतया प्रतिभासित होता है, वह (दर्शनभाग) भी निमित्तभाग में संघात है। इसके विपरीत स्थिरमति 'निमित्तभाग' तथा 'दर्शनभाग', दोनों को ही परिकल्पित मानते हैं।

दिङ्नाग ने ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय का विविध भेद प्रतिपादित किया। ज्ञाता अथवा साहक ही दर्शनभाग है, ज्ञेय अथवा साह्य ही 'निमित्तभाग' तथा ज्ञान अथवा उपलब्धि ही 'संविष्टिभाग' अथवा 'स्वाभाविकभाग' है। प्रकारान्तर से 'दर्शनभाग' ही प्रमाण है, 'निमित्तभाग' ही प्रमेय, तथा 'संविष्टिभाग' ही प्रमाणफल। निमित्तभाग विज्ञान का आलम्बन है, दर्शनभाग जाकार अथवा विज्ञप्ति है; संविष्टिभाग इन दोनों का आश्रय तथा विज्ञान का स्वभाव है। संविष्टि अथवा सचेदन स्वसंविष्टि या स्वसचेदन भी रहने लगे हैं। ज्ञान न केवल अपने विषय का प्रकाश करता है, अपितु अपना भी। स्वप्रका-

सत्ता ज्ञान का सम्बन्ध है। विज्ञान के ये तीन भाग विज्ञान से पूर्ण हैं। एक अभिन्न विज्ञान में ही ये त्रिविध भेद प्रतिभासित होते हैं।

धर्मपाल ने इन तीन भागों के अतिरिक्त एक चतुर्थ की कल्पना की है—स्वसंवित्सर्ववित्तभाग। नीलात्मक अलम्बन निमित्त है, नीलाकार उपलब्धि 'दर्शन' है, 'मे नील की उपलब्धि कर रहा हूँ', यह ज्ञान स्वसंवित्ति है, स्वसंवित्ति का ज्ञान स्वसंवित्ति-संवित्ति है। धर्मपाल इस चतुर्थ भाग की कल्पना में अनमनसा नहीं मानते।

आलम्ब्यत बीजों के विषय में भी स्वानुष्णांग ने विभिन्न सत्ता का उल्लेख किया है। आचार्य चन्द्रपाल के अनुसार सभी बीज अनादिकालिक तथा प्रकृतिसम हैं। वासना जन्म नहीं। क्लिष्ट तथा अक्लिष्टबीज सभी स्वाभाविक हैं। इसके विपरीत नन्द और श्रीसेन के अनुसार सभी बीज भावनाजन्य हैं, अर्थात् बीज और वासना पर्याप्त हैं। धर्मपाल के अनुसार बीज द्विविध हैं—कुछ अनादि एवं प्रकृतिसिद्ध, कुछ वासनात्मक। यदि सभी बीज प्रकृतिसिद्ध होते तो प्रवृत्तिविज्ञान आलम्ब्यविज्ञान के हेतुप्रत्यय न बन पाते। दूसरी ओर यदि प्रकृतिसिद्ध अक्लिष्ट बीज न होते तो दर्शनभाग के प्रथम क्षण में विशुद्ध धर्म की उत्पत्ति के लिए हेतुप्रत्यय ही न होता।

दिङ्नाम के पूर्व योगाचार-सम्प्रदाय में तीन प्रमाणों की सत्ता स्वीकृत थी। दिङ्नाम ने प्रमाणसमुच्चय में सब प्रमाणों का दो में ही अन्तर्भाव प्रतिपादित किया। उनके परन्तत् मह सिद्धान्त बीजों में प्रामः स्वीकृत हो गया कि प्रत्यक्ष तथा अनुमान ही दो प्रमाण हैं। वसुचन्द्र ने प्रत्यक्ष का लक्षण 'तूतोऽर्पिदुःखं विज्ञानम्' (—'जस अर्थ से उत्पन्न विज्ञान') किया था। इस स्थान में बाह्य-अर्थ की सत्ता स्वीकृत होने से दिङ्नाम ने इसकी ओर अचि प्रकट की। उनका अपना प्रत्यक्ष-लक्षण इस प्रकार है 'प्रत्यक्ष कल्पनापोड नामजायाद्यसमुत्तम्'। इसके अनुसार प्रत्यक्ष निर्विकल्पात् अथवा कल्पनारहित ज्ञान है। कल्पना नाम, जाति आदि के संयोजन को कहते हैं।

हेतु के द्वारा अर्थ की उपलब्धि अनुमान है, जिसके तीन अवयव हैं—पक्षवाक्य, हेतुवाक्य, तथा दृष्टान्तवाक्य। न्यायशास्त्र में परार्थानुमान के पाँच अवयव माने जाते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, तथा निगमन। दिङ्नाम ने अन्तिम दो अवयवों को अनावश्यक माना तथा उदाहरण अथवा दृष्टान्त को व्याप्तिवाक्य में परिवर्तित कर दिया। दिङ्नाम ने ही अनुमान में व्याप्ति का सर्वोपरि महत्त्व इस प्रकार स्पष्ट किया। पक्ष की दिङ्नाम ने अतिष्ठ धर्मों कहा है। धर्मोपनिष्ठ धर्मों साध्य है। हेतु के तीन रूप हैं—पक्षधर्मता, सपक्षधर्मता, विपक्षधर्मता। दृष्टान्त में अन्तम अथवा व्यतिरेक से हेतु और साध्य का सम्बन्ध प्रतिपादित होता है।

विष्णुधर्म के शिष्य ईश्वरसेन ने, तथा उनके शिष्य धर्मकीर्ति कहे गये हैं। धर्मकीर्ति भी जन्मना दक्षिणात्य ब्राह्मण थे तथा वे ज्ञानार्जन के लिए नालन्दा आये। कहा जाता है कि उस समय वसुवन्धु के शिष्य धर्मपाल वहाँ जीवित थे। किन्तु धर्मकीर्ति और विष्णुधर्म-वसुवन्धु के बीच में समय का अधिक व्यवधान होगा चाहिए क्योंकि धर्मकीर्ति का प्रामाण्य ने उल्लेख नहीं किया जबकि दक्षिण ने किया है। दूसरी ओर धर्मकीर्ति कुमारिल से परिचित है। उन्हें सातवीं शताब्दी में रचना उचित होगा।

धर्मकीर्ति—धर्मकीर्ति ने न्याय सम्बन्धी सात ग्रन्थ लिखे हैं, जो कि तर्कशास्त्र के अध्ययन में परवर्ती बौद्धों के लिए प्रमाणभूत हैं। इनमें प्रमाणवातिक प्रधान है, शेष छः की उसकी पादश्रव में कल्पना की जाती है। प्रमाणवातिक के चार खंड हैं जिनमें स्वार्थानुमान, प्रामाण्य, प्रत्यक्ष एवं परार्थानुमान का निरूपण है। इसमें प्रायः २,००० सज्जित श्लोकों में समस्त विषय का प्रतिपादन हुआ है। इसके अतिरिक्त धर्मकीर्ति के अन्य ग्रन्थों के साथ इस प्रकार है—प्रमाणविनिश्चय जो कि प्रमाणवातिक का विशेष है, न्यायविन्दु जो उसका और भी लघुकाय विशेष है। हेतुविन्दु, सम्बन्धपरोक्षा, चोदना-प्रकरण, सन्तानान्तरसिद्धि। इन ग्रन्थों में न्यायविन्दु एवं प्रमाणवातिक संस्कृत में उपलब्ध एवं प्रकाशित हैं।

धर्मकीर्ति की प्रमाणवातिक के प्रथम खंड पर ही अपनी व्याख्या लिखने का अवकाश मिला था। शेष भागों पर उन्होंने अपने शिष्य देवेन्द्रबुद्धि से व्याख्या करने के लिए कहा था, किन्तु उसके कार्य से उन्हें सन्तोष नहीं हुआ, यह कारणनाथ से मात होता है। प्रमाणवातिक के परिच्छेदों का कम विविध प्रतीत होता है। प्रामाण्य से प्रारम्भ करके के स्थान पर स्वार्थानुमान से प्रारम्भ किया गया है। पुनश्च प्रत्यक्ष के अन्तर अनुमान की चर्चा होने के स्थान पर अनुमान की चर्चा पहले की गयी है। इस क्रम-विधि पर परवर्ती व्याख्याकारों में मतभेद उत्पन्न हुआ। प्रमाणवातिक के व्याख्याकारों के दो मुख्य सम्प्रदाय हैं। एक ओर देवेन्द्र बुद्धि, प्राज्ञबुद्धि आदि की कृतियाँ हैं जिनमें प्रमाणवातिक के शब्दार्थ को विशेष महत्त्व दिया गया है। दूसरी ओर धर्मोत्तर, भाग्यरक्षक, गान्धरी आदि काश्मीरक आचार्यों ने प्रमाणवातिक के निरूपण दार्शनिक मताय के विवेचन का प्रयत्न किया है। व्याख्याकारों की एक तीसरी परम्परा भी विद्यमान है जिसमें बुद्ध की प्रमाणभूतता की व्यवस्था में ही प्रमाणवातिक का समे माना गया है। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक प्रकाशक गुप्त थे।

धर्मकीर्ति विष्णुधर्म के वातिककार थे। वातिक को 'उक्तानुक्तदुष्कतचिन्ता' कहा गया है। धर्मकीर्ति ने ही उद्योतकर आदि की आलोचना के निराकरण के लिए विष्णुधर्म

के सिद्धान्तों में परिवर्तन तथा परिवर्धन किया। उदाहरण के लिए उन्होंने विज्ञानागम प्रत्यक्ष के लक्षण में 'अभ्रान्त' पर का संनिवेश किया—'प्रत्यक्षं कल्पनापोद्गमभ्रान्तम्।' इस परिष्कृत लक्षण से प्रत्यक्ष का द्विचन्द्रादि दर्शन का भ्रान्तियों से बिलेख करना सरल हो जाता है। धर्मकीर्ति में प्रत्यक्ष तथा अनुमान की विषय-व्यवस्था भी की—'प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है, अनुमान का सामान्यलक्षण। ये परिष्कार सौवान्तिक दृष्टि से किये गये प्रतीत होते हैं क्योंकि योगाचार मत से सभी प्रत्यक्ष में भ्रान्तता अनिवार्य है। यदि 'अभ्रान्त' का अर्थ 'अविसंवादक' अथवा व्यवहारसमर्थ किया जाय तो अकल्प धर्मकीर्ति का लक्षण योगाचार से समझस हो सकता है। किन्तु तो भी प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण नहीं कहा जा सकता। कदाचित् यह कहा होगा कि यद्यपि सन्तानास्तर-सिद्धि, प्रमाणविनिश्चय तथा प्रमाणव्याप्तिक विज्ञानवाद की दृष्टि से लिये गये हैं, परन्तु बिन्दु सौवान्तिक दृष्टि से विरचित है।

विज्ञानिमात्रता के समर्थन में धर्मकीर्ति ने नवीन युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। बाह्य विषयों की सत्ता सिद्ध करने के लिए उनकी प्रतीति को ठीक हेतु नहीं माना जा सकता क्योंकि वह व्यभिचारी है। दूसरी ओर बाह्य विषयों की सत्ता नहीं मानी जा सकती क्योंकि वह विचारसह ग्राही है। विषय यदि ज्ञान के अतिरिक्त है तो ज्ञान और विषय का सम्बन्ध दुरुपपाद हो जायगा। विषय ज्ञान का हेतु तथा आलम्बन माना जाता है। यदि विषय ज्ञान का हेतु है तो उससे पूर्ववर्ती होगा। ऐसी स्थिति में विषय ज्ञान का वर्तमान आलम्बन नहीं हो सकता है। यह कहा जा सकता है कि विषय की ज्ञान के प्रति हेतुता इसी में है कि वह ज्ञान में अपना आकार अभित करता है। किन्तु विषयगत आकार विषय से निर्गत होकर ज्ञानगत किस प्रकार हो जाएगा? यदि कहा जाय कि विषय के आकार के समुदाय आकार ज्ञान में उत्पन्न हो जाता है, तो भी यह बताया होगा कि ज्ञान के अन्तर्गत आकार की ज्ञान के बहिर्गत आकार से तुलना किस प्रकार होगी? इन दो आकारों में पहला सदाविदित है, दूसरा सदा अविदित। वस्तुतः ज्ञान और उसके विषय का सम्बन्ध 'सहोपलम्भ नियम' से परिगृहीत है। ज्ञान के होने पर विषय की उपलब्धि होती है, ज्ञान के न होने पर विषय की उपलब्धि नहीं होती। ज्ञान और विषय अलग-अलग उपलब्ध न होकर सदैव साथ ही उपलब्ध होते हैं। अतएव इन दोनों को अभिन्न सामना चाहिए। यदि ज्ञानाकार विषयाकार के तुल्य है तो विषयाकार पुनर्वक्तिवत् अनावश्यक है। यदि ज्ञानाकार विषयाकार से भिन्न है तो विषयाकार नित्य-अज्ञात होने से अनावश्यक है।

कलतः ज्ञानमात्र सत्य है, उसी में ज्ञाता और ज्ञेय का भेद उल्लसित होता है।

यह भेद एक भ्रान्ति है जैसे एक चन्द्रमा के स्थान पर दो का दीखना। यह कहा जा सकता है कि ज्ञान और ज्ञेय को अलग कर देने से एक ओर ज्ञेयलोप के कारण बर्बाद तथा अपर्याप्त ज्ञान का भेद लुप्त हो जायगा, दूसरी ओर ज्ञानलोप होने से जगदन्वय-प्रसक्त हो जायगा। यदि ज्ञान के बाहर ज्ञेय नहीं है तो सब ज्ञान बराबर ही साथ अपना मिथ्या है। यदि ज्ञेय रूप से प्रकाशमान वस्तु ज्ञान ही है तो इस 'वस्तु' की प्रसिद्धि कैसे होती है? क्या ज्ञान किसी दूसरे ज्ञान का विषय होकर प्रकाश में आता है? यदि यह माना जाय तो अनवस्था दुर्निवार है। इन शंकाओं का उत्तर यह है कि व्यावहारिक दृष्टि से प्रामाणिकता का अर्थ अविसंवादकता है, 'मर्याप्यता' नहीं। बाह्य विषयों के न होने पर भी व्यवहारसामर्थ्य की दृष्टि से ज्ञान में भेद देखा जा सकता है। अतः यह कहा जा सकता है कि पारमाथिक बुद्धज्ञान के लिए विशिष्टिमात्रता सत्य होते हुए भी प्रमाण-प्रमेय की व्यवस्था द्वैतवस्तु व्यवहार के अधीन है। दूसरी ओर, ज्ञान को स्वप्रकाश मानना अनिवार्य है। अन्यथा हर प्रकार में अनवस्था प्रसक्त होगी। माध्यमिक आदि विरोधियों के विपक्ष में 'मर्याप्यता' का प्रबल समर्थन किया है। यह स्मरणीय है कि धर्मकीति के विज्ञानवाद में ज्ञानविज्ञान का स्थान नग्न है।

यह उल्लेखनीय है कि अनुमान के क्षेत्र में धर्मकीति ने दिग्दाम के हेतु-वैलम्ब को नवीन एवं परिष्कृत रूप दिया। अनुमान का आधार स्वभाव, कार्यकारणसम्बन्ध, अथवा अनुपलब्धि ही हो सकते हैं। इस विस्तरेण ने व्याप्ति को गुणिश्रित वैज्ञानिक रूप प्रदान किया।

प्रस्तावना

और न तार्किक खण्डन से किसी धर्म का लोप माना जा सकता है। वस्तुतः बौद्ध धर्म प्रभानसमा भिक्षुओं का धर्म था तथा इन भिक्षुओं का जीवन विहारों में केन्द्रित था। उपासकों के लिए बौद्ध धर्म ने अपना शुद्ध और पर्याप्त नैतिक-सामाजिक आधार एवं संस्थाएँ नहीं गढ़ पायी थीं। नै्यायिक उद्देश्य का कहना है कि बौद्ध भी वैदिक संस्कारों का पालन करते थे। उपासकों का बौद्ध धर्म मुख्यतया विहारों और बेलों के लिए दान तथा तारा, लोकेस्वर आदि की प्रतिमाओं का अर्पण ही था। बौद्ध विहार प्रायः राजाओं के द्वारा प्रदत्त अथवा अनुगत भूमिदान पर निर्भर करते थे। इसी कारण बौद्ध धर्म के प्रचार में राजकीय समर्थन एवं प्रोत्साहन का विशेष हाथ रहा है। दक्षिण और पश्चिम में हिन्दू उपासकों की उपेक्षा अथवा वैमुख्य से तथा उत्तर में तुर्कों की विजय से बौद्ध विहार नाष्ट और लुप्त हो गये। विहारों के लोप से उपासकों की शीघ्र बौद्धता का विच्छेद अनिवार्य था।

अध्याय १२

बौद्ध धर्म की परिणति और हास

सद्धर्म का परिणति-काल—चौथी से सातवीं सदी तक का युग प्राचीन भारत का स्वर्ण-काल कहा जाता है। अनेक दृष्टियों से बौद्ध धर्म के लिए भी इसे अत्यन्त महत्वपूर्ण मानना होगा। जैसा ऊपर देखा जा चुका है होनवान और महावान के दर्शन का इस युग में चरम उत्कर्ष हुआ और बौद्ध कला के इतिहास में भी गुप्त काल की प्रतिमार्त तथा अजन्ता की निष्कामी भूयन्व-भूत हैं। इसी युग में सद्धर्म का पूर्वी एशिया में प्रचार कोरिया और जापान तक पहुँचा तथा चीन में सद्धर्म के मुख्य सम्प्रदायों ने निश्चित रूप प्राप्त किया। अनेक चीनी यात्रियों के विवरण इस स्वर्ण-कालीन बौद्ध संसार की हमारे सामने प्रत्यक्षता उपस्थित करते हैं। चीन में सद्धर्म के प्रवेश के अनन्तर भारत में आने वाला पहला चीनी यात्री फाशेन या जो बिनय की खोज में मध्य एशिया से होकर भारत आया तथा सामुद्रिक मार्ग से चीन लौटा। फाशेन ने ई० ३९९ में छंग अन से अपनी यात्रा आरम्भ की थी और तुनह्वंग, सम्राजहर, लोतन, कातपर, पुस्तपुर और मधुरा के मार्ग से वह छः वर्ष में मध्य देश पहुँचा जहाँ उस समय बन्धुगुप्त विजयनाथिक का शासन था। मध्यदेश में छः वर्ष व्यतीत कर फाशेन तात्त्रलिप्ति से सिंहल और जावा होते हुए अनेक प्राकृतिक दुर्घटनाओं से कर्षणित् उतीर्ण हो दो वर्ष में चीन पहुँचा। ई० ३९९-४१४ में सम्पन्न हुई फाशेन की यात्रा मध्य एशिया, उत्तरी भारत और सिंहल में बौद्ध धर्म की गुप्त काल के उत्कर्ष के समय की स्थिति प्रकाशित करती है। ई० ५१८ में सुंगयुत और ल्जुयंग को उत्तरी वेइ वंश की सम्राज्ञों ने प्रत्य संकलन के लिए भारत भेजा। उन्होंने बाल्होक और गन्धार में वे-या जाति को अधिकार में पाया। पुस्तपुर और तमरहार तक पहुँच कर सुंग-युत ई० ५२१ में चीन लौट आया। स्वान्-ज्वांग की भारत यात्रा ई० ६२९-४५ में सम्पन्न हुई। स्वान्-ज्वांग मध्यएशिया से होकर उत्तरी मार्ग के द्वारा भारत आया था तथा सम्राट ह्वेनच्यन के समय में प्रायः समस्त उत्तर युग कर मध्य एशिया के दक्षिणी मार्ग से चीन लौट गया था। स्वान्-ज्वांग विशेष रूप से योगाचार शास्त्र का विज्ञान था। उसके विवरण से भारत में

बौद्ध धर्म की ह्रासोन्मुखता सूचित होती है। इ.स.पू. ६७१ में जलमार्ग से भारत के लिए प्रस्थित हुआ तथा लाञ्छनलिप्ति ६७३ में पहुँचा। कौशाम्बी तक उसने प्रमुख बौद्ध तीर्थों की यात्रा की तथा १० वर्ष नालन्दा में व्यतीत कर जलमार्ग से ही मुद्राणा होते हुए ६९५ में चीन वापस पहुँचा। ई.स.पू. का मुख्य प्रयोजन विनय की खोज थी और उसके विवरण में भी मूलतः बौद्धिकवादी सम्प्रदाय के वैयक्तिक आधार का ही मुख्यतया विवरण है और इस प्रसंग में उसने चीनी और भारतीय बौद्ध भिक्षुओं का आचारभेद भी प्रकट किया है।

शास्त्रों के विवरण से स्पष्ट है कि पाँचवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मध्यदेश तथा उत्तरांचल में सद्धर्म की स्थिति सन्तोषजनक थी। बौद्ध धर्म के प्राचीन केन्द्रों में वेणुवत कपिल-वस्तु, व्यापस्ती, गया और वैशाली में ही ह्रास देखा जा सकता था। व्यापस्ती और कपिलवस्तु में इस ह्रास का कारण स्पष्ट ही इन नगरों का ह्रास था। स्वानु-श्वंग के विवरण से ७वीं शताब्दी तक सद्धर्म का ह्रास स्पष्ट विदित होता है। उसमें स्वयं इस प्रकार की आशंका अनेक बार प्रकट की है^१। यह स्मरणीय है कि अनिरुद्ध-ताचावी बौद्ध धर्म पहले से ही स्वयं अपने विनाश के प्रति चिन्तित था। धूलतन्त्र में मगधान् बुद्ध ने भविष्यवाणी की है कि शत्रुओं की प्रव्रज्या के कारण सद्धर्म १००० वर्षों के स्थान पर ५०० वर्ष ही रहेगा। अक्षयमतिनिर्देश में पंचशती उन्नति की और पंचशती अवनति की कही गयी है। कल्याणपुष्करिण में सद्धर्म की स्थिति के १००० वर्ष के अनन्तर और ५०० वर्ष बताये गये हैं। अन्नगर्भनिर्देश में २००० वर्ष तथा वज्रच्छेदिका की एक व्याख्या में २५००० वर्षों का उल्लेख है। अन्यत्र सद्धर्म के लिए ५००० वर्षों का जीवन बताया गया है^२।

उत्तर पश्चिम में सम्भवतः हूणों के कारण सद्धर्म की पहले क्षति हुई थी। स्वानु-श्वंग ने गन्धार और उड्डियान में बहुसंख्यक संधारणों को उजड़ा हुआ पाया^३। किन्तु कपिला, कदमीर और जालन्धर में अभी बौद्ध विहार और भिक्षु प्रचुर थे। वर्तमान उत्तर प्रदेश में स्वानु-श्वंग ने बौद्ध धर्म की अवनति और अल्प-प्रचार निश्चित रूप से सूचित किया है। केवल कन्नौज, अयोध्या और वाराणसी में ही सद्धर्म की स्थिति का सुधार हुआ प्रतीत होता है। कन्नौज में यह सुधार निश्चित है और इसका कारण

१-उवा०, वाटर्स, जि० १, पृ० १२०।

२-अ०—बुद्धोत्त, जि० २, पृ० १०३-४।

३-वाटर्स, जि० १, पृ० २०२, २२६।

सम्राट् हर्षवर्धन की कृपा मानना चाहिए। बिहार में पाटलिपुत्र और नालन्दा बौद्ध केन्द्र थे। बंगाल में उस समय बौद्ध धर्म का अपने प्रतिद्वन्द्वियों से अधिक प्रचार न था। आसाम में उसका प्रचार सर्वथा न था। कलिंग, आन्ध्र तथा चोल प्रदेश में बौद्ध धर्म लुप्तप्राय था। उड़ु, द्रविड, कोण्ण, महाराष्ट्र, मालव, बलभी और सिन्ध में सद्धर्म सन्तुष्ट था, किन्तु मुलतान में क्षीण।

श्वानु-श्वान ने सर्वाधिक प्रचार साम्प्रदायों का था, उनके अनन्तर कण्ण, स्वविरों का तथा फिर सर्वास्तिवादियों का। लौकोत्तरवादी केवल ब्राह्मण्य में थे, महायानिक, काश्मीरिय और धर्मगुप्तों का श्वानु-श्वान ने उड्डियान में उल्लेख किया है। कुछ सीधान्तिक सूत्र में थे, तथा कुछ महासांघिक कश्मीर और घनकटक में। श्वानु-श्वान के अनुमान से उस समय भारत में लगभग २५०० विहारों में प्रायः १६०,००० भिक्षु रहे होंगे।

इ-चिंग के अनुसार यद्यपि १८ निकायों की चर्चा प्राप्त होती है, वस्तुतः उस समय अविच्छिन्न परम्परा के चार ही मुख्य सम्प्रदाय थे—आर्यमहासांघिकनिकाय, आर्य-स्वविरनिकाय, आर्यमूलसर्वास्तिवादनिकाय तथा आर्यसम्मतीयनिकाय। इनमें से किसे महायान में तथा किसे हीनयान में गिना जाय, यह व्यवस्थित नहीं था। उत्तर भारत तथा दक्षिण-पूर्वी द्वीपों में वे साधारणतया हीनयानी थे, चीन में महायानी, तथा अन्यत्र हीनयानी कहीं महायानी। दोनों समान विनय का अनुसरण करते थे। जो बोधिसत्त्वों की पूजा तथा महायान-सूत्रों का पाठ करते थे, वे महायानी कहलाते थे। जो ऐसा नहीं करते थे, वे हीनयानी कहे जाते थे। तथाकथित महायान के दो ही प्रकार थे—माध्यमिक और योग। माध्यमिकों के अनुसार सामान्यतः जिसे सत् कहा जाता है वह वस्तुतः असत् है तथा प्रत्येक पदार्थ धर्म के समान निस्तार प्रतिभासमान है। योगाचार के अनुसार चित्त के अतिरिक्त और किसी पदार्थ की सत्ता नहीं है। हीनयान और महायान, दोनों ही आर्य-देशना के अनुकूल हैं तथा निर्वाण तक ले जाते हैं।

४—बही, जि० २, पृ० २१४, २२४।

५—बही, जि० २, पृ० २३९, २४२, २४६।

६—तकाकुसु (अनु०) ए रेकाई आव् दि बुधित् रिक्तिजन एज प्रेक्लिज्ड इन इण्डिया एण्ड दि मलाया, आर्किपेलगो बाइ इ-चिंग, पृ० ७।

७—बही, पृ० १४-१५।

आर्य महासांघिक निकाय के सात प्रभेद थे तथा उसका प्रचार विशेषतया मगध एवं पूर्वी भारत में था। कुछ महासांघिक लाट और सिन्धु में थे। सिन्धु में यह निकाय निररुद्ध था, किन्तु दक्षिण-पूर्वी द्वीपों में इसका हात में ही प्रवेश हुआ था। आर्य-स्वधिर निकाय के तीन भेद थे। दक्षिण भारत और सिन्धु में इसी का प्रचार था। मगध और पूर्वी भारत में भी यह निकाय उपलब्ध था। इसके कुछ अनुयायी लाट और सिन्धु में थे। उत्तर भारत में इसका प्रचार नहीं था। दक्षिण-पूर्वी द्वीपों में इसका भी हात में प्रवेश हुआ था। आर्यमूल-सर्वास्तिवाद-निकाय की चार शाखाएँ थीं—मूलसर्वास्तिवाद, धर्मगुप्तक, महीशासक, काश्यपीय। उत्तर भारत में केवल इसी निकाय का प्रचार था। इसके कुछ अनुयायी लाट, सिन्धु और दक्षिण भारत में थे। पूर्वी भारत में अन्य सम्प्रदायों के साथ इसका भी प्रचार था। सिन्धु में इसका अनुगमन नहीं था। किन्तु दक्षिण-पूर्वी द्वीपों में था। धर्मगुप्त, महीशासक और काश्यपीय भारत में नहीं पाये जाते थे। किन्तु उन्हें उद्यान, कराशार और कुस्तुन में देखा जा सकता था। आर्य सम्मितीयों के चार प्रभेद थे। इनका सर्वाधिक प्रचार लाट और सिन्धु में था। उत्तर भारत और सिन्धु में इनका अप्रचार था, पूर्वी भारत में औरों के साथ ये भी पाये जाते थे। इनके कुछ अनुयायी दक्षिण में भी थे।

दक्षिण के विवरण से सिद्ध होता है कि मगध और पूर्वी भारत (भातन्दा से पूर्व) में चारों मुख्य निकाय प्रचलित थे। इसका कारण स्पष्ट है—मगध में बौद्धों के मूल तीर्थ थे तथा यही सम्प्रदाय-भेद की जन्मभूमि थी। दक्षिण भारत और सिन्धु के बौद्ध सब स्वधिरवादी थे, पश्चिम के अधिकांश सम्मितीय, तथा उत्तर के सर्वास्तिवादी। सुमात्रा और जावा में सर्वास्तिवाद का प्राधान्य था, चम्पा में सम्मितीयों का। पूर्वी चीन में धर्मगुप्तनिकाय प्रधान था। पश्चिमी चीन में धर्मगुप्त और अंशतः महासांघिक, दक्षिणी चीन में सर्वास्तिवाद के सब प्रभेद। चीन में सामान्यतः महायान का प्रचार था, चीनोत्र में अंशतः, उत्तरी भारत और सुमात्रा, जावा आदि में सामान्यतः होतयान का, शेष भारत में दोनों धर्मों का।

इन विभिन्न सम्प्रदायों में भेद के विषय सुद और सूक्ष्म थे। उदाहरण के लिए मूलसर्वास्तिवादी जपोधरत्र की किनारी सीधी काटते थे, अन्य निकाय अनियत आकार की। मूलसर्वास्तिवादी भिक्षुओं के निवास के लिए अलग-अलग कमरों का विधान

करते थे, सम्मिलित रस्सियों की सीमाओं से शय्या-विभाजन बंध भागते थे। मूल सर्वास्तिवादी विज्ञा को हाथ में सीधा ग्रहण करते थे, महासापिक उनके ग्रहण के लिए भूमि में स्थान-निर्देश करते थे"। सर्वास्तिवादी निवसन के सिरे को दोनों पादों में कायग्रन्थन के ऊपर खींच कर अवलम्बित कर देते थे। महासापिक दाहिने सिरे को बाईं ओर कस कर दबा देते थे, जैसा स्त्रियों में प्रचलित था। स्वविर और तन्मितीय भी ऐसा करते थे, किन्तु वे निवसन के सिरे को बाहर की ओर लटकने देते थे"।

बौद्ध तन्त्र

तान्त्रिक धर्म और लक्षण—'तन्त्र' शब्द के अनेक अर्थ होते हुए भी अजला प्रकृत अर्थ शास्त्र के भेद-विशेष में ऋद्ध है। धर्म, शास्त्र, बौद्ध आदि विविध प्रस्थापों में यह तन्त्रात्मक शास्त्र-भेद लक्षित होता है। तन्त्र के ये अनेक प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से परस्पर निरपेक्ष नहीं हैं तथा सर्वत्र कुछ समान लक्षण अनुगत हैं। ज्ञान और कर्म का समुच्चय, शक्ति की उपासना, प्रतीक-प्राप्त्युत्पत्ति, गोपनीयता, असौम्य मित्रि चमत्कार, गुह्य का महत्त्व, मुद्रा-मण्डल-मन्त्र-मन्त्र आदि का प्रयोग, सांसारिक योगों का अतिरिक्त एवं उनका आध्यात्मिक उपयोग आदि प्रायः सभी तन्त्रों में व्यापक-तया उपलब्ध होते हैं। सभी सम्प्रदायों में मुक्ति अभीष्ट है तथा सभी में अज्ञान, कर्म एवं बाधना मुक्ति के प्रतिबन्ध माने जाते हैं। इन प्रतिबन्धों के निराकरण के लिए द्वैतवादी दर्शनों में ज्ञानपूर्वक कर्म अथवा किसी न किसी प्रकार की उपासना अपरिहार्य है। अद्वैतवादी दर्शनों में भी अधिकारभेद से उपासना आवश्यक हो जाती है। धर्म एवं बाधना के प्रबल होने पर उत्सोषदेश मात्र से अपरोक्ष ज्ञान की स्फूर्ति नहीं होती। ऐसी स्थिति में उपासना के द्वारा जितमुक्ति का ही मार्ग भूम्य है।

ज्ञान वस्तु-परतन्त्र होता है, उपासना कर्तु-परतन्त्र"। उपासना, भावना, ध्यान",

१०—बही, पृ० ६-७।

११—बही, पृ० ६६-६७।

१२—पञ्चवशी, ९.७४ "बहुतन्त्रो अवेद्योऽयः कर्तुतन्त्रमुपासनम्।"

१३—कैहों ध्यान के दो भेद बताये गये हैं—भावना एवं प्रणिधान। इनमें प्रणिधान का विषय वास्तविक होता है, भावना का वास्तविक अथवा कल्पित। इ०—मीलकण्ठ, महाभारत, शान्तिपर्व, १९५.१५—"द्विविधं ध्यानं भावना प्रणिधानं च। तत्राद्यं सिद्धं कल्पितं वा विषयमविद्वत् प्रवर्तते न वस्तुतत्त्ववशमप्यभेदतः। प्रणिधानं वस्तुतत्त्वविषयम्।"

सभी मूलतः एकात्मक हैं तथा मानसिक क्रिया-विशेष को धोतिष्ठ करते हैं। उपासना का स्वरूप 'प्रत्ययावृत्ति' (प्रत्यय या प्रतीति का पुनरावृत्ति) बताया गया है, "अर्थात् उपास्यविषयक प्रतीति का आवर्तन ही उपासना है। साध्य का चिन्तन ही समस्त आध्यात्मिक साधना का रहस्य है।" अद्वैत पक्ष में साध्य के अन्ततः निरुपाधिक एवं अचिन्त्य होने के कारण चिन्तन का उपरम ही साधना का अन्तिम रूप है।" किन्तु इस निर्विकल्पावस्था की प्राप्ति के लिए सांगोपिक लक्ष्य की भावना तथा सर्विकल्पावस्था सांगान के रूप में ग्राह्य है। अनिवार्य एवं अद्वय परमार्थ का साधना अथवा संसार से सम्बन्ध उपाधि के द्वारा ही कल्पित किया जा सकता है।

उपाधि वस्तुतः शक्ति से अभिन्न है। मूलतः शक्ति का उपासना ही समस्त तान्त्रिक साधना का मर्म है। शक्ति का मूल व्यापार अद्वैत से द्वैत का अवभासन तथा द्वैत का पुनः अद्वैत में निवर्तन है। द्वैतावभासन में सृष्टि, स्थिति एवं लय समूहित हैं। यह प्रवृत्ति का व्यापार अधिद्यामूलक तथा कालक्रमानुगत है। यही बन्धन एवं निमित्त का क्षेत्र है। निधृति विद्यामूलक तथा स्वकल्पतः अकर्मिक है तथापि उसमें एक औपाधिक कर्मकला देखी जा सकती है। द्वयकरण अथवा अद्वयकरण व्यापार के कारण शक्ति सदा ही द्वैतावभासिनी है यद्यपि इसका निधृति अथवा परमार्थ का सम्बन्ध रूप विगलद्वैत रूप है। शक्ति सम्बन्ध से अद्वय परमार्थ में भी एक प्रकार का 'अद्वैत-द्वैत' अवभासित होता है। इसी कारण उसे युगनन्द 'अथवा 'यव-युम्' रूप में कल्पित किया जाता है। शक्ति की मूल अभिव्यक्ति भी दो आकारों में होती है— ग्राह्य एवं ग्राहक, अथवा रूप एवं नाम^{१४}। नाम को तीन अलग स्क्वों में, अथवा चित्त-चेत में, अथवा चित्त और वाक् में विभक्त किया जा सकता है।^{१५}। नाम-रूप

१४-मु०—पञ्चवशी, १.१५।

१५-मु०—शंकर, गीताभाष्य गीता २.५४ पर "सर्वत्रैव ह्याध्यात्मशास्त्रे कृताय-लक्षणानि यानि तान्येव साधनान्युपदिशन्ते।"

१६-यहो, ६.२५ पर, "न किञ्चिदपि चिन्तयेद्येव योगस्य परमो विधिः।"

१७-मु०—तुलसीदास, रामचरित मानस, "नाम रूप नृद ईस उपाधी ! अकथ अनादि सुसामुक्ति साधी।"

१८-ग्राह्यग्राहक का भेद योगाचार में सुविदित है, नाम-रूप का उपनिषदों में तथा प्राचीनतम बौद्ध आगमों में, पाँच स्क्वों का बौद्ध दर्शन में, सामान्यतः चित्त-चेत का अभिधर्म में, वाय-वाक्-चित्त का प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थों में तथा बौद्ध ग्रन्थों में।

के अवलम्बन से ही 'युगनद्ध' विषयक उपासना सम्पन्न होती है। मन्त्र, यन्त्र, मण्डल, मूर्ति आदि साधनोपयोगी विषय नाम-रूप के ही भेद हैं।

मनुष्य के बन्धन का कारण अविद्याशक्ति की अनादि परम्परा है। उसकी मुक्ति के लिए भी विद्या की परम्परा माननी होगी। वासनामुक्त संसार के प्रबोधन के लिए गुरु की कृपा आवश्यक है। अन्ततोगत्वा गुरुशक्ति को सौपायिक अथवा 'पर्याय-परमार्थ' से अभिन्न मानना चाहिए। यह परमार्थसत्ता ही परम गुरु अथवा आदि गुरु है जिसमें ज्ञान एवं कृपा की समरस स्थिति है। अतएव इन्हें शक्ति-समाय अथवा युगनद्ध रूप में कल्पित किया जाता है। तन्त्रशास्त्र के आदिप्रवर्तक भी ये ही हैं।

मन्त्र आदि साधनों को गुरु-कृपा का ही मूल रूप समझना चाहिए। इस कृपा अथवा 'शक्तिपात' के व्यक्तिविशेष की ओर समुद्दिष्ट होने के कारण ही मन्त्र आदि गोपनीय है। गुरुशक्ति से प्रकट होने के कारण ही इन साधनों की महिमा अचिन्त्य है तथा यथेष्ट श्रद्धा-सिद्धि देने वाली है। प्रकारान्तर से यह भी कहा जा सकता है कि मन्त्र आदि तान्त्रिक साधनों में विषुद्ध चित्त की स्वाभाविक शक्ति उन्मीलित होती है। इन साधनों को विफलता अथवा अप्रयोज्य से बचाने के लिए गोपनीयता आवश्यक है। गोपनीयता के लिए तथा पारिभाषिकता के लिए तन्त्रों की अभिव्यक्ति में प्रतीक-प्राचुर्य देखा जा सकता है। उपासना के सौन्दर्य के लिए भी प्रतीकों का उपयोग होता है। इनमें अद्वयीभाव के सुख को घोषित करने के लिए शृंगार के प्रतीकों का प्रयोग तान्त्रिक उपासना एवं अभिव्यक्ति की बहुचर्चित विशेषता है। संसार की परमार्थ से अभिन्न अथवा उसकी सीमित अभिव्यक्ति मान लेने पर संसार का सर्वथा तिरस्कार अपाधेक अथवा अमुक्त सिद्ध हो जाता है।

धर्मों से पूर्व और वैदिक मूल—मनुष्य का प्राचीनतम धर्म म्यूनाधिक रूप में 'तान्त्रिक' ही था। प्रागैतिहासिक काल में तथा माना प्राचीन सभ्यताओं में शक्ति की उपासना विविध रूपों में प्रचलित थी। सिन्धु-सभ्यता में मातृ-शक्ति का और सम्भवतः कृमारी-शक्ति का पूजन विदित था। वैदिक साहित्य में अनेक तान्त्रिक धर्म के संकेत मिलते हैं जिन्हें परवर्ती आगम-साहित्य में अंगीकृत, विस्तृत तथा रूपान्तरित किया गया। ऋग्वेद-संहिता में अथर्व और लोपामुद्रा का संवाद उदाहार्य है। यद्यपि यह प्रतीत होता है कि वैदिक ऋचाएँ परवर्ती अर्थ में मन्त्र न होकर बहुधा स्तुतिवाँ ही थीं, तथापि उनकी मन्त्रात्मकता का सर्वथा अथवा सर्वथा निषेध नहीं किया जा

सकता^{११}। वैदिक ऋषि अपने कार्य की निम्निय से वाङ्मय और चित्त का योग मानते थे^{१२}। परन्तु आधुनिक जगत् वैदिक काल में विदित होने का पर्याप्त प्रमाण नहीं मिलता, किन्तु गीता एवं मनुस्मृति के 'समय' तक इस प्रकार का जगत् सुप्रचलित हो गया था^{१३}। ब्राह्मणों एवं आरण्यकों की विधियों (= विद्याओं) एवं उपनिषदों की 'विद्याओं' में प्रतीकारमक उपासना का प्रचुर विकास देखा जाता है^{१४}। विधियों का पञ्च-वस्तु-का प्रकारान्तर से परवर्ती कर्मों में स्थान पाता है^{१५}। वैदिक ऋषि और योग का जगत् में व्यापान्तरभूमिक उपासना मिलता है। पञ्चवाग्नि-विद्या के 'भोगा ना जन्तिर्गौतम' इत्यादि का तान्त्रिक संकेत स्पष्ट है^{१६}। कृष्ण देवकीपुत्र की पितृ हुए और आगिरथ के उपादेश में कर्म की नवीन व्याख्या है जिसके अनुसार सभी नास्तारिक कर्म परमात्मापयोगी हो जाते हैं^{१७}। गीता में इस दृष्टि का विस्तार पाया जाता है। बृहदारण्यक में ब्रह्मात्म्य की तुलना रति की 'निगलित वेदान्तरता' से की गयी है^{१८}। स्पेताकवतार में 'माया तु प्रकृति विद्यान्नाग्निं तु महेश्वरम्' कह कर ब्रह्म के अग्न्यन्तर शक्ति का

१९-वैदिक मन्त्रों में लौकिक भाषा के द्वारा लौकिक जगत् का वर्णन किया गया है। उनमें वाङ्मय का अनुपादन करती है, न कि जगत् वाङ्मय का। प्रसिद्ध सावित्री-मन्त्र भी प्रारम्भ में वाङ्मय-कृति के लिए प्रार्थनामान प्रतीत होता है। इस प्रकार की प्रार्थनाओं का कालान्तर में अन्वय से प्रयोग अगम्य भी विदित है, यथा कुरान् को आधर्मा का। परन्तु 'प्रह्लाद' में वैदिक मन्त्रों पर इस प्रकार की मान्यता का आरोप तुल्योप है। "चत्वारिषाङ् परितमिता यदाति" आदि की रहस्यात्मक व्याख्या प्रामाणिक नहीं है। यह स्मरणीय है कि मीमांसकों की मन्त्र और अर्थवाद का नेत्र प्रतिपादित करना पड़ा था। मीमांसकों का मन्त्रवाद भी तान्त्रिक मन्त्रवाद के समुक्त नहीं है।

२०-इस प्रसंग में 'वी' शब्द का वैदिक प्रयोग विचारणीय है।

२१-मनुस्मृति, २.७४-८०।

२२-अतप्य ब्राह्मण और तैत्तिरीय आरण्यक विशेष रूप से स्पष्ट हैं। उपनिषदों की 'विद्याएँ' सुनिश्चित हैं।

२३-यही 'पञ्चवस्तुही आत्मन' का मूल प्रतीत होता है।

२४-मु० ६.२.१३ तु०—यही, ६.४.२-५ तु०—छा० २.१३।

२५-छा० ३.१६-१७, विशेषतः ३.१७.१-५।

२६-मु० ४.३.२१।

स्थान सुरक्षित कर दिया है^{२०}। 'नाद' और 'ज्योति' के उल्लेख भी उपनिषदों में प्राप्त होते हैं^{२१}। नाडीविज्ञान का आरम्भ तथा पिण्ड में बाष्पाण्ड का सिद्धान्त भी आलक्षित होता है^{२२}।

प्रचलित धर्म में निचले तत्त्व के अनेक तत्त्व विद्यमान थे। नाग, गन्धर्व, वस, अम्भरा, तुन्कर, वृक्ष आदि की पूजा में मन्त्र, बलि, जादू-टोना आदि विदित थे। यक्ष, नाग आदि से बचने के लिए 'रक्षा' प्राचीन बौद्ध साहित्य में भी मिलती है^{२३}। यक्ष-पूजा में प्रतिमाओं का उपयोग भी होता था^{२४}। मन्त्रों और अम्भराओं का काम-शक्ति से सम्बन्ध निश्चित था।

मूल देशना और तंत्र—प्राचीन बौद्ध धर्म में तान्त्रिक उपासना का स्थान नहीं था। यह नहीं कहा जा सकता कि शाक्यमुनि ने सपत्नीक किसी प्रकार का साधन किया था। पीछे भी उनके उपदेश में काम अथवा वाक् का तान्त्रिक अर्थ में साधन निर्दिष्ट नहीं होता। मन्त्र, जप अथवा प्रतिमा का भी उन्होंने उल्लेख नहीं किया और न किसी प्रकार के बहिर्भाग या देवोपासना का। प्राण एवं चित्त का साधन अवश्य उनके उपदेशों में मिलता है, किन्तु प्राण-साधन का मन्त्र, मूद्रा, अथवा नाडियों से सम्बन्ध प्रकट नहीं होता। चित्त-साधन के लिए उपदिष्ट ध्यान भी मुख्यतया प्रणिमान रूप है। प्रारम्भिक सद्धर्म में स्मृति और ध्यान का उपदेश चित्त के और विकल्प के क्षय के लिए है, तथा ज्ञान का प्रयोजन वासनाशय एवं शान्ति है। उसमें कायिक अमरता अथवा तिद्धि का स्थान नहीं था। अतएव परवर्ती बौद्ध तान्त्रिकों का, यह अभिमत कि धान्यकटक में स्वयं तथागत के द्वारा एक तीसरा धर्म-चक्र-प्रवर्तन वक्ष्यमान के लिए हुआ था, मान्य नहीं है^{२५}। तथापि धान्यकटक का इस प्रसंग में उल्लेख निस्सार नहीं है।

२७—श्वेताश्वतर, ४.१०, यहाँ, १.४-५ मानो किसी तन्त्रशास्त्र से उद्धृत हो।

यहाँ, २.१२ में 'सिद्ध देह' आलक्षित है।

२८—श्वेताश्वतर, २.११, वृ० २.३.६।

२९—नाडियों पर, छा० ६.८.६; वृ० २.१.१९; 'पिण्ड में बाष्पाण्ड'—छा० ८.१।

३०—उवाङ्मयार्थ, बीष का आटानाटिय मुत्त। पालि में इन्हें 'परित्ता' कहते हैं;

मु०—मिलिन्द, पृ० १५३।

३१—यहाँ पर ३० कुनारस्वामी, यक्षत्र।

३२—सैकोद्देश टीका, पृ० ३-४; तृतीयधर्मचक्रप्रवर्तन की एक अन्य परम्परा—

बुधोन, जि० २, पृ० ५१-५२।

‘धारणी-युग’—ई० पू० पहली से ई० चौथी सदी तक—महासांघिक सम्प्रदाय में ही तान्त्रिक बौद्ध धर्म का प्रथम उन्मेष मानना चाहिए। उनके आविष्कृत लक्षणों के अनुसार सधामत की ‘कपावधु’ एक प्रकार की सिद्ध देहि है। ‘अनासव रूप’ की कल्पना कर उन्होंने ‘रूप’ को परमार्थ-साधन का उपयोगी बना दिया। ‘नाम’ अथवा मन्य के विषय में उनकी प्रगति इससे सूचित होती है कि उन्होंने अपने आगमों में एक नवीन ‘धारणी-पिटक’ जोड़ दिया^{३३}। महासांघिकों की ही आन्ध्रक और वैजुल्यक नाम की शाखाओं में आभिप्रायिक मिथुन-वर्षों की अध्यात्मोपमोगी घोषित किया गया^{३४}। वैजुल्यक मत का कपावधु में उल्लेख होने के कारण उसे ई० पू० प्रथम सदी तक निष्पन्न मानना चाहिए। प्रायः इसी समय बौद्ध धर्म में प्रतिमाओं का उपयोग तथा महामान का उदय हुआ^{३५}।

महायान का वक्ष्यमान से निकट सम्बन्ध है। एक ओर महायान में अनेक तान्त्रिक तत्त्व हैं, दूसरी ओर महायान के ही दार्शनिक सिद्धान्त वक्ष्यमान में संगृहीत एवं कपावधु-रहित हैं। महायान सूत्रों में बुद्ध और बोधिसत्त्व जलौकिक और चमत्कारी गुणों के रूप में प्रकाशित किये गये हैं। बोधिसत्त्व धर्मा के प्रारम्भ में बुद्ध और बोधिसत्त्वों की मानस पूजा (= अनुत्तर पूजा) का विधान है। कार्यात्मक बोधिसत्त्व के लिए निरे संसारवासी भिक्षु की धर्मा अपर्याप्त है। ‘उपाय’ के रूप में वह विविध लौकिक जीवन में भाग-ग्रहण कर सकता है, यहाँ तक कि वह करना से ब्रह्मचर्य का लखन भी कर सकता है (दे०, ऊपर)। बोधिसत्त्व न्यूना श्रद्धि-सिद्धि प्राप्त करता है तथा अन्ततः दशमभूमि में उसे धारणीमुख की स्फूर्ति होती है। महायानसूत्रों में धारणियों का महत्त्वपूर्ण स्थान था तथा धारणियों को मन्य विषय ही मानना चाहिए^{३६}। धारणियों

३३-दे०—ऊपर।

३४-डिबेह्स कमेन्टरी, पृ० २४३।

३५-दे०—ऊपर।

३६-प्रज्ञा-पारमिता-हृदय-सूत्र में प्रज्ञापारमिता को ही धारणी बना दिया गया है। प्रज्ञापारमिता हृदय-सूत्र तथा उज्जोद-विजय-धारणी ज्ञापान के होरि-युगी विहार में ७वीं शती के प्रारम्भ से ताल-वर्षों में फिर रचित रहें। अपरिमितासूत्र धारणी को ही प्रशस्ति है। विज्ञातमुक्त्यर्थ में रत्नोत्का-धारणी का उल्लेख है। सद्धर्मपुण्डरीक के परवर्ती भाग में धारणी ने स्थान पाया है। चीन में बीमिन्न ने ई० ३०३-४२ में महामायूरी आदि अनेक धार-

के मन्त्रात्मक विकास में कारुण्यमूह तथा अश्लोकीतेश्वर की महिमा को विशेष महत्त्व-शाली कहा गया है^{३३}। चैत्य, प्रतिमा, पुस्तक आदि का पूजन महापान में सुविधित था। माध्यमिकों का विशुद्ध विचारमार्ग ही महापान को सर्वथा तान्त्रिक साधन बनने से रोक रखता है^{३४}। किन्तु मंत्रों और असंग का योगाचार-दर्शन विविध क्रिया और चर्चा का अंगीकार करता है तथा उसका 'परामृति' का सिद्धान्त तान्त्रिक साधना की भूमिका के रूप में रखा जा सकता है।

महापान और यज्यमान—अद्वयवज्र के अनुसार तीन ही वान हैं, ध्यायकपान, प्रत्येकपान, तथा महापान। चार स्थितियाँ हैं—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक। इनमें ध्यायक और प्रत्येकपान की व्याख्या वैभाषिक स्थिति से होती है। महापान द्विविध है—पारमितानय और मन्त्रनय। पारमितानय की व्याख्या सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक स्थितियों से होती है, मन्त्रनय की व्याख्या योगाचार और माध्यमिकस्थिति से^{३५}। मन्त्रनय अत्यन्त गंभीर है और उसमें केवल तीक्ष्ण-न्द्रिय पुरुषों का ही अधिकार है। महासाधकों के 'विद्यापरिपटक' अथवा 'पारमोपिटक' में पूर्वोक्तमात्रित महापानिक मन्त्रनय को ही तान्त्रिक बौद्ध धर्म की निश्चित अवधारणा मानना चाहिए।

धर्मों का अनुवाद किया। पारमियों के अनेक संघर्ष प्राप्त होते हैं। वेदान्त में पञ्चरक्षा विशेष प्रचलित है। ये पाँच इस प्रकार हैं—महाप्रतिपत्ति, महासहस्रप्रतिपत्ति, महाभापूरी, महाप्रोक्तकी, महाभगवानुसारिणी; पारमियों का उद्गम द्विविध प्रतीत होता है—एक ओर प्रचलित जलू-टोना, दूसरी ओर प्रजापारमिता, बुद्ध और बोधिसत्त्वों के नाम-स्मरण की महिमा।

३७—नलिनान्न दत्त, वि एज ऑव् इन्पौरिपल कपौत्र में, पृ० २६१।

३८—साधनमात्रा के अनुसार ज्ञानमात्राजुन ने 'एक-जटा' का साधन भोट वेष्ट में उद्धृत किया था। ये नामाजुन कदाचित् प्रतिष्ठ माध्यमिक आचार्य से मिले थे।

३९—"तत्र त्रीणि यानानि ध्यायकपानं प्रत्येकपानं महापानं चेति। स्थितमात्रतस्मै वैभाषिक-सौत्रान्तिक-योगाचार-माध्यमिकभेदेन। तत्र वैभाषिकस्थित्या ध्यायकपानं प्रत्येकपानं च व्याख्यायते। महापानं च द्विविधं पारमितानयो मन्त्रनय-चेति। तत्रपारमितानयः सौत्रान्तिकयोगाचारमाध्यमिकस्थित्या व्याख्यायते। मन्त्रनयस्तु योगाचारमाध्यमिकस्थित्या व्याख्यायते।" (अद्वयवज्र, तत्त्वरत्नामयी, उद्धृत भट्टाचार्य, इण्डियन युनिवर्सिटी आइकोनोग्रफी, १९२४, भूमिका, पृ० १२)।

बौद्धों के प्राचीनतम उपलब्ध तन्त्र मञ्जुश्रीमूलकल्प तथा गृह्यसमाज हैं। मञ्जु-
श्रीमूलकल्प को महार्थपुल्य-महापान-मुच कहा गया है। इसका चीनी अनुवाद ई०
९८० और १००० के बीच सम्पन्न हुआ था। तिब्बती अनुवाद ११ वीं शताब्दी में हुआ
था। चीनी अनुवाद में केवल २८ अध्याय हैं, वर्तमान मञ्जुश्रीमूलकल्प में ५५ हैं।
मञ्जुश्री० और गृह्यसमाज की तुलना के आधार पर मञ्जुश्री० को प्राचीनतर ठहराया
गया है*। पञ्च-ध्यानी-बुद्धों से मञ्जुश्री० का उतना परिचय नहीं है जितना गृह्यसमाज
का। दीनार का उल्लेख भी मञ्जुश्रीमूलकल्प में २७ वें अध्याय के अनन्तर है। भट्टा-
चार्य महोदय ने असंग को गृह्यसमाज का रचयिता बताया है** : इसके समर्पण में कोई
निर्दिष्ट प्रमाण नहीं है। दूसरी ओर असंग का तन्त्र से सम्बन्ध अवश्य है। साधन-
माला में आचार्य असंग को प्रज्ञापारमिता-साधन का कर्ता कहा गया है***। इन असंग
को असंगान्तर कालिन्ध करना युक्तिहीन है***। महापानसूत्रालंकार में लिखा है 'मैयुन
की परावृत्ति होने पर बुद्धों के मुच-विहार में तथा स्त्रियों के असंक्लेश-दर्शन में परम
विमुक्त प्राप्त होता है'—'मैयुनस्य परावृत्तो विमुक्त्य लभ्यते परम्। बुद्धलोकाविहारे
च दारामंक्लेश-दर्शने ॥' (पृ० ४१)। यहाँ परावृत्ति का अर्थ 'मनोवृत्ति का परिवर्तन
करना चाहिए क्योंकि इस प्रसंग के प्रारम्भ में ही उन्होंने लिखा है—'अवशिष्टैः श्लोकैः
मनोवृत्तिसेवेन विमुक्तमेव वसेमि ॥' (वही)। इन्द्रिय, मन, विकल्प आदि परावृत्ति
के समान मैयुन की परावृत्ति में भी उसके मूलिन 'रज' का त्याग या त्यागवृत्ति, किन्तु
विमृष्ट पक्ष की अनुवृत्ति अभिप्रेत है। पाँच इन्द्रियों की परावृत्ति होने पर पाँचों इन्द्रियों
की सब विषयों में वृत्ति हो जाती है। मन की परावृत्ति होने पर निर्विकल्प ज्ञान की प्राप्ति
होती है। विषय और उनकी उपलब्धि की परावृत्ति होने पर यथेष्ट भोगसन्दर्शन प्राप्त
होता है। विकल्प की परावृत्ति होने पर ज्ञान और कर्म सदा अम्याहत रहते हैं। प्रतिष्ठा
की परावृत्ति होने पर अप्रतिष्ठित-निर्वाण की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार मैयुन की
परावृत्ति होने पर बुद्धोक्ति मुच-विहार तथा स्त्रियों का अस्मिष्ट दर्शन प्राप्त होता है।
आकाश-संज्ञा की व्यावृत्ति के द्वारा यथेष्ट-गमन का लाभ होता है। विविध मनोवृत्ति
मंद से विविध विमुक्त की प्राप्ति होती है। अर्थात् परावृत्ति एक प्रकार की संकोच-

४०—विनयतोष भट्टाचार्य, (सं०) गृह्यसमाज, भूमिका, पृ० ३५ प्र०।

४१—वही, पृ० ३४।

४२—साधनमाला, साधन संख्या, १५९, पृ० ३२१।

४३—मु०—चिन्दरतिल, पृ० ३०, जि० २, पृ० ३९२।

निवृत्ति एवं विमर्शकरण है। परावृत्ति की चारणा को, विशेषतः मैत्रुणपरावृत्ति को तान्त्रिक दृष्टि से पृथक् नहीं किया जा सकता”।

असंग के अभिधर्मसमुच्चय में ‘अभिसन्धिबिनिश्चय’ का उल्लेख किया गया है।^{४४} इसके अर्थ हैं—कथित अर्थ से भिन्न अभिप्राय, निगूढ़ अभिसन्धि का विपरीत प्रकार से प्रकाशन। इस वाग्विधि का उदाहरण देते हुए असंग का कहना है—‘सूत्र में कहा है, बोधिसत्त्व महासत्त्व पाँच धर्मों से मुक्त होकर ब्रह्मचारी होता है, परम विमुक्त ब्रह्मचर्य से मुक्त होता है। कौन पाँच? मैत्रुण के अतिरिक्त मैत्रुण से निस्सरण नहीं बँडता, मैत्रुणराम की ओर उपेक्षक होता है, उत्पन्न मैत्रुणराम को अधिवासित करता है, मैत्रुण-विरोधी धर्म से जस्त होता है। अभीक्ष्ण मैत्रुण-समापन्न होता है।’ यहाँ परवर्ती तान्त्रिकों एवं सिद्धों की ‘सन्ध्याभाषा’ का स्पष्ट उल्लेख है।

वज्रयान की गृह्य-परम्परा ई० तीसरी से छठी शती तक—गृह्य समाज की प्राचीनता एवं आद्यता इससे स्पष्ट है कि उसमें बोधिसत्त्वों को तथ्यागत के द्वारा वहाँ प्रतिपादित नवीन एवं अद्भुत सिद्धान्तों से सन्वस्त बताया गया है”। तथा पारिभाषिक शब्दों की समझाने का प्रयत्न भी किया गया है। तारानाथ के अनुसार ३०० वर्ष तक तन्त्र की परम्परा गुप्त रही, उसके अनन्तर उसका प्रकाश हुआ तथा धर्मकीर्ति के पश्चात् विशेषतः पालयुग में, उसकी प्रचुर वृद्धि हुई”। गृह्यसमाज की तान्त्रिक परम्परा का उद्भव कदाचित् तीसरी शताब्दी में हुआ तथा छठी तक उसका गुप्त प्रचार हुआ। उन्नीं शताब्दी से गृह्यसमाज की अत्यन्त प्रसिद्धि हुई तथा उस पर बहुसंख्यक आचार्यों और सिद्धों ने व्याख्याएँ लिखीं”।

महायान में संक्षेपतः पाँच स्कन्ध ही संबृत्तिसत्त्व हैं तथा परमार्थसत्त्व को शून्यता, प्रज्ञा, अथवा बोधि कहा गया है। बुद्ध के तीन अथवा चार काय बताये गये हैं”।

४४—असंग, सूत्रालंकार, पृ० ४१-४२, ३०—आगधी, स्टडीज इन दि तन्त्रस, पृ० ८७-९२।

४५—अभिधर्मसमुच्चय (सं० प्रधान), पृ० १०६-७।

४६—गृह्यसमाज, पृ० २१।

४७—तारानाथ (अनु० शौफनर), पृ० २०१।

४८—३०—गृह्यसमाज के व्याख्याताओं की विस्तृत सूची, भट्टाचार्य (सं०), गृह्य-समाज (भूमिका), पृ० ३०-३२।

४९—तीन काय—धर्मकाय, सम्भोग, एवं निर्माणकाय, अथवा स्वाभाविककाय मिलाकर चार।

शून्यता-कल्याण-धर्म बोधिसत्त्व के उत्पादन के द्वारा तथा क्रमिक अभिसम्बोधि के मागे से अन्त में धर्मकाय का अभिसमय अथवा शून्यता का परम साक्षात्कार होता है। मायिक द्वैत से अद्वैत तक के इस विकास का विवरण भैवेयनाथ के अभिसमयार्थकार में स्पष्ट है। प्रकारान्तर से महायान में बुद्ध को ही परमार्थ कहा जा सकता है। बुद्ध में प्रज्ञा एवं कल्याण का सामरस्य है। संसार के उद्धारक हेतु होने के कारण कल्याण ही 'उपाय' है। वज्रयान में 'प्रज्ञोपाय' की इस युगनद्ध सत्ता की ही परम तत्त्व माना गया है। अभेद्य एवं विशुद्ध होने के कारण प्रज्ञा को 'वज्र' (हीरा) कहा जाता है तथा उपाय या कल्याण को 'पद्म'। मिथुन-कल्पना में वज्र पुरुषतत्त्व है पद्म स्त्रीतत्त्व। स्वामा-विक काय, धर्मकाय, सम्भोगकाय एवं निर्माणकाय के स्थान पर काय-वाक्-चित्त-वज्र की कल्पना की गयी है तथा बुद्ध भगवान् को कायवाक्-चित्त-वज्रधर अथवा काम-वाक्-चित्त-वज्राधिपति कहा गया है। केवल वज्रधर अथवा वज्रसत्त्व का भी प्रयोग मिलता है। इन्हीं वज्रधर से पाँच 'ध्यानी बुद्ध' निःसृत होते हैं जो कि पाँच स्कन्धों के अधिष्ठाता हैं। ये 'ध्यानी बुद्ध' सदैव ध्यानी तथा सदैव बुद्ध रहे तथा रहते हैं। बुद्ध भगवान् को धर्म चक्र-प्रवर्तन, वरद, समाधि, भय एवं अभूमिसत्ता मुद्राओं में प्रदर्शित किया जाता था। मुद्रा द्वारा विशेषित इन्हीं बुद्धों से ध्यानी बुद्धों की कल्पना उद्गत प्रतीत होती है। वैरोचन, रत्नसम्भव, अमिताभ, वभोमसिद्धि, एवं अशोभ्य नाम के इन ध्यानी बुद्धों का सम्बन्ध क्रमशः उपर्युक्त मुद्राओं से तथा रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, एवं विज्ञान स्कन्धों से है। प्रत्येक ध्यानी बुद्ध अपनी 'शक्ति' से सहचरित है तथा इन मिथुनों के साथ बोधिसत्त्व भी सम्बद्ध हैं। इस प्रकार पाँच 'कुल' कल्पनीय हैं। इन्हीं की कमबद्ध स्थापना से तथागत-मण्डल निष्पन्न होता है तथा उसके विवरण से गुह्य-समाज का प्रारम्भ होता है। तन्वीं में 'मण्डल' अथवा 'चक्र' एक प्रकार का मानचित्र कहा जा सकता है जिसमें देवता जनकी शक्तिप्रा, तथा वर्ण आदि के क्रमिक एवं विशिष्ट आकार में विन्यास के द्वारा तत्त्वसमष्टि का निरूपण होता है। मण्डल एवं उसके

५०-तु०—“पञ्चबुद्धस्वभावात् पञ्चस्कन्धा जिनाः स्मृताः ।

चातकी सोचनाद्यास्तु बुद्धकायस्ततो मताः ॥”

(इन्द्रभूति, ज्ञानसिद्धि, २-१)

५१-तु०—“अथ मण्डलमाकृष्यात् बोधिसत्तं च मण्डलम् ।

वेहं मण्डलमित्युक्तं त्रिषु मण्डलकल्पना ॥”

(गुह्यसमाज, पृ० १५९)

अंगों की उत्पत्ति के मूल में मन्त्र-शक्ति ही है जिसके सहारे तथागत ने 'विद्या-गुरुषो एव' 'विद्यास्त्रिषो' को निश्चारित किया।

गुह्यसमाज के दूसरे पटल में बोधिचित्त का उत्पादन वर्णित है। 'उत्पादयन्तु भवन्तः चित्तं कायाकारेण कायं चित्ताकारेण चित्तं वाक्प्रव्याहारेणेति'।^{११} अर्थात् चित्त को काय के आकार में उत्पादित करना चाहिए, काय को चित्त के आकार में तथा चित्त को वाक् द्वारा उत्पादित करना चाहिए। इस विचित्र उक्ति का अर्थ कदाचित् काय-वाक्-चित्त के समत्वापादन से है। सब धर्मों के निरात्म्य एवं प्रकृतिप्रभास्वरता को जानने से ही निर्विकल्प निरात्म्य बोधिचित्त उत्पन्न होता है जिसका उत्पाद अनुत्पाद से अभिन्न है। सब धर्म आकाशवत् शुन्य, अनुत्पन्न, विप्रगुह्य हैं, यही बोध बोधिचित्त है।^{१२} इसे काय-वाक्-चित्त-व्यञ्जक कहा गया है।

बोधिचित्त के उत्पादन के अनन्तर मण्डल में अद्वैत भावनापूर्वक शक्तिसाहचरित उपासना विहित है। चण्डाल, वेषुकार आदि तथा महापातकी भी इस अनुत्तर महा-यान से सिद्धि प्राप्त करते हैं^{१३}। किन्तु गुरुनिन्दा करने वालों की कोई गति नहीं है। शक्ति-साहचर में सामाजिक विधि-निषेध हेय हैं। स्त्रीमात्र में बृद्धजननी प्रजा भावनीय तथा कामनीय है।^{१४} 'प्रजा' अथवा 'शक्ति' के साथ ही गुरु अभियेक करता है। यही 'विद्याप्रत' है।^{१५} मित्रा, तप, नियम आदि का त्याग उचित है, तथा विविध

५२-गुह्यसमाज, पृ० ११।

५३-तु०—“अनाविनिधनं ज्ञानं भावाभावार्थं विभुम् ।

शून्यताकल्याणिभं बोधिचित्तमिति स्मृतम् ॥”

(वही, पृ० १५३)

५४-वही, पृ० २०।

५५-वही, पृ० २०।

५६-तु०—“अभियेकं त्रिधा भेदयस्मिन् तन्त्रे प्रकल्पितम् ।

कलशभियेकं प्रथमं द्वितीयं गुह्याभियेकतः ॥

• प्रजाज्ञानं तृतीयं तु चतुर्थं तत्तुनस्तथा ।

मन्त्रयोग्या विशालाक्षी सपुण्या शुक्लसम्भवाम् ॥

गुह्यगुह्याभियेकं तु तद्यात् शिष्याय मन्त्रिणः ।

तामेव देवतां विद्यां गृह्य शिष्यस्य वशिणः ॥

पापौ पाणिः प्रवृत्तः साक्षीकृत्य तथागतान् ।

कामोपमोम, मांसाहार, आदि विहित है। रूप, शब्द, स्पर्श आदि भोगों से बृद्ध पूजनीय है^{५७}। रागचर्या ही धेष्ठचर्या एवं बोधिसत्त्वचर्या है^{५८}। आचार्य से अभिषिक्त होकर मण्डलादिपूर्वक मन्त्रजाप एवं शक्ति-पूजा के द्वारा समस्त सिद्धि प्राप्त होती है^{५९}। आचार्य और बोधिचित्त वस्तुतः अभिन्न हैं^{६०}। सब धर्म काय-वाक्-चित्त में अधिष्ठित हैं तथा काय-वाक्-चित्त आकाश में। अर्थात् शून्यता ही समस्त व्यवसायना का आदि और अन्त है।

सिद्धि के उपाय चार प्रकार के हैं—सेवा, उपसाधन, साधन एवं महासाधन^{६१}। सेवा द्विविध है, सामान्य एवं उत्तम। वज्रचतुष्टय के द्वारा सामान्य सेवा तथा ज्ञानामृत के द्वारा उत्तम सेवा निष्पाद्य है। वज्रचतुष्टय इस प्रकार है—शून्यताबोधि, बीजसंहति, सिन्धुनिष्पत्ति, अजरन्यास। उत्तम सेवा में ज्ञानामृत चङ्गयोग से सम्पन्न है। प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति, एवं समाधि पंचक है। दसों इन्द्रियों का अपनी बाह्य वृत्तियों से निवर्तन 'प्रत्याहार' है। पञ्चविषयारमक सत्ता की पञ्च-बुद्धात्मक कल्पना ध्यान है। चित्तकं, विचार, प्रीति, मुक्त और एकाग्रता ध्यान के पाँच भेद हैं। स्वास पञ्चज्ञानात्मक अथवा पञ्चभूतात्मक है। नासिकाग्र में उसकी पिण्डरूप से कल्पना प्राणायाम है। यह पिण्डरूप स्वास ही पञ्चवर्ण महारत्न है। इन्द्रियनिरोध पूर्वक रत्न धारण करते हुए मन्त्र को हृदय में ध्यान कर प्राणनिव में न्यास धारणा है। धारणा से पञ्चधा निमित्त प्रकट होते हैं जिनके आकार क्रमशः मरीचिका, धूम, लघोत्, क्षेप तथा निरञ्ज आकाश के समान होते हैं। इस स्थिर

हस्तं दत्वा शिरे सिध्यमुच्यते गुह्यविद्या ।
नाम्योपायेन बुद्धत्वं तस्माद्विद्याभिमां वराम् ॥
अद्वयाः सर्ववर्मास्तु द्वयभावेन लसिताः ।
तस्माद्विद्योः संसारे न काचो भयता सदा ॥”

(वही, पृ० १६०-६१)

५७-वही, पृ० २७-२८।

५८-वही, ३७, (तु० प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि, १, १५ जहाँ राग-उत्तरणा)।

५९-उप के अनेक भेद—वज्रजाप, कापजाप, वाक्जाप, शक्तिजाप, रत्नजाप इत्यादि, वही, पृ० ६०-६२।

६०-“बोधिचित्तश्चाचार्योऽसादृशमेतदष्टौकारम् ।” (वही, पृ० १३७)

६१-वही, पृ० १६२-६६।

निमित्त को विस्तारित करना चाहिए तथा उसका स्मरण ही अनुस्मृति है जिससे प्रतिभास उत्पन्न होता है। विन्ध्यमध्य में सब भावों के विन्ध्योद्भूत रूप में विलीन से सहसा ज्ञान उत्पन्न होता है जो समाधि है। प्रत्याहार की प्राप्ति में मन्त्रों का अधिष्ठान, प्राणागाम से बोधिसत्त्वों के द्वारा अधिष्ठान, तथा धारणा से ब्रह्मसत्त्व समावेश सिद्ध होता है। अनुस्मृति से प्रभाषण्डल उत्पन्न होता है, तथा समाधि से सब आवरणों का क्षय।

मन्त्रमय चित्त से आकाशगत मूर्ति की भावना उपसाधन है। छः महीनों में वर्णित होना चाहिए। यदि तीन बार ऐसा करने पर भी दर्शन न हो तो हठयोग का अभ्यास करना चाहिए। काय-वाक्-चित्त-वज्र से अद्वयीकरण साधन है। आत्मवक् मण्डल-सृष्टि महासाधन है। सेवा में योग का आलम्बन महोष्णीषविम्ब है, उपसाधन में अमृतकुण्डल, साधन में देवताविम्ब, तथा महासाधन में बुद्धविम्ब। सेवा में साध्य और साधन का संयोग होता है, उपसाधन में वज्र और पद्म का। साधन में मन्त्रबालन होता है, महासाधन शान्त आकाशभाव है।

वज्रपात और सहजपात—ज्यों और ८वीं सद्विद्या, तथा अनन्तर—तारानाथ के अनुसार आचार्य जसंग से धर्मकीर्ति के समय तक तत्त्व की परम्परा गुप्त रही, किन्तु इसके अनन्तर उसका प्रकाश हुआ तथा पालसम्राटों के समय में अनेकानेक मन्त्राचार्य और ब्रह्माचार्य हुए। इस समय चन्द्रवंश के एक सिद्ध राजा का आविर्भाव हुआ तथा ८४ सिद्धों में से अधिकांश धर्मकीर्ति और राजा चणक के अन्तराल में प्रकट हुए। पाल युग में महापात तथा मन्त्रपात का मगध, बंगल (= बंग ?), ओडिशा, अपरान्त तथा काश्मीर में विस्तार हुआ। पाल युग बौद्ध ब्रह्माचार्यों एवं सिद्धाचार्यों का युग था। इनमें नाम-बाहुल्य और नाम-साम्य के कारण काल-निर्णय अत्यन्त दुष्कर एवं विवादास्पद है। तारानाथ ने आचार्य कम्बलपाद, कुकुराचार्य, सरोरुह वज्र, ललितवज्र तथा इन्द्रभूति को समकालीन बताया है। सरोरुहवज्र जयवा पद्मवज्र नाम के कदाचित् एकाधिक व्यक्ति थे। 'उन्होंने' गृह्यसिद्धि की रचना की तथा कम्बलपाद के साथ ही वज्रतन्त्र का प्रवर्तन किया। 'अनंगवज्र' उनके शिष्य थे तथा अनंगवज्र के प्रप्रोपाय-विनिश्चयसिद्धि आदि अनेक ग्रन्थ विदित हैं। इन्द्रभूति को अनंगवज्र का शिष्य कहा

६२-तारानाथ, (अनु० शीकर), पृ० २०१-२।

६३-वही, पृ० १८८।

६४-इ०—स्नेहप्रोष (सं० एवं अनु०), हेमचन्द्र, जि० १, पृ० १३-१४।

६५-इ०—भट्टाचार्य (सं०)—दृ. वज्रपात वर्णन, भूमिका।

गया है। ये उड्डियान के राजा थे। यह उड्डियान उड़ीसा में है अथवा उत्तराप्रदेश का उड्डियान है, यह अनिश्चित है। इन्द्रभूति तिब्बत में आठवीं शताब्दी में कामाधर्म के प्रवर्तक पराशरम्भव के 'मिता' कहे गये हैं। इनकी छोटी बहिन लक्ष्मीकरा भी सिद्ध थी तथा उसे सहजपान का प्रवर्तक कहा गया है। साधनमाला में इन्द्रभूति को कुरुकुल्लासाधन का आविष्कारक बताया गया है। इन्द्रभूति के ज्ञानसिद्धि आदि अनेक ग्रन्थ विदित हैं। ज्ञानसिद्धि से उसके पूर्ववर्ती विस्तृत तन्त्रशास्त्र का परिचय मिलता है। यह स्मरणीय है कि सम्भवतः इन्द्रभूति नाम के भी एकाधिक व्यक्ति थे।

अनगवज्ज का दार्शनिक मत मज्जेयनाय के मध्यान्तविभंग का स्मरण दिलाता है। संसार मिथ्या कल्पना की प्रभूति है। न इसके अस्तित्व को मानना चाहिए, न नास्तित्व को। शून्यता ही प्रज्ञात्त्व है। करुणा को ही राग अथवा उपाय कहा जाता है। शून्यता और करुणा का नीर-खीर के समान मेल प्रज्ञोपाय कहलाता है। यही धर्मोत्त्व है जिसमें न कुछ जोड़ा जा सकता है, न घटाया। न उसमें चाह है, न बाहक, न सत् है, न असत्। यह प्रकृति-निर्मल, द्वैताद्वैतविवर्जित, शान्त, शिव और प्रपारमवेद्य है। यह प्रज्ञोपाय ही सब बुद्धों का आलय, दिव्य धर्मधातु, एवं अप्रतिष्ठित निर्वाण है। तीनों काय, तीनों यान, अमरत्व मन्त्र, मुद्रा, मण्डल, चक्र, कुल, तथा अशेष जीव, सब वहीं से विनिर्गत हैं। प्रज्ञोपाय ही समस्त जगत् के लिए चिन्ताधर्म के समान भूक्ति और मुक्ति का पद है। यही पहुँच कर बुद्धत्व की प्राप्ति होती है। अनन्त-मुक्त-रूप होने से उसे 'महामुक्त' कहते हैं। यही समन्तमद है।

इस तत्त्वरत्न का शब्दों से प्रतिपादन असम्भव है, क्योंकि उसमें शब्द-संकेत ही अगृहीत हैं। अतएव इस प्रज्ञात्मवेद्य परमार्थ की प्राप्ति के लिए श्रद्दगुरु का सेवन आवश्यक है। गुरु की महिमा अपार है तथापि गुरु का उचित आदर-सत्कार करने वाले विरल हैं। गुरु की सन्निधि से शिष्य में प्रज्ञास्वर बोधिविस्तार वैसे ही उद्भासित हो उठता है जैसे सूर्य के सम्पर्क से सूर्यकान्तमणि।" मन्वपुत्रो तथा सुन्दर 'मुद्रा' को प्राप्त कर तथा उसे माल्य, गन्ध, वस्त्र आदि से सत्कृत कर गुरु के पास निवेदित करना चाहिए तथा गुरुपूजन के अनन्तर गुरु से वज्राम्बिके की प्रार्थना करनी चाहिए। इस पर मुद्रापुत्र शिष्य को वज्राचार्य अभिविक्त कर उसे 'समय' प्रदान करेंगे, तथा संवर

६६-३०—प्रज्ञोपायविनिर्दिष्टवृत्ति ("दृष्टव्यमालं कर्तुं," में सम्पादित) प्रथम परिच्छेद ।

६७-वही, पृ० १० ।

मतायेँ जिसके अनुसार प्राणिबन्ध न करना चाहिए, तथा निरन्तर सत्त्वहित का आचरण करना चाहिए। इस पर शिष्य को यथाशक्ति गुरुदक्षिणा समर्पण करनी चाहिए।^{१४}

प्रज्ञोपाय की भावना में शून्य और अशून्य की कल्पना छोड़कर आकाशवत् भावना करनी चाहिए। सब कर्मों के करते हुए भी यह भावना निरन्तर प्रवृत्त रहती है। प्रज्ञा पारमिता सर्वे-धर्म-समता है। विकल्प, राग आदि से मलिन चित्त ही संसार है, निर्विकल्प और प्रभास्वर चित्त ही निर्वाण है।^{१५} साधक को निर्विकल्पात्मक प्रज्ञा तथा कल्याण का अभ्यास करना चाहिए। वज्रचर्या में विघ्ननाश के लिए 'पञ्चामृत' तथा 'पञ्चप्रदीप' का भक्षण करना चाहिए। चित्त को कभी क्षुब्ध न होने देना चाहिए। सब कुछ मामागम समझ कर निष्कल चित्त से स्पष्ट भोग करना चाहिए। यह समस्त त्रैधातुक वज्रनाथ ने साधकों के सम्भोग एवं हित के लिए बनाया है।^{१६} प्रज्ञा का परमार्थ रूप शुद्ध और अद्वय है, किन्तु सांवृत रूप स्त्रीनिघ्न है।^{१७} अतः स्थियों में किसी प्रकार की द्वेषता अथवा त्याग्यता न माननी चाहिए। ज्ञानन्द के सम्भोग से ही वज्रसत्त्व की सिद्धि होती है।

इन्द्रभूति का कहना है कि अनुत्तर वज्रमान योगतन्त्रों में प्रोक्त है।^{१८} यह स्मरणीय है कि बौद्ध तन्त्र चतुर्विध हैं—क्रियातन्त्र, चर्या०, योग०, अनुत्तरयोग०। वज्रसत्त्व सब जीवों के मन में व्याप्त है। वज्रमानी को निर्विकल्प, निरहंकार और निष्कल होना चाहिए। प्रज्ञोपाय के समायोग से पाप-शुण्य का भेद विगलित हो जाता है। मध्यामक्य, पेपापेय, गम्मागम्य आदि का विवेक छोड़ देना चाहिए तथा सब धर्मों को प्रतीत्यसमुत्पन्न, निरात्मक एवं मायोपम समझना चाहिए। हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मृदावाद आदि कर्मों से नरक प्राप्त होता है, किन्तु योगी उन्हीं से मुक्त हो जाता है। सर्वव्यापी, सर्वज्ञ,

६८—वही, तृतीय परिच्छेद ।

६९—वही, ४.२२-२३ ।

७०—"सम्भोगार्थमिदं सर्वं त्रैधातुकमशेषतः ।

निर्मितं वज्रनाथेन साधकानां हिताय च ॥ (वही, ५.३१)

७१—"प्रज्ञापारमिता सेव्या सर्वथा मुक्तिकांक्षिभिः ।

परमार्थं स्थिता शुद्धा संवृत्ता तनुवारिणी ॥

लज्जनाकपमान्ध्याय

सर्वत्रैकम्यवस्थिता ।

अतोऽर्थं वज्रनाथेन प्रीत्या जाह्नार्थतन्मया ॥" (वही, ५. २२-२३)

७२-३०—ज्ञानसिद्धि, ("दृष्टव्यमान वस्तु" में सम्पादित) ।

लोकेश्वर, वज्रधर ही सब मंत्रों में वर्णित है। गुरुकृपा से ही इस उत्तम तत्त्व की प्राप्ति सम्भव है। गुरु ही विरल है। आकाशवत् अलक्षण वज्रज्ञान ही समन्ताभद्र, महामुद्रा, धर्मकाय एवं आदर्शज्ञान है। रूप, शब्द आदि विषयों के उपयोग में वज्रमानी को बुद्धपूजा की भावना करनी चाहिए। निर्विकल्पभाव से कामानुकूल कर्म करते हुए वज्राव की प्राप्ति होती है।

इन्द्रमुक्ति ने रूपभावना का प्रबल निषेध किया है।^{११} पञ्चस्कन्ध ही पञ्च बुद्ध हैं तथा धातु ही लोचना आदि हैं। अतः सभी प्राणी बुद्ध हैं तथा बुद्धत्व के लिए किया निरपेक्ष है। बुद्धत्व का रूप अथवा काम से किसी प्रकार का सम्बन्ध सम्भव नहीं है। रूप के समान ही साकार एवं निराकार ज्ञान की कल्पना का भी माध्यमिक रीति से तिरस्कार किया गया है।^{१२} निर्विकल्प ज्ञान अथवा निश्चितता भी अस्वीकार्य है। बुद्धज्ञान की निर्विकल्पता इसी में है कि वह अनाभोग (असंकल्प) है, उसमें करुणा विचारपूर्वक नहीं है। किन्तु बुद्धज्ञान अज्ञान अथवा मूढ़ता नहीं है।^{१३} श्वास-प्रश्वास को भी तत्त्व नहीं माना जा सकता क्योंकि वह भस्वागत वायु के तुल्य है।^{१४} इन्द्रिय संयोग से उत्पन्न 'महामुल' तत्त्व नहीं है, क्योंकि वह प्रतीत्यसमुत्पन्न और अनित्य है। वास्तविक महामुल स्वसंवेद्य सर्वतायागत ज्ञान है। रागमुल को बुद्धार्पण करके जुगुप्सा के बिना चित्तसौख्य के लिए भोगता विहित है। किन्तु वह पारमार्थिक तत्त्व नहीं है। स्वसंवेद्य भी प्रतिषिद्ध है। सभी तत्त्व मिथ्या कल्पित हैं।

तथागत ज्ञान के लिए बुद्ध बन्धना पाददेशना, पुष्पांजलीदान आदि के अन्तर बुद्ध-बोधिसत्त्वों का पूजन, बोधिचित्त का उत्पादन तथा समय और संवर का प्रालम्ब करना चाहिए। पुण्य और पाप मन से उत्पन्न होते हैं। मन से ही उनकी वृद्धि और विनाश सम्भव है। हिंसा आदि का तत्त्वों में उपदेश तभी मान्य है जब वह करुणा से उत्पन्न हो। लोभ आदि से प्रेरित कर्म अवश्य पापावह हैं।^{१५} कृपाप्रेरित योगी के लिए चित्त-साधन में सम्प्रागम्य विचार तिरस्कार्य है क्योंकि अनादि मंगार में कोई भी सम्बन्ध नित्य अथवा अपरिवर्तनीय नहीं है। शून्य अशून्य का भेद भी आपेक्षिक और लौकिक कल्पना है।

७३-ज्ञानसिद्धि, दूसरा परिच्छेद ।

७४-वहो, तीसरा और चौथा परिच्छेद ।

७५-वहो, पाँचवाँ परिच्छेद ।

७६-वहो, छठा परिच्छेद ।

७७-वहो, १०. ६२-६५ ।

सात्त्विक महाज्ञान नित्य स्थित है, किन्तु मोहघट से आवृत मूर्खों के लिए अप्रकाश है। गुच्छुपा से तथा निरन्तर उपासना से ही यह प्रकाशित हो सकता है। तन्त्र में विविध रीति से तत्त्वाभिधान होता है। वैरोचन, लोचना, यमान्तक आदि सब तात्पार्यज्ञान के ही गुणाकारभेद से विभिन्न नाम हैं।^{३८} मण्डललेखन आदि महायोगी के लिए निषिद्ध है।^{३९} चन्द्रमंडल के समान चित्त प्रकृतिप्रभास्वर है तथा सूर्यरश्मियों के आगम से क्रमशः सफल होता है।^{४०} मूढ, मध्य और अधिमात्र अधिकारियों के लिए साधनभेद निदिष्ट है।^{४१}

यह विचार्य है कि इन्द्रभूति ने उत्तम अधिकारी अथवा महायोगी के लिए तन्त्र की विधि प्रियाओं को अनुपयोगी कहा है। यही नहीं परमार्थ को नित्य सिद्ध और सर्वथा अपरिच्छिन्न कह कर उन्होंने 'साधन' को भी भ्रान्तिभूलक सूचित किया है। गुच्छुपा एवं बोधि चित्त ही वास्तविक उपाय है, और वे परस्पर तथा परमार्थ से अभिन्न हैं। इन प्रकार के नञ्प्रमाण में 'सहजमान' का उल्लेख देखा जा सकता है। 'सहजमान' में किसी प्रकार के तप, नियम, स्नान, उपास, प्रतिमाचन आदि को उपयोगी नहीं माना जाता। काय में सब देवताओं का निवास तथा काय को ही वाद्य और अल्प साधन स्वीकार किया जाता है। सहजसिद्ध के लिए किसी प्रकार का विधिनिषेध भी मान्य न था। सहजमान की अभिव्यक्ति अनेक सिद्धों को वाणी में मिलती है। परवर्ती शैव और वैष्णव मतों पर भी 'सहजमान' प्रभाव देखा जा सकता है। सहजमान के मूल का चिन्तन करते हुए मैथेयनाथ की 'स्वाभाविककाय' स्मरणीय है। सब प्रतीत्यसमुत्पन्न धर्म कृत्रिम होने के कारण मिथ्या है। अहंनिर्म या 'सहज' सत्य नित्यसिद्ध ही हो सकता है। इसके लिए सभी साधन अनुपयोगी हैं, किन्तु कितना ही गुढ़ ज्ञान मार्ग हो साधन का स्वीकार अनिवार्य है। 'जेन' सम्प्रदाय तक में साधन का स्थान है। इसी प्रकार सहजमात्र में भी कायाभित साधन स्वीकृत है। इसका 'हठयोग' से निकट सम्बन्ध है। सहजमान की रहस्यात्मक एवं गीतारमक अभिव्यक्ति सिद्धों की वाणी में प्राप्त होती है।^{४२} सरहपाद, शबरपाद, लुईपाद आदि के गीतों और दोहों के द्वारा प्रसिद्ध बीड़ विद्यापीठों में भीमांशित अनेक निगूढ़ दार्शनिक सिद्धान्त साधारण जनता तक एक सुलभ रूप में पहुँचे।

३८-वही, पृ० ७९-८१।

३९-वही, पृ० ७८।

४०-वही, पृ० ८२।

४१-वही, पृ० ९५-९९।

४२-इ०—हरप्रसाद शास्त्री, बीड़ गान औ दोहा, डा० प्रबोधचन्द्र वागची, बीहाकोश;
राहुल सांकृत्यायन, बोहाकोश।

तिब्बती ग्रन्थों से इनके विषय में विशेष विवरण प्राप्त होता है। किन्तु यह निबन्धनी-प्रधान है (इ०—गुनवेदेत, दी मेघिस्ते देर फोरउन्द आकिलपासाठवरर; भूमेन्द्रनाथ दत्त, मिस्टिक टैल्स ऑफ लामा तारानाथ)। सरह, अबका लुईपा की सिद्ध परम्परा का प्रवर्तक कहा गया है तथा उन्हें ७वीं, ८ वीं या १०वीं सदी में रखा गया है, किन्तु इस विषय में काल अथवा क्रम का निर्णय अभी निराशयास्पद ही है (इ०—जे० बी० ओ० आर० एस०, १९२८, पृ० ३४१ पृ०; जे० ए० १९३४, पृ० २०१ प्र०; वागची, कौलज्ञाननिर्णय, भूमिका)। इन्द्रभूति के समय से पूर्व ही अनेक बौद्ध तन्त्रों की रचना हो चुकी थी। हेवज्रतन्त्र का ऊपर उल्लेख किया गया है। ह्येक, अष्टमहाराज्य, यज्यधाराही, क्रियासमुच्चय, यज्यावली, योगिनीजाल आदि अनेक तन्त्रों की अप्रकाशित पाण्डुलिपियाँ संस्कृत में शेष हैं। साधनमाला की प्राचीनतम पाण्डुलिपि ई० ११६७ की है। इसमें नाना साधनों का ध्यान, मन्त्रादि के साथ संग्रह उपलब्ध होता है, जिनके जातिप्रकर्ताओं में असंग और नागार्जुन, सरहपाद और कुक्कुरीपाद, इन्द्रभूति, अष्टयज्य और अनयाकरमुत्त आदि के नाम उल्लिखित हैं।

कालचक्रग्रन्थ का उदय १०वीं शताब्दी से पूर्व रहना चाहिए। कालचक्रतन्त्र और उसकी विमलप्रभा टीका इसके प्रमाणभूत ग्रन्थ हैं। विमलप्रभा के आधार पर सरहपाद या नारो-पा ने सेकौदुस्तटीका लिखी थी। नारो-पा १० वीं शती में विक्रमशैल के प्रसिद्ध छ. द्वारपण्डितों में से एक थे। मञ्जुश्री को इस तन्त्र का प्रवर्तक तथा सुचन्द्र को विमलप्रभा का रचयिता कहा गया है। इस मत में 'कालचक्र' परम देवता का ही आस्थान है। कालचक्र में शून्यता और करुणा संवलित है तथा प्रज्ञात्मक शक्ति से वह सहचरित है। दार्शनिकों में प्रसिद्ध अद्वयतत्त्व ही कालचक्र की धारणा में भूत रूप पाता है। कालचक्र को आदिबुद्ध कहा गया है। यह स्मरणीय है कि 'आदिबुद्ध' की धारणा सद्धर्म में पहले से विवित थी और असंग ने उसका उल्लेख किया है। कारण-बुद्ध में भी उसका उल्लेख है। नाम के अनुकूल कालचक्र के सण्डल का कालतत्त्व से सम्बन्ध निश्चित है। यह उल्लेख है कि काल का सण्डलाकार निरूपण प्रकारान्तर से अत्यन्त प्राचीन है। उदाहरण के लिए तैत्तिरीय व आरण्यक का सावित्र नयन द्रष्टव्य है।

बौद्ध और ब्राह्मण-तन्त्र—बौद्ध तन्त्रों के उद्गम और विकास में शैव-शक्ति तन्त्रों का प्रभाव निश्चित रूप से स्वीकार करना चाहिए। निःश्वासतत्त्वसंहिता की एक पाण्डुलिपि ८वीं शती से चली आ रही है जिसमें १८ शिवशास्त्रों का नामोल्लेख है। धारमेधवरतन्त्र की एक पाण्डुलिपि ९ वीं शताब्दी की है, किरणतन्त्र की १० वीं शताब्दी की, ११ वीं और १२ वीं सदियों से और अनेक तान्त्रिक संहिताओं की

पाण्डुलिपियाँ प्राप्त होती हैं। ९ वीं शती के प्रारम्भ में सुदूर कम्बुज में इस तान्त्रिक साहित्य का एकदेश प्रवेशित हुआ^१। यह स्पष्ट है कि ७वीं ८वीं शताब्दियों तक बौद्ध-शास्त्र-तन्त्रों का पूर्ण विकास हो चुका था। इसी समय से बौद्ध तन्त्रों का विशेष विकास प्रारम्भ होता है। अतः काल की दृष्टि से बौद्ध तान्त्रिक परम्परा बौद्ध तान्त्रिक परम्परा से प्राचीन होती है। यह भी स्मरणीय है कि तान्त्रिक धर्म के उपासनात्मक होने के कारण उसमें किसी-न-किसी प्रकार से ईश्वरवाद अन्तर्निहित है, जो कि मूल बौद्ध धर्म के अनुकूल नहीं है। मूलतः आगमिक परम्परा से प्रभावित होने पर भी बौद्ध तन्त्रों ने बौद्ध-शक्ति तन्त्रों को कालान्तर में प्रभावित किया। इस प्रसंग में तारा की उपासना उल्लेखनीय है। प्रारम्भ में बौद्ध देवी होते हुए भी पीछे तारा को 'महाविद्याओं' में स्वीकार किया गया।

बौद्ध और ब्राह्मण तन्त्रों के समान तत्त्व विविध हैं—गुरु का महत्त्व, दीक्षा, अभिषेक, मन्त्र, मण्डल, चक्र, मुद्रा, नाडी, शक्ति-साहचर्य आदि। बौद्ध तन्त्रों का आचार प्रायः 'वामाचार' के सदृश है। 'मालतीमाधव' से बौद्धों का कापालिकों से अभेद अथवा निकट सम्बन्ध सूचित होता है।

प्राचीन ह्रींयान की कट्टर भिक्षुचर्या से वज्रयान की वज्रचर्या सुदूर है। इस आदर्शजनक परिषर्तन का उचित कारण होना चाहिए। इसे भिक्षु-जीवन का समृद्धि-जनित अथवा स्वाभाविक ह्रास एवं पतनमात्र कहना अथवा अनायें प्रभाव का परिणाम मानना सन्तोषजनक नहीं प्रतीत होता। तान्त्रिक साधना का व्यावहारिक यथार्थ आदर्शभूत अथवा दुरुपयुक्त हो सकता था—और इसके निविर्तत संकेत प्राप्त होते हैं—किन्तु तान्त्रिक साधना का आदर्श ही प्राचीन आदर्श से विदूर है। भेद निर्वाण रूप लक्ष्य में नहीं है, किन्तु उसके योग्य साधन के अवधारण में है। प्राचीन यान में तृष्णाक्षय के लिए स्वाभाविक मुक्त की इच्छाओं का दमन तथा उनके दोषों का चिन्तन विहित है। महायान में अपनी इच्छाओं से संघर्ष के स्थान पर दूसरों की सेवा को महत्त्व दिया गया है, तथा त्रिषुष्णता को करुणा से पदच्युत कर दिया है। वज्रयान में स्वाभाविक प्रवृत्तियों का बलवत् दमन दोषावह माना गया है। इस प्रकार के दमन से इच्छाओं की वास्तविक निवृत्ति नहीं होती प्रत्युत् उनमें एक आन्तरालिक भाव तथा पतन की आशंका उत्पन्न हो जाती है^२। केवल बाह्य संयम अथवा इन्द्रियनिरोध या कर्मत्याग से

८३-४०—आगची, स्टडीज इन दि तन्त्र, पृ० ३ प्र०।

८४-४०—चित्तविशुद्धिप्रकरण (सं० पटेल) १२७-२९ (पृ० ९)।

अन्तर्गती राग या लुप्ता का क्षय असम्भव है^१। दूसरी ओर, दृष्टिभेद से सभी कर्म उपासनात्मक एवं दिव्यता के सम्पादक हो उठते हैं। इस प्रकार की जीवनव्यापी साधना के बिना मनुष्य की अभीप्सित पूर्ण सिद्धि असम्भव है। यह न स्थूल भोग का मार्ग है, न दुष्प्राप्य सूखे त्याग का, अपितु मनुष्य के स्वभावानुरहित धर्म का अनिवार्य प्रकाश।

दार्शनिक संघर्ष—प्राचीन बौद्ध निकायों अथवा आगमों से विदित होता है कि तथागत के समय में अनेक ब्राह्मण और धर्मण दार्शनिक वाद प्रचलित थे जिनका उन्होंने प्रतिषेध किया। निरन्तर मत को छोड़कर वे वाद परवर्ती काल में लुप्त हो गये तथा इनका अपना साहित्य अवशेष नहीं है। दूसरी ओर परवर्ती काल में प्रचलित सांख्य, वेदान्त आदि दार्शनिक प्रस्थानों का इस प्राचीन बौद्ध साहित्य में निश्चित उल्लेख तक प्राप्त नहीं होता। वस्तुतः उस समय वेदान्त एक पृथक् दर्शनशास्त्र के रूप में विद्यमान न होकर उपनिषदों की विभिन्न विद्याओं एवं असमन्वित अभिमतों के रूप में विप्रकीर्ण था। उपनिषद वेदान्त ने एक व्यवस्थित दर्शन का रूप सर्वप्रथम बादरायण के ब्रह्मसूत्रों की रचना के द्वारा प्राप्त किया। किन्तु उस समय तक बौद्धों में अनेक दार्शनिक प्रभेद उत्पन्न हो गये थे^२ जिनका बादरायण ने उल्लेख तथा शासन किया है। सांख्यदर्शन भी तथागत के समय में कदाचित् एक सूक्ष्म आध्यात्मिक परम्परा के रूप में था, परवर्ती काल के समान सुविदित दर्शनशास्त्र के रूप में नहीं। योग-दर्शन के विषय में तो यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है। मीमांसा, न्याय अथवा वैशेषिक शास्त्रों का उस समय तक जन्म नहीं हुआ था और न भागवत अथवा शैव सम्प्रदायों ने किसी रीतिवद् दर्शन का प्रतिपादन किया था। तथागत ने सामान्यतः शास्त्रतत्वाद, उच्छेदवाद एवं प्रचलित आत्मवाद का निराकरण किया। इस निराकरण की रीति में माध्यमिक तक की छाया आभासित होती है। परमार्थ सत्य दोनों अन्तों के परे है। किसी एक अन्त को मान लेने पर आर्य-सत्य निरर्थक हो जायेगा। कालान्तर में बौद्ध संघ अनेक सम्प्रदायों में विभक्त हो गया तथा उन सम्प्रदायों के पारस्परिक विचार-संघर्ष से बुद्ध-देशित तत्त्वों का अनेकधा दार्शनिक परिष्कार सिद्ध हुआ। कथावस्तु और अभिधर्म-महा-विभाषा प्राचीन बौद्ध सम्प्रदायों के दार्शनिक विवाद की प्रदर्शित करते हैं। जहाँ एक ओर धार्मिक आध्यात्मिक दृष्टि से अर्हत् और बुद्ध-विषयक विवाद महावत के जन्म

८५-सु०—गीता, २.५९।

८६-पाणिनि के द्वारा उल्लिखित धाराशय के भिन्नसूत्र स्पष्ट ही ब्रह्मसूत्र नहीं हो सकते क्योंकि बादरायण ने जिन अन्य सम्प्रदायों और मतों का उल्लेख किया है वे ई० पू० पाँचवीं शताब्दी में विकसित नहीं हुए थे।

के लिए महत्त्वपूर्ण थे, वहीं दूसरी ओर पुद्गल-विषयक तथा 'धर्म'-विषयक विवाद दार्शनिक-ताकिक विकास के लिए पोषक सिद्ध हुए। इस विकास के परिणाम-स्वरूप बौद्धों के प्रसिद्ध सिद्धान्त पुद्गल-नैरात्म्य अथवा अनात्मवाद एवं क्षणभंगवाद का मुक्ति-युक्त प्रतिपादन हुआ। दूसरी ओर महामान के विकास से धर्म-नैरात्म्य अथवा शून्यता का सिद्धान्त आविष्कृत तथा माध्यमिकों के द्वारा ताकिक रीति से प्रतिपादित हुआ। प्रायः इसी समय न्याय-सूत्रों में तथा ब्रह्मसूत्रों में बौद्ध दर्शन का खण्डन मिलता है। नागार्जुन तथा जाम्बवेद में भी अनेक बौद्धेतर दार्शनिक मतों का विशेषतः न्याय, सांख्य और वैशेषिक का ताकिक निराकरण उपलब्ध होता है। इन माध्यमिक आचार्यों की कृतियों से यह भी ज्ञात होता है कि उनके मत का इस समय अन्यत्र मुक्तिपूर्वक प्रतिरोध किया जा रहा था। विप्रहृष्यावर्तनी तथा न्याय-सूत्रों की प्रमाणसामान्य-परीक्षा विशेष रूप से सुलनीय है। तीसरी से पाँचवीं शताब्दी में योगाचार-विज्ञानवाद का दर्शन के रूप में आविर्भाव हुआ तथा इसी युग में बौद्ध दर्शन का भीमांश-भाष्यकार सारस्वामी तथा न्यायभाष्यकार पक्षिलस्वामी के द्वारा खण्डन मिलता है। पाँचवीं शताब्दी से सातवीं शताब्दी के बीच में दार्शनिक संघर्ष का चरम उत्कर्ष हुआ। एक ओर बौद्धों के अभ्यन्तर सौवान्तिकों और माध्यमिकों ने विज्ञानवाद का खण्डन किया, दूसरी ओर दिङ्नाग ने वास्तव्यवन का तथा उद्योतकर ने वसुवन्धु और दिङ्नाग का खण्डन किया। प्रायः इसी समय में कुमारिल ने भीमांश की ओर से विज्ञानवाद और शून्यवाद का निराकरण किया। इस खण्डन-मण्डन के प्रसंग में बौद्ध न्याय का विशिष्ट विकास हुआ तथा अपोहवाद आदि बौद्ध ताकिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया। आठवीं शताब्दी में दान्तिरक्षित ने बौद्धेतर दर्शनों का विस्तृत खण्डन किया। दूसरी ओर जहाँ गौडपाद ने बौद्ध सिद्धान्तों का जड़ित वेदान्त से समन्वय किया था, उनके प्रशिष्य शंकराचार्य ने बौद्धों का तर्क-कर्मका तिरस्कार किया। नवीं और दसवीं शताब्दियों में वाचस्पतिमिश्र, उदयनाचार्य तथा जमन्त भट्ट ने बौद्ध मत की तीव्र आलोचना की। बौद्धों की ओर से धर्मोत्तर, रत्नकीर्ति, रत्नाकर शान्ति, आदि आचार्यों ने बौद्धेतर मतों का प्रत्यालोचन किया। इस परवर्ती बौद्ध ताकिक साहित्य का लेखमात्र ही मूल में उल्लेख्य है। ११ वीं और १२ वीं शताब्दियों में भारतीय बौद्ध धर्म के पतन के साथ उसका अधिकांश साहित्य भी लुप्त हो गया तथा न्याय दर्शन ने भी बौद्धों से मुक्ति पाकर विशुद्ध तर्क-शास्त्र की ओर करवट बदली। यह कहना कि कुमारिल, शंकर, वाचस्पति अथवा उदयन की मुक्तियों से बौद्ध दर्शन निराकृत हो गया, वस्तुतः धर्मोत्तर, शान्त-रक्षित, कमलकील, रत्नकीर्ति आदि की अश्वहेलना होगी।

न्याय-सूत्रों में—न्याय-सूत्रों में क्षणभंग, सर्वपुण्यत्व, सर्वशून्यता तथा बाह्यार्थ-निराकरण का खण्डन मिलता है, जो कि बौद्ध सिद्धान्त हैं। क्षणभंगवाद इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है। सब व्यस्तित्व-पदार्थ क्षणिक हैं क्योंकि क्षरीर आदि में अवयवों के उपचय और अपचय के प्रवाह के द्वारा व्यक्तियों का उत्पाद और निरोध देखा जाता है। इसके विरोध में नैयायिक का कहना है कि यह नियम असिद्ध है। शिखा, स्कटिक आदि में इस प्रकार का उपचय और अपचय नहीं माना जा सकता। क्षणिक-वादी की मुक्ति है कि बिनाश अकारण तथा निरन्तर होता है। इसके उत्तर में नैयायिक का कहना है कि उत्पत्ति और बिनाश दोनों के कारण उपलब्ध होते हैं। बौद्धों के अनुसार सब धर्म पुण्य-पुण्य सत्तावान् हैं। प्रत्येक का लक्षण भी पुण्य है। षट्-पट आदि शब्द समूहवाची हैं। इसके खण्डन में नैयायिक का कहना है कि समूह की सिद्धि भी एकत्व की सिद्धि के बिना नहीं होती। शून्यवादी का कहना है कि षट्, पट आदि सब पदार्थों का अभाव है क्योंकि उन पदार्थों में इतरेतर का अभाव सिद्ध होता है। उसके खण्डन में अक्षपाद का कहना है कि प्रत्येक पदार्थ का अपना स्वभाव सिद्ध है। षट् कहने से पट कट आदि का अभाव ही सूचित नहीं होता, अपितु षट्त्व-विशिष्ट-षट्-द्रव्य प्रतीत होता है। इसके उत्तर में शून्यवादी का तर्क है कि पदार्थों का स्वभाव परमायतः असिद्ध है क्योंकि व्यवहार-प्रतीत स्वभाव आपेक्षिक होता है। ह्रस्व की अपेक्षा दीर्घ की कल्पना की जाती है, दीर्घ की अपेक्षा ह्रस्व की। इनका वस्तुतः स्व-भाव नहीं माना जा सकता। ऐसे ही षट् आदि की अपेक्षा पट की सिद्धि होती है, पट आदि की अपेक्षा षट् की। इसके प्रत्युत्तर में अक्षपाद का कहना है कि यह उक्ति स्वयंसिद्ध है। वस्तुतः अपेक्षा और अनपेक्षा में द्वन्द्व-भेद नहीं होता। अपेक्षा से केवल विशेष अथवा अतिशय का ग्रहण होता है। यह अवधेय है कि शून्यवाद में अपेक्षा के सत्तापरक और ज्ञानपरक अर्थों का विवेक नहीं किया जाता। पश्चिम-संन्यासी ने समस्त शून्यवाद को ही व्याघात से दूषित बताया है। प्रतिज्ञा-वाक्य में उद्देश्य और विधेय के द्योतक पदों का व्याघात है। पुनश्च यदि हेतु का अभाव है तो प्रतिज्ञा असिद्ध है, और यदि प्रतिज्ञा सिद्ध है तो हेतु का अभाव नहीं। बाह्यार्थ के निराकरण के लिए बौद्ध मुक्ति यह है कि पदार्थों की बुद्धि के द्वारा विवेचना करने पर उनके वायात्म की उपलब्धि नहीं होती, जैसे तन्तुओं के बीज लेने पर पट की सत्ता की प्रतीति नहीं रहती। इसके उत्तर में अक्षपाद का कहना है कि यदि पदार्थों का विवेचन सच है तो उनकी अनुपलब्धि नहीं कही जा सकती और यदि उनकी अनुपलब्धि है तो उनका विवेचन नहीं हो सकता। पुनश्च पदार्थों की सत्ता अथवा असत्ता प्रमाणों से उपलब्ध होती है। यदि प्रमाण असत्

हैं तो पदार्थों का असत्त्व अस्तिष्ठ हो जाता है।^{८३} इस पर बौद्धों का उत्तर है कि प्रमाण और प्रमेय की कल्पना ऐसी हो है जैसे कि स्वप्न अथवा गन्तर्वनगर की।^{८४} अक्षपाद का प्रशुत्तर है कि जागरित की स्वप्नतुल्यता अस्तिष्ठ है। स्वयं स्वप्न की कल्पना जागरित की अपेक्षा रखती है। भ्रान्ति में सर्वत्र वास्तविक और मध्याह्न उपलब्ध आश्रय स्वीकार्य है। यहाँ पर यह स्मरणीय है कि नैवायिक भ्रान्ति को अन्यथाक्याति मानते हैं। पुनश्च मिथ्या-ज्ञान में न केवल आश्रय का माध्याह्न अपितु स्वयं मिथ्या-ज्ञान की सत्ता भी स्वीकार करनी होगी। फलतः यह मानना ठीक नहीं है कि सब कुछ निरुपास्य एवं निरात्मक है। यह विचारणीय है कि बाह्यार्थ-भंग के इस निराकरण में माध्यमिक और योगाचार का स्पष्ट भेद संकेतित नहीं है। वात्स्यायन ने अपने भाष्य में इसे सर्वा-निरुपास्यता अथवा सर्वनिरात्मकता का निरास बताया है।

ब्रह्मसूत्रों में—ब्रह्मसूत्रों में सर्वोक्तिवाद तथा योगाचार का लक्ष्यन किया गया है।^{८५} यहाँ भी योगाचार और माध्यमिक का भेद उल्लेखित नहीं है। आत्मा के अमान में बौद्ध आचार्य पुरुष को समुदाय मानते हैं। बादरामण का कहना है कि इस प्रकार का संघात अनुपपन्न है। प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वारा भी अविद्या आदि की उत्पत्ति मान सिद्ध होती है। उनके संघात का कोई निमित्त प्रस्तुत नहीं होता है। यही नहीं, लक्ष-भंग और हेतु-फल-भाव परस्पर विरुद्ध है, क्योंकि उत्तर-क्षण की उत्पत्ति के समय पूर्व-क्षण निवृत्त हो जाता है। यदि कारण के निवृत्त होने पर भी कार्य की उत्पत्ति मानी जाय तो कार्य की उत्पत्ति को वस्तुतः अकारण मानना होगा। इस प्रकार बौद्धों के संस्कृत पदार्थ निराकृत हो जाते हैं। उनके असंस्कृत धर्मों पर बादरामण का कहना है कि प्रतिसंस्वा-निरोध और अप्रतिसंस्वा-निरोध की प्राप्ति दुर्बोध है, क्योंकि इन निरोधों की प्राप्ति जिस चित्त सन्तान को होगी उसका अविच्छेद कल्पनीय होगा जो निरोध के साथ असमञ्जस है। यदि प्रतिसंस्वानिरोध के अन्तर्भूत निरोध को ज्ञान-अन्य माना जाय तो निर्वैतुक विनाश की प्रतिज्ञा लुब्ध हो जायेगी। दूसरी ओर यदि प्रतिसंस्वा-निरोध को स्वतः प्राप्त माना जाय तो ज्ञान का उपदेश व्यर्थ हो जायेगा। ऐसे ही व्यावर्तक

८७-सू०—न्यायसूत्र २.१.१३-१४—सब प्रमाण प्रतिविद्ध होने पर प्रतिषेध अनु-
पपन्न हो जाता है। प्रतिषेध प्रामाणिक होने पर सब प्रमाण प्रतिविद्ध नहीं
रहते।

८८-सू०—नागार्जुन, विग्रहव्याकृतनी।

८९-ब० सू० २.२.१८ प्र०।

के अभाव में जाकाय की असंस्कृत-धर्म स्वीकार करना भी अनुपपन्न है। सप्त-संग तथा नैरात्म्य के स्वीकार से स्मृति असम्भव हो जाती है। बाह्य पदार्थों का बौद्धानुमत सम्पन्न प्रमाण-विरुद्ध है क्योंकि बाह्य पदार्थ उपलब्ध होते हैं। आगमरित को स्वप्न-तुल्य भी नहीं माना जा सकता है। आत्म-विज्ञान की सत्ता भी अप्रामाणिक है तथा शानिकता के स्वीकार के विरुद्ध है।

न्यायसूत्रों और बृहस्पतिवैश्वसनीयों के इन विवेचनों की तुलना से यह प्रकट होता है कि न्याय-सूत्रों का बौद्ध दर्शन से परिचय अपेक्षाकृत कम है। यह न्यायसूत्रों की प्राचीनता का द्योतक हो सकता है। दोनों में ही गोपाचार और माध्यमिक का भेद नहीं किया गया है, और दोनों में ही बाह्यार्थ संग के निरास में प्रायः वही मुक्तियाँ दी गयी हैं। सादरामण ने सर्वास्तिवादियों के तीन असंस्कृत धर्मों से अपना परिचय प्रकट किया है, और सम्भवतः आत्म-विज्ञान से भी।

उद्योतकर—उद्योतकर का कहना है कि आत्म-विषयक विवाद आत्मा के अस्तित्व के विषय में न होकर उसके विशिष्ट स्वरूप विषय में ही हो सकता है। बौद्धसूत्रों में भी रूप, वेदना, संस्कार आदि स्कन्धों में ही आत्मा का निषेध मिलता है। इसे आत्मा की सामान्य-सत्ता का निषेध न मान कर उसके विशेष-स्वरूप का ही निषेध मानना चाहिए। बौद्धों के प्रसिद्ध भारद्वाजसूत्र का उद्धरण देकर उद्योतकर यह भी सिद्ध करते हैं कि बौद्धानुमत में भी आत्मा की सामान्य-सत्ता का अभ्युपगम प्राप्त होता है।

बौद्धों की ओर से नैरात्म्य के समर्थन में उद्योतकर दो अनुमान प्रस्तुत करते हैं। (१) 'नास्त्यात्मा अजातत्वात् शसविषाणवत्' अर्थात् अनुत्पन्न होने के कारण आत्मा शस-विषाण के समान अविद्यमान है। (२) 'नास्त्यात्माऽनुपलब्धेः' अर्थात् आत्मा नहीं है, क्योंकि उसकी उपलब्धि नहीं होती। ऐतिहासिक दृष्टि से दूसरा अनुमान प्राचीन है। कथावस्तु में पुद्गलवादियों के विरोध में यही प्रधान तर्क है। इसके उत्तर में उद्योतकर का कहना है कि बौद्ध अनुमान में हेतु असिद्ध एवं सदिग्ध है। आत्मा अहं-प्रतीति के विषय के रूप में प्रत्यक्ष है। अनुमान तथा आगम से भी उसकी उपलब्धि होती है। प्रथम अनुमान में यदि अजातत्व हेतु आत्मा का जन्माभाव सूचित करता है तो असिद्ध है, क्योंकि आत्मा जन्मवान् है। पश्चात्तर में यदि अजातत्व का अर्थ अकारणत्व किया जाय तो वह हेतु विरुद्ध होगा क्योंकि आत्मा के अस्तित्व के स्थान पर तब वह आत्मा का नित्यत्व सिद्ध करेगा।

सम-संग के पक्ष में अनेक पुक्तियों का उल्लेख कर उद्योतकर ने उनका सङ्गन किया है। बौद्धों के लिए प्रत्येक वस्तु स्वभावतः विनाशी है, अतः विनाश के लिए कारण अथवा विलम्ब की अपेक्षा न होने से विनाश को उत्पत्ति के समानन्तर मानना चाहिए। उद्योतकर का कहना है कि अकारणता का अर्थ बौद्धों के लिए निश्चय अथवा असत्य होता है। पहले अर्थ में विनाश नित्य हो जायगा, और अतएव विनाश और उत्पत्ति की साथ अवस्थिति माननी होगी। दूसरे अर्थ में विनाश के असत्य से सर्व-नित्यत्व सिद्ध हो जायगा। वस्तुतः क्षणिकवादी से यह पूछना चाहिए कि क्षणिकत्व क्या विनाशित्व को द्योतित करता है, अथवा आशुविनाशित्व को, अथवा उत्पन्न-प्रलय-सित्व को, अथवा उत्पन्न-विनाशित्व को? पहले पक्ष में सिद्ध-साधन प्राप्त होता है, दूसरे में विशेषण सिद्धान्त का विरोधी हो जाता है, तीसरे में यदि उत्पत्ति और विनाश को समकालीन माना जाय तो अनूपन्न को उत्पत्ति के समान अनूपन्न का विनाश भी प्राप्त होगा। उत्पन्न होने के अनन्तर विनाश मानने पर जैसे कार्याधिक्रिया उत्पत्ति को सकारण माना जाता है ऐसे ही विनाश को सकारण मानना होगा।^{११}

उद्योतकर क्षणिकवादी से प्रश्न करते हैं—क्षणिक का क्या अर्थ है? यदि क्षणिक को क्षयवान् माना जाय तो यह मानता होगा कि क्षय के पूर्व क्षयवान् को सत्ता है, जो विरुद्ध है। यदि समनन्तर क्षय से विशिष्ट सत्ता को क्षणिक कहा जाय, तो भी असम्भव है, क्योंकि जिस समय सत्ता है उस समय क्षय नहीं है और जिस समय क्षय है, उस समय सत्ता नहीं है। यदि क्षणिक का अर्थ क्षण रूप काल से अविच्छिन्न सत्ता मानी जाय तो सिद्धान्त-विरोध उपस्थित होता है क्योंकि बौद्धों के अनुसार काल संज्ञामात्र है। नाममात्र किसी वस्तु का विशेषण नहीं हो सकता। अतएव, क्षणिकत्व की प्रतिज्ञा करने पर कोई दृष्टान्त ही नहीं मिल सकता क्योंकि प्रदीप आदि का दृष्टान्त असिद्ध है।

कुमारिल—कुमारिल का कहना है कि योगाचार अर्थशून्य विज्ञान को मानते हैं, माध्यमिक विज्ञान को भी शून्य मानते हैं^{१२}। बाह्यार्थ की शून्यता दोनों को ही मान्य है। इसीलिए भाष्यकार (=शबर) ने बाह्यार्थ की स्थापना के लिए यत्न किया है जिससे दोनों ही बौद्ध मत एक साथ निराहृत हो जायें। सम्भवतः अक्षपाद और वाद-रायण का भी वही अभिप्राय था।

११—महायवातिक, पृ० ४१५।

१२—३०—श्लोकवार्तिक में निरात्मकत्ववाद एवं शून्यवाद के प्रकरण।

बाह्यार्थ के निराकरण के लिए बौद्धों ने दो प्रकार की युक्तियाँ दी हैं। एक ओर उन्होंने प्रमेय की परीक्षा कर यह सिद्ध किया है कि ज्ञान का आलम्बन न परमाणु हो सकता है, न परमाणु-समूह। इन प्रकार की प्रमेय-परीक्षा वस्तुवत्त्व की विद्योत्पत्ति में विस्तारित है तथा इसका मूल माध्यमिक आलोचना में मानना चाहिए। दूसरी ओर प्रमाण-परीक्षा से भी यही निष्कर्ष प्राप्त किया गया है। इसमें ज्ञान को विरोध-लम्बन सिद्ध करने के लिए दो मुख्य अनुमान प्रस्तावित किये गये हैं—(१) जागरित बोध बोध होने के कारण स्वप्नवत् आलम्बनहीन है, (२) बोध और उसका विषय साथ उपलब्ध होने के कारण अभिन्न है तथा उनमें भेद की प्रतीति भ्रान्त है। इनमें पहला अनुमान प्राचीन है, दूसरे का परिष्कार और विकास दिङ्नाम तथा धर्मेकीर्ति के युग में हुआ। आलम्बन के अभाव में बोधवैविध्य समझाने के लिए विज्ञानवादी 'वामना' के सिद्धान्त का सहारा लेते थे।

कुमारिल ने प्रमाण-परीक्षा की ओर ही ध्यान दिया है। प्रत्यक्ष को हेतु बनाकर निरालम्बनत्व सिद्ध करने के प्रयत्न में एक ओर प्रत्यक्ष-विरोध होता है, दूसरी ओर दृष्टान्त की प्राप्ति नहीं होती। जागरित अवस्था के प्रत्यक्ष में बाह्य पदार्थों की सुपरि-निश्चित प्रतीति होती है जिसके विरुद्ध के लिए पर्याप्त प्रबल बाधक उपलब्ध नहीं होता। स्वप्न का दृष्टान्त ठीक नहीं है क्योंकि प्रतीतिमान में आलम्बन होता है, स्वप्न में भी, भ्रान्ति में भी। अस्तप्रतीति में आलम्बन का अभाव नहीं होता, किन्तु देश-काल का विपरिवर्तन होता है। जहाँ बौद्ध बोधेय ज्ञान को निरालम्बन मानते हैं, बौद्ध-मता-सक अशेष ज्ञान को आलम्बन।

'सहोपलम्भ नियम' का सहारा लेकर बौद्धों का कहना है कि प्रत्यक्ष-विरोध को उपस्थित करना अपायक है क्योंकि प्रत्यक्ष में बाह्य अंश आकारमान होता है, तदतिरिक्त बाह्य वस्तु नहीं। शेष आकार को वस्तुगत मानने पर ज्ञान का उससे सम्बन्ध दुर्घट हो जायेगा। अतएव आकार को ज्ञानगत मान कर बाह्य-बाह्य भेद को ज्ञान के अभ्यन्तर स्वीकार करना चाहिए। इसके विरोध में कुमारिल का कहना है कि ज्ञान और शेष का सम्बन्ध प्रकाशक और प्रकाश्य के समान भेदमूलक है। जिस समय विषय का ग्रहण होता है उस समय ज्ञान का ग्रहण नहीं होता। जिस समय एक ज्ञान से दूसरे ज्ञान का ग्रहण होता है उस समय विषय शेष नहीं होता। यदि बाह्य और बाह्य का अभेद होता तो उनका समकालिक ग्रहण होता जबकि यथार्थ विपरीत है। यहाँ भी बौद्ध और बौद्धासक मतों में मौलिक भेद है। विज्ञानवादी ज्ञान को स्वप्रकाश मानते हैं, जिसमें कुमारिल सहमत नहीं है।

विज्ञानवाद के विरुद्ध कुमारिल को एक बड़ी आपत्ति यह है कि वह व्यवहारविरोधी है। यदि बिना आलम्बन के ही ज्ञान उद्भासित होता है तो सत्य और मिथ्या का भेद ही कितनी ही जायगा तथा पुरुषार्थों के अभाव में प्रवृत्ति और निवृत्ति, ज्ञान और कर्म, सभी निराश्रय हो जायेंगे। वासना का भी व्यवहार को नियामक नहीं बताया जा सकता क्योंकि बाह्य आलम्बन के अभाव में वासना की उत्पत्ति ही नहीं होगी।

इस व्यवहारविषयक आपत्ति के परिहार में बौद्धों का कहना है कि सत्य द्विविध है—संवृति और परमार्थ। बाह्य जगत् की संवृत सत्ता से ही व्यवहार की सिद्धि हो जायगी; वस्तुतः जागतिक व्यवहार परमार्थ पर आश्रित न होकर उसके अज्ञान पर आश्रित है। इसीलिए सात्वत आदि आवश्यक है। दिक्कलाग की उक्ति है कि समस्त प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार बुध्मासृद्ध धर्म और धर्मा से सिद्ध होता है, उसके लिए उनका पारमार्थिक साक्षात्कार अनपेक्षित है। कुमारिल इस परिहार को नहीं मानते। उनका कहना है कि संवृति-सत्य की कल्पना निस्सार है। 'सत्य है तो संवृति कैसे, मिथ्या है तो सत्यता कैसे?' संवृति और परमार्थ का भेद सत्य और असत्य के माध्य में एक तृतीय वस्तु की विमूढ़ कल्पना है।

शंकर—श्रीशंकराचार्य ने शारीरकभाष्य में बौद्धों के तीन सम्प्रदायों का उल्लेख किया है—सर्वोक्तिवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद। सर्वोक्तिवादी बाह्य और आन्तर वस्तु की सत्ता मानते हैं तथा उसे बहुविध बताते हैं—भूत और भौतिक, चित्त और चैत। पृथ्वी धानु आदि भूत हैं। रूप आदि तथा वज्र आदि भौतिक हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु परमाणु-संघात हैं। इनके परमाणु क्रमशः कठिन, स्निग्ध, उज्ज्वल और चलनात्मक हैं। चित्त और चैत में पाँच स्कन्ध संगृहीत हैं। ये भी सहत होकर व्यवहारारम्भ करते हैं।

इसके सम्बन्ध में शंकर का कहना है कि ये दोनों प्रकार के समुदाय अनुपपन्न हैं क्योंकि समुदायो अचेतन हैं। चित्त का व्यापार भी समुदायसिद्धि के अधीन है। कोई चैतन्य भोक्ता या प्रशासिता, या स्थिर संहन्ता स्वीकार नहीं किया गया है। अतएव स्कन्ध-संघात की प्रवृत्ति की निरपेक्ष मानना होगा। ऐसी स्थिति में उनकी प्रवृत्ति का विराम ही नहीं होगा। आत्मविज्ञान की सत्ता स्वीकार करने से भी काम न चलेगा क्योंकि उसे स्थिर मानने पर आत्मा का स्वीकार हो जायेगा, क्षणिक मानने पर वह संहन्ता न हो पायगा। अथवा, स्कन्धों की क्षणिकता के स्वीकार से उन्हें निर्व्यापार मानना होगा और अतः उनकी प्रवृत्ति भी अनुपपन्न है। इस प्रकार न समुदाय सम्भव है, न तदाश्रित लोकसाधना।

यह कहा जा सकता है कि अविद्या आदि द्वादश निदानों के परस्पर निमित्त-निमित्त-भाव से संघात उत्पन्न है, किन्तु प्रतीत्यसमुत्पाद से निदानों की उत्पत्तिमात्र सिद्ध होती है, संघात नहीं। संघात की उत्पत्ति के लिए निमित्त चाहिए जो कि भोक्तृरहित क्षणिक वस्तुओं के स्वीकार में असम्भव है। यदि संघातों की अनादि सन्तति मानी जाय तो उसमें एक संघात से दूसरे की उत्पत्ति या निषण्ण से सद्गुण होंगे या अनिषण्ण से सद्गुण या विषयगुण। पहले विकल्प में सन्तान का जाति-भेद न होगा, दूसरे में एक जाति के अन्दर भी व्यक्तित्व सिद्ध न हो पायेगा। पुनरुत्पन्न, स्थिर भोक्ता के अभाव में भोग भोगार्थ हीना, मोक्ष मोक्षार्थ। अतएव न भोग प्रारम्भनीय होना, न मोक्ष।

यही नहीं, शान्तमग मानने पर कार्यकारण-भाव ही सिद्ध न होगा। पूर्वक्षण को निरुद्ध मानने पर उत्तर क्षण को उत्पन्न करने के लिए केवल अभाव रह जायगा। यदि सत्तायुक्त पूर्व क्षण को कारण माना जाय तो उसमें क्रिया और अतएव क्षणान्तर-सम्बन्ध मानना होगा। यदि उसकी सत्ता को क्रिया से अभिन्न माना जाय तो भी अनुपपत्ति रह जाती है क्योंकि तब यह बताना होगा कि कारण के स्वभाव से स्फुट कार्य की उत्पत्ति किस प्रकार होगी? यदि कारण से कार्य को उपरस्त माना जाय तो कारण की क्षणिकता तिरस्कृत हो जाती है। और यदि कार्य के स्वभाव को कारण से अछूता माना जाय तो किसी भी कारण से कोई भी कार्य उत्पन्न हो जायेगा। अविषय, उत्पाद, और निरोध वस्तु का स्वरूप माने जा सकते हैं, या उसकी अवस्थान्तर, अथवा वस्त्वन्तर। पहली सत्पना में 'वस्तु', 'उत्पाद', एवं 'निरोध' को पर्याय मानना होगा। दूसरी में अवस्थाभेद मानने पर क्षणिकत्व छोड़ना होगा। तीसरी में वस्तु शाश्वत हो जायगी। यदि वस्तु का दर्शन और अदर्शन ही उसका उत्पाद और निरोध माना जाय तो भी वस्तु शाश्वत हो जायगी क्योंकि दर्शन और अदर्शन द्रष्टा के धर्म हैं, न कि दृश्यवस्तु के। क्षणिकता के स्वीकार से स्मृति तथा प्रत्यभिज्ञान असम्भव हो जायेंगे क्योंकि इनके लिए पूर्वकालीन दर्शन और उसके उत्तरकालीन स्मरण के क्षणों में अभिन्न विषयी तथा अभिन्न विषय अपेक्षित हैं।

विज्ञानवादी के लिए समस्त प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार आन्तरिक है तथा बुद्धि-समाख्य रूप से ही उत्पन्न है। ज्ञान के अतिरिक्त बाह्य पदार्थों की सत्ता असम्भव है क्योंकि बाह्य लक्ष परमाणु होते या परमाणु-समूह। परमाणुओं को स्पष्ट ही स्तम्भ आदि की प्रतीति का आलम्बन नहीं माना जा सकता। दूसरी ओर स्तम्भ आदि को परमाणु-समूह भी नहीं माना जा सकता क्योंकि समूह को परमाणुओं से न भिन्न निरूपित किया जा सकता है, न अभिन्न। इसी प्रकार जाति आदि भी प्रत्यारब्धेय हैं।

धुनरुचि ज्ञान से घट, पट आदि विशिष्ट विषय प्रकाशित होते हैं। अपने विषय के चुनाव में ज्ञान की यह विशेषपरकता ज्ञान और विषय के सामन्त्य के बिना समझ में नहीं आ सकती। इस सामन्त्य के मानने पर ज्ञेय आकार की ज्ञानगत मानने में लाघव है। यही नहीं, ज्ञान और ज्ञेय की सदा साम ही उपलब्धि होती है। अतएव उन्हें अभिन्न मानना ही उचित है। स्वप्न, आदि में इस अभेद का दृष्टान्त मिलता है। जागरित की प्रतीति को भी स्वप्नयुक्त मानना चाहिए। स्वप्नतुल्य ही बाह्यार्थ के अभाव में वासना के वैचित्र्य से प्रतीति-वैचित्र्य की सिद्ध समझना चाहिए।

इस गुणित-कलाप के लक्षण में संकराचार्य का कहना है कि बाह्यार्थ की सत्ता उपलब्धि के द्वारा ही सुधोषित है। कोई भी घट, पट आदि के ज्ञान को ही घट, पट आदि नहीं समझता। ज्ञान और ज्ञेय के सहोपलम्भ का कारण उनका अभेद न होकर उनका उपामोषेयभाव है। ज्ञान ज्ञेय का श्रापक है अतः ज्ञानविरहित ज्ञेय उपस्थित नहीं होता, किन्तु उससे उनका अभेद सिद्ध नहीं होता। प्रकारान्तर से ज्ञान और ज्ञेय का भेद लक्षित भी किया जा सकता है। घटज्ञान, पटज्ञान, आदि में ज्ञान के तुल्य होते हुए भी विषयभेद प्रकट होता है, दूसरी ओर, घटज्ञान, घटस्मरण आदि में विषय का भेद न होते हुए भी विषयी का भेद लक्ष्य है। अतः, ज्ञान स्वयं अपना ज्ञेय किस प्रकार हो सकता है। कुसल नट भी अपने कर्त्तव्य पर नहीं चढ़ सकता। संकर मित्रान की स्वसंवेद्यता का भी सञ्चन करते हैं। अनित्य विज्ञान से अत्यन्त भिन्न नित्य साक्षी ही स्वयंसिद्ध है। उसी से विज्ञान को अवभास्य मानना चाहिए। स्वप्न और जागरित की तुलना भी अयुक्त है क्योंकि स्वप्न का बाध होता है, जागरित का नहीं। स्वप्न स्मृतिरूप है, जागरित उपलब्धि-रूप। वासना के सहारे ज्ञानभेद बताना भी निर्मुक्तिक है क्योंकि वासना संस्कारविशेष है तथा संस्कार निमित्त अथवा आधाय के बिना उद्बुध नहीं होते। बाह्यार्थ के अभाव में निमित्त की सिद्धि नहीं होती, क्षणिकत्व के कारण आत्मविज्ञान भी वासना का आधाय नहीं बन सकता।

शून्यवादियों के पक्ष को संकराचार्य ने सर्व-प्रमाण-विप्रतिषिद्ध कहा है तथा उसका सञ्चन अनावश्यक बताया है। लोकव्यवहार सर्व-प्रमाणसिद्ध है। बिना किसी अन्य तत्त्व के स्वीकार के उसका निषेध नहीं किया जा सकता।

ह्रास और पतन

सिन्ध—सातवीं शताब्दी में क्षत्राब्धि के अनुसार सिन्ध के शासक श्रुतपाटीय बौद्ध थे तथा वहाँ बिहार एवं भिक्षु बहुसंख्यक थे, किन्तु उनमें अप्टाधार प्रचलित था। साहसी राम के अन्तर्गत ब्राह्मण अमात्य राज ने तबे राज्यसत्ता की स्थापना की।

'बचनाना' से ज्ञात होता है कि बाह्याणाचार में इन समय "बुद्धरक्षित" (?) नाम का बौद्ध धर्म का जोकि स्पष्ट ही एक सिद्ध तान्त्रिक था। उसके प्रभाव से बच ने बौद्ध धर्म का विरोध नहीं किया। बच का भाई 'चन्दर' धर्मण बताया जाता है। ई० ७१२ में बच का पुत्र दाहिर मुहम्मद बिन कासिम के द्वारा मार डाला गया तथा हिन्दुओं के स्थान पर अरबों ने सिन्ध में शासन की शुरुआत कर दी। अरब विवरणों से यह निस्सन्देह है कि उस समय सिन्ध में बौद्ध धर्मों की संख्या प्रचुर तथा उनका प्रभाव पर्याप्त था। किन्तु ये धर्म स्पष्ट ही कापुल्य एवं देशाद्वेषी थे। अरबों की विजय में इन्होंने अनेक प्रकार से सहायता पहुँचायी। अरबों की धार्मिक सहिष्णुता के कारण आठवीं सदी में सिन्धी बौद्धों का सहसा लोप नहीं हुआ। आठवीं सदी के पूर्वार्ध में हिन्दू-बाओ के बाबा-विवरण (७०६-९) से इसकी पुष्टि होती है। पीछे धर्मपाल के समय में 'सिन्धव धावकों' का उल्लेख तारानाथ (पृ० २२७) ने किया है। बुदोन ने बुद्धाब्द की गणना पर 'सिन्धव धावकों' का मत उद्धृत किया है। किन्तु इस्लाम के साभिप्राय में तथा मुस्लिम शासन में सिन्ध के पहले से विहृत और भ्रष्ट बौद्ध धर्म का कमरा किन्तु अविविध रूप से क्षय और लोप हुआ।

उत्तर-पश्चिम—कोरिया के भिक्षु ह्वी-बाओ ने ७२६ से ७२९ के बीच भारत-यात्रा की थी। उसके तथा उ-कुंग के विवरण (७५१-९०) से ज्ञात होता है कि आठवीं सदी में कपिशा, गन्धार, उद्दिष्यान एवं कश्मीर में सद्धर्म का प्रचुर प्रचार था। यह स्मरणीय है कि स्वान्-ज्वांग ने गन्धार और उद्दिष्यान में सद्धर्म के हास का निर्देश किया है। सद्धर्म का यह पुनरुज्जीवन कदाचित् उद्दिष्यान के मन्त्रपान एवं वज्रयान के रूप में था जिसके बड़ा प्रचार का संकेत स्वान्-ज्वांग ने भी किया है। उद्दिष्यान में वज्रयान के नेता इन्द्रभूति और पद्मसम्भव थे। आठवीं और नवीं सदियों में कपिशा, गन्धार और उद्दिष्यान में तुर्की शाही नरेश शासन करते थे और वे बौद्ध धर्म के अनुकूल प्रतीत होते हैं। नवीं सताब्दी में मुक्कपुर के कनिष्क-विहार में अध्ययन का उल्लेख प्राप्त होता है। ई० ८७० में अरबों ने काबुल जीत लिया तथा प्रायः इसी समय अल्लिय नाम के बाह्यान ने तुर्की शाही संस के स्थान पर बाह्यान शाही वंश की स्थापना की जिसका ११वीं सदी में कट्टर धर्माग्र मुस्लिम तुर्कों ने विनाश किया। प्रायः इसी समय अलबेकली ने अफगानिस्तान एवं उत्तर-पश्चिमी भारत में बौद्ध धर्म को ख़ुल पाया।

कश्मीर—स्वान्-ज्वांग ने कश्मीर में १०० विहार देखे थे, प्रायः एक सताब्दी पश्चात् ७५९ में उ-कुंग ने वहाँ ३०० विहारों का उल्लेख किया है। कन्हन से ज्ञात

होता है कि वैभव होते हुए भी ललितारित्य और जयानंद ने अनेक बौद्ध विहारों का निर्माण कराया । नवीं शताब्दी में अवन्तिधर्म के शासनकाल में बौद्ध साहित्य और तन्त्रों की प्रगति का प्रमाण मिलता है । क्षेमवर्म के समय में बौद्ध मठों का राजनीतिक हस्तक्षेप सूचित होता है । विहा (१५०-१००३) ने अनेक बौद्ध विहार बनवाये । ११वीं शताब्दी में कल्या ने तान्त्रिकों और बौद्धों का पोषण किया । हर्ष (१०८९-११०१) के घोर अत्याचारों और भ्रष्टाचारों में मन्दिरों का धन लूटना भी था । बौद्ध विहारों की इस समय कितनी क्षति हुई, यह अनिश्चित है । जयसिंह (११२२-४०) के समय में बौद्ध धर्म के लिए दिये गये अनेक दानों का उल्लेख प्राप्त है ।

यह स्पष्ट है कि कश्मीर में अधिकांश शासक बौद्ध न होते हुए भी बौद्ध धर्म के प्रतिकूल नहीं थे । बौद्ध भिक्षुओं के लिए विविध विहारों का निर्माण बराबर ही होता रहा । कश्मीर में नवीं सदी में धर्मोत्तर आदि अनेक प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य हुए थे और प्रत्यभिज्ञा दर्शन का बौद्ध दर्शन से निविधत सम्बन्ध प्रतीत होता है । ज्ञानभी, सोमनाथ आदि बुद्धधीजान कश्मीरी बौद्ध पण्डित तिब्बत में धर्मप्रचार एवं अनुवाद के लिए बुलाये गये । ई० ९६६ में शिव-पिन और १५६ चीनी भिक्षु बौद्ध धर्मों के संकलन के लिए कश्मीर आये । जहाँ एक ओर कश्मीर में बारहवीं शताब्दी तक बौद्ध कला और वास्तुशिल्प की परम्परा बनी रही, दूसरी ओर बौद्ध विहारों और भिक्षुओं में विहृत और भ्रष्ट धर्मधर्मों के भी पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं । कल्या ने सभीक भिक्षुओं का उल्लेख किया है तथा सद्धर्म में अज्वाल क्षेमन्ध की कृतियों में भिक्षुओं पर व्यंग्य का जमान नहीं है । उत्तर-पश्चिम के सद्धर्म कश्मीर में भी बौद्ध धर्म का विनाश इस्लाम की देन मानना चाहिए । ई० १३३९ से कश्मीर में मुस्लिम प्रभुत्व निश्चित रूप से विदित है ।

पश्चिम और मध्यदेश—द्वान्-न्याम और इन्चिंग के विवरण से सातवीं सदी में सद्धर्म की बलभी में समृद्धि ज्ञात होती है । सातवीं और आठवीं शताब्दियों में अभिलेखों से सद्धर्म के प्रति बलभी के शासकों की अनुकूलता और दानशीलता सूचित होती है । बलभी इस युग में बौद्ध विद्या का एक प्रकट केन्द्र था । पीछे मध्य भारत और पश्चिम में बौद्धों के कमजोर ह्रास में राजकीय उपेक्षा तथा ब्राह्मण और जैन धर्मों के प्रसार को कारण मानना चाहिए ।"

मगधदेश में शत्रु-ज्वांग के समय में ही सद्धर्म का ह्रास सूचित होता है। स्पष्ट ही बौद्ध धर्म के लिए गुप्तों की सहिष्णुता पर्याप्त नहीं थी। उसे अपने विकास के लिए राजकीय पोषण अपेक्षित प्रतीत होता है। आठवीं सदी में छद्म-बाओ और ल-कुंग दोनों ने कान्धकुब्ज में सद्धर्म को समृद्ध, किन्तु बाराणसी में लुप्तप्राय देखा। छिन्ने नाम का चीनी यात्री भारत में ९७६ में लौटा था। उसने कान्धकुब्ज में भी बौद्ध धर्म को लुप्त पाया, किन्तु मगध में उसकी स्थिति समृद्ध थी। सारनाथ में पुरातत्वीय सामग्री १२वीं शताब्दी के अन्त में बौद्ध परम्परा का सहसा उन्मूलन सूचित करती है जो सम्भवतः तुर्कों विजय का परिणाम था।

मगध और पूर्व—पाल सम्राट् अपने को 'परमसौवर्त' कहते थे और मगध में उनके शासन-काल में बौद्ध धर्म, दर्शन, तत्त्व तथा कला का एक उज्ज्वल युग आदि-भूत हुआ।^{१४} आठवीं शताब्दी में पालवंश के प्रभुत्व का बंगाल में उद्भव तथा मगध में विस्तार हुआ। धर्मपाल के समय में पालसाम्राज्य का अधिकार समूह से कान्धकुब्ज तक विस्तृत था। देवपाल के समय में साम्राज्य का यह प्रताप बना रहा। पीछे अनेक साम्य-विपर्ययों के बावजूद पालशासित न्यूनाधिक रूप में बारहवीं शताब्दी तक विद्यमान थी। इस युग में नालन्दा, विक्रमशील, ओदन्तपुरी, सोमपुरी आदि विहारों की विद्या और क्वालि अपने चरम शिखर तक पहुँची तथा बौद्ध धर्म ने तिब्बत पर विजय प्राप्त की जिसमें शान्तरक्षित, पद्मसम्भव और जतीष ने प्रधान भूमिका कियी। दूसरी ओर, तत्त्व और हठयोग के विकास ने बौद्ध और ब्राह्मण धर्मों के बीच की खाई अंशतः पाटी।

तारानाथ के अनुसार पालयुग में सद्धर्म का मगध, मंगल, आदिविश, ज्वरान्तक जमपद, काश्मीर तथा नेपाल में विस्तार हुआ। इस विस्तार में सद्धर्म का रूप प्रधान-तया महायान एवं मन्त्रनय था। प्रथम पालशासक गोपाल का मातस्यन्याय से अभि-भूत प्रजा ने राजपद में वरण किया था। गोपाल ने मंगल से प्रारम्भ कर अपना शासन मगध पर भी स्थापित कर लिया। ओदन्तपुरी में गोपाल के समय में ही

१४—इ० तारानाथ, पृ० २०२-५७; जे० बी० ओ० गार० एल० ५.१७१; विद्याभूषण, हिस्टरी ऑफ़ दि मेडीयल स्कूल ऑफ़ इण्डियन लोजिक; मित्र, विस्लाइन ऑफ़ बुद्धिज्म इन इण्डिया; मज्झिमदार (सं०), हिस्टरी ऑफ़ नेपाल, जि० १, साहु, बुद्धिज्म इन उड़ीसा; बोस, इण्डियन टीचर्स ऑफ़ दि बुद्धिस्ट धर्मिनिर्माण।

कदाचित् वहाँ के सुप्रसिद्ध विहार की स्थापना हुई। अभयाकरगुप्त के समय में यहाँ एक सहल भिक्षु थे। इसी युग में कर्नाट में आचार्य शान्तिप्रभ, पुण्यकीर्ति के शिष्य शाक्यप्रभ, दानशील, विशेषमित्र, प्रज्ञावर्मा तथा आचार्य शूर विद्यमान थे। पूर्व में इस समय आचार्य ज्ञानगर्भ थे तथा विक्रम नाम के एक सिद्धाचार्य भी इसी समय के हैं। शान्तरक्षित नालन्दा के प्रसिद्ध आचार्य थे और पीछे धर्मप्रचार के लिए तिब्बत गये थे। उनका 'तत्त्वसंग्रह' बौद्ध दर्शन की अनुपम कृति है। इसमें अन्य दर्शनों और सम्प्रदायों का विस्तृत चर्चन है। धर्मकार का अपना सिद्धान्त सण्डन में माध्यमिक-स्वातन्त्रिक, प्रमाणमीमांसा में सौतान्त्रिक, तथा परमार्थचिन्तन में योगाचार-विज्ञानवाद से प्रभावित है। बुद्ध की सर्वज्ञता ही उनके सिद्धान्तों में मूख्य है।

धर्मपाल का शासन सुदीर्घ बताया गया है। तारानाथ ने उस साम्राज्य का विस्तार समुद्र से दिल्ली और जालन्धर तक बताया है। धर्मपाल ने सिंहभद्र और ज्ञानपाद को अपना आचार्य बनाया तथा प्रज्ञावारमिता एवं गृह्यसमाज का विशेष समादर किया। उनके समय में सिद्धाचार्य कुकुर का आविर्भाव हुआ। धर्मपाल ने ही विष्णु शील-विहार की स्थापना की। यह विहार मगध में उत्तर की ओर गंगातीर पर पर्वताग्र में स्थित था। विहार के चारों ओर प्राकार था तथा मध्य में १०८ चैत्यगृह थे। वहाँ १०८ आचार्य थे जिनके अतिरिक्त विहार के विविध प्रवन्ध के लिए ६ आचार्य और थे। कालान्तर में वहाँ एक मध्य में स्थित आवास के ६ तरफ ६ अन्य आवासीय का विकास हुआ। विहार के ६ द्वारों में विख्यात विद्वान् द्वार-पण्डित के रूप में रहते थे। धर्मपाल के समय के प्रसिद्ध पण्डितों में कल्याणगुप्त, सिंहभद्र, शोभग्यूह, सागरमेघ, प्रभाकर, पूर्णवर्धन, ब्रह्माचार्य बुद्धज्ञानपाद, बुद्धगुह्य एवं बुद्धशान्ति उल्लेखनीय हैं। सिंहभद्र ने शान्तिरक्षित से माध्यमिकशास्त्र का अध्ययन किया था तथा वेरोचनभद्र से प्रज्ञावारमिता एवं अभिसमयालंकारोपदेश का। इन्होंने अष्टसाहसिका पर व्याख्या आदि अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया। आचार्य सागरमेघ की बोधिसत्वभूमि पर व्याख्या प्रसिद्ध है। ब्रह्माचार्य बुद्धज्ञानपाद के चमत्कारों के विषय में अनेक प्रसिद्धियाँ थीं। गृह्यसमाज, माघाजाल, बुद्धसमाधीय, चन्द्रगृह्यतिलैक तथा मञ्जुश्रीकोष नाम के तन्त्रों का वे प्रायः व्याख्यान करते थे। यह स्मरणीय है कि इसी युग में सैल्यव आचक्रों ने और सिंहल के भिक्षुओं ने विक्रमशील में तन्त्र-मन्त्र का विरोध प्रकट किया।

तारानाथ के अनुसार देवपाल ने योगी शिरोमणि के प्रेरित होकर ओडिविश के तीर्थिक राजा से बुद्ध किया और ओडिविश जीता क्योंकि पूर्वकाल में वहाँ सड़न का

प्रचार या शिक्षा स्थान उस समय तीर्थिकों में ले लिया था। वैशाल में ४० विग्रह सीमों स्थानों का विन्यास किया जिसमें अधिकांश संगत और बौद्ध में थे, ऐसी प्रसिद्धि है। इन्होंने श्रीवैकुण्ठ अथवा सोमपुरी बिहार का उद्धार किया। इनके समय में अथर कृष्णार्चान्न भोग के आचार्य हुए थे। इन्होंने कामरूप में वसुमिहिर प्राय की भी तथा में सम्बर, हेमचन्द्र और समान्तक तन्त्रों के पण्डित थे। इन्होंने शम्बरक्याख्या और अन्य शास्त्रों का प्रणयन किया। इस समय के अन्य प्रमुख आचार्य थे—शाक्य-प्रभ, शाक्यमित्र, मुमतिशील, इन्द्रासेन, ज्ञानचन्द्र, वज्राम्बु, मञ्जुश्रीकीर्ति, ज्ञानदत्त, और जयदेव। दक्षिण की ओर इस समय भवत अकलीकित थे तथा कस्मीर में अचार्य धर्ममित्र। शाक्यमित्र ने लक्ष्मणसूत्र नाम के योगदान पर श्रीलालाकार नाम की व्याख्या कोसल में लिखी। जीवन के अन्तिम भाग में वे कस्मीर चले गये। वज्राम्बु मञ्जुश्रीकीर्ति ने मातृश्रीकीर्ति पर टीका लिखी। जयदेव एक कवि थे और उनके लोकोत्तरात्मकस्तोत्र की प्रसिद्धि थी।

महीपाल के समय में आचार्य आनन्दवर्म, परहित, चन्द्रपद्म, ज्ञानदत्त, ज्ञानकीर्ति आदि थे। कस्मीर में इस समय जिनमित्र, सर्वज्ञदेव, दानशील आदि उल्लेख्य हैं। सिद्ध तिलोपा भी इसी युग के थे। आनन्दवर्म महासाधक सम्प्रदाय के तथा व्याप-साध्यात्मिक दर्शनों के अनुयायी थे। उन्होंने बहुसंस्कृत योग तन्त्रों पर व्याख्याएँ लिखीं।

तारानाथ के अनुसार महीपाल के अनन्तर 'महापाल' ने शासन किया। 'महापाल' से किन्तु शासक को समझना चाहिए, यह अनिश्चित है। 'महापाल' ने जोधपूर में उद्यवास बिहार स्थापित किया तथा वहाँ ५०० सैन्यध आचर्यों का प्रवर्धन किया। सोमपुरी, नालन्दा, आदि में उसने अनेक विहार स्थापित किये। कालचक्रान्त का इस समय प्रचार हुआ तथा आचार्य प्रजाकरमुत्त, पद्माकुश, जेतारि, कृष्णसमवज्ज आदि इसी समय के हैं।

तारानाथ के अनुसार 'षण्क' के प्रशासन-काल में रत्नकरशान्ति, प्रजाकरमाते, वागीश्वरकीर्ति, नारोपा, रत्नवज्र तथा ज्ञानशीमित्र विष्णुशील के 'द्वारपण्डित' थे। नारोपा मर-वा के युग के थे। तिब्बत के प्रसिद्धतम सिद्ध मिल-रे-पा मर-वा के शिष्य थे। रत्नवज्र कस्मीर से विक्रमशील आये थे। कस्मीर छोड़ कर उन्होंने वहाँ धर्म का प्रचार किया तथा अन्त में उद्घात चले गये। ज्ञानशीमित्र पीछेभीराय थे तथा पहले सैन्यध आचर्यों के पण्डित थे। पीछे उन्होंने महायान स्वीकार किया।

अनीस दीपकर श्रीमान की मधुपाल के समय में रहना चाहिए। तारानाथ ने 'मधुपाल' के समय में अमोचवज्र, प्रजाकाररक्षित आदि पण्डित कहे हैं। प्रजाकार-

रक्षित को भिक्षु-भातु-तन्त्रों में विद्वान् बताया गया है। नारोग के शिष्य रीति, जाति के बाधक थे। आचार्य अनुपमसागर कालचक्रान्त के पण्डित थे। कश्मीर में इस समय अंकरानन्द ने धर्मकीर्ति के धर्मों पर व्याख्यान लिखी।

रामपाल के समय में अतमाकरगुप्त तान के महान् आचार्य बजातनागण्डित थे। तारानाथ के अनुसार इस समय संघ का ह्रास हुआ। विक्रमशील में इस समय १६० पण्डित थे और १,००० आचार्यिक भिक्षु थे मद्यपि गर्व के अवसर पर ५,००० एकत्र हो जाते थे। ब्रह्मासन में राजा के द्वारा घोषित ४० महायात्र के अभिज्ञ तथा २०० श्रावक भिक्षु निरन्तर वास करते थे। विविष्ट अवसरों पर १०,००० श्रावक भिक्षु एकत्र होते थे। ओदन्तपुरी में १,००० भिक्षु सतत निवास करते थे, किन्तु अवसरों पर १२,००० एकत्र हो जाते थे। इस समय मगध के अतिरिक्त प्रायः सर्वत्र तीर्थिक और श्लेष्म धर्मों की वृद्धि हो रही थी।

तारानाथ ने 'राषिकसेन' के समय में २४ "महान्" (आचार्यों) का उल्लेख किया है जिनमें कुछ कश्मीर और नेपाल में थे तथा सब सखधर और सम्बर के अभिज्ञ थे। किन्तु सेनवंश के समय ही श्लेष्मों ने कुछ भिक्षुओं की सहायता से मगध में विजय प्राप्त की तथा निहारों को तहल-तहल किया। बौद्ध आचार्य तिब्बत, नेपाल, दक्षिण आदि की ओर भाग गये तथा मगध और बंगाल में भी सद्धर्म का सूर्यास्त हो गया।

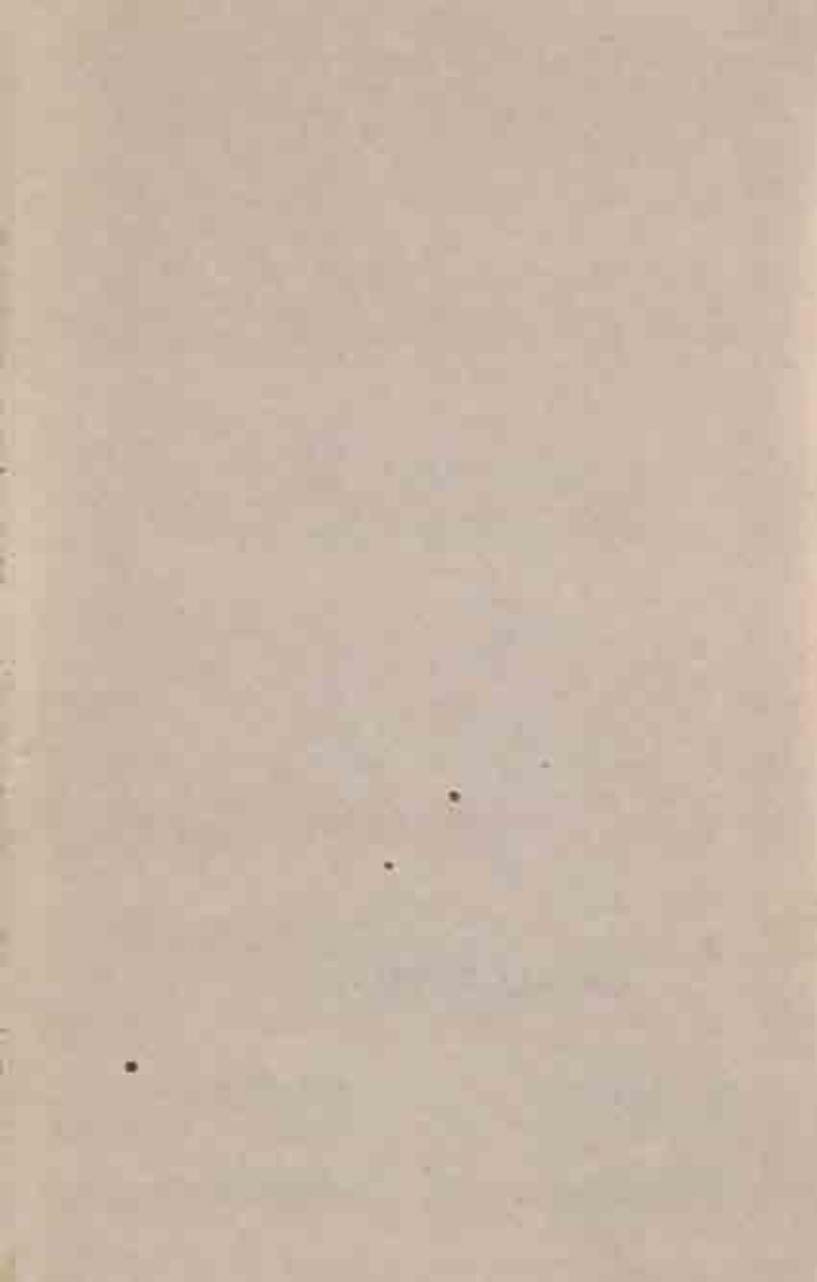
ह्रास के कारण

भारत में सद्धर्म के ह्रास और पतन के विषय में अनेक भ्रान्तियाँ प्रचलित हैं। यह कहा गया है कि "सद्धर्म का प्रचार केवल स्वासीय तथा कादाचित्त था" (वासिलियफ), अतः उसका पतन आरभ्यजनक नहीं है। यह भी कहा गया है कि बौद्ध धर्म हिन्दु धर्म में कवलित हो गया जिसमें ज्यों तातावदी से सामंतीय और तान्त्रिक प्रसार ने सम्भवतः सहायता दी। बौद्ध संघ में तन्त्रों के कारण ज्ञान और आचार के लोप को भी उसके नाश का कारण बताया गया है। कुमारिल तथा शंकर के बाद-कोशल को भी बौद्धधर्म के ह्रास में कारण माना गया है। इस प्रसंग में यह निर्विवाद है कि बौद्ध धर्म के कतिपय तत्त्व हिन्दु धर्म में अवश्य स्वीकृत हुए हैं। मया, शास्त्रों की कोल्लरम्परा में तथा यह भी स्वीकार्य है कि अनेक भिक्षुओं एवं विहारों में अष्टाचार का अभाव न था जिसका 'राष्ट्रपालपरिपूच्छा' में स्पष्ट निर्देश है। किन्तु तान्त्रिक आचार तथा तत्सम्बद्ध कुछ विहृति केवल बौद्धों में ही विद्यित न थी, अपितु जैनों और शाक्तों में भी विद्यित थी, जिनका प्रचार लुप्त नहीं हुआ

और न तार्किक संझ से किसी धर्म का लोप माना जा सकता है। वस्तुतः बौद्ध धर्म प्रधानतया भिक्षुओं का धर्म था तथा इन भिक्षुओं का जीवन विहारों में केन्द्रित था। उपासकों के लिए बौद्ध धर्म ने अपना पुण्य और पर्याप्त नैतिक-सामाजिक आधार एवं संस्थाएँ नहीं गढ़ पायी थीं। नैयामिक उदयन का कहना है कि बौद्ध भी वैदिक संस्कारों का पालन करते थे। उपासकों का बौद्ध धर्म मुख्यतया विहारों और चैत्यों के लिए था तथा तारा, लोकेश्वर आदि की प्रतिमाओं का अर्चन ही था। बौद्ध विहार प्रायः राजाओं के द्वारा प्रदत्त अथवा अनुमत भूमिदान पर निर्भर करते थे। इसी कारण बौद्ध धर्म के प्रचार में राजकीय समर्थन एवं प्रोत्साहन का विशेष हाथ रहा है। दक्षिण और पश्चिम में हिन्दू शासकों की उपेक्षा अथवा वैमृश्य से तथा उत्तर में तुर्कों की विजय से बौद्ध विहार नष्ट और लुप्त हो गये। विहारों के लोप से उपासकों की क्षीण बौद्धता का विलोप अनिवार्य था।

71566





CATALOGUED.

Buddhism — History

History — Buddhism

"A book that is shut is but a block"

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL LIBRARY
GOVT. OF INDIA
Department of Archaeology
NEW DELHI.

Please help us to keep the book
clean and moving.
